गुरुदत्त

ब्रह्मसूत्र

(वेदान्त दर्शन)

सरल सुबोध भाषा भाष्य

1

ब्रह्मसूत्र

खण्ड एक

ब्रह्मसूत्र

(वेदान्त दर्शन)

सरल सुबोध भाषा भाष्य

खण्ड-1

प्रथम तथा द्वितीय अध्याय

गुरुदत्त

हिन्दी साहित्य सदन
www.hindisahityasadan.com

लेखक द्वारा आभार

वर्तमान भाष्य की आवश्यकता सबसे प्रथम मुझे स्वयं ही अनुभव हुई थी। प्रायः सब भाष्य, जो हस्तगत हुए, वे अति क्लिष्ट भाषा में थे। विचार आया कि सरल, सुबोध भाषा में भाष्य लिखा जाये। इस विचार को पूर्ण करने का ही यह एक प्रयास है।

इस भाष्य के संशोधन और संस्कृत पाठों के अनुवाद में सहायता करने में श्री अशोकवर्धन (सम्पादक, शाश्वत वाणी), श्री चिरंजीव शास्त्री, श्री राजपाल शास्त्री एवं पण्डित दीनानाथ सिद्धान्तालंकार की बहुत सहायता प्राप्त होती रही है। मैं इन विद्वानों का आभारी हूँ।

सबसे अधिक आभार उन ऋषि-महर्षियों के प्रति है जिन्होंने वेद-उपनिषदादि ग्रन्थ रचे और जिनके ज्ञान के बिना इस भाष्य के विषय में कुछ भी लिखा नहीं जा सकता था।

अन्त में मैं महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित किये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने वेदों की महिमा प्रकाशित करने का एक विपुल प्रयास किया था। मुख्यतः उनके प्रतिपादित सिद्धान्तों से प्रेरित होकर ही इस भाष्य को करने में मैं योग्य हुआ हूँ।

लेखक का विशेष निवेदन

इस भाष्य में कुछ एक भाष्यकारों का ही उल्लेख किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि हम अन्य भाष्यकारों को आदरणीय नहीं समझते। वास्तविक बात यह है कि हमने अपने भाष्य में अन्य किसी भाष्यकार के भाष्य को पथ-प्रदर्शक नहीं माना। इस भाष्य में हमने अपने दृष्टिकोण से ही सबकुछ लिखा है। जिन भाष्यों का उल्लेख किया है वह केवल अपने पक्ष को सिद्ध करने की दृष्टि से ही है। जहाँ उनसे सहमति है अथवा जहाँ सहमति नहीं है, उसका उल्लेख इसी प्रयोजन से है जिससे अपने भाष्य के युक्तियुक्त होने को सिद्ध किया जा सके।

प्रायः सब वैदिक दर्शन शास्त्र मीमांसा (logic) के ग्रन्थ हैं। दर्शन शास्त्र और उपनिषदादि ग्रन्थों में अन्तर यह है कि जहाँ दर्शन शास्त्र वेदों को प्रमाण न मानने वालों के लिए कहे गये हैं, वहाँ उपनिषदादि ग्रन्थ वेदों पर श्रद्धा रखने वालों के लिए लिखे गये हैं। उपनिषदों में जहाँ वाद-विवाद है, वहाँ भी वक्तव्य मात्र ही हैं। युक्ति नहीं की गयी है।

अतः दर्शन शास्त्रों पर भाष्य केवल युक्ति के आधार पर ही होना चाहिए। वेद-शास्त्रादि का प्रमाण उस युक्ति को सिद्ध अथवा स्पष्ट करने के लिए नहीं, प्रत्युत युक्ति से सिद्ध बात को वेदादि शास्त्रों में दिखाकर, उनकी महिमा को बढ़ाने के लिए है।

इस भाष्य में यही यत्न किया गया है कि युक्ति के आधार पर ही लिखा जाये।

स्वामी शंकराचार्य के शारीरिक भाष्य को बहुत स्थलों पर त्रुटिपूर्ण पाने के कारण हमने उनपर विशेष टिप्पणियाँ लिखी हैं। यह उनके प्रति किसी प्रकार के अनादर के भाव से नहीं है, प्रत्युत सत्य को प्रकट करने के लिए है। हम मानते हैं कि स्वामी शंकराचार्य ने अपने काल में हिन्दू समाज की भारी सेवा की थी, परन्तु वह सेवा अद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादन द्वारा नहीं हुई थी। वह उनको 'पंचायतन पूजा-पद्धति' थी, जिसने उस समय अमरनाथ की गुफा से लेकर कन्याकुमारी तक फैले हुए हिन्दू समाज को एक सूत्र में पिरो दिया था। उनके इस कार्य के लिए हिन्दू (वैदिक) समाज उनका सदा आभारी रहेगी।

उनके अद्वैतवाद से हमारा मतभेद है और हमारा मत है कि व्यासकृत ब्रह्मसूत्र भी त्रैतवाद का ही मण्डन करता है।

अद्वैतवाद और इसके साथ प्रचार किये जाने वाले अन्य उपसिद्धान्तों से हिन्दू समाज का अकल्याण ही हुआ है। इस विषय में हम अपना मत ग्रन्थ के उपसंहार में देंगे। यहाँ तो स्वामीजी के अन्य कार्यों की प्रशंसा में उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना ही लक्ष्य है।

—गुरुदत्त

विषय-सूची

		पृष्ठ संख्या
१. प्रस्तावना		९-२७
पूर्व-कथन	...	९-११
प्रथम अध्याय का सारांश	...	१२-१४
प्रथम अध्याय प्रथम पाद का सारांश	...	१४-१७
प्रथम अध्याय द्वितीय पाद का सारांश	...	१७-१९
प्रथम अध्याय तृतीय पाद का सारांश	...	१९-२१
प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद का सारांश	...	२१-२२
२. प्रथम अध्याय		२९-२४२
प्रथम पाद : परमात्मा के गुण, कार्य और धर्म	...	२९-११२
द्वितीय पाद : जीवात्मा और परमात्मा में भेद; दोनों के कार्य, कार्यक्षेत्र, गुण और धर्म	...	११३-१६३
तृतीय पाद : परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति में भेद	...	१६४-२११
चतुर्थ पाद : प्रकृति का सामान्य विवरण और उससे परमात्मा तथा जीवात्मा की विलक्षणता	...	२१२-२४२
३. द्वितीय अध्याय		२४३-३९१
द्वितीय अध्याय में वर्णित विषय	...	२४३-२५२
प्रथम पाद : प्रकृति का विशेष वर्णन तथा इसका जगत् से सम्बन्ध	...	२५३-२९५
द्वितीय पाद : जगत्-रचना का वर्णन	...	२९६-३३०
तृतीय पाद : आकाशादि पंच महाभूतों का वर्णन और प्राणी की सृष्टि	...	३३१-३७२
चतुर्थ पाद : प्राण और शरीर में उसका कार्य	...	३७३-३९१
४. सूत्राणामनुक्रमणिका		३९३-४०४
५. प्रमाणानामनुक्रमणिका		४०५-४१२

ग्रन्थ संकेत

नाम ग्रन्थ	संकेत
अथर्व वेद	अथर्व०
ईशावास्योपनिषद्	ईशा०
ऐतरेय उपनिषद्	ऐतरे०
ऋग्वेद	ऋक्०
कठोपनिषद्	कठो०
छान्दोग्य उपनिषद्	छा०
तैत्तिरीय उपनिषद्	तैति०
न्याय दर्शन	न्याय०
पूर्व मीमांसा	पू० मी०
प्रश्नोपनिषद्	प्रश्न०
बृहदारण्यक उपनिषद्	बृहदा०
ब्रह्मसूत्र	ब्र० सू०
भगवद्गीता	भ० गी०
माण्डूक्योपनिषद्	माण्डू०
मुण्डकोपनिषद्	मुण्डक०
यजुर्वेद	यजु०
योग दर्शन	यो० द०
वैशेषिक दर्शन	वै० द०
श्वेताश्वतर उपनिषद्	श्वेता०
सांख्य दर्शन	सां०
साम वेद	साम०

प्रस्तावना

कुछ एक आचार्यों का मत है कि भारतीय दर्शन-शास्त्रों में परस्पर विरोध है। वे यह मानते हैं कि ब्रह्म-सूत्र जिसे वेदान्त दर्शन के नाम से स्मरण किया जाता है, केवल परमात्मा को ही स्वीकार करता है। इसी प्रकार की एक किंवदन्ति यह है कि सांख्य-दर्शन परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता तथा मीमांसा दर्शन कर्म-काण्ड का दर्शन है।

कुछ एक आचार्य वेदान्त-दर्शन की उत्पत्ति उपनिषदों से मानते हैं। ये लोग समझते हैं कि उपनिषदों में वैदिक विचारधारा विकास के शिखर पर पहुँच गई है और वेदान्त सूत्र उस विचारधारा को सूत्रवत् कहने के लिए लिखे गये हैं।

इस प्रकार के अनेक भ्रमोत्पादक विचार भारतीय दर्शन-शास्त्रों के विषय में बन गये हैं। इन भ्रमोत्पादक विचारों की विवेचना करना ही हमारा उद्देश्य है। सभी भ्रमोत्पादक बातों का निराकरण तो इस स्थान पर किया नहीं जा सकता। यहाँ मुख्यतः वेदान्त-दर्शन के विषय में ही लिखा जा रहा है। हाँ, जहाँ कहीं प्रसंगवशात् अन्य दर्शनों का उल्लेख आया है वहाँ उनके विषय में भी लिख दिया गया है।

हम मानते हैं कि दर्शन-शास्त्र सत्य का दर्शन कराने वाले शास्त्र हैं। भारतीय दर्शन-शास्त्रों की मुख्य रूप में दो शाखाएँ हैं—वैदिक तथा अवैदिक।

वैदिक दर्शन-शास्त्रों की गणना में सांख्य, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त), योग और न्याय आते हैं और अवैदिक दर्शन-शास्त्रों में चार्वाक्, जैन तथा बौद्ध हैं।

वैदिक-अवैदिक दर्शन-शास्त्रों में भेद यह है कि वैदिक दर्शन-शास्त्र उन सत्य सिद्धान्तों का दर्शन कराते हैं, जो वेदानुकूल हैं और अवैदिक दर्शन-शास्त्र उन मुख्य सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का दर्शन कराने के लिए हैं जिनका मूल वेद नहीं है और जो चार्वाक, महात्मा बुद्ध तथा महात्मा महावीर के नाम से चले सम्प्रदायों में वर्णित हैं।

यहाँ दो शब्द चार्वाक के विषय में भी लिख देना उपयुक्त है। चार्वाक जड़वाद का दूसरा नाम है। यह भी एक सिद्धान्त है कि जड़ प्रकृति ही चराचर जगत् का

मूल कारण है और इस कारण के अतिरिक्त जगत् का कोई अन्य क[illegible] नहीं है।

चार्वाकीय जिस वस्तु को जैसा देखते हैं, उसे वैसा ही मान लेते ह[illegible] कहा जाये कि ये उस बालक की भाँति हैं, जिसकी विचारशक्ति अभी [illegible] है, तो अधिक उपयुक्त होगा।

इनका कोई शास्त्र नहीं है। कम-से-कम भारतवर्ष में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता जिसमें इनके विचारों की मीमांसा प्राप्त हो।

इस पर भी इनकी विचार-मीमांसा इस प्रकार कही जा सकती है—प्रत्येक मनुष्य का बाल्यकाल होता है, जिसमें बुद्धि का विकास नहीं होता। इसी प्रकार कुछ लोग बड़े तथा प्रसिद्ध हो जाने पर भी बाल-बुद्धि देखे जाते हैं। वे जगत्-को जैसा इन्द्रियों से अनुभव करते हैं, उसको वैसा ही मान लेते हैं। वे उस अनुभव की गहराई में जाने की सामर्थ्य नहीं रखते; इस कारण गहराई में जाना वे मूर्खता मानते हैं।

अन्य देशों की भाँति भारत में भी जड़वादी उत्पन्न होते रहे हैं और अपने विचार से संसार के संचालन का वर्णन करने का यत्न करते रहे हैं। तदपि ये लोग भारत में न तो ख्याति प्राप्त कर सके हैं और न ही इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को विद्वानों ने मान्यता दी है।

हमारा यह सुविचारित मत है कि चार्वाक दर्शन-शास्त्र मात्र बालकों का ही शास्त्र है। जैसे किसी बच्चे को उसके छोटे भाई के जन्म के अवसर पर उसकी दादी बता देती है कि उसका भाई दाई दे गई है और वह मान जाता है; वह यह विचार नहीं कर सकता कि दाई उसे कहाँ से लायी थी; वैसी ही बात चार्वाकीय मत वालों की है।

जहाँ तक वैदिक दर्शन-शास्त्रों का सम्बन्ध है, हमारा मत है कि वे वेद में वर्णित जगत्-सम्बन्धी जटिल समस्याओं के निरूपण के लिए लिखे गये हैं। उदाहरण के रूप में सांख्य-दर्शन में मूल-प्रकृति और उससे जगत् के बनने के विषय में लिखा है।

मीमांसा का अर्थ है विवेचना। अर्थात् जगत् के दृश्य स्वरूप में मनुष्य के व्यवहार का वृत्तान्त। पूर्व-मीमांसा को कई आचार्य कर्म-काण्ड का शास्त्र भी मानते हैं। वैसे पूर्व-मीमांसा को कर्म-काण्ड का शास्त्र कहना उचित नहीं। हम इसे इस प्रकार मानते हैं कि मनुष्य जो कुछ अपने आस-पास देखता है, उसमें अपने व्यवहार के विषय में विचार करता है। मनुष्य का ज्ञान-प्राप्ति की खोज में यह प्रथम पग है। इसी कारण इसे पूर्व-मीमांसा कहा है।

वेदान्त-दर्शन अर्थात् ब्रह्मसूत्र इस जगत् के मूल कारण की विवेचना है। वेदान्त-दर्शन जगत् के तीन मूल कारण मानता है।

इन मूल पदार्थों से आरम्भ होकर कार्य जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन वैशेषिक-दर्शन करता है।

योग-दर्शन मुख्यतः मोक्ष प्राप्त करने की अथवा जगत् का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करने का ढंग बताता है।

न्याय-दर्शन मुख्य रूप में युक्ति करने के आधारों का वर्णन करता है।

प्रस्तुत विवेचना में हम केवल वेदान्त-दर्शन के विषय में ही लिख रहे हैं। वेदान्त-दर्शन के मूल लेखक हैं व्यास मुनि। व्यास मुनि का दूसरा नाम बादरायण भी है। यह नाम इस कारण है क्योंकि व्यास मुनि बादरी ऋषि के पुत्र थे।

यह क्या वही व्यास थे जो महाभारत ग्रन्थ के रचयिता थे अथवा कोई अन्य ? इस विषय में निश्चय से नहीं कहा जा सकता। महाभारत में एक संकेत है जिससे इस समस्या पर प्रकाश पड़ता है।

महाभारत का प्रवचन सुनते समय महाराज जनमेजय ने पूछा—पुरुष बहुत हैं अथवा एक ? इस जगत् में कौन पुरुष श्रेष्ठ है ? कौन सबका उत्पत्ति स्थान है ?

वैशम्पायन महर्षि व्यास के शिष्य थे। उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए वह कहते हैं—

बहवः पुरुषा लोके सांख्ययोगविचारणे।
नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह ॥
बहूनां पुरुषाणां च यथैका योनिरुच्यते।
तथा तं पुरुषं विश्वंव्याख्यास्यामि गुणाधिकम् ॥
नमस्कृत्वा च गुरवे व्यासाय विदितात्मने।
तपोयुक्ताय दान्ताय वन्द्याय परमर्षये ॥

(महाभा० शा० ३५०–२, ३, ४)

इसका अभिप्राय है—

हे कुरुकुलोद्वह ! सांख्य और योग की विचारधारा के अनुसार इस जगत् में पुरुष अनेक हैं। ये एक पुरुष को स्वीकार नहीं करते।

बहुत से पुरुषों की एक ही से उत्पत्ति के विषय में वैशम्पायनजी ने क्या कहा है ? उन्होंने यह समझाने के लिए अपने गुरु व्यास, जो तपस्वी हैं, आत्मज्ञानी हैं, जितेन्द्रिय एवं वन्दनीय हैं को नमस्कार कर इस विश्व में विख्यात् गुणों में सर्वश्रेष्ठ पुरुष की व्याख्या की है।

इससे एक बात तो स्पष्ट ही है कि वैशम्पायन के गुरु पराशर-नन्दन व्यास थे, बादरायण व्यास नहीं। अन्यथा शिष्य उनको नमस्कार करते समय जहाँ उनके अन्य गुणों का बखान करता वहाँ वह उन्हें वेदान्त-सूत्रों के प्रणेता के रूप में भी स्मरण करता। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

ब्रह्मसूत्र (वेदान्त-दर्शन) के प्रथम अध्याय का सारांश

वेदान्त का अर्थ है वेद (ज्ञान) के विकास की पराकाष्ठा अर्थात् 'वेदस्य (ज्ञानस्य) अन्तः इति वेदान्तः' ।

परन्तु हम यह नहीं मानते कि उपनिषद् ग्रन्थ वेद (ज्ञान) की पराकाष्ठा हैं। इसके विपरीत हमारा यह मत है कि उपनिषद् ग्रन्थ मनुष्य-कृत होने के कारण उतने स्पष्ट नहीं जितने कि वेद स्वयं हैं। अतः वेदान्त का अर्थ है कि ज्ञान की पराकाष्ठा और यह मूल रूप में वेदों में ही है।

दर्शन का अर्थ है सत्य का दर्शन कराने वाला ग्रन्थ। अतः वैदिक-दर्शन, जिनमें व्यास कृत वेदान्त-दर्शन एक प्रमुख ग्रन्थ है, वेदों के कुछ एक सिद्धान्तों का दर्शन कराता है।

छहों दर्शन-शास्त्र सूत्रवत् लिखे गये हैं। सूत्र का अर्थ है कि बहुत कम शब्दों में विस्तृत अर्थ वाला पद। जैसे एक छोटे से सूत्र गुच्छ में परिमाण में बहुत लम्बा सूत्र लिपटा होता है, उसी प्रकार एक सूत्र में लम्बा-चौड़ा भाव समाहित होता है। अतः सूत्र के अर्थों का विस्तार करने वाला विद्वान् यदि उस विषय का भली प्रकार से ज्ञाता हो तो सूत्रार्थ भली-भाँति समझे और समझाये जा सकते हैं। विषय का ज्ञाता होने के साथ-साथ सूत्रार्थ करने में युक्ति बहुत सहायक होती है।

युक्ति बुद्धि का विषय है। अतः निर्मल एवं तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा ही सूत्रार्थ समझे जा सकते हैं। ज्ञान और युक्ति दोनों साथ-साथ चलते हैं। तभी सूत्रों के अर्थ स्पष्ट होते हैं।

कुछ आचार्यों का मत है कि ब्रह्मसूत्र उपनिषद् वाक्यों के भाव को संक्षेप में वर्णन करने के लिए लिखे गये हैं। प्रयोजन यह था कि उपनिषद्-ज्ञान को स्मरण किया जा सके।

हमारा मत इससे भिन्न है। हम समझते हैं कि उपनिषद् के भाव को नहीं वरन् वैदिक-सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन करने तथा उनको युक्ति से सिद्ध करने के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना हुई और ये संक्षेप में इस कारण हैं जिससे कि भिन्न-भिन्न आचार्य इनकी व्याख्या करते समय, जिज्ञासु की योग्यता अनुसार, अपनी-अपनी भाषा में व्याख्या कर सकें।

इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं कि सूत्र के भाव में भी हेर-फेर किया जाये अथवा किया जा सकता है। सूत्रवत् बात कहने का अभिप्राय यह होता है कि उस संक्षेप में कही बात को भाष्यकार जिज्ञासु की योग्यता को देखकर, सूत्र का न्यूनाधिक विस्तार से वर्णन कर सकें।

जिन आचार्यों ने ऐसा समझा है कि ब्रह्मसूत्र उपनिषद् वाक्यों के भावों को प्रकट करने के लिए लिखे गये हैं, वे प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में उपनिषदों के

उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। इन भाष्यकारों के लिए प्रत्येक सूत्र से सम्बन्धित कोई-न-कोई उपनिषद् वाक्य ढूंढ़ना आवश्यक हो जाता है। भाष्यकार जब देखते हैं कि सूत्रार्थ की उपनिषद् से चयन किये गए वाक्य से संगति नहीं बैठती, तब वे सूत्रार्थ को तोड़-मरोड़ कर उपनिषद् के वाक्य के अनुकूल करने का यत्न करते हैं। इससे अनेक सूत्रों के अर्थ विकृत हो गये हैं।

उपनिषद् वाक्यों और सूत्रार्थों में समानता ढूंढ़ने वालों में स्वामी शंकराचार्य प्रमुख हैं। शंकराचार्य के परवर्ती प्रायः सब भाष्यकार स्वामी शंकराचार्य की परिपाटी का ही अनुकरण करते हैं। स्वामीजी से पहले के किसी भाष्यकार का भाष्य उपलब्ध नहीं है, इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि पूर्व काल में सूत्रार्थ स्वतन्त्रता से करने की परिपाटी थी अथवा नहीं, परन्तु शंकराचार्य जी के उपरान्त तो सब भाष्यकारों ने लगभग यही प्रथा निभायी है कि प्रत्येक सूत्र का किसी उपनिषद् वाक्य से समन्वय करने का यत्न किया जाय।

हम समझते हैं कि सूत्रार्थ करने की यह प्रथा ठीक नहीं। ब्रह्मसूत्रों को दर्शन-शास्त्र कहा गया है। दर्शन-शास्त्र का प्रयोजन किसी एक अथवा कई एक ग्रन्थों का दर्शन कराना नहीं, वरन् कुछ-एक सत्य सिद्धान्तों का युक्ति से प्रतिपादन करना है।

जो लोग किसी ग्रन्थ को स्वतःप्रमाण नहीं मानते उनके लिए भी कुछ साधन होने चाहिएँ, जिनसे उनको सत्य का दर्शन कराया जा सके। उनको इतना कह देने से कि अमुक सिद्धान्त का वेदों में अथवा उपनिषदों में वर्णन किया गया है, कुछ भी अर्थ नहीं रखता। दर्शन-शास्त्र ऐसे नास्तिकों को सत्य का दर्शन कराने के लिए लिखे गये हैं, जो न तो परमात्मा को स्वीकार करते हैं और न ही परमात्मा द्वारा प्रतिपादित ज्ञान (वेद) को। उन्हें यदि यह कहा जाय कि वेद में लिखा है कि 'ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वस्रष्टा, भर्ता और प्रलय-कर्ता है' तो वे हँस देंगे। ऐसे लोगों को यह समझाने के लिए कि 'सत्य ही कोई जगत्-कर्ता है', युक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई साधन सार्थक नहीं हो सकता।

यदि वैदिक साहित्य में दर्शन-शास्त्रों को केवलमात्र उपनिषदों का संक्षेप मान लिया जाए तो फिर उसमें कोई ऐसा ग्रन्थ रह ही नहीं जाता जिससे कि वेदादि शास्त्रों पर विश्वास न रखने वाले लोगों को सत्य का साक्षात्कार कराया जा सके।

वेदान्त-सूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि उन सूत्रों में किसी भी उपनिषद् वाक्य का उल्लेख नहीं है। उपनिषद् वाक्य तो भाष्यकारों ने अपनी सुविधा के लिए ढूंढ़ निकाले हैं। उपनिषदों के उद्धरण सूत्रार्थ के साथ संगति रखते हैं अथवा नहीं, यह उपनिषद् वाक्य के चयन करने वाले भाष्यकार के ज्ञान और उसकी योग्यता का परिचायक है। इस पर भी उन भाष्यकारों ने अनेक स्थानों पर ऐसे

उपनिषद् वाक्य उद्धृत किये हैं, जिनकी संगति सूत्रार्थ के साथ बैठती ही नहीं।

हमारा मत यह है कि सूत्र स्वतन्त्र रूप से युक्ति द्वारा सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और यह संकेत भी कर देते हैं कि यही सिद्धान्त वेद-शास्त्रों में भी प्रतिपादित हैं। कहीं-कहीं अन्य ऋषियों का नाम लेकर उनके विषय में लिखा है कि वे भी वैसा ही कहते हैं, जैसा कि सूत्रकार ने लिखा है।

वेदान्त-दर्शन का यह भाष्य हमने इस दृष्टि से किया है। जिन विशेष आधारों को स्वीकार कर यह भाष्य किया गया है, वे आधार हैं—

१. दर्शन-शास्त्र सिद्धान्तों को युक्ति द्वारा सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं।

२. ब्रह्म शब्द प्रकृति, आत्मा, परमात्मा तीनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। जब सम्पूर्ण जगत्, जिसमें प्रकृति (कारण तथा कार्य-जगत्), जीवात्मा-समूह और परमात्मा सबका उल्लेख आता है, तो उसे परब्रह्म के शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

३. सत् का अर्थ उस तत्त्व से है जो अनादि और अक्षर है।

४. वेदान्त-दर्शन में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का वर्णन है। तीनों को अनादि, अक्षर और अव्यक्त माना है।

५. कार्य-जगत् नाम तथा रूप से क्षर माना है। मूल (प्रकृति) अक्षर है।

६. सत् तथा असत् का साथ-साथ उल्लेख आने पर उसका अभिप्राय मूल प्रकृति और कार्य-जगत् माना जाता है। सत्-असत् का अर्थ स्वरूपवान्-अस्वरूपवान् भी लिया जाता है। यही अर्थ ऋग्वेद (१०-११९-१) में भी लिया गया है। गीता (१३-११) में प्रकृति के दो रूपों को भी सत्-असत् कहा है (वैसे सत् परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का गुण है।)।

७. चित् अर्थात् चैतन्य तत्त्व दो हैं, परमात्मा तथा जीवात्मा।

८. आनन्द केवल परमात्मा ही है। जब आत्मा परमात्मा से जुष्ट हो जाता है, तब वह भी उस आनन्द को अनुभव करता है, जो परमात्मा का गुण है।

यदि इस अध्याय में प्रतिपादित विषय को हम सरल भाषा के एक वाक्य में कहें तो वह होगा—

'वेदान्त-दर्शन' ब्रह्म का ज्ञान कराने वाला ग्रन्थ है।

प्रथम अध्याय प्रथम पाद का सारांश

यह जगत् बनता, चलता और विनष्ट होता है। संसार में किसी भी वस्तु के बनने, चलने अथवा टूटने में तीन कारण होते हैं। वे यह कि उस वस्तु का बनाने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला कोई सामर्थ्यवान्, ज्ञानवान् और महान् होना चाहिए। इसे 'निमित्त कारण' कहते हैं। बनाने वाले के साथ वह पदार्थ भी होना चाहिए जिससे कि यह जगत् बना है। अभाव से भाव नहीं होता।

कुछ होना चाहिए, जिससे जगत् बना है। वह 'उपादान कारण' कहलाता है। इसी प्रकार प्रत्येक बनने वाली वस्तु के बनने का कुछ उद्देश्य होना चाहिए।

जगत् का रचयिता परमात्मा है। जिस पदार्थ से जगत् बना है, उसे प्रकृति अथवा प्रधान कहते हैं और यह जगत् जीवात्मा-समूह के लाभ के लिए बना है।

जगत् में मनुष्य प्राणी ही मन और बुद्धियुक्त है, जो ज्ञान प्राप्त कर सकता है। किन्तु मन और बुद्धि प्रकृति का अंग होने से जड़ हैं, अतः ये स्वतः ज्ञानयुक्त नहीं हो सकते। ज्ञान प्राप्त करने वाला कोई अन्य है। ज्ञान देने वाला कोई अन्य स्वयं ज्ञानवान् होना चाहिए, तभी वह ज्ञान दे सकता है। अतः सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य को ज्ञान देने वाला परमात्मा ही हो सकता है।

जब सृष्टि बन गयी तो इसको स्थिर रखने वाला भी कोई अति महान् सामर्थ्यवान् होना चाहिए। अन्यथा पृथ्वी, सूर्य, नक्षत्र और ग्रह, जो निरन्तर जगत् में घूमते हैं, जड़ होने के कारण चल न सकते। इससे स्पष्ट हुआ कि संसार का समन्वय करने वाला भी परमात्मा है।

परब्रह्म में प्रकृति, आत्मा और परमात्मा तीनों की गणना होती है। तीनों तत्त्व अनादि हैं, अक्षर हैं। इन तीनों तत्त्वों में दो चेतन हैं। एक सामर्थ्यवान् चेतन है, वह परमात्मा कहलाता है। दोनों का गुण ईक्षण करना है।

ईक्षण के अर्थ हैं कर्म के आरम्भ और अन्त करने का काल, कर्म की दिशा, कर्म के काल और स्थान का निश्चय करना। ब्रह्माण्ड तो अनन्त है। इसे आकाश की संज्ञा दी गई है। इस ब्रह्माण्ड में जगत्-रचना का स्थान, काल और दिशा निश्चय करने वाला चेतन ज्ञानवान् कहलाता है जो कि परमात्मा है।

जगत् में परमात्मा के अतिरिक्त दो गौण तत्त्व हैं—जीवात्मा और प्रकृति। परमात्मा गौण तत्त्व नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि जगत् का बनाने वाला गौण तत्त्व नहीं अपितु मुख्य ही होगा।

जीवात्मा का सामर्थ्य सीमित है और प्रकृति तो जड़ होने से किसी भी निर्मित वस्तु का निमित्त कारण नहीं हो सकती।

ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि जीवात्मा परमात्मा से जुष्ट होकर मोक्ष पाता है।

परमात्मा-तत्त्व हीन नहीं है। यह महान् है और हीन तत्त्वों (जीवात्मा और प्रकृति) पर शासन करता है।

यह परमात्मा अपने-आप गमन करता है अर्थात् यह अपने कर्म अपने आप ही करता है, किसी दूसरे का आश्रय नहीं लेता।

जगत् के सब पदार्थों के व्यवहार में समानता है। नक्षत्र और ग्रहों की गति में और पृथ्वी पर पदार्थों के समन्वय तथा प्राणियों के जीवन में एक-समान व्यवहार देखा जाता है। इस कारण इन सबका रचयिता एक ही है। यदि एक

से अधिक होते तो पदार्थों के व्यवहार में भी भिन्नता होती।

इस प्रकार परब्रह्म में चेतन-तत्त्व परमात्मा के कुछ गुणों का वर्णन किया गया है। यह जगत् का रचने वाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला है। यह मनुष्यों के ज्ञान का स्रोत है। यह संसार में संयोग-वियोग करने की सामर्थ्य वाला है। यह ईक्षण करने वाला है।

ब्रह्म में अन्य दो तत्त्व हीन गुण वाले हैं। परमात्मा वैसा नहीं। यह किसी के आश्रय नहीं। स्वयं कार्य करता है और यह आनन्दमय है।

परमात्मा की उपासना अर्थात् उसके समीप बैठने से जीवात्मा भी आनन्दमय हो जाता है।

इसका शास्त्रों (वैदिक शास्त्रों) में भी वर्णन है। ब्रह्म में वर्णित दूसरे तत्त्व अर्थात् जीवात्मा और प्रकृति आनन्दमय नहीं। प्रकृति तो जड़ है। उसके आनन्दमय होने की कोई सम्भावना नहीं। साथ ही जीवात्मा भी स्वयं आनन्दमय नहीं है। वैदिक शास्त्रों में लिखा है और अनुभव से भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा स्वयं आनन्दमय नहीं है। वह जब परमात्मा से जुष्ट होता है तब ही आनन्दमय होता है।

इसके अनन्तर परमात्मा के भीतरी गुणों का वर्णन किया गया है। ये गुण जीवात्मा में नहीं हैं। इस कारण परमात्मा और जीवात्मा में भेद है।

परमात्मा का एक लक्षण आकाश है और उसका गुण है सर्वव्यापक होना। अर्थात् जितना भी स्थान विश्व में है, उस सबमें परमात्मा व्यापक है। विश्व के स्थान को अवकाश (space) भी कहा है।

परमात्मा का दूसरा लक्षण है गति। इसे प्राण कहते हैं। परमात्मा का गुण है सामर्थ्य। इसी गुण के कारण इसे सर्व-शक्तिमान् कहा है। उस शक्ति का प्रदर्शन होता है गति में।

प्रकाश परमात्मा का तीसरा लक्षण है। ज्योति के अर्थ में प्रकाश और चेतना दोनों लिए जाते हैं। परमात्मा ने सृष्टि की रचना खण्डशः की है। सर्वप्रथम देवता और पृथ्वी बनी। देवताओं में से नक्षत्र बने और पृथ्वी में से ग्रह बने।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति से यह जगत् एक क्षण में नहीं बना। मूल प्रकृति से वर्तमान कार्य-जगत् पग-पग कर बनता चला गया। इस प्रक्रिया को इस प्रकार वर्णित किया गया है—
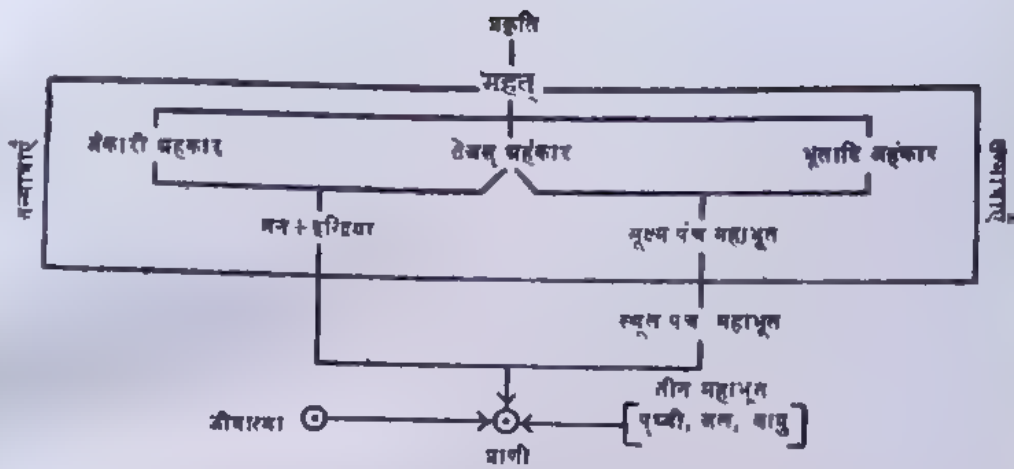
यह है प्रक्रिया मूल प्रकृति से पग-पग कर प्राणी बनने की।

यह जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है, वह वेदादि शास्त्रों में भी लिखा है। कहने के ढंग में अन्तर हो सकता है, भाव में अन्तर नहीं।

चर और अचर जगत् में अन्तर यह है कि ईश्वर का लक्षण प्राण एक में तो विद्यमान है किन्तु दूसरे में नहीं। प्राणवान् को प्राणी कहते हैं।

प्राण अर्थात् गति ईश्वर की है। यह कहने का प्रयोजन किसी प्रकार की आत्मश्लाघा नहीं, वरन् यह वस्तुस्थिति है। अध्यात्म-शास्त्रों में इस बात का उल्लेख भी है। वामदेवादि ऋषियों ने भी ऐसा ही कहा है।

प्राणी में भी ईश्वर के ही कारण गति है, जीवात्मा के कारण नहीं। इसके विषय में व्याख्या से आगे चलकर वर्णन किया जाएगा।

प्रथम अध्याय द्वितीय पाद का सारांश

उक्त विषय प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में वर्णित है। अब द्वितीय पाद का विषय लिखते हैं।

इस पाद में सर्वत्र प्रसिद्ध का वर्णन है। प्रसिद्ध वस्तु है यह जगत्, यह बना है।

जगत् में गुणों के होने से इसका विश्लेषण किया जा सकता है। इसमें परमात्मा है, जीवात्मा है और कार्य-जगत् है।

शरीरी के शरीर में कुछ-एक गुण नहीं होते। इससे जगत् में एक श्रेष्ठ गुणों वाले परमात्मा की सिद्धि होती है।

शब्द प्रमाण (वेदादि शास्त्र) से भी परमात्मा और शरीरी तथा शरीर का ज्ञान होता है। स्मृतियों में भी यही बात लिखी मिलती है।

यद्यपि परमात्मा आत्मा के साथ हृदय की गुहा में रहता है, तदपि दोनों के

गुणों में भेद है। उस छोटे से स्थान पर रहते हुए भी परमात्मा आत्मा से भिन्न है। इसके गुण भिन्न हैं।

आत्मा जगत् का भोग करता है, परन्तु परमात्मा समीप होता हुआ भी उसका भोग नहीं करता। तदपि चर और अचर जगत् की आयु को वह खाता है। अर्थात् चर और अचर जगत् क्षय होते जाते हैं। यह परमात्मा कर रहा है।

हृदय की गुहा में जीवात्मा का निवास है और सर्वव्यापक होने से परमात्मा वहाँ भी उपस्थित है। आत्मा वहाँ ठहरा हुआ परमात्मा के दर्शन कर सकता है। वैसे दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

इनकी भिन्नता को इन विशेषणों से प्रकट किया जा सकता है कि परमात्मा सत्, चित् और आनन्द है। जीवात्मा केवल सत् और चित् गुण वाला है, वह आनन्दमय नहीं।

श्रुति से जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणतया जीवात्मा भविष्य के विषय में नहीं जानता। परमात्मा परम आनन्दमय है और जीवात्मा आनन्दमय नहीं। दोनों का व्यवहार देखकर परमात्मा और आत्मा में भेद किया जाता है।

जीवात्मा शरीर के सब अंगों में विद्यमान् नहीं और परमात्मा न केवल प्राणी के सब अंगों में विद्यमान् है, वरन् यह पूर्ण ब्रह्माण्ड में भी विद्यमान् है और पूर्ण ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण करता है।

परमात्मा प्राणी के शरीर का भीतर से नियन्त्रण करता है, इस कारण इसे अन्तर्यामी कहा है।

प्राणी के शरीर का नियन्त्रण करने वाला न तो मस्तिष्क (स्मृति यन्त्र) है और न आत्मा ही। यह परमात्मा की शक्ति है।

जीवात्मा और परमात्मा में समानता भी है। दोनों अदृश्य (अव्यक्त) अर्थात् इन्द्रियों से न जाने जा सकने वाले हैं। ये अवयव नहीं हैं।

यह समानता होने पर भी परमात्मा अन्य विशेषणों से जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है।

परमात्मा रूप से भी जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है। रूप का ज्ञान विशेषणों से होता है।

परमात्मा का एक स्वरूप है वैश्वानर-अग्नि। वैश्वानर-अग्नि उस शक्ति को कहते हैं जिससे कि हिरण्यगर्भ से जगत् बनता है।

वैश्वानर जो परमात्मा का स्वरूप है, वह देवता अग्नि नहीं, न ही वह भूताग्नि है। वैश्वानराग्नि हिरण्यगर्भ में सृष्टि का निर्माण करने वाली अग्नि है। दिव्य अग्नि वह है जो सूर्यादि नक्षत्रों में होती है और भूताग्नि वह है जो पृथ्वी पर हम नित्य प्रयोग में लाते हैं।

जैमिनी मुनि भूताग्नि और दिव्याग्नि को भी परमात्मा की अग्नि ही मानते हैं। उनके विचार से वैश्वानर ही सब अग्नियाँ हैं। बादरि ऋषि भी ऐसा ही मानते हैं। योगी लोग भी समाधि-अवस्था में ऐसा ही देखते हैं कि पूर्ण जगत् में व्याप्त अग्नि परमात्मा की ही है।

परमात्मा ही सब जगत् को अपनी शक्ति से चलाता है। परन्तु जीवात्मा ऐसा नहीं कर सकता। वह तो अपने शरीर का संचालन भी नही कर सकता।

प्रथम अध्याय तृतीय पाद का सारांश

द्युलोक और भूलोक का आश्रय स्थान परमात्मा है। अभिप्राय यह है कि पृथ्वी और अन्तरिक्ष परमात्मा में स्थित हैं। मुक्त जीव भी उसी परमात्मा में स्थित होते हैं।

सब कुछ परमात्मा में ही स्थित है, यह केवल अनुमान का विषय ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

जहाँ पृथ्वी, द्युलोक और मुक्त जीव परमात्मा में स्थित हैं, वहाँ प्राणी भी उसी के आश्रय हैं।

भू द्यु और प्राणी परमात्मा के आश्रय हैं, परमात्मा इनके आश्रय नहीं। इनका वर्णन आगे आएगा। प्रकरण से देख लेना चाहिए कि कहाँ किससे अभिप्राय है। कौन किसमें स्थित है और कौन किसकी भोग-सामग्री है। कार्य-जगत् भोग-सामग्री है। जीवात्मा भोक्ता है, परमात्मा साक्षी है, स्वयं भोग नहीं करता। परमात्मा में अन्य सब-कुछ स्थित है।

परमात्मा को सबका आश्रय स्थान होने से भूमा कहा है। भूमि की भाँति यह सबका आश्रय स्थान है।

परमात्मा अक्षर है और वह आकाश के अन्त तक सबको धारण करने वाला है। वह सब पर शासन भी करता है। यदि शासन न करता होता तो सब कुछ एक-दूसरे के साथ टकरा कर टूट-फूट जाता।

अन्य अक्षर तत्त्वों का व्यवहार पृथक् है। अभिप्राय यह कि ब्रह्म में तीन अक्षर पदार्थ हैं। किन्तु परमात्मा में ही उक्त गुण रहते हैं। एक तो वह आकाश के अन्त तक सबको धारण करता है, दूसरे वह सब पर शासन करता है। अन्य दो में ये गुण नहीं रहते।

इस अम्बरान्त अक्षर का एक गुण ईक्षण करना भी है। ईक्षण का अर्थ हम बता चुके हैं कि जगत् में होने वाले कार्यों का काल, स्थान और दिशा नियत करना ईक्षण करना कहलाता है। परमात्मा ईक्षण करने वाला है।

यही अक्षर जो अम्बरान्त सब-कुछ धारण करने वाला है और शासन करने वाला है तथा जो ईक्षण करने की सामर्थ्य रखता है, वह ही 'दहर' कहलाता है।

अर्थात् प्राणी के हृदय की गुहा में रहता है। दहर का अर्थ है सूक्ष्म। हृदय की गुहा एक सूक्ष्म स्थान है। यहाँ पर भी विद्यमान् होने से परमात्मा दहर कहलाता है।

दहर की शक्ति से ही प्राणी के शरीर के अंग-प्रत्यंग हिलते-डोलते हैं। इसी दहर का प्राणी के शरीर में महान् कार्य है शरीर को जन्म देना, पालन करना और फिर इसका विनाश करना। यह प्रसिद्ध भी है। अर्थात् देखने से सिद्ध होता है।

दहर (परमात्मा) शरीर का धारण और पालन-पोषण करता है। इस पर भी यह निश्चय है कि यह जीवात्मा के परामर्श से कार्य करता है। शक्ति परमात्मा की है, परन्तु शरीर में वह शक्ति जीवात्मा के परामर्श से कार्य करती है। जीवात्मा का परामर्श भी ईश्वर की शक्ति को सिद्ध करता है।

परमात्मा दहर स्थान में बैठा शरीर को शक्ति प्रदान करता है, परन्तु छोटे स्थान में होने से यह स्वयं छोटा नहीं। यह वही है जो अम्बरान्त धारण करने की शक्ति रखता है। यहाँ उसका केवल प्राणी के शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है।

जीवात्मा भी 'दहर' में रहता है। जीवात्मा परमात्मा का अनुकरण करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है। परमात्मा का स्मरण करने से भी मोक्ष प्राप्त होता है। स्मरण करने से अभिप्राय है कि परमात्मा के गुणों का स्मरण किया जाए। ऐसा स्मरण करने से उन गुणों के संस्कार मन पर पड़ते हैं और वे मोक्ष दिलाने में सक्षम हैं।

परमात्मा दहर स्थान (हृदय की गुहा) में बैठा हुआ शरीर पर अपेक्षा (देख-रेख) रखता है और इस प्रकार शरीर कार्य करता है। परमात्मा के विषय में महर्षि बादरायण भी वही कहते हैं जो ऊपर लिखा गया है।

शरीर में शक्ति तो परमात्मा की है, परन्तु शरीर के कर्मों में विरोध होता है। इसमें कारण यह है कि परमात्मा की शक्ति के कार्य में कई प्रतिपत्तियाँ दिखाई देती हैं। प्रतिपत्तियों का अर्थ है प्रभाव डालने वाली शक्तियाँ। प्राणी के शरीर में मुख्य रूप से तीन प्रतिपत्तियाँ हैं—जीवात्मा, मन और बुद्धि।

शरीर में परमात्मा की शक्ति पर तो प्रतिपत्तियाँ कर्म में विरोध प्रकट करती हैं, परन्तु परमात्मा के अपने कार्यों में नित्यता है, अनादित्व है, कोई विरोध नहीं है।

परमात्मा के कर्म एक-रस हैं। इससे प्रत्येक सर्ग में समान रूप और नाम वाले कार्य बनते हैं। सृष्टि के आदि में ज्ञान (वेद) भी बार-बार वैसा ही मिलता है। मध्वादि ऋषि, जो उस ज्ञान के अधिकारी हैं, वे भी बार-बार पैदा होते हैं। ऐसा जैमिनी ऋषि का मत है।

परमात्मा ने वेद दिए हैं, क्योंकि वह ज्योतिस्वरूप है। अर्थात् वह ज्ञानस्वरूप है। मध्वादि ऋषि होने से वेद जानने के अधिकारी थे। किन्तु जो अज्ञानी हैं, वे

अधिकारी नहीं हैं। अनधिकारियों से परमात्मा का ज्ञान भाग जाता है। अर्थात् वे इसे समझ नहीं सकते।

जैसे सुन्दर रथ में बैठने से कोई क्षत्रिय नहीं होता, वरन् क्षत्रियत्व रखने से क्षत्रिय होता है, वैसे ही कोई ज्ञानी से ही वेद को समझ सकता है, वेदपाठ करने से नहीं।

अज्ञान संस्कारों के अभाव से होता है। ज्ञान भी संस्कार का एक रूप ही है।

अच्छे संस्कारों का अभाव अथवा भाव मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव) से पता चलता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संस्कारों से स्वभाव बनता है।

अच्छे संस्कार शास्त्र श्रवण, स्वाध्याय, स्मृति शास्त्र को स्वीकार करने से बनते हैं। जो व्यक्ति किसी बात को सुनता नहीं, शास्त्राध्ययन नहीं करता, शास्त्र के यथार्थ अर्थों का विरोध करता है, वह अज्ञानी ही रहता है। उसके संस्कार श्रेष्ठ नहीं हो सकते और उसका स्वभाव बिगड़ जाता है। तब वह परमात्मा का विरोध करने लगता है और ज्ञान उसको छोड़ जाता है।

परमात्मा को प्राण कह आये हैं और प्राण का लक्षण कम्पन (vibration) है।

परमात्मा ज्योतिर्मय अर्थात् ज्ञानमय है।

परमात्मा का लिंग आकाश माना है, परन्तु यह वह आकाश नहीं जो पंचभूतों में एक है। ब्रह्म-रात्रि के समय जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में होता है। परमात्मा उस समय भी जागृत अवस्था में रहता है। इसमें ये एक-दूसरे से भिन्न हैं। परमात्मा को पति कहा है।

प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद का सारांश

कुछ नास्तिक युक्ति से यह कहते हैं कि यह कार्य-जगत् स्वयम्भू है अर्थात् इसको बनाने वाला कोई नहीं। सूत्रकार कहता है कि ऐसा नहीं है। जैसे प्राणी का शरीर मृत्यु के उपरान्त आत्मा-विहीन होने पर कुछ नहीं कर सकता, इसी प्रकार जगत् बिना परमात्मा के निष्क्रिय हो जाता है।

जगत् एक सूक्ष्म कारण से बना है। वह कारण 'उपादान कारण' है। इस सूक्ष्म के अधीन ही यह कार्य-जगत् बनता है। जगत् का मूल प्रकृति है। प्रकृति यद्यपि अज्ञेय कही जाती है, इस पर भी यह जानने योग्य है। प्रकृति को जो न जानने योग्य कहा जाता है, वह इसका प्रकरण के अनुसार कथन होता है। अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा के साथ जब इसकी तुलना की जाती है तो यह अज्ञेय है, परन्तु यह है और जहाँ इसका अपना प्रकरण है, वहाँ इसे भी जानना चाहिए।

परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनों का ही वर्णन है। जहाँ जिसका प्रसंग हो, वहाँ उसको समझना चाहिए।

प्रकृति महत् की भाँति सूक्ष्म है। प्रकृति से महत् बनता है और यह चमसवत्

हो जाता है। अर्थात् ऐसे हो जाता है कि जैसे कलछी अथवा मनुष्य की खोपड़ी होती है।

महत् जब चमसवत् हो जाता है तो यह कहा जाता है कि ईश्वर अपनी ज्योति से (ज्ञान से) इसमें प्रवेश करता है। वह ज्ञान ही अग्नि रूप हो जाता है। तब वह हिरण्यगर्भ बन जाता है।

हिरण्यगर्भ से कार्य-जगत् की अनेकानेक वस्तुएँ बनी हैं। प्रकृति एक है और कार्य-जगत् में अनेक वस्तुएँ इससे बनी हैं। इन नाना प्रकार की वस्तुओं मे प्राण भी एक है।

प्राण परमात्मा की शक्ति है। इसका संयोग जब जगत् की नाना वस्तुओं से होता है तब प्रथम अन्न बनता है। अन्न से ही प्राणी में शक्ति आती है।

प्रकृति आकाशादि भूतों का कारण है और उन भूतों से सब जगत् के पदार्थ बने हैं। अतः सबका कारण प्रकृति है।

गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। समाकर्षण बिगड़ता है तो जगत् बनता है। यद्यपि जीवात्मा का लक्षण भी प्राण है, परन्तु जीवात्मा समाकर्षण को भंग नहीं कर सकता। यह भंग करने वाला परमात्मा ही है। वेदों के अनुशीलन से यही पता चलता है।

यह निश्चय है कि प्रकृति से जगत् बना है और इसको बनाने वाला तथा नष्ट करने वाला परमात्मा ही है।

जगत् की रचना जीवात्माओं के लाभ के लिए होती है। इस जगत् में आकर ही वे उत्क्रमण कर सकते हैं अर्थात् निम्न योनियों से ऊँची योनि में जा सकते हैं। यह उत्क्रमण तब तक चलता है जब तक कि आत्मा ब्रह्मवित् नहीं हो जाता।

परमात्मा का प्राण, जो जगत् में और प्राणी के शरीर में रहता है, वह प्राणी को उत्क्रमण करने में सहायता देता है।

जीवात्मा प्रकृति में बँधा होता है, परन्तु प्रतिज्ञा, जिज्ञासा और शास्त्र-ज्ञान से वह इस बन्धन से छूटता है। जिज्ञासा और संकल्प से जीवात्मा निकृष्ट से उच्च योनियों में जाता है। परमात्मा के साक्षात्कार से भी इसमें सहायता मिलती है।

हृदय की गुहा में परमात्मा का साक्षात् होता है। इसके यह भी अर्थ हो सकते हैं कि जगत् में सुख एवं दुःख के साक्षात् से भी उत्क्रमण में सहायता मिलती है।

यह भी साक्षात् होता है कि परमात्मा से जगत् बना है और वह जगत् का निमी स्थान है।

सूत्रों में जो कुछ कहा गया है, इसको व्याख्या से जानने पर पूर्ण रहस्य का पता चल जाता है।

* * *

हमने प्रथम अध्याय के चारों पादों का क्रमवार यह वृत्तान्त दे दिया है, जिससे सामान्य रूप में विदित हो जाए कि वेदान्त-सूत्रों का विषय क्या है।

इस भाष्य के लिखने में हमारा एक उद्देश्य यह भी है कि स्वामी शंकराचार्य के भाष्य से जो भ्रम फैले हैं, उनका निवारण हो सके।

स्वामी शंकराचार्य ने वेदान्त-दर्शन के भाष्य की एक प्रस्तावना लिखी है। उसमें उन्होंने उस पूर्ण निष्कर्ष को लिखा है, जो वे इस ग्रन्थ में लिखा हुआ मानते हैं।

अतः स्वामी जी की प्रस्तावना को भी देखना चाहिए कि उन्होंने इसमें क्या लिखा है।

स्वामी जी कुछ मूल विचारों को लेकर भाष्य करने बैठे हैं। वे उन मूल विचारों का उल्लेख अपने भाष्य के उपोद्घात् में करते हैं।

सबसे पहले उन्होंने जगत् को मिथ्या माना है। इसे ब्रह्म का अध्यास मात्र समझा है। वे अध्यास की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः।

अर्थात् स्मृति रूप में पूर्वदृष्टा का अन्य में अवभास अध्यास कहलाता है।

पहले देखी वस्तु की स्मृति से किसी दूसरी वस्तु में पहली समझ लेना अध्यास है।

सरल भाषा में इसे भ्रम कह सकते हैं। स्वामी जी इसका उदाहरण देते हैं।

तथा च लोकेऽनुभवः—शुक्तिका हि रजतवदवभासते, एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति।

अर्थात् यह लोक-व्यवहार में भी अनुभव होता है। शुक्ति (सीपी) चाँदी की भाँति अवभासित (दिखाई) देती है। एक ही चन्द्रमा दो चन्द्रों के समान दिखाई देता है।

इन उदाहरणों से स्वामी जी का कहना है कि मिथ्या वस्तु का अवभास होता है। सीपी में चाँदी का अथवा जल में चन्द्र का। आप एक अन्य उदाहरण भी देते हैं। आप कहते हैं कि ऊपर एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का आभास हुआ दिखाया है। जैसे सीपी में चाँदी का अथवा जल में चन्द्र का। किसी अवस्तु में भी वस्तु का आभास होता है। जैसे—

न चायमस्ति नियमः—पुरोऽवस्थित एव विषये विषयान्तरमध्यसितव्यमिति; अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति।

यह नियम नहीं कि पुरोवर्ती विषय में दूसरे विषय का अध्यास हो। जैसे कि अप्रत्यक्ष आकाश में भी अविवेकी लोग तल मलिनता आदि का अध्यास करते हैं।

स्वामी जी यह कहना चाहते हैं कि एक के गुणों में दूसरे के गुणों का अध्यास (भ्रम) हो जाता है और जहाँ कुछ भी प्रत्यक्ष न हो वहाँ पर भी किसी के गुणों का अध्यास (भ्रम) हो जाता है। जैसे आकाश कुछ भी वस्तु नहीं और देखने पर वह नील वर्ण दिखाई देता है अथवा उलटाई हुई कड़ाही की भाँति दिखायी देता है।

इन उदाहरणों से स्वामी जी यह प्रकट करना चाहते हैं कि जगत् तो कुछ है नहीं। इसमें भिन्न-भिन्न पदार्थों के गुण दिखायी देने लगते हैं।

अतः, वे कहते हैं कि जगत् मिथ्या है और सत्य केवल ब्रह्म ही है।

यह पक्ष स्वामी जी ने अपनी प्रस्तावना में रखा है और इसी पक्ष के आधार पर पूर्ण वेदान्त-दर्शन का भाष्य उन्होंने किया है।

हमारा यह कहना है कि प्रमाण और युक्ति स्वामी जी का पक्ष सिद्ध नहीं करती।

यह हम मानते हैं कि किसी वस्तु में, भ्रम से कुछ उन गुणों की प्रतीती होने लगती है, जो उसमें नहीं होते।

उदाहरण के रूप में वर्तमान विज्ञान यह मानता है कि लोहे के एक टुकड़े में ठोसपन की प्रतीती होती है। लोहे के टुकड़े पर उँगली रखने से उँगली उसको दबा नहीं सकती। वास्तव में लोहे के टुकड़े में ठोसपन है नहीं। लोहे के प्रत्येक अणु में जो इलैक्ट्रोन इत्यादि हैं, वे वेग से कम्पित हो रहे हैं, वही उसमें ठोसत्व प्रकट करता है। वास्तव में यह इलैक्ट्रोन की गति ही है। यदि गति न हो तो जैसे रेत के लड्डू खण्डित हो जाते हैं, वैसे ही सब ठोस पदार्थ रेत के पिण्ड समान ही खण्डित हो जाएँ।

कुछ ऐसी बात ही स्वामी जी कह रहे हैं।

इसमें भ्रम यह है कि प्रतीत वही होता है, जिसका अनुभव पहले हो।

प्रथम उदाहरण में चाँदी का अनुभव पूर्व में रहता है, तब ही सीपी में चाँदी का भास होता है। यदि चाँदी का ज्ञान न रहता तो सीपी में इसका भास होता ही नहीं।

इसी प्रकार दो जल-पात्रों में चन्द्रमा दिखायी देता है। यह तब ही सम्भव हो सकता है जब चन्द्र का अनुभव पहले हो।

सीपी और जल-पात्र हो अथवा न हो, परन्तु चाँदी और सीप तो होते हैं। तभी उनकी उपस्थिति का भास होता है।

इसी प्रकार कड़ाही के भीतर के गुम्बद की भाँति के आकार का अर्थात् कड़ाही का जब ज्ञान होता है, तब ही आकाश वैसा दिखायी देने लगता है।

अभिप्राय यह कि चाँदी, चाँद और कड़ाही का अनुभव पहले रहता है और वह अनुभव स्मरण होता है; तभी उसका भास किसी दूसरी वस्तु में होता है। वह दूसरी, जिसमें भ्रम होता है, वस्तु हो अथवा अवस्तु हो, यह विचारणीय नहीं।

विचारणीय यह है कि चाँदी, चाँद और कड़ाही का ज्ञान पहले हो, तभी इसका आभास किसी वस्तु में अथवा अवस्तु में होता है।

अत: जगत् का ज्ञान पहले होना चाहिए, तभी इसका आभास ब्रह्म में दिखायी देगा। अभिप्राय यह कि चाँदी, चाँद और कड़ाही की भाँति जगत् सत्य है। देखने वाले को इसका ज्ञान हो, तभी वह ब्रह्म को जगत् समझने लगता है।

ब्रह्म हो अथवा न हो, यह विचारणीय नहीं। परन्तु जगत् के लक्षणों का अनुभव होगा। यह तभी हो सकता है जबकि ब्रह्म में जगत् के लक्षण दिखायी देने लगते हैं।

अत: जगत् तो सत्य है। ब्रह्म के विषय में पृथक् बात है।

स्वामीजी जगत् को मिथ्या सिद्ध करने चले थे और सिद्ध कर बैठे हैं परमात्मा को मिथ्या।

स्वामीजी ने एक दूसरी बात भी लिखी है। आप लिखते हैं

तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय-व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्ष-पराणि।

(पूर्वोक्त इस अविद्या कही जाने वाली आत्मा और अनात्मा के परस्पर अध्यास को आगे रख कर सब लौकिक और वैदिक शास्त्र, प्रमाण, प्रमेय व्यवहार में लगे हुए हैं। सब शास्त्र विधि-निषेध बताने वाले मोक्ष कैसे दिला सकते है?)

स्वामीजी ने लौकिक और वैदिक शास्त्रों की निन्दा कर दी है। यह कहा है कि क्योंकि उनमें प्रमाण और प्रमेय व्यवहार अपनाकर और यह करो, वह न करो की बात कही है, अत: वे मोक्षपरक नहीं हो सकते।

आगे चल कर भाष्य में देखेंगे कि स्वामीजी भी कई शास्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। स्वामीजी प्रमाण देते समय स्वयं को तो ठीक कहने वाला मानते हैं, परन्तु दूसरे पक्ष वाले जब शास्त्र का प्रमाण देते हैं तो स्वामीजी कह देते हैं कि शास्त्र अविद्यामूलक हैं।

इसी सम्बन्ध में आप आगे कहते हैं—

अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः।

(अत: पुरुषों का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार पशुओं के समान है और यह प्रसिद्ध है कि पशु आदि का प्रत्यक्षादि व्यवहार अविवेकपूर्वक होता है।)

तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।

इस पद का अर्थ है —सामान्य रूप में उनकी भाँति प्रत्यक्षादि देखने से मनुष्य का व्यवहार पशुओं के समान होता है। यह निश्चय ही है।

हमारा यहाँ यह कहना है कि शास्त्र में प्रमाण देखना तो प्रत्यक्ष देखने से अतिरिक्त भी हो सकता है। अतः शास्त्र चाहे लौकिक हो और चाहे वैदिक, वहाँ के प्रमाण देखना पशुओं के व्यवहार के समान नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने अपने भाष्य के उपोद्घात में दो बातें ही कही हैं। एक तो यह कि जगत् अध्यास मात्र है, यह वास्तविक नहीं है। दूसरी बात यह है कि शास्त्र में जो प्रमाण प्रमेयादि बातें हैं, वह अविद्या है और उनको देखकर व्यवहार का निश्चय करने वाले पशुवत् अविद्वान् हैं।

ये दोनों बातें मिथ्या दृष्टि की सूचक हैं। जो उदाहरण स्वामीजी ने दिया है, उसके विषय में हम ऊपर बता चुके हैं कि वे स्वामीजी की बात को सिद्ध नहीं करता।

यह सब-कुछ ब्रह्म (परमात्मा) है और जो कुछ दिखायी देता है, वह अध्यास है, अर्थात् किसी पूर्व में देखी वस्तु के गुणों का ब्रह्म में भ्रम हो रहा है; परन्तु हमारा कहना यह है कि कार्य-जगत् का ब्रह्म में अध्यास तब ही हो सकता है जब कि इसको पूर्व में कभी देखा हो और उसके गुणों को स्मरण कर ब्रह्म में उसे आरोपित करें। देखने वाले को जगत् के गुणों का ज्ञान हो। अर्थात् पहले जगत् विद्यमान् हो। अन्यथा ब्रह्म में अध्यास कैसे होगा ?

साथ ही विशेष बात यह है कि कार्य-जगत् और ब्रह्म के अतिरिक्त तीसरा कोई होना चाहिए, जिसको अध्यास (भ्रम) हो। ब्रह्म को ही ब्रह्म में किसी अनुपस्थित अनजानी वस्तु का अध्यास तो (स्वामीजी के अपने कथनानुसार) नहीं हो सकता।

दूसरी बात जो स्वामीजी कहते हैं कि शास्त्र, विशेष रूप में वैदिक-शास्त्र, प्रमाण नहीं हैं यह सर्वथा अयुक्त है। उनके प्रमाण को अमान्य करने के लिए दी गयी युक्ति ठीक नहीं बनी।

स्वामी शंकराचार्य ने अविद्वान् और पशु की तुलना करते-करते वैदिक शास्त्रों को ही अमान्य कर दिया है। यह नास्तिक्य है। आर्य परम्परा यह है कि वेद अपौरुषेय होने से स्वतःप्रमाण हैं और मनुष्य के पूर्ण व्यवहार में वेद प्रमाण कसौटी का काम करते हैं।

वेदान्त-दर्शन का भाष्य करते हुए हमारी जो मान्यतायें हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) जगत् मिथ्या नहीं, सत्य है। यह ठीक है कि इसको सामान्य रूप में देखने वाला इसका सत्य स्वरूप नहीं देख सकता। जो कुछ दिखायी देता है, यह उससे भिन्न है। हम एक लोहे के टुकड़े के ठोस प्रतीत होने का प्रमाण दे चुके हैं। यह जानकर भी कि ठोसत्व मिथ्या है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कुछ है ही नहीं। पदार्थ तो है। उसके गुणों में भ्रम हुआ है। यह नहीं कि वस्तु का अस्तित्व ही भ्रममूलक हो।

(२) जगत् तीन अक्षर पदार्थों से बना है। परमात्मा इन सबका बनाने वाला है। प्रकृति, कार्य-जगत् का उपादान कारण है। आत्माओं के भोग के लिए प्रकृति से कार्य-जगत् का निर्माण किया जाता है।

(३) अक्षर पदार्थ सत् कहलाते हैं। यह इस कारण कि अक्षर के अर्थ ही सत् हैं। जो सदा रहे, वही सत् है और वही अक्षर है।

(४) चेतन पदार्थ दो हैं, परमात्मा और जीवात्मा।

(५) परमात्मा सर्वशक्तिमान्, दयालु, अजन्मा, सर्वव्यापक, कर्ता, भर्ता और भोक्ता (प्रलयकर्ता) है।

ये आधार हैं वर्तमान भाष्य के। हमने बिना किसी प्रकार की खींचातानी किये अपने विचारों को वेदान्त-दर्शन-शास्त्र से सिद्ध किया है।

दर्शन-जैसे गहन विषय में भूल हो सकती है, परन्तु विवेक बुद्धि से हमारी भूल दर्शाने वाले का हम स्वागत करेंगे और यदि युक्ति तथा प्रमाण से भूल सिद्ध हो गई तो उसे स्वीकार करने में हमें तनिक संकोच नहीं होगा। इसके लिए हम कृतज्ञता का अनुभव करेंगे।

१८/२८ पंजाबी बाग,
नयी दिल्ली-११००२६

—गुरुदत्त

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।।१।।

अथ + अतः + ब्रह्मजिज्ञासा।

अतः = इस कारण; अथ = अब; ब्रह्म = ब्रह्म की जिज्ञासा, जानने की इच्छा (की पूर्ति करते हैं)।

इस सूत्र में 'अथ' शब्द पर ही विशेष विचार प्रकट किया गया है। अथ शब्द मंगल सूचक, आनन्तर्य अर्थ वाला, आरम्भ करने का तथा पूर्णता का सूचक है।

मोनियर विलियम अपने संस्कृत शब्दकोश में 'अथ' के अर्थ इस प्रकार करते हैं—

अथ—An auspicious and inceptive particle (not easily expressed in English) now, then, more over, rather, certainly, but, else, what ? how ? etc.

अभिप्राय यह है कि यह शब्द बहु-अर्थवाचक है। इसका अर्थ लगाने में पूर्वापर विषय का विचार कर ही अर्थ लगाया जा सकता है।

यहाँ यह शब्द ग्रन्थ के आरम्भ में आया है; इस कारण पूर्ण ग्रन्थ के प्रयोजन को जानने से ही अथ शब्द का अर्थ लगना चाहिए।

पुस्तक का प्रयोजन ब्रह्म-जिज्ञासा शब्द से प्रकट होता है। जिज्ञासा का अर्थ है जानने की इच्छा। अतएव ब्रह्म को जानने की इच्छा की पूर्ति इस ग्रन्थ में की गयी है।

स्वामी ब्रह्ममुनिजी भी ब्रह्म-जिज्ञासा के यही अर्थ करते हुए लिखते हैं—

(ब्रह्म-जिज्ञासा) ब्रह्म की जिज्ञासा—महान्, अनन्त, अखण्ड ब्रह्म नामक वस्तु की जिज्ञासा—जानने की इच्छा होती है।

यहीं से स्वामी शंकराचार्य से मतभेद आरम्भ हो जाता है। स्वामीजी ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा को ब्रह्म-प्राप्ति का प्रयत्न मानते हैं।

सामान्य भाषा में जानना और प्राप्त करना दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। परन्तु स्वामीजी ब्रह्म विषय में जानना और प्राप्त करना पर्यायवाचक मानते हैं।

आप ब्रह्म-जिज्ञासा और धर्म-जिज्ञासा में अन्तर बताते हैं। आप धर्म-जिज्ञासा में क्रम का संकेत करते हैं। धर्म कर्म है और कर्म करने में काल लगता है और इसमें पहले और पीछे की बात है। परन्तु ब्रह्म-जिज्ञासा काल के अधीन नहीं है।

आप लिखते हैं —

भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति, पुरुषव्यापारतन्त्रत्वात्। इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुषव्यापारतन्त्रम्। चोदनाप्रवृत्तिभेदाच्च। या हि चोदना धर्मस्य लक्षणं सा स्वविषये नियुञ्जानैव पुरुषमवबोधयति। ब्रह्म-चोदना तु पुरुषमवबोधयत्येव केवलम्, अवबोधस्य चोदनाजन्यत्वान्न पुरुषोऽवबोधे नियुज्यते। यथाऽक्षार्थसंनिकर्षेणार्थावबोधे, तद्वत्।

अर्थात्—धर्म-जिज्ञासा का विषय भव्यं (साध्य—सिद्धि योग्य) है। ज्ञान काल में नहीं (अभिप्राय यह कि ज्ञान होने में काल नहीं लगता)। धर्म जिज्ञासा पुरुष व्यवहार के अधीन है। ब्रह्म-जिज्ञासा नित्य होने से पुरुष व्यापार के अधीन नहीं। दोनों में करने की प्रवृत्ति का भेद है। धर्म के जानने में और ब्रह्म के जानने के क्रम में भी भेद है। धर्म का लक्षण है कि वह मनुष्य को अपने ही विषय का बोध कराता है। ब्रह्म तो विषय नहीं। यह केवल बोध ही कराता है। ब्रह्म का ज्ञान ब्रह्म प्रमाणजन्य ही है। इसमें प्रमाण से प्रवृत्ति नहीं होती। यह ऐसे ही है जैसे कि इन्द्रिय उस ज्ञान में विभक्त नहीं होती जिसको यह प्राप्त करती है।

इस वक्तव्य से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक यह कि धर्म करने का विषय है। इसके करने में क्रम है और समय लगता है। ब्रह्म-ज्ञान में काल नहीं लगता। दूसरी बात यह कि ब्रह्म नित्य है। इसका ज्ञान होना ही इसको प्राप्त करना है। स्वामीजी ब्रह्म के अवबोध को ज्ञान नहीं मानते। ज्ञान को ब्रह्मत्व के समान मानते हैं।

इस प्रकार स्वामीजी समझते हैं कि ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म की प्राप्ति पर्यायवाचक शब्द हैं। धर्म का ज्ञान और धर्म का करना पर्यायवाचक नहीं।

हमारे मत में यह ऐसा नहीं है। ब्रह्म-ज्ञान और ब्रह्म का अवबोध एक ही बात है और ब्रह्म-प्राप्ति में अन्तर है। ब्रह्ममुनिजी ने लिखा है कि 'महान्, अनन्त, अखण्ड, ब्रह्म नाम वस्तु की जिज्ञासा।' अर्थात् ब्रह्म भी कोई वस्तु अर्थात् पदार्थ है। पदार्थ उसको कहते हैं कि जिसका नाम और गुण हो। इसके दृश्य अथवा अदृश्य होने की बात नहीं। वेद में ईश्वर का वर्णन इस प्रकार है —

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

(यजु० ४०-८)

इस मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है। अभिप्राय यह कि परमात्मा अर्थयुक्त पदों से इंगित किया जाता है। इस कारण यह पदार्थ है।

किसी भी पदार्थ का जब ज्ञान कराया जाता है, जैसे कि उक्त वेदमन्त्र में परमात्मा का कराया गया है, उसका ज्ञान और उसकी प्राप्ति दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हो जाते हैं।

स्वामीजी का यह कहना कि **'इह तु भूतं ब्रह्म जिज्ञास्यं नित्यत्वान्न पुरुष-व्यापारतन्त्रम्'** ब्रह्म-जिज्ञासा सिद्ध है। अर्थात् इसमें क्रम नहीं; क्योंकि यह नित्य है।

यह कथन अयुक्त है। इसमें कोई युक्ति नहीं है। कोई पदार्थ नित्य होने से साध्य (सिद्धि योग्य) नहीं रह जाता क्या? सिद्ध और प्रमाणित होने में अन्तर है। सिद्ध अर्थात् उसका-सान्निध्य प्राप्त करने में नित्य, अनित्य का प्रश्न उठता ही नहीं। कारण यह कि सिद्ध करने वाला साध्य पदार्थ से पृथक् है।

अत: स्वामी शंकराचार्य का कहना कि परमात्मा तो सिद्ध ही है, प्रमाणित नहीं होता। परमात्मा है, परन्तु सिद्ध करने वाले के लिए तो तब ही उपस्थित होगा, जब वह उसको सिद्ध कर लेगा। अतः परमात्मा की प्राप्ति में भी काल लगता है और इसमें भी क्रम है। अभिप्राय यह कि परमात्मा की जिज्ञासा और परमात्मा की प्राप्ति भिन्न-भिन्न अर्थ वाली बातें है। यह नहीं कि गुरु ने कान में फूंक मार दी और ब्रह्म के दर्शन हो गए। ऐसा होता नहीं। इसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है और प्रयत्न में काल लगता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ब्रह्म-सूत्रों का उद्देश्य ब्रह्म का प्राप्ति है? क्या ब्रह्म-सूत्र भी योग-दर्शन की भाँति कैवल्यावस्था-प्राप्ति का उपाय बताते है? ऐसा नहीं है। ब्रह्म-सूत्रों में ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि, इसके स्वरूप का वर्णन और इसके लक्षण और इसको जान लेने पर क्या होता है, का वर्णन ही है। ब्रह्मत्व कैसे प्राप्त होता है, उसका उपाय इस दर्शन ग्रन्थ में वर्णित नहीं है।

अतएव ब्रह्म-सूत्रों के प्रथम सूत्र में ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ ब्रह्म के विषय में ज्ञान से ही है, ब्रह्म-प्राप्ति से नहीं।

यदि ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ केवल ब्रह्म के ज्ञान से ही लें तो 'अथ' शब्द, सामान्य रूप में, अधिकारार्थक होगा। ऋषि, ब्रह्म के विषय का ज्ञाता होने से अधिकार से कहता प्रतीत होता है कि 'अब हम ब्रह्म-जिज्ञासा की तृप्ति कराते हैं।'

स्वामी शंकराचार्य ब्रह्म-सूत्रों का प्रयोजन ही बदलकर यह कहते हैं कि अथ शब्द आनन्तर्यार्थक है, अधिकारार्थक नहीं।

आनन्तर्यार्थक का अभिप्राय यह है कि किसी प्रकार की योग्यता प्राप्त करने के उपरान्त जिज्ञासा करनी चाहिए।

स्वामीजी के कथन का अर्थ यह है कि ब्रह्म-जिज्ञासा करने से पूर्व कुछ योग्यता होनी चाहिए, अन्यथा जिज्ञासा करना अनधिकार-चेष्टा हो जाएगी।

यद्यपि हम यहाँ 'अथ' का अर्थ अधिकारार्थक अधिक उपयुक्त मानते हैं, कारण

यह कि ब्रह्म-जैसे गहन विषय पर कहने वाले का विषय पर अधिकार रखना अत्यावश्यक है; तदपि स्वामीजी के इस कथन में भी कुछ तत्त्व है।

ब्रह्म को जानने की इच्छा करने वाले के लिए कुछ तो योग्यता होनी चाहिए, क्योंकि स्वामीजी ब्रह्म जानने की इच्छा और ब्रह्म-प्राप्ति में अन्तर नहीं मानते, इस कारण आनन्तर्य कार्य, जो स्वामीजी बताते हैं, वह भिन्न प्रयोजन वाला है। जिज्ञासा अर्थात् केवल जानने की इच्छा वाले के लिए वह आनन्तर्य आवश्यक नहीं।

वास्तविक बात यह है कि ब्रह्म-सूत्र (दर्शन-शास्त्र) बिना शब्द-प्रमाण (किसी के कथन मात्र) का आश्रय लिये, परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए लिखे गये है। दूसरे शब्दों में, वैदिक दर्शन-शास्त्र वैदिक मान्यताओं को, वेद के प्रमाणों के बिना, सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं।

आदि काल से ही ऐसे लोग संसार में रहे हैं जो परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते। एतदर्थ परमात्मा के ज्ञान, वेद को भी स्वीकार नहीं करते। इन लोगों को यह कहना कि वेद में ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार लिखा गया है, अतः मान लो, हास्यास्पद हो जाएगा।

वैदिक दर्शन-शास्त्र ऐसे ही लोगों के लिए लिखे गये हैं। अतः शब्द-प्रमाण (वेदादि शास्त्रों के प्रमाण) के अतिरिक्त केवल अनुमान प्रमाण (युक्ति) ही रह जाता है, जिससे ब्रह्म और वेद की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है।

अतः ब्रह्म-जिज्ञासा से पूर्व यदि कुछ आनन्तर्य कार्य होना चाहिए तो वह ऐसा हो जिससे जिज्ञासु को कही गई बात उसकी समझ में आ सके। इसे बुद्धि का सात्त्विकी होना तथा वैराग्य होना कहते हैं।

भगवद्गीता में सात्त्विकी बुद्धि के लक्षण इस प्रकार बताये हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ (१८-३०)

अर्थात्—प्रवृत्ति और निवृत्ति में भेद को जानने वाली, अभिप्राय यह कि सांसारिक कार्यों से लिप्त होना अथवा इनसे अलग होने में भेद का ज्ञान, कार्य और अकार्य में भेद अर्थात् करने योग्य कामों में और न करने योग्य कामों में अन्तर का ज्ञान; कर्म-बन्धन और कर्म-फल से मुक्ति का अर्थ, इसका ज्ञान; जो बुद्धि इन बातों का ज्ञान रखती है, वह सात्त्विकी बुद्धि कहलाती है।

'अथ' के अर्थों में स्वामी शंकराचार्य अन्य बातों के साथ-साथ यह भी मानते हैं कि जिज्ञासु में—(१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) समाधान और (६) श्रद्धा भी हों।

तनिक विचार किया जाए तो पता चलेगा कि यह षट् सम्पत्ति ब्रह्मत्वप्राप्ति के लिए आवश्यक हो सकती है, परन्तु ब्रह्म-जिज्ञासा के लिए अनावश्यक ही नहीं,

वरन् अमान्य भी होगी। वे लोग जो परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास नहीं रखते, जो इस जड़ जगत् के संचालन करने वाले किसी आत्मतत्त्व को स्वीकार नहीं करते, उनको कहना कि वे शम, दम, उपरति, तितिक्षा और समाधान तथा श्रद्धा पहले उत्पन्न कर लें, तब उस ब्रह्म के अस्तित्व के विषय में बताएँ तो कोई नहीं मानेगा।

एक नास्तिक को तो पहले परमात्मा के अस्तित्व का विषय समझाना होगा, पीछे वह शम, दम इत्यादि परमात्मा की प्राप्ति के साधनों को अपनायेगा। ईश्वर की उपस्थिति का जब तक उसे विश्वास नहीं हो जाता, तब तक वह किसी प्रकार का त्याग तथा तपस्या करने के लिए तत्पर नहीं होगा।

साधन चतुष्टय का चौथा अंग है मुमुक्षुत्व, अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा। जो ईश्वर को मानता ही नहीं, उसको कहना कि पहले मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा करो, तब ब्रह्म-जिज्ञासा पूर्ण की जाएगी, हास्यास्पद है।

स्वामी शंकराचार्य और उनकी परिपाटी पर ब्रह्मसूत्रों का भाष्य लिखने वाले वेदान्त-ग्रन्थों और दर्शन-शास्त्र में भेद नहीं कर पाये। इसी कारण उनका भाष्य भी अशुद्ध है।

स्वामीजी यह मानते हैं कि दर्शन-शास्त्र अर्थात् ब्रह्मसूत्र वेदान्त-वाक्यों के पुष्पों को माला में बाँधने वाले सूत्र की भाँति हैं। अभिप्राय यह कि दर्शन-शास्त्रों का कार्य कुछ सिद्ध करना नहीं वरन् सजा कर उपस्थित करना है।

स्वामीजी इस विषय में सूत्र १-१-२ की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्।

हमारा मत है कि ब्रह्मसूत्र, सम्बन्धित वेदान्त-वाक्यों को सजाकर बाँधने के लिए नहीं हैं, वरन् स्वतन्त्र रूप से वही बात सिद्ध करने के लिए हैं, जो वेदान्त-वाक्यों में कही गई हैं।

सूत्र १-१-१ में 'अथ' शब्द को आनन्तर्यार्थक मानना और फिर आनन्तर्य कार्य साधन-चतुष्टय लिख देना भी उक्त भूल के कारण ही हुआ है। स्वामी शंकराचार्य दर्शन-शास्त्र लिखने के प्रयोजन को ही नहीं समझे।

वेद और उपनिषदों में ब्रह्म के विषय में अनेक ऐसे वाक्य हैं, जिनसे ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट होता है। परन्तु उन वाक्यों में वर्णनात्मक वृत्तान्त ही है। दर्शन-शास्त्र उनको युक्ति (अनुमान प्रमाण) से सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं।

अतः हमारा मत है कि इस सूत्र (१-१-१) में अथ शब्द आनन्तर्यार्थक न होकर अधिकारार्थक है। इस पर भी यह आनन्तर्यार्थक केवल इस सीमा तक हो सकता है कि जिज्ञासु की बुद्धि सात्त्विकी और मन में विवेक हो। अर्थात् वह किसी विचार के लिए हठ न रखता हो। उसका मन पूर्व-ग्रहों से मुक्त हो।

ब्रह्म-जिज्ञासा के अर्थ हमने लिखे हैं। अतः '**अथातो ब्रह्म जिज्ञासा**' का अभिप्राय है कि ब्रह्म के विषय में जानने की इच्छा की पूर्ति के लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है।

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

जन्मादि + अस्य + यतः।

जन्मादि = जन्म, पालन और प्रलय। अस्य = इस (कार्य-जगत्)का। यतः = जिससे (होता) है, वह ब्रह्म है।

इस सूत्र में ब्रह्म के अस्तित्व का एक अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किया गया है। प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (अथवा आप्त)।

प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का होता है। एक जो बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष हो; दूसरा, जो अन्तःकरण से प्रत्यक्ष किया जाए। अन्तःकरण को गूढ़ तत्त्व ब्रह्म के दर्शन के योग्य बनाने के लिए योगाभ्यास बताया गया है।

कपिल मुनि अपने सांख्य-दर्शन में प्रमाणों के विषय में लिखते हैं—

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा।
तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ॥ (१-८७)

द्वयो अर्थात् दोनों (बुद्धि एवं आत्मा) अपिवा = अथवा; एकतरस्य = दोनों में एक (आत्मा) को; असन्निकृष्टार्थ परिच्छित्तिः = पूर्व अज्ञात अर्थ का प्रकट होना; प्रमा = प्रमा कहलाता है। तत्साधकतमं यत् = जिससे वह सिद्ध हो; तत् त्रिविधं प्रमाणं = वह प्रमाण तीन प्रकार का है।

इस सांख्य-सूत्र का भावार्थ यह है कि आत्मा को अथवा दोनों (आत्मा और बुद्धि) को किसी अज्ञात बात के प्रकट होने को प्रमा कहते हैं और प्रमा को सिद्ध करने वाले को प्रमाण कहते हैं।

नैय्यायिक प्रमा को इस प्रकार प्रकट करते हैं '**यथार्थानुमतः प्रमा**'। यथार्थ अर्थ के अनुभव को प्रमा कहते हैं।

न्याय-दर्शन में महर्षि गौतम ने प्रमाण के विषय में यह लिखा है—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ (१-१-३)

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, ये चार प्रकार के प्रमाण हैं।

सांख्य तीन प्रमाण ही मानता है। सांख्य में प्रमाण हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। न्याय-दर्शनाचार्य ने एक चौथा प्रमाण उपमान लिखा है। न्याय-दर्शन के अनुसार अनुमान और उपमान के लक्षण इस प्रकार हैं—

"**अनुमीयते येनेति अनुमानम्**"—जिससे अनुमान हो, उसको अनुमान कहते हैं।

सांख्य इसे अधिक स्पष्ट रूप में वर्णन करता है। सांख्य कहता है—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥ (१-१००)

अर्थात् व्याप्ति के ज्ञाता को व्याप्य से व्यापक का ज्ञान अनुमान है। प्रतिबन्ध और व्याप्ति पर्यायवाचक शब्द हैं। दो वस्तुओं के सम्बन्ध को प्रतिबन्ध अथवा व्याप्ति कहते हैं। इस सम्बन्ध को देखने वाले को जब एक वस्तु देखकर सम्बन्धित वस्तु (व्याप्य) का ज्ञान हो, तब अनुमान प्रमाण कहलाता है।

दूसरे शब्दों में जब दो बातों अथवा वस्तुओं का सम्बन्ध ज्ञात हो जाए, तब एक की विद्यमानता से दूसरे का ज्ञान अनुमान प्रमाण कहलाता है।

उदाहरणार्थ—हम देखते हैं कि जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह नित्य नहीं रहती। अर्थात् उत्पत्ति धर्मकत्व और अनित्यत्व सदा सम्बन्धित हैं। अतः जब हम किसी का बनना देखते हैं तो उसका टूटना अवश्यम्भावी है। यदि कोई वस्तु टूटती हुई देखी जाती है तो वह बनी भी थी, यह विश्वास से कहा जा सकता है। इस प्रकार के परस्पर सम्बन्ध से ज्ञान प्राप्त करने को अनुमान प्रमाण कहते हैं।

उपमान के विषय में न्याय-दर्शन इस प्रकार लिखता है—

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् । (१-१-६)

जहाँ कहीं दो वस्तुओं में प्रसिद्ध समान धर्म हो। इस समान धर्म के ज्ञान से किसी एक वस्तु के गुणों के अनुमान को उपमान कहते हैं।

उदाहरण के रूप में आत्मा में चेतनता है। परमात्मा में भी यह गुण है। अतः जहाँ चेतनता है वहाँ आत्मा अथवा परमात्मा की उपस्थिति सिद्ध होती है। इस प्रकार सिद्ध करने को उपमान प्रमाण कहते हैं।

अतः सांख्य के 'अनुमान' के ही अन्तर्गत 'उपमान' आ जाता है। मुख्य प्रमाण तीन प्रकार के ही है। अनुमान तथा उपमान में थोड़ा अन्तर है, परन्तु एक के ज्ञान से दूसरे की सिद्धि दोनों में समान रूप में है।

ब्रह्म की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण कार्य नहीं करता। प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रकार से है—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥

(न्याय-दर्शन १-१-४)

अर्थात्—इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं—इन्द्रिय और अर्थ (इन्द्रिय के विषय) के सन्निकर्ष (सम्बन्ध) से उत्पन्न होने वाले; अव्यपदेश्य—अशाब्द=कहने में न आये; अव्यभिचारी—भ्रम-रहित; व्यवसायात्मकं—निश्चय से कहा जाने योग्य ज्ञान को; प्रत्यक्षम्=प्रत्यक्ष कहते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों से जो वस्तु जानी जाती है, उस जानने में निश्चयात्मक एवं भ्रमरहित ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और ऐसा जानने के प्रयास को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं।

संक्षेप में इन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु के ज्ञान को प्राप्त कराने वाला प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण है।

इससे परमात्मा अथवा किसी भी अव्यक्त (इन्द्रिय-अगोचर) पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। जो इन्द्रियों से जाना ही नहीं जाता, वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं हो सकता।

तीसरा प्रमाण है शब्द प्रमाण। इसका अभिप्राय है वेद-शास्त्र इत्यादि के जानने वालों का कथन। यह प्रमाण उनके लिए ही है जो वेदों को अपौरुषेय मानते हैं और वेद के ज्ञाता हैं। उनका कथन शब्द प्रमाण है। इसका अर्थ यह भी है कि जो किसी विज्ञान के विशेषज्ञ द्वारा कहा गया है। वह भी उस विषय में प्रमाण है।

जो लोग वेद को सत्य विद्याओं का ग्रन्थ नहीं मानते तथा जहाँ विशेषज्ञ पर ही विश्वास न हो, उनके लिए शब्द प्रमाण का महत्त्व नहीं है। अतः ऐसे लोगों के लिए तीसरा प्रमाण अनुमान प्रमाण ही रह जाता है। दर्शन-शास्त्र ऐसे प्रमाणों से ही वैदिक मान्यताओं को सत्य सिद्ध करते हैं।

अनुमान प्रमाण, जैसा कि सांख्य में लिखा है, दो वस्तुओं का सम्बन्ध जानकर, उनमें से एक को देखकर दूसरी सम्बन्धित वस्तुओं के होने का ज्ञान कराता है।

एक उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। जो वस्तु बनी है, वह टूटेगी भी। अतः किसी वस्तु को टूटता देख यह अनुमान लगाना कि वह बनी भी थी, एक सिद्ध प्रमाण है। इस प्रकार के प्रमाण को अनुमान कहते हैं।

एक अन्य उदाहरण दिया जा सकता है। अग्नि से धुआँ होता है। अतः धुआँ देखकर अग्नि का होना सिद्ध है। यह अनुमान प्रमाण है।

उपरिलिखित सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करने की एक प्रबल युक्ति है।

युक्ति यह है कि (अस्य) इस कार्य (दिखायी देने वाले) जगत् में प्रत्येक वस्तु के बनाने वाला कोई होना चाहिए। बनने वाले (कार्य) का कारण होना चाहिए। बिना बनाने वाले (कारण) के हम कुछ नहीं देखते। अतः इस कार्य-जगत् का कारण भी कोई होना चाहिए और वह कारण है ब्रह्म।

उसका नाम ब्रह्म है अथवा God है अथवा Nature (प्रकृति) है, इसका विचार आगे चलकर करेंगे। यह बात इस सूत्र में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कही है कि इस कार्य-जगत् के (जन्मादि) जन्म, पालन और प्रलय का कारण कोई है। वह ब्रह्म कहलाता है।

यह युक्ति है। इसमें किसी वेद-शास्त्र का उल्लेख नहीं। एक दर्शनाचार्य को यह शोभा भी नहीं देता कि वह अपनी बात को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य के

वाक्यों की साक्षी दे। हाँ, यह तो किया जा सकता है कि जब एक दार्शनिक अनुमान प्रमाण से अपनी बात को सिद्ध कर दे तो फिर वह कह दे कि अमुक-अमुक शास्त्र, वेद एवं आप्त पुरुष ने भी ऐसा कहा है; परन्तु वह अपनी बात को सिद्ध तो अनुमान प्रमाण से ही करता है।

परन्तु स्वामी शंकराचार्यजी अपने 'शारीरिक भाष्य' में ऐसा नहीं मानते। वे लिखते हैं—

जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च। श्रुतिनिर्देशस्तावत्— 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'। (तैत्ति० ३-१)

अर्थात् —जन्मादि की बात श्रुति में दिखा दी गयी है और यह वस्तु स्थिति की अपेक्षा से भी है। श्रुति का निर्देश है—**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**।

अभिप्राय यह कि जन्मादि से ब्रह्म की सिद्धि इस कारण है कि ऐसा श्रुति मे लिखा है। स्वामीजी श्रुति का प्रमाण भी देते हैं। इस प्रमाण के विषय में स्वामी शंकराचार्य परमात्मा की सिद्धि में युक्ति करने को अशुद्ध मानते हैं। आप लिखते हैं—

एतदेवानुमानं संसारिव्यतिरिक्तेश्वरास्तित्वादिसाधनं मन्यन्त ईश्वरकारणिनः। नन्विहापि तदेवोपन्यस्तं जन्मादिसूत्रे। नः;

अर्थात् —ईश्वर को कारण मानने वाले इसी अनुमान प्रमाण को सांसारिक पदार्थों से उत्पन्न पदार्थों की भाँति ईश्वर के अस्तित्व आदि में साधन (प्रमाण) मानते हैं। क्या इस 'जन्मादि' सूत्र में भी उसी अनुमान का उपन्यास किया गया है? नहीं, ऐसा नहीं किया गया है।

अभिप्राय यह कि जैसे संसार में बिना किसी जीव के बनाये कुछ बनता नहीं देखा जाता, क्या इस अनुमान को ही हम 'जन्माद्यस्य यतः' में लिखा गया मानें? स्वामीजी कहते हैं, नहीं।

यह प्रमाण नहीं हो सकता। यह केवल सहायक है। इसमें स्वामीजी प्रमाण देते हैं वृहदारण्यक उपनिषद् (२-४-५) का। परन्तु यह है उन लोगों के लिए जो उपनिषदों को प्रमाण मानते हैं। हमारा तो मत है कि दर्शन-शास्त्र वेदान्त-वाक्यों को प्रमाण न मानने वालों के लिए लिखे गए हैं।

स्वामीजी बुद्धि और युक्ति का प्रयोग करने में संकोच करते हैं। आप इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

न तु वस्त्वेवं नैवमस्ति नास्तीति वा विकल्प्यते। विकल्पनास्तु पुरुषबुद्ध्यपेक्षाः। न वस्तुयाथात्म्यज्ञानं पुरुषबुद्ध्यपेक्षम्।

अर्थात्—सिद्ध वस्तु इस प्रकार है अथवा नहीं है? वैसा विकल्प नहीं किया

जा सकता। विकल्प तो पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा से होता है। सिद्ध वस्तु का यथार्थ ज्ञान पुरुष-बुद्धि की अपेक्षा नहीं करता।

और भी –

तत्रैवं सति ब्रह्मज्ञानमपि वस्तुतन्त्रमेव, भूतवस्तुविषयत्वात्। ननु भूतवस्तुत्वे ब्रह्मण. प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्यविचारणानर्थिकैव प्राप्ता।

अर्थात् – इसलिए यदि ब्रह्म-ज्ञान में भी वस्तु-विज्ञान की भाँति ब्रह्म को सिद्ध करने मे भी अन्य प्रमाणों को लेगे तो वेदान्त-वाक्य अविचारणीय (व्यर्थ) सिद्ध हो जाएँगे।

आप आगे लिखते हैं –

तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थम्।

इस कारण 'जन्मादि सूत्र' अनुमान प्रमाण का प्रदर्शन नहीं करते।

वास्तव में ब्रह्म-सूत्रों में अन्य भी कई सूत्र हैं जो युक्ति से ब्रह्म की सिद्धि करते हैं। स्वामीजी को भय लग गया कि यदि युक्ति (बुद्धि) का प्रयोग किया गया तो वेदान्त-वाक्य व्यर्थ सिद्ध हो जायेंगे।

प्रश्न यह है कि यह सूत्र (जन्माद्यस्य यतः) युक्ति-युक्त है अथवा नहीं? यह सूत्र कहता है कि वस्तुओं का बनना, स्थिर रहना और प्रलय हो जाना बिना किसी के किये नहीं हो सकता। इस कारण इस (कार्य-जगत्) का बनाने वाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला जो कोई भी है, हम उसे ब्रह्म कहते हैं। यह शुद्ध, सरल और अकाट्य युक्ति है। यह बिना किसी वेदान्त-वाक्य के आश्रय स्वयं सिद्ध है। साथ ही इस युक्ति से वेदान्त-वाक्य अविचारणीय नहीं हो जाते, वरन् सिद्ध होते हैं।

हमने ऊपर लिखा है कि प्रत्यक्ष प्रमाण अव्यक्त पदार्थों को सिद्ध नहीं कर सकते। कारण यह कि अव्यक्त इन्द्रियगोचर नहीं होता और इन्द्रियगोचर ही प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है।

'ब्रह्म है' यह तो सिद्ध हुआ, परन्तु ब्रह्म एक है अथवा एक से अधिक? यदि एक से अधिक ब्रह्म हैं तो उनकी जगत् के जन्म, मरण और प्रलय में क्या-क्या भूमिकाएँ हैं?

जहाँ तक ब्रह्म-सूत्रों का सम्बन्ध है, उनमें तीन प्रकार के ब्रह्म माने गए हैं। यद्यपि तीन के होने पर युक्ति द्वितीय पाद में की गयी है। वहाँ इन तीनों की उपस्थिति और इनमें भेद का उल्लेख है।

जब यह सिद्ध हो गया कि बिना कारण के कार्य नहीं होता और जगत् का कारण ब्रह्म है तो शेष बात (कि ब्रह्म तीन प्रकार के हैं) स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस युक्ति का कि 'जन्मादि जिससे होता है वह ब्रह्म है' उप-सिद्धान्त ही है कि किसी वस्तु के बनने में कितने कारण हो सकते हैं और जब कार्य कारण में विलीन

होता है तो कितने कारणों में विलीन होता है ? इससे यह भी सिद्ध होता है कि एक कारण भोक्ता भी है।

कार्य-जगत् में हम देखते है कि प्रत्येक वस्तु के दो कारण रहते है। उपादान कारण और निमित्त कारण। अतः दोनों कारण ब्रह्म ही हैं। जगत् का उपादान कारण भी ब्रह्म कहलाता है और निमित्त कारण भी ब्रह्म ही कहलाता है।

पहला प्रश्न उपस्थित होता है कि वेदान्त-सूत्रों में कहीं ऐसा माना गया है क्या ? हमारा कहना है कि हां, माना गया है।

वेदान्त-सूत्र द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में इस बात का वर्णन है कि परमात्मा के अतिरिक्त एक जड़ (प्रकृति) पदार्थ भी जगत् का कारण है।

इस अध्याय के प्रथम पाद में ही यह प्रसंग उठता है कि जब ब्रह्म, जगत् के जन्मादि का कारण है तो अन्य स्मृतियां (शास्त्र) इसका समर्थन क्यों नहीं करती ? दर्शनाचार्य इस पूर्व पक्ष को उठाकर तुरन्त ही इसका उत्तर देते हुए उसके समर्थन में निम्न सूत्र प्रस्तुत करते हैं —

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् ।।

(ब्र० सू० २-१-१)

स्मृतियों में अनवकाश दोष का प्रसंग है क्या ? यदि कहें है तो नहीं। अन्य स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसंग से।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि कुछ स्मृतियों में प्रकृति को जगत् का कारण माना है, कुछ में परमात्मा को। वे एक-दूसरे का समर्थन नहीं करतीं। ब्रह्मसूत्रों का प्रणेता कहता है कि नहीं, अन्य स्मृतियों में अनवकाश दोष होने से अर्थात् खण्डन न होने से ऐसी बात नहीं।

उदाहरण के रूप में सांख्य में प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति लिखी है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति में ब्रह्म सहायक नहीं था।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों में प्रकृति का वर्णन किया है और फिर दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के सूत्र ४ तथा ५ में इस प्रकार लिख दिया है—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।। (२-१-४)

न विलक्षणत्वात् —(जगत् से) विलक्षणता न होने के कारण (प्रकृति-कारण है) तथात्वं —(कारण-कार्य में) समानता होने से शब्दात् ऐसा दूसरे (वे० द० ४-१-१) स्थान में भी कहा है। जगत् जड़ है तो इसका मूल कारण प्रकृति भी जड़ है।

आगे लिखा है—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।। (२-१-५)

अर्थात्--अभिमानि--अलंकार रूप में; उपदेश वर्णन किया है; विशेषानुगतिभ्याम्--यह विशेष शैली (लिखने की विधि) के कारण है।

कई शास्त्रों में लिखा है कि मिट्टी बोली (शत० ब्रा० ६-१-३,४), मिट्टी बोली (श० ब्रा० ६-१-३-८), जल बोले (छा० उ० ६-२-३-४), उस तेज ने ईक्षण क्रिया (बृ० उ० १-३-२), देवों ने वाक् को कहा। यहाँ प्राकृतिक वस्तुओं का चेतन के रूप में वर्णन अलंकारिक है।

इन सूत्रों पर स्वामी शंकराचार्य जी क्या कहते हैं और क्यों वह अमान्य है, इन्हीं सूत्रों के भाष्य में अन्यत्र देखिये। यहाँ तो इतना ही कहने से प्रयोजन है कि ब्रह्मसूत्रों में प्रकृति के उपादान कारण होने का उल्लेख है।

जगत् में एक तीसरा कारण भी विद्यमान् है। वह जीवात्मा है। प्राणियों में परमात्मा एवं प्रकृति के अतिरिक्त जीवात्मा भी है और प्राणी भी है और वह भी जगत् का भाग है। अतः जीवात्मायें भी जगत् बनने में कारण हैं।

यदि ये तीन ब्रह्म नहीं मानते तो जगत् की विभिन्न गतिविधियों का वर्णन नहीं हो सकता।

जीवात्मा का भी ब्रह्मसूत्र में वर्णन है। लिखा है --

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥　　(१-२-११)

गुहां--(मस्तिष्कगत हृदय देश रूप गुहा) में; प्रविष्टौ--प्रविष्ट किए हुए हैं; आत्मानौ--दो आत्मा हैं; तद् दर्शनात्--यह बात उनका दर्शन करने से विदित होती है।

इससे अगला सूत्र है --

'विशेषणाच्च'　　(१-२-१२)

यहाँ 'दर्शनात्' की व्याख्या की गयी है। दर्शन कैसे होता है ? लिखा है (विशेषणात्+च) लक्षण-भेद जानने से।

अर्थात्--दो प्रकार के आत्म-तत्त्वों के लक्षणों में अन्तर है। उस अन्तर को जानने से आत्म-तत्त्व एक के स्थान पर दो दिखायी देने लगते हैं।

अन्य भी कई स्थानों पर ब्रह्मसूत्रों के प्रणेता ने जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न प्रकट किया है। उदाहरण के रूप में--

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥　　(१-२-१७)

अनवस्थिते--भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थित। असम्भवात्--असम्भव अर्थात् न हो सकने के कारण। च न इतर--और नहीं दूसरा है।

इसका अभिप्राय है कि जीवात्मा गुहा में रहता है। वह भिन्न-भिन्न अंगों में नहीं रहता। प्राणी का एक अंग कट जाने से आत्मा मरता नहीं। वह समूचा-का-समूचा विद्यमान् रहता है। अतः सब अंगों में समान रूप से विद्यमान् कोई दूसरा (परमात्मा) है।

इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मसूत्रों में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख है और तीनों का भिन्न-भिन्न अस्तित्व माना गया है। इसके साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मसूत्रों ने युक्ति से इसका वर्णन किया है, परन्तु यही बात वेद में भी वर्णन की गयी है।

ऋग्वेद (१-१६४-२०) में लिखा है —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥

एक वृक्ष पर दो सुपर्णा सह-योनि सखा बैठे हैं। एक सखा तो वृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा केवल साक्षी के रूप में देखता है।

यहाँ 'द्वा सुपर्णा' से अभिप्राय दो आत्म-तत्त्वों से है। ये दोनों चेतन स्वरूप बताये गए हैं। एक फलों को खाता है और दूसरा केवल देखता है। ये चेतनता के लक्षण हैं।

और भी प्रमाण हैं—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

(अथर्व० १०-८-४३)

इसका अभिप्राय है—नौ द्वार वाले त्रिगुणात्मक प्रकृति से बने इस कमल समान शरीर में यक्ष (जीवात्मा) आत्मन् वत् (परमात्मा स्वामी की भाँति) रहता है। ब्रह्मवादी उसे जानकर परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं।

और भी है—

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सञ्च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ॥

(यजु० ३२-८)

(वेनः) ज्ञानवान् पुरुष (तत्) उस परमात्मा को (गुहा निहितम्) गुहा में विद्यमान् (सत् पश्यत्) सत् रूप में देखते हैं। जिसमें (विश्वम् भवति एक नीडम्) विश्व एक ही आश्रय पर स्थित है। (तस्मिन्) उसमें (इदम्) यह कार्य जगत् (सम् एति) लीन हो जाता है प्रलय काल में। (च) और (वि एति) विविध प्रकार से प्रकट होता है, रचना काल में। (सः) वह परमेश्वर (प्रजासु विभुः) सब प्राणियों में व्यापक है, (ओतः प्रोतः च) ओत-प्रोत है।

यहाँ प्राणी के मस्तिष्क-स्थित गुहा में परमात्मा की विद्यमानता का भी आभास व्यक्त किया है।

तीनों को ब्रह्म कहा जाता है, यह श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी लिखा है —

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म, तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा, लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता ॥

(श्वे० १-६-७)

(सर्वाजीवे) सब प्राणियों में (सर्व संस्थे) सबका आश्रय, (अस्मिन्) इस (बृहन्ते) महान् (ब्रह्मचक्रे) ब्रह्मचक्र में, (हंसो) जीवात्मा (भ्राम्यते) भ्रमण करता है। और इसे (पृथगात्मानं) पृथक् आत्मा को (प्रेरितारं) प्रेरणा देने वाला परमात्मा (मत्वा) मानकर, (जुष्टः ततः तेन) और उसमें लीन हुआ (अमृतत्वम्) अमृत अर्थात् मोक्ष को (एति) प्राप्त होता है।

(उद्गीत) ऊंकार वर्णित (एतत् परमं तु ब्रह्म) वे परम ब्रह्म हैं। (तस्मिन् त्रयं) उसमें तीनों [ब्रह्म चक्र, जीव समूह और प्रकृति] (सुप्रतिष्ठाक्षरं च) अच्छी तरह प्रतिष्ठित अक्षर हैं, (अत्रान्तरं) इनमें भेद को (ब्रह्मविदो विदित्वा) जानकर ब्रह्मज्ञानी (लीना ब्रह्मणि) परमात्मा में लीन (तत्परा) उसी में तत्पर हैं और (योनिमुक्ताः) जन्म-मरण से मुक्त हैं।

यहाँ भी तीनों को ब्रह्म माना है। यहाँ एक बात और कही है कि ब्रह्मज्ञानी परमात्मा में लीन चौथी वस्तु है।

यह पूछा जा सकता है कि तीनों को ब्रह्म किसलिए कहा है ? वह इस कारण कि तीनों में अक्षर, अनादि और अव्यक्त होने की समानता है। इस समानता के लिए ही इनको समान रूप में ब्रह्म कहा है।

भगवद्गीता (८-३) में भी अक्षर को ब्रह्म कहा है। अक्षरं ब्रह्म—अक्षर ब्रह्म है और अक्षर क्या है ? भगवद्गीता में ही उसका वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । (१३-१९)

प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। कहा है—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

(भ० गी० १३-२०, २१)

इसका अर्थ है—(करण) इन्द्रियाँ और उनके कर्म में कारण प्रकृति है। पुरुष (जीवात्मा) सुख-दुःख भोगने में कारण है।

पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति में रहता हुआ प्रकृति से उत्पन्न गुणों का भोग करता है। गुणों के संग से अच्छे और बुरे जन्म पाता है।

इन दोनों से परमात्मा को पृथक् माना है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ (भ० गी० १३-२२)

अर्थात्—साक्षी, यथार्थ सम्मति देने वाला, सबको धारण करने वाला, और प्रलय करने वाला महेश्वर (परमात्म तत्त्व) है। इस देह में (ऊपर वर्णित) पुरुष दूसरा है।

और भी स्पष्ट किया है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

(भ० गी० १५-१६-१७)

इस लोक में क्षर और अक्षर दो प्रकार की वस्तुएँ हैं। क्षर है कार्य-जगत् और अक्षर है जीवात्मा, जो प्राणी की गुहा में रहता है। एक अन्य उत्तम पदार्थ है जो परमात्मा (ईश्वर) कहा गया है। वह तीनों लोकों में विराजमान है और सबको धारण करता है।

इस प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि तीन तत्त्व हैं। कार्य-जगत् तो अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होता है। अव्यक्त प्रकृति भी अक्षर है अर्थात् अनादि है। जीवात्मा जो प्राणी की गुहा में रहता है, वह भी अनादि और अक्षर है। एक अन्य अक्षर है, जिसे परमात्मा तथा ईश्वर कहते हैं। वह सबसे उत्तम है और उसे वेदों में तथा संसार में पुरुषोत्तम कहा है।

वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्रों) में भी तीन तत्त्व बताये हैं। वे हैं परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति।

हमारा अभिप्राय है कि ये तीनों अक्षर हैं और इन तीनों को ब्रह्म मानकर ही यह सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' कहा गया है। अर्थात् जन्म, पालन और प्रलय में कारण ब्रह्म है। ब्रह्म तीन हैं—प्रकृति, परमात्मा और जीवात्मा-समूह।

प्रकृति उपादान कारण है। परमात्मा निमित्त कारण है और जीवात्मा-समूह साधारण कारण है। यह इसलिए कि जगत् की रचना इसके प्रयोग के लिए ही है।

जैसे मिट्टी घड़े का उपादान कारण होती है, कुम्हार घड़े का निमित्त कारण होता है और घड़े का ग्राहक भी घड़े के बनने में कारण होता है। ग्राहक न हो तो घड़ा बनाया ही नहीं जाता।

यद्यपि ब्रह्मसूत्रों में तथा अन्य कई उपनिषदों में प्रकृति और जीवात्मा को स्पष्ट रूप में ब्रह्म नहीं कहा गया; इस पर भी हमारा ऐसा मत है कि प्राचीन काल में तीनों को ब्रह्म समझा जाता था और ब्रह्म शब्द का अर्थ करते समय पूर्वापर का सम्बन्ध लगाकर ब्रह्म का अर्थ करना चाहिए। जहाँ जैसा अर्थ उपयुक्त हो, वैसा ही मानना चाहिए।

ब्रह्म शब्द प्रायः परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। अनेक स्थानों पर यह आत्मा और परमात्मा दोनों के लिए आया है और कहीं-कहीं परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तीनों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। आत्मा शब्द परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिए प्रयोग किया गया है।

भगवद्गीता और श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी स्पष्ट रूप में कह दिया गया है कि प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा तीनों अजन्मा और अव्यक्त होने के कारण ब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने यह सिद्ध करने के लिए कि परमात्मा की सिद्धि में अनुमान-प्रमाण और युक्ति निरर्थक है, उपनिषदादि ग्रन्थों के कई उदाहरण दिये हैं। उन उदाहरणों को पढ़ने से यह तो विदित होता है कि परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है परन्तु उनमें यह कहीं भी नहीं कहा कि युक्ति से उनमें कही बात सिद्ध नहीं होती। दर्शन उपनिषदादि ग्रन्थों में कहे वाक्यों को युक्ति से सिद्ध करने के लिए कहे गये हैं।

इस सूत्र से स्पष्ट होता है कि—

(१) ब्रह्म केवल परमात्मा नहीं है। ब्रह्म तीन हैं—मूल-प्रकृति, जीवात्मा-समूह और परमात्मा।

(२) 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्र युक्ति-युक्त है और यह युक्ति किसी वेदादि प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। यह युक्ति उस सत्य को सिद्ध करती है जिसे वेद-वाक्यों में प्रकट किया गया है।

जितने भी उपनिषद् वाक्यों के प्रमाण स्वामी शंकराचार्य ने इस सूत्र के भाष्य में दिये हैं, वे असंगत हैं। वे उस बात को सिद्ध नहीं करते, जिसको स्वामीजी सिद्ध करना चाहते हैं।

शास्त्रयोनित्वात् ॥३॥

(शास्त्रस्य) शास्त्र का (योनित्वात्) उद्गम स्थान ब्रह्म होने से।

यहाँ पुनः युक्ति की गयी है कि वेद ज्ञान को देने वाला ब्रह्म है। मनुष्य को ज्ञान किसी से मिलता है। आरम्भ में ज्ञान देने वाला परमात्मा था।

मनुष्य बिना किसी के बताये ज्ञानवान् नहीं बन सकता, यह सर्व प्रसिद्ध है।

इस विषय में एक अमेरिकन समाजशास्त्री का कथन हम यहाँ उद्धृत कर दें तो बात स्पष्ट हो जाएगी। आर० एम० मैकाइवर ने अपने एक सहयोगी चार्ल्स एच० पेज के साथ मिलकर एक पुस्तक सोसायटी (Society) लिखी है। वे इस पुस्तक के पृष्ठ ४२ पर लिखते हैं—

There is good reason why we should reject this theory. For the theory rests upon the false assumption that human beings are, or could become, human beings outside of or apart from society.

पर्याप्त कारण है कि हम इस वाद को अस्वीकार कर दें; क्योंकि यह एक मिथ्या आधार पर टिका है कि मानव समाज में रहे बिना अर्थात् समाज के बाहर अथवा समाज के बिना एक मानव मानव बन सकता है। (अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर सकता है।)

इन समाजशास्त्रियों का मत है कि बिना समाज के मनुष्य, मनुष्य नहीं बन सकता। ये मानते हैं कि समाज में रहता हुआ ही मनुष्य उन्नति कर सका है।

इन समाजशास्त्रियों का विचार है कि जॉन स्टुअर्ट मिल इत्यादि का यह कहना गलत है कि—Society has no common sensorium, no central organ of perception or of thought. For it is only individuals who think and feel.

ये समाजशास्त्री इस विचार की पुष्टि में, कुछ निर्दयतापूर्ण परीक्षण, जो जाने अथवा अनजाने में किए गये हैं, अपनी पुस्तक के पृष्ठ ४४-४५ पर इस प्रकार उद्धृत करते हैं —

The famous case of Kaspar Hauser is peculiarly significant because this ill-starred youth was in all probability bereft of human contacts through political machinations and therefore his condition when found could not be attributed to a defect of innate mentality. When Hauser at the age of seventeen wandered into the city of Nuremberg in 1828 he could hardly walk, had the mind of an infant, and could mutter only a meaningless phrase or two. Sociologically it is noteworthy that Kaspar mistook inanimate objects for living beings. And when he was killed five years later a post-mortem revealed the brain development to be subnormal. The denial of society to Kaspar Hauser was a denial to him also of human nature itself.

One of the most interesting of the feral cases involves two Hindu children who at the ages respectively of about eight and under two, in 1920, were discovered in a wolf den. The younger child died within a few months of discovery, but the elder, Kamala, as she became named, survived until 1929, and her history in human society has been carefully recorded. Kamala brought with her almost none of the traits that we associate

with human behaviour. She could walk only on all fours, possessed no language save wolf like growls, and was as shy of humans as was any other undomestic animal. Only as the result of the most careful and apparently sympathetic training she was taught rudimentary social-habits—before her death she had slowly learned some simple speech, human eating and dressing habits, and the like.

More recently sociologists and psychologists have studied the case of Anna, an illegitimate American child who had been placed in a room at the age of six months and isolated there until her discovery five years later in 1938. During her confinemet Anna was fed little else than milk, received no ordinary training, and had almost no contacts with other beings. This extreme and cruel social isolation, which provides the scientists one more 'laboratory' case, left the child with few of the attributes of the normal five-year-old. When Anna was discovered she could not walk or speak, she was completely apathetic, and indifferent to people around her.

इन उद्धरणों का भावार्थ इस प्रकार है—

(१) कैस्पर हाउजर का उद्धरण स्पष्ट है। कदाचित् यह लड़का किसी राजनैतिक षड्यन्त्र के कारण समाज से पृथक् किया गया था। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह जन्म से ही हीन मन और बुद्धि वाला था। सन् १८२८ में यह लड़का १७ वर्ष की आयु में न्यूरम्बर्ग की सड़कों पर घूमता हुआ देखा गया। उस समय यह कठिनाई से चल सकता था। इसकी मानसिक अवस्था एक शिशु की-सी थी और केवल एक-दो अर्थहीन वाक्य ही बोल सकता था। यह निर्जीव वस्तुओं को जानदार समझता था। पाँच वर्ष उपरान्त जब वह मरा तो इसके मस्तिष्क की निधनोत्तर परीक्षा की गई और पता चला कि इसका मस्तिष्क अविकसित था।

(२) आठ और उससे नीचे की वयस् के दो बच्चे भेड़िये की गार में पाये गये। छोटा तो मिलने के कुछ ही दिन उपरान्त मर गया था। बड़ा जिसका नाम कमला रखा गया था, ९ वर्ष तक जीवित रहा। मानव समाज में उसके इतिहास को लिखा गया है। कमला में, जब वह मिली थी, ऐसे लक्षणों का सर्वथा अभाव था, जो मनुष्य में होते हैं। वह टाँगों और बाँहों के बल पशुओं की भाँति चलती थी। भेड़िये की भाँति गुर्राने के अतिरिक्त अन्य भाषा नहीं जानती थी। वह वन्य-पशुओं की भाँति मानवों से दूर रहती थी। बहुत कठिनाई से उसमें बहुत ही प्रारम्भिक मानव-लक्षण उत्पन्न किए जा सके थे और मरने के समय तक उसे

साधारण बोलने का ढंग तथा वस्त्र पहनना ही सिखाये जा सके थे।

(३) अभी-अभी एक अमरीकी अवैध लड़की पर परीक्षण किया गया है। यह छः मास की आयु में एक कमरे में बन्द कर दी गई थी और पाँच वर्ष के उपरान्त सन् १९३८ में वह मिली। कमरे में बन्द रखने की अवधि में वह केवल दूध पर पलती रही थी। उसका सम्पर्क बाहर के किसी व्यक्ति से नहीं रहा और उसे किसी प्रकार की शिक्षा नहीं मिल सकी थी। वह न तो चल सकती थी और न ही बोल सकती थी। इसका देहान्त सन् १९४२ में हुआ। इसमें इस आयु के गुण बहुत ही कम मात्रा में और अति कठिनाई से लाए जा सके थे।

इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य बिना किसी से ज्ञान और शिक्षा प्राप्त किए मनुष्य नहीं बन सकता। यूरोपीय समाजशास्त्री तो इस बात पर विचार नहीं करते कि मनुष्य समाज में मानवोचित ज्ञान कैसे आया, कहाँ से आया? इनका केवल इतना कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिए समाज की स्थिति आवश्यक है। ये परमात्मा के अस्तित्व को मानते नहीं। इस कारण ये विकासवाद का आश्रय लेते हैं।

उक्त उदाहरणों से, जिसमें समाज से पृथक् हो गए, बालक अविकसित मन के रहे हैं, यही सिद्ध होता है कि यह विकास जैसे एक ही जन्म में छूट गया है, वैसे एक ही जन्म में हो भी सकता है। ये बालक जैसे कुछ ही वर्षों की शिक्षा से वंचित रहने पर पशु ही बने रहे, वैसे मनुष्य कुछ ही वर्षों की शिक्षा से पशुपन मन वाले से मनुष्य जैसे विकसित मन वाला बनाया जा सकता है।

भारतीय-शास्त्र यह कहते हैं कि सृष्टि के आदि में मानव-समाज को ईश्वर ने ज्ञान दिया। यूरोपीय विकासवादी मानते हैं कि समाज ने धीरे-धीरे उन्नति की, कुछ उत्तराधिकार में पाकर और कुछ स्वतः आविष्कार करके। भारतीय समाज-शास्त्री ऐसा नहीं मानते। यदि ऐसा होता तो नवीन प्राचीन से उन्नत होता। मानव पहले से आज अधिक सामर्थ्यवान् होता। इसकी वाणी में उन्नति होती। प्राचीन से आज तक चली आने वाली भाषा में उन्नति होती। ऐसा नहीं है। मानव-मन, बुद्धि और इन्द्रियों की सामर्थ्य में ह्रास हो रहा दिखाई देता है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान भी यही प्रकट करता है। प्राचीन भाषाएँ वर्तमान काल की भाषाओं से अधिक कलात्मक, अधिक भावपूर्ण और अधिक विकसित थीं।

विकास के सिद्धान्त के उस रूप को जो डार्विन के अनुयायी घोषित करते हैं, न तो सिद्ध किया जा सकता है और न ही ऐसा देखने में आता है। इस सिद्धान्त से विकास की शृंखला तीन भागों में बाँटी जा सकती है—

(१) जड़ से चेतन का बनना अर्थात् प्रथम जीव-कोषाणु कैसे निर्माण हुआ?

(२) जीव-कोषाणुओं से उत्तरोत्तर उन्नत प्राणियों का उत्पन्न होना। इस प्रकार अमीबा एक-कोषाणु प्राणी से चलकर एक उन्नत मानव कैसे बना?

मानवों में उन्नति हुई है अथवा नहीं ?

(३) शृंखला के प्रथम दो भागों के प्रमाण तो प्रकृति में ढूँढने होंगे। आज तक किए गये खोज के प्रयत्नों से कोई निर्णयात्मक प्रमाण नहीं मिला। न तो अभी तक कहीं जड़-पदार्थ जीवित प्राणी में परिवर्तित होता देखा गया है और न ही कहीं ऐसा दिखाया जा सका है। न ही एक योनि के प्राणी किसी दूसरी योनि में बदलते देखे जाते हैं अथवा बदले जा सके हैं।

कुछ स्थानों पर समानता में समीप-समीप की योनियों में समागम से जीव उत्पन्न होते तो देखे जाते हैं। जैसे घोड़े और गधे के समागम से खच्चर का जन्म। इसी प्रकार भेड़िये और कुत्ते के समागम से मिली-जुली सन्तति का बनना; परन्तु इनसे कोई नवीन योनि निर्माण नहीं होती। यहाँ तक कि वृक्षों में भी कलम लगाने की कला से नवीन प्रकार का बीज नहीं बनाया जा सका।

इसी प्रकार अविकसित मनुष्य विकसित हो जाता है; परन्तु यह योनि-परिवर्तन का लक्षण नहीं है। सब मानव एक ही योनि में हैं और मानव की सदा उन्नति ही नहीं होती रहती, कभी ह्रास भी होता है। अर्थात् एक ही योनि में उन्नति अथवा ह्रास के लक्षण मिलते हैं। इसे विकास नहीं, वरन् परिवर्तन की संज्ञा दी जा सकती है। ये परिवर्तन बीजगत नहीं होते। ये वातावरण, भोजन और शिक्षा के परिणामस्वरूप होते हैं। इनका प्रभाव शरीर पर तो होता है, परन्तु ये परिवर्तन विकास की श्रेणी में इस कारण नहीं आते, क्योंकि ये स्थायी नहीं होते और साथ ही इनमें गति दोनों ओर चलती है, उन्नति की ओर भी तथा अवनति की ओर भी।

अतः विकास-शृंखला का प्रमाण न तो युक्ति में है और न ही प्रत्यक्ष अनुभव में।

भाषा में ह्रास तो इस बात का लक्षण है कि मानव शक्तियों में विकास नहीं, वरन् ह्रास हो रहा है। मनुष्य की उच्चारण सामर्थ्य में कमी होने से भाषा के अक्षरों में कमी हो रही है। एतदर्थ उच्चारण विकृत हो रहा है। उच्चारण में कठिन अक्षर और कठिन शब्द भाषा में से निकलते जा रहे हैं।

इसका निष्कर्ष यह है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य एवं सब प्रकार के प्राणी पूर्ण बने। पहले वनस्पतियाँ बनीं, तदनन्तर पशु, पक्षी इत्यादि बने और सबके अन्त में मनुष्य बने। प्रत्येक प्राणी में विकास एवं ह्रास हो रहा है। मनुष्य का मन और उसकी बुद्धि विकास में उत्कृष्ट होने से इसमें ज्ञान ग्रहण करने की सामर्थ्य है, परन्तु यह सामर्थ्य सम्पर्क से विकास पाती है। सम्पर्क का अर्थ है किसी से सीखना। इसी युक्ति और वस्तु स्थिति से यह मानना पड़ता है कि मनुष्य को प्रारम्भिक ज्ञान बिना किसी के सिखाये नहीं मिला। इसी से ईश्वरीय सहाय की बात सिद्ध होती है।

यदि मैकाइवर की इस युक्ति को मान लें कि समाज में रहता हुआ मनुष्य

उन्नति कर सकता है तो अफ्रीका के हब्शी अथवा अमरीका के मूल निवासी भी तो समाज में रहते रहे थे। वे भारत, चीन अथवा यूरोप के रहने वालों की भाँति विकसित मन वाले क्यों नहीं हो सके ? उनमें अब उन्नति होने लगी है। क्योंकि यातायात के साधनों में विकास होने से उनका सम्पर्क ज्ञान-प्राप्त जातियों से हुआ है। इससे यही सिद्ध होता है कि ईश्वरीय ज्ञान ही ज्ञान का मूल स्रोत रहा है। जो जातियाँ उस ज्ञान से जितनी दूर गयीं, उतनी ही पिछड़ी रहीं। समाज में उनका मानसिक विकास नहीं हो सका।

अतः दर्शन-शास्त्र की यह युक्ति है कि मानव-समाज को ज्ञान देने वाला कोई होना चाहिए और वह ज्ञान देने वाला ब्रह्म है।

ज्ञान देने में भी तीन हेतु होने चाहिएँ। ज्ञान देने वाला, किसी वस्तु अथवा घटना का ज्ञान और ज्ञान प्राप्त करने वाला। तीनों ब्रह्म हैं। ज्ञान देने वाला परमात्मा है। ज्ञान प्राप्त करना है जगत् का और जगत् के मूल स्वरूप का; तथा ज्ञान प्राप्त करने वाला जीवात्मा है।

यदि मूल पदार्थ एक ही (परमात्मा) होता तो ज्ञान देने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किसका ज्ञान और किसको ? ये प्रश्न उत्तर रहित हो जाते।

अतः सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' का अभिप्राय है कि जो ज्ञान की योनि अर्थात् उद्गम स्थान है, वह ब्रह्म है। अभिप्राय यह कि ज्ञान देने वाला ब्रह्म है। कई भाष्यकार इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं- शास्त्र = वेद; योनि = कारण = प्रमाण; अर्थात् ब्रह्म का प्रमाण शास्त्र (वेद) से पता चलता है।

हमारा मत है कि यह अर्थ खींचातानी से किया गया है। इसका ठीक अर्थ यह है कि शास्त्र का उद्गम स्थान होने से ब्रह्म की सिद्धि होती है।

स्वामी शंकराचार्यजी 'शारीरिक' भाष्य में इसके विषय में यह लिखते हैं—

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति।

अनेक विद्याओं को रखने वाले दीपक के समान सब अर्थों का प्रकाशन करने वाले सर्वज्ञ के तुल्य शास्त्र (वेद आदि) की योनि ब्रह्म है। ऐसे शास्त्र (ऋग्वेदादि) सर्वज्ञ, सर्वगुण सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी से नहीं हो सकी।

यह स्पष्ट है कि स्वामी शंकराचार्यजी ने वही अर्थ किए हैं, जो हम ऊपर लिख आए हैं। परन्तु अनावश्यक रूप में स्वामीजी पुनः उसी विवाद में पड़ गये हैं, जिसका हम पूर्व में खण्डन कर चुके हैं।

इस सूत्र के भाष्य को समाप्त करने से पूर्व स्वामीजी ने एक प्रश्न उठाया है कि जब वेद क्रिया-परक हैं, तो जो अक्रिया-परक हैं, उनका वेद में प्रमाण ढूंढ़ना

निरर्थक है। इस प्रश्न को तनिक अधिक सरल भाषा में लिख दें तो यह इस प्रकार होगा—वेदों में कर्म-काण्ड की चर्चा है। इस कारण ब्रह्म जो अकर्ता है, उसका उल्लेख वहाँ नहीं हो सकता। अतः सूत्र 'शास्त्रयोनित्वात्' के अर्थ यह नहीं हो सकते कि शास्त्र ब्रह्म का प्रमाण है। स्वामीजी का विचार है कि इस शंका का समाधान अगले सूत्र में है।

पूर्व पक्ष का वास्तविक उत्तर तो यह होना चाहिए कि वेद में ब्रह्म प्रमाणित है; क्योंकि वेद केवल क्रिया-परक ही नहीं हैं, वरन् वेदान्त (अध्यात्म ज्ञान) का मूल भी वेद में है। परन्तु स्वामीजी पूर्वग्रहों से ग्रसित पूर्व-पक्ष का ठीक उत्तर नहीं दे सके। वेद अध्यात्म-ज्ञान के देने वाले भी हैं।

वास्तव में वेद में अध्यात्म का स्वरूप भली-भाँति वर्णन किया है। ऋग्वेद दशम् मण्डल का ७२वाँ सूक्त तथा १२६वाँ सूक्त इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त ऋ० १-१६४-२८, ऋ० १-१५४-४, ऋ० ३-२६-७, ऋ० ४-४२-४, ऋ० ६-४४-२३, ऋ० ८-४०-१२, यजु० १८-६६, यजुर्वेद का सम्पूर्ण ४०वाँ अध्याय, अथर्व० १०-८-४३, अथर्व० २०-८३-१ कुछ उदाहरण हैं। प्रकृति का भी जगत् रचना में उल्लेख आया है। उदाहरण के रूप में ऋ० १-१६४-३८, ऋ० १०-१२६-२, ऋ० १०-६४-५, ऋ० १-८६-२०, ऋ० १०-७२-८, ऋ० ३-३६-७, ऋ० ४-४२-४, ऋ० ६-४२-२२, ऋ० १-१६४-२०, ऋ० १०-८१-४।

वास्तविकता यह है कि बौद्धों द्वारा यह भ्रम फैलाया गया था कि वेदों में यज्ञादि कर्म का उल्लेख है, अतः वे कर्म-काण्ड मात्र के ग्रन्थ हैं। स्वामी जी उसका समर्थन करते हैं। यदि स्वामीजी को वेदार्थ का वास्तविक ज्ञान होता तो वह वेदों के प्रति बौद्ध मत स्वीकार न करते।

ईश्वर के स्वरूप के विषय में यजुर्वेद में एक बहुत ही सुन्दर मन्त्र है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजु ४०-८)

वह सर्वव्यापक परमात्मा शुद्ध, शरीर रहित, विकारों से रहित, बन्धनों से रहित, पापों से मुक्त विद्वान् मनीषी, सबसे ऊपर, स्वयं प्रकट होने वाला, न्यायोचित व्यवहार रखने वाला, सबको रचता है और धारण करता है।

यह हम बता आये हैं कि दर्शन-शास्त्र में युक्ति (अनुमान) प्रमाण ही मुख्य है। शास्त्र का उल्लेख सूत्रों में बहुत कम हुआ है। जहाँ हुआ है, वह इस निमित्त है कि युक्ति वेद-शास्त्र निहित सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। स्वामीजी यह भूल कर रहे हैं कि वे दर्शन-शास्त्र में भी अनुमान प्रमाण को गौण प्रमाण मान शास्त्र को टटोलनें लगते हैं। अतः प्रश्न निरर्थक था और उसका उत्तर तो उससे भी अधिक भ्रमोत्पादक है।

तत्तु समन्वयात् ॥४॥

तत्+तु+समन्वयात्।

तत्=वह; तु=इस कारण; समन्वयात्=समन्वय से (सिद्ध होता है)।

समन्वय=सम्+अन्वय; अन्वय=कार्य कारणानुवृत्ति। कारणस्यानुसरणं कारणरूप कार्यस्थितिः।

अभिप्रायः यह है कि समान कार्य-कारण की प्रवृत्ति को समन्वय कहते हैं। कार्य-कारण की प्रवृत्ति से अभिप्राय है इस कारण का कार्य में अनुसरण होना। कारण से कार्य का उत्पन्न होना।

परमात्मा से जगत् की उत्पत्ति भी कारण से कार्य की उत्पत्ति है। इसका उल्लेख 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १-१-२) में कर आये हैं। अतः जन्म के उपरान्त इस जगत् में जो संयोग-वियोग हो रहा है, वह करने वाला भी ब्रह्म है, ऐसा कहा है।

संघटन और विघटन में भी तीन पक्ष स्पष्ट हैं। करने वाला अर्थात् निमित्त कारण, जिसमें संघटन-विघटन हो रहा है अर्थात् उपादान कारण और जिसके लिए यह सब-कुछ हो रहा है अर्थात् जीवात्मा-समूह। तीनों ही ब्रह्म हैं।

संघटन-विघटन का क्रम सांख्य-दर्शन में वर्णन किया है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। (सां० १-६१)

इस संघटन-विघटन में भी ब्रह्म कारण है।

प्रकृति से चौबीस गण बनते हैं। पच्चीसवाँ पुरुष (जीवात्मा) है। ये सब संयोग ब्रह्म के कारण हैं, परमात्मा द्वारा प्रकृति में जीवात्मा-समूह के लिए।

यह है अर्थ इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का। जिससे यह समन्वय होता है, वह ब्रह्म है। भगवद्गीता में लिखा है—

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधाराय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥ (७-६, ७)

अर्थात्—ऐसा समझो कि सब इन दो (प्रकृति और जीवात्मा-समूह) से धारण किया हुआ है। परमात्मा सब जगत् को बनाने वाला है।

परमात्मा से ऊपर और कुछ नहीं। यह सम्पूर्ण (जगत्) माला के मनकों की भाँति सूत्र (परमात्मा) से गुँथा हुआ है।

स्वामी शंकराचार्य आधारभूत भूल यह करते रहे हैं कि वे दर्शन-शास्त्र को उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थों का अंग मात्र मानते हैं। वे इन्हें स्वतन्त्र शास्त्र नहीं

मानते । इसी कारण प्रत्येक स्थान पर वे दर्शन-शास्त्र की युक्ति को युक्ति न समझ उसके निष्कर्षों को उपनिषद् इत्यादि वाक्यों से सिद्ध करने लगते हैं।

वास्तविकता यह है कि दर्शन-शास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र है। वैदिक दर्शन-शास्त्र वेदों की मान्यताओं को युक्ति से सत्य सिद्ध करने के निमित्त लिखे गये हैं। स्वामी शंकराचार्य इसको समझ नहीं सके और उपनिषद् इत्यादि के जो भी प्रमाण उन्होंने दिये, वे प्रायः अनुपयुक्त हैं। वे किसी भी बात को सिद्ध नहीं कर पाते।

इस सूत्र के भाष्य में भी स्वामीजी अपने मत को प्रकट करने के लिए कुछ उपनिषदों के उद्धरण देते हैं। इस सूत्र के विषय में स्वामीजी का मत यह है—

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तत् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थिति-लयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम् ? समन्वयात् । सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि ।

अर्थात्—तु शब्द पूर्व-पक्ष के निराकरण के लिए है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति-लय का कारणभूत वह ब्रह्म वेदान्त-वाक्यों से ही अवगत् होता है। कैसे ? समन्वय से। सब वेदान्त-वाक्यों में उनके तात्पर्य अर्थों के प्रतिपादक रूप में समनुगत अर्थात् समन्वित हैं।

आप आगे लिखते हैं—

न च तद्गतानां पदानां ब्रह्मस्वरूपविषये निश्चिते समन्वयेऽवगम्यमाने-ऽर्थान्तरकल्पना युक्ता; श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसंगात् · न च तेषां कर्तृस्वरूपतिप-प्रादनपरतावसीयते,

ऊपर कहे पदों में ब्रह्मस्वरूप के विषय में निश्चित समन्वय जान लेने पर अन्यार्थ की कल्पना युक्त नहीं। क्योंकि ऐसा करने से श्रुत (शास्त्रवाक्य) की हानि और अश्रुत अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। इससे इन वाक्यों में कर्ता के स्वरूप-प्रतिपादन में निश्चय नहीं होता।

इसका अभिप्राय यह है कि इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का अर्थ यह होना चाहिए कि श्रुति में ब्रह्म के स्वरूप को सत्य मान लो। यदि यह नहीं मानते तो श्रुति की बात अमान्य हो जाएगी और अश्रुति की बात की कल्पना होने लगेगी। इससे तो परमात्मा का स्वरूप (जैसा उपनिषदादि ग्रन्थों में वर्णन किया गया है) व्यर्थ हो जाएगा।

यह न तो इस सूत्र का अर्थ है, न ही जो अर्थ ऊपर हमने किए हैं, उनसे किसी प्रकार की श्रुति ग्रन्थों पर अश्रद्धा उत्पन्न होती है। परमात्मा का स्वरूप भी नहीं बिगड़ता।

स्वामीजी व्यर्थ में चिन्ता करने लगे हैं कि यदि ब्रह्म के स्वरूप को श्रुति-ग्रन्थों के अतिरिक्त जानने का यत्न किया तो अनर्थ हो जाएगा। सूत्र में समन्वयात् का अर्थ शास्त्र से समन्वय का नहीं, वरन् जगत् में चल रहे समन्वय से है।

जगत् में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि चल रहे हैं, परन्तु उनमें कभी टक्कर नहीं होती। सम्पूर्ण जगत् का कार्य ऐसे चल रहा है और उसमें ऐसा समन्वय है कि वह किसी ज्ञानवान्, चेतन, शक्तिमान् सत्ता के बिना सम्भव नहीं हो सकता और ऐसा करने वाली सत्ता ब्रह्म है।

स्वामीजी ने अपने कथन में कुछ उपनिषद् इत्यादि ग्रन्थों के प्रमाण दिये हैं। उन प्रमाणों के अर्थ भी भ्रामक हैं। क्योंकि जो कुछ वह उन प्रमाणों से सिद्ध करना चाहते हैं, उनसे वह सिद्ध नहीं होता।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य का कहना तो यह है कि क्योंकि उपनिषदों के इन उद्धरणों में ब्रह्म का स्वरूप वर्णित है, अतः इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म का स्वरूप जानने के लिए उक्त वेदान्त-वाक्यों से जान लो। समन्वय का अर्थ है परमात्मा का शास्त्र में समन्वय। ऐसा स्वामीजी का मत है।

हमने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि जगत् में हो रहा समन्वय भी ब्रह्म के कारण ही है। हमारा अर्थ क्यों अधिक युक्ति-संगत है, यह हमने बता दिया है।

दर्शनाचार्य युक्तियों की एक शृंखला प्रस्तुत करता है। पहले बताया है, जिससे जगत् की उत्पत्ति, पालन और प्रलय होती है, वह ब्रह्म है। तदुपरान्त यह बताया कि जगत् में प्राणी के लिए ज्ञान का स्रोत ब्रह्म है। अब यह बताया है कि उत्पत्ति के उपरान्त जिससे सब कार्य समन्वय रूप में चलता है, वह ब्रह्म है।

यही ठीक प्रतीत होता है।

स्वामी शंकराचार्य ने इधर-उधर की बहुत बातें लिखने का यत्न किया है, परन्तु यह विषयान्तर होने से हमने छोड़ दी हैं। उनका सूत्रार्थ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इस पर भी एक-दो बातें लिख दें तो पाठकों को इस बात का ज्ञान हो जाएगा कि भाष्य ग्रन्थ एवं सूत्र का उसके साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं। एक निरर्थक विवाद खड़ा कर पाठकों के मन को भ्रम में डालने का ही प्रयास प्रतीत होता है।

निम्न उद्धरण स्वामीजी के शारीरिक भाष्य(१-१-४) के भाष्यान्तर्गत ही है। आप लिखते हैं—

यत्तु—हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः; हेयोपादेयशून्य-ब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात्पुरुषार्थसिद्धेः।

क्या हेयोपादेय रहित होने से ब्रह्म का उपदेश निष्फल है? (यह प्रश्न है) यह दोष नहीं (स्वामीजी का उत्तर है)। क्योंकि हेयोपादेय रहित ब्रह्म भाव के ज्ञान से सब क्लेशों की निवृत्ति और परम पुरुषार्थ की सिद्धि होती है।

निम्न कोटि के उपयोगों से रहित होने के कारण परमात्मा की उपासना अर्थ-हीन है। ऐसा किसी ने पूछा और स्वामीजी ने कह दिया कि इस पर भी परमात्मा की सिद्धि होनी चाहिए। क्योंकि इससे सब क्लेशों की निवृत्ति और परम पुरुषार्थ की सिद्धि अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

प्रतीत होता है कि स्वामीजी दो असम्बद्ध बातों को एक साथ कहकर यह समझते हैं कि उन्होंने एक से दूसरे का सम्बन्ध जोड़ दिया है। दोनों बातें अपने-अपने स्थान पर सत्य हो सकती हैं और दोनों सर्वथा असम्बद्ध हो सकती हैं।

वेद-वाक्यों में विधि-विधान के अतिरिक्त प्रमाण दिखायी नहीं देते। अभिप्राय यह है कि वेद में सर्वत्र विधि-विधान ही है। विधि-विधान क्या होते हैं? अर्थात् स्रुवा इस प्रकार पकड़ना चाहिए, हवन, (यज्ञ) कुण्ड इतना लम्बा-चौड़ा और ऊँचा हो, समिधायें इतनी बड़ी हों, छोटी-बड़ी न हों, याजक इस प्रकार बैठे और होता उस प्रकार बैठे, इत्यादि।

स्वामीजी का कहना है कि अन्यत्र अर्थात् वेदान्त-वाक्यों से अन्यत्र, वेद-वाक्यों में विधि-विधान के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं मिलता।

प्रथमतः बात ऐसी नहीं है। वेदों में विधि-विधान नहीं है। वेदों में कर्म तो है, परन्तु कर्म की विधि नहीं लिखी। कहीं कुछ संकेतमात्र है। तो भी ऐसे अनेक स्थल हैं कि जहाँ न कर्म और न विधि-विधान है।

एक-आध उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। एक मन्त्र है—

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा।
तपा वृषन्विश्वतः शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च॥

(ऋ० ६-२२-८)

इस मन्त्र का देवता इन्द्र है। अर्थात् परमात्मा का वह स्वरूप है जो पूर्ण जगत् पर शासन करता है। मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

(वृषन्विश्वतः) विश्व में सबसे अधिक बलवान प्रभु (शोचिषा) अपने तेज से (तानब्रह्मद्विषे शोचय) उन ब्रह्म से द्वेष करने वालों को सन्तप्त करो। (आ जनाय द्रुह्वणे) सब द्रोही मनुष्यों के लिए (पार्थिवानि) सब पृथ्वी पर के (दिव्यानि) दिव्य पदार्थ (अन्तरिक्षा) अन्तरिक्ष के पदार्थ (तपा) सन्तप्त करने वाले हों।

परमात्मा से प्रार्थना की जाती है कि भले लोगों से द्वेष करने वालों को पृथ्वी तथा अन्तरिक्ष के दिव्य पदार्थ सन्तप्त करें।

इसमें किसी भी प्रकार का विधि-विधान उल्लिखित नहीं है। और देखिए—

सिꣳह्यसि स्वाहा सिꣳह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा सिꣳह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा सिꣳह्यस्यावह देवान्यजमानाय स्वाहा भूतेभ्यस्त्वा॥ (यजु० ५-१२)

इस मन्त्र का देवता वाक् अर्थात् वाणी है।

हे वाक् (सि ँ ही असि) तू अविद्या का नाश करने वाली है (स्वाहा) हम तुम्हें उत्तम रूप से उच्चारण करें। (सिँही असि आदित्यवनिः स्वाहा) सूर्य से उत्पन्न होने वाले बारह प्रकार की उपलब्धियों को भली प्रकार वर्णन करने वाली है। हम उसे उत्तम रूप से उच्चारण करें। (सिँही असि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा) ब्राह्मणों से और क्षत्रियों से प्राप्त होने वाली उपलब्धि की वाणी है। हम उसे उत्तम रूप में उच्चारण करें। (सिँही असि सु-प्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा) श्रेष्ठ प्रजा को समृद्धि प्राप्त कराने वाली वाणी को हम भली प्रकार उच्चारण करें। (सिँही असि आस्यावह देवान्वजमानाय स्वाहा) देवताओं अर्थात् विद्वानों को यजमानों के समीप लाने वाली तू है। हम तुम्हारा भली प्रकार उच्चारण करें। (भूतेभ्यस्त्वा) सब प्राणियों के कल्याण के लिए प्रयोग करें।

इस प्रकार एक नहीं अनेक मन्त्र उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनमें किसी प्रकार की उपासना का विधि-विधान नहीं है। कर्मकाण्ड और विधि-विधान गृह्य-सूत्रों का विषय है। वेद चार हैं ऋक्, यजु, साम, अथर्व। ये अपौरुषेय हैं। इनके प्रवक्ता अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा देवता हैं। देवता से अभिप्राय अन्तरिक्ष के नक्षत्रादि है। परन्तु गृह्य-सूत्रों के प्रवक्ता पृथिवी पर की मानव-सृष्टि के ऋषि थे। यही उपनिषदों की बात है। अतः जब हम वेद कहते हैं तो केवल ऋक्, यजु, साम और अथर्व से ही अभिप्राय है। अन्य किसी मनुष्यप्रणीत ग्रन्थ से नहीं। यह आर्य परम्परा है। वेद में भी इसका उल्लेख है।

इसी प्रकार की एक नहीं अनेक अप्रासंगिक बातें स्वामीजी ने लिख दी हैं, जिनका सूत्र के भावार्थ से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इस सूत्र (१-१-४) का भाष्य करते हुए स्वामीजी ने एक अति महत्त्व का विषय भी उठाया है। यद्यपि यह हमारे विचार से सूत्रार्थ के साथ सम्बन्धित नहीं, परन्तु इसके दूरगामी प्रभाव का विचार कर हम उसकी विवेचना कर देना ठीक समझते हैं।

ऊपर हमने यह बताया है कि स्वामीजी का कहना कि शास्त्र (वेदों) में निम्न कोटि की वस्तुओं के लिए प्रार्थना होने से उनमें ब्रह्म का उपदेश नहीं हो सकता, यह बात गलत है। साथ ही स्वामीजी ने सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा को ठीक नहीं बताया। केवल इतना कहकर बात टाल दी है कि इस पर भी ब्रह्म-उपदेश और ब्रह्म-शास्त्र की आवश्यकता है। यह उत्तर ठीक नहीं।

उन्होंने एक अन्य विषय पर बात प्रारम्भ कर दी है। आपने पूर्व-पक्ष उठाया है। पक्ष यह है कि मान लो वेद क्रियार्थक हैं। अर्थात् क्रिया से भिन्न सिद्ध अर्थ वाले वेद-वाक्य निष्फल हैं। इसलिए पुरुष को ये वेद-वाक्य किसी विषय में प्रवृत्त करते हैं और किसी विषय में निवृत्त। इस कारण वेद-वाक्य भी सार्थक हैं।

यह पूर्व-पक्ष सूत्र के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। यह वेद-वाक्यों को सत्य रूप

में प्रकट भी नहीं करता। अतः यह पक्ष केवल मात्र इस कारण उठाया गया है, जिससे स्वामी शंकराचार्यजी अपना मत यहाँ पर थोप सकें। स्वामीजी का क्या मत है ? यह तो हम नीचे लिखेंगे, परन्तु वेद-वाक्यों का क्या अर्थ है, पहले हम अपने मत से यहाँ प्रकट कर दें तो ठीक रहेगा। अशुद्ध प्रश्न का उत्तर देना और उसके उत्तर में एक अन्य अशुद्ध मत उपस्थित करना उपयुक्त नहीं। इमसे स्वामी जी स्वयं भ्रम में फँसे रहे और पाठकों को भी भ्रम में डाल दिया।

इस पूर्व पक्ष का वेद में खण्डन है।

वेद में ही इस प्रकार वर्णन है—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।

सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमःस्विदेव सः॥

(अथर्व १०-७-२०)

अर्थात्—जिस परमात्मा से ऋग्वेद प्रकट हुआ, यजुर्वेद प्रकट हुआ और साम जिसके लोम हैं, अथर्ववेद जीवनरस के समान है, वह जिसका मुख है, उसको तू स्कम्भ कह। वह अत्यन्त सुखमय है।

इसी प्रकार यजुर्वेद ४०-८ में जहाँ परमात्मा का स्वरूप वर्णन किया है, वहाँ यह भी लिखा है—

स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ (यजु० ४०-८)

वह परमात्मा स्वयम्भू, सर्वव्यापक, अनादि प्रजाओं के लिए ज्ञान प्रदान करता है।

यह है वेद-ज्ञान का प्रयोजन। इसमें जीवात्मा के इस सृष्टि में कल्याण और पारमार्थिक कल्याण दोनों ही लक्ष्य हैं। भगवान् जाने, श्री शंकराचार्यजी की किस प्रकार यह मिथ्या धारणा बन गई कि वेद केवल क्रियार्थक हैं। अर्थात् क्रिया प्रयोजन नहीं और ज्ञान प्राप्त करना क्रिया नहीं। ये सब भ्रममूलक सिद्धान्त हैं। कुछ अज्ञानी लोगों के कथनों को पढ़ स्वामीजी ने बिना जाँच-पड़ताल के मान लिया है।

वेद-वाक्य सम्यक् ज्ञान को देने वाले हैं। इस संसार का ज्ञान भी और ब्रह्मलोक का भी। इस लोक में यज्ञ रूप जीवन व्यतीत करने के लिए लिखा है और इस प्रकार सुकृत करते हुए ज्ञान से ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए मार्ग वेद में बताया है।

परन्तु देखना तो यह है कि स्वामी शंकराचार्य किस प्रकार इस पूर्व-पक्ष का उत्तर देते हैं और अपना क्या पक्ष स्थापित करते हैं ?

स्वामीजी लिखते हैं—

अत्राभिधीयते—न; कर्म-ब्रह्मविद्याफलयोर्वैलक्षण्यात्। शारीरं वाचिकं मानसं च कर्म श्रुतिस्मृतिसिद्धं धर्माख्यं, यद्विषया जिज्ञासा 'अथातो धर्मजिज्ञासा'

(जै० सू० १-१-१) इति सूत्रिता; अधर्मोऽपि हिंसादिः प्रतिषेधचोदनालक्षणत्वा-ज्जिज्ञास्यः परिहाराय……

मनुष्यत्वादारभ्य ब्रह्मान्तेषु देहवत्सु सुखतारतम्यमनुश्रूयते । ततश्च तद्धेतो-र्धर्मस्य तारतम्यं गम्यते ।……

अर्थात्—इसका उत्तर है कि नहीं। (अर्थात् पूर्व-पक्ष कि वेद में उपासना विधि का विषय भी ब्रह्म-प्राप्ति के अन्तर्गत है, स्वामीजी कहते हैं, नहीं) क्योंकि कर्म और ब्रह्म-विद्या के फल में विलक्षणता है। शरीर, मन एवं वाणी से किये जाने वाले कर्म श्रुति और स्मृति में धर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस विषय की (धर्म करने की) जिज्ञासा अर्थात् धर्म जिज्ञासा (जै० सू० १-१-१) यह सूत्र है। अधर्म (हिंसादि न करने के संकेत से) परिहार से जिज्ञासा का विषय बन जाते हैं……मनुष्य से आरम्भ करके ब्रह्मा पर्यन्त देहधारी होने के कारण सुख का सम्बन्ध श्रुति में वर्णन है। उससे (श्रुति से) धर्म का तारतम्य (करने का ढंग) पता चलता है……

यह है उक्त पूर्व-पक्ष पर स्वामीजी का उत्तर। पूर्व-पक्ष का सार जैसा हमने पहले लिखा है कि यह अशुद्ध है। वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ नहीं हैं। स्वामीजी ने अपने 'शारीरक' भाष्य में अथवा अपने किसी ग्रन्थ के अन्य भाष्य में भी यह बात वेद-प्रमाण से सिद्ध नहीं की। स्वामीजी जैमिनी सूत्रों को वेद समझ रहे हैं। यह प्रसिद्ध है कि वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं। इसपर भी यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य को इस संसार में रहने का ढंग वेद में लिखा है। यह तो स्पष्ट है कि इस संसार को पार कर ही मोक्ष-प्राप्ति होती है। इस कारण मनुष्य को इसमें रहने का ठीक ढंग बताना अत्यावश्यक था। वह वेद में बता दिया गया है, परन्तु यह नहीं कि इसके अतिरिक्त वेद में अन्य कुछ है ही नहीं। वेद मूल-ज्ञान के ग्रन्थ भी हैं और इस मूल-ज्ञान में ही ब्रह्म का ज्ञान भी सम्मिलित है।

स्वामी शंकराचार्य ने सर्वप्रथम तो यह अनर्थ किया कि वेद को कर्मकाण्ड के ग्रन्थ मान लिया। इस प्रकार वेद की महिमा को कम कर दिया। दूसरे, वेद में जो मूल-ज्ञान है, उसकी अवहेलना कर वास्तविक ज्ञान से अपने पाठकों को दूर कर दिया।

उपनिषदादि ग्रन्थों का अर्थ करते समय जो पथ-प्रदर्शन वैदिक मूल-ज्ञान से प्राप्त होने वाला था, उससे स्वामीजी स्वयं भी वंचित हुए और अपने अनुयाइयों को भी वंचित कर गये।

इसके अतिरिक्त स्वामीजी के उक्त पक्ष का एक अन्य अनर्थकारी प्रभाव उत्पन्न हुआ। स्वामीजी ने लिखा है कि कर्म और ब्रह्म-विद्या में फल की विलक्षणता है। यह अशुद्ध सिद्धान्त है। केवल इसलिए ही नहीं कि यह अयुक्ति-संगत है, वरन् इस कारण भी कि इसने भारतवर्ष में घोर पतन का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस कथन में युक्ति-विपरीत बात यह है कि संसार में स्वामीजी के मतानुयाईयों द्वारा शुभकार्य ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति में न केवल असहायक माने गये हैं, वरन् विरोधी भी माने गये हैं। स्वामीजी कर्म करने के विपरीत इस कारण लिख रहे हैं कि मन, वचन, कर्म से किए गए कर्म परिहार स्वरूप अधर्मयुक्त कर्म भी जिज्ञासा में आ जायेंगे। वह बात उक्त उद्धरण से प्रकट होती है।

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ अहिंसा धर्म है और अहिंसा धर्म की जिज्ञासा है, वहाँ अहिंसा का विरोध करने वाली हिंसा को भी जानने की इच्छा होगी। इससे अधर्म की जिज्ञासा भी होगी। अतः वे धर्म की जिज्ञासा का भी विरोध करते हैं।

अभिप्राय यह कि ब्रह्म-जिज्ञासा वाला मनुष्य अधर्म को छोड़ने के प्रयोजन से धर्म को भी छोड़ दे। परन्तु कर्म तो छूटता नहीं; अतः स्वामीजी की शिक्षा पर चलने वाले धर्म छोड़ते हुए अधर्म ही करने लगेंगे। अधर्म को जानने की आवश्यकता नहीं। इन्द्रियों के विषय उनको करने की निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं। इसके विपरीत धर्म के कार्य करने में प्रयत्न करना पड़ता है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता रहती है। इसी का दूसरा नाम त्याग और तपस्या है। जब धर्म करना ही नहीं तो त्याग और तपस्या की आवश्यकता नहीं। परिणाम यह होता है कि मनुष्य इन्द्रिय-लोलुप हो जाता है। मनुष्य स्वयमेव यह सीख जाता है अथवा इतर जीव-जन्तुओं को इन्द्रियों के विषय में रत देख स्वयं रत हो जाता है।

ऐसे मनुष्य कर्म छोड़ विकर्म में ही लीन हो जाते हैं। यही भारत के पतन का एक महान् कारण बना। उदाहरण के रूप में युद्ध क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। धर्म की स्थापना के लिए युद्ध करना उचित है। परन्तु धर्म क्या है? इसकी जिज्ञासा करना भी वर्जित हुआ है। धर्म की स्थापना के स्थान पर अधर्म के लिए अथवा निष्प्रयोजन युद्ध होने लगे। राजपूतों का इतिहास पढ़कर देख लें कि ऐसा हुआ है अथवा नहीं? राजपूतों के अतिरिक्त, भारत में लोग धर्म-अधर्म में भेद करना भूल जाने के कारण, अधर्म करने पर विवश होते रहे। कारण स्पष्ट था। इन्द्रियों के विषयों से अथवा जीव-जन्तुओं के व्यवहार से अधर्म की प्रेरणा मिलती है।

यह हम भली-भाँति जानते हैं कि हिन्दू-समाज का इतना घोर पतन हुआ कि यह सात सौ वर्ष तक मुसलमानों की दासता से नहीं छूट सका। इसके कुछ अन्य कारण भी रहे हैं, परन्तु स्वामी शंकराचार्य द्वारा नैष्कर्म्य का व्यापक प्रचार इसका एक मुख्य कारण सिद्ध होता है।

स्वामीजी का यह वक्तव्य वेद मत के विपरीत भी है। वेद में यह लिखा है—

अन्धन्तमः प्र विशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउविद्यायाँ रताः ॥
अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

(यजु० ४०-१२, १३, १४)

जो लोग अविद्या में (सांसारिक कार्यों में) विचरते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते है और जो केवल विद्या (अध्यात्म) में ही रत हैं, वे मानो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं ।

विद्या का फल और है और अविद्या का फल दूसरा है। ऐसा हमने विद्वानों से सुना है, जिन्होंने हमारे सामने इनकी व्याख्या की है ।

अतः जो विद्या और अविद्या दोनों को एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व को प्राप्त करता है ।

महाभारत में भी यही बात लिखी है । वहाँ लिखा है—

सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं ते नृपसत्तम ।
विद्याविद्येत्विदानीं मे त्वं निबोधानुपूर्वशः ॥
अविद्यामाहुरव्यक्तं सर्गप्रलयधर्मि वै ।
सर्गप्रलयनिर्मुक्तां विद्यां वै पंचविंशकः ॥

(महा भा०, शा० ३०७-१,२)

अर्थात्—सांख्य-दर्शन के व्याख्यान के उपरान्त विद्या-अविद्या का वर्णन बताते हैं । जगत्-रचना, और प्रलय का ज्ञान अविद्या है और सर्ग-प्रलय से मुक्त अव्यक्त का तथा पच्चीसवें गण पुरुष का ज्ञान विद्या है ।

अविद्या का अर्थ है कार्य-जगत् का ज्ञान और विद्या का अर्थ है अध्यात्म-ज्ञान । इनसे इन वेद-मन्त्रों का अर्थ यह बनता है कि मनुष्य को इस संसार का ज्ञान होना चाहिए और अध्यात्म का भी । दोनों का फल भिन्न-भिन्न है और वह यह कि अविद्या (सांसारिक व्यवहार) के ज्ञान से मनुष्य इस मर्त्यलोक को सुगमता से पार करता है और अध्यात्म के ज्ञान से मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है ।

स्वामीजी का मत है कि कर्म से मोक्ष प्राप्ति में बाधा बन जाती है। परन्तु ऐसा नहीं है ।

यह सिद्ध है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए अष्टांग योग करना पड़ता है। क्या वह कर्म नहीं है ? कर्म को छोड़ने के लिए भी पुरुषार्थ करना पड़ता है और पुरुषार्थ ही कर्म है ।

भगवद्गीता में स्वामीजी के मत का स्पष्ट खण्डन है। गीता में लिखा है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

(गीता ३-५, ८, ९)

अर्थात्—कोई भी मनुष्य किसी काल में एक क्षणमात्र भी, बिना कर्म किए नहीं रहता। प्रकृति (स्वभाव) से विवश हो वह कर्म करता है।

इस कारण नियत (वर्णाश्रम धर्म) कर्म को करो; क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं होगा।

यज्ञार्थ (सर्वहिताय) कर्मों के अतिरिक्त कर्म मनुष्य को बाँधते हैं। अतः आसक्ति से रहित होकर कर्मों को भली प्रकार कर।

एक अन्य स्थान पर भगवद्गीता में लिखा है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥　　　　(३-४)

कर्मों के न करने से नैष्कर्म्य को प्राप्त नहीं हुआ जा सकता। कर्मों के त्यागने से भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

यहाँ सिद्धि का अर्थ मोक्ष-सिद्धि से ही है।

अतः स्वामी शंकराचार्य का मत, कि कर्म करना छोड़ देने से मोक्ष की अशरीरी अवस्था प्राप्त हो सकती है, शुद्ध नहीं है। इसके विपरीत बात ही वेदादि शास्त्र कहते हैं।

परन्तु हमारा पक्ष तो यह है कि जिस सूत्र के भाष्य में यह सबकुछ लिखा है, उस सूत्र के अर्थों से इन सब बातों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। खेद से कहना पड़ता है कि वेदान्त-सूत्रों को बोझल बनाने के लिए स्वामीजी ने ऐसी असंगत बात यहाँ लिख दी है।

इस सूत्र (तत्तु समन्वयात्) का स्पष्ट अर्थ यह है कि इस जगत् में हो रहा समन्वय भी उस चेतन, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा से है। इस समन्वय में तीनों प्रकार के ब्रह्म सम्मिलित हैं।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥५॥

ईक्षतेः + न + अशब्दम् ।

ईक्षतेः = ईक्षण करने वाला होने से (परमात्मा जगत् का कारण है)। शब्द प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है। यह अशब्द नहीं है।

हमने (ब्र० सू०—१-१-२ में) बताया है कि ब्रह्म तीन हैं और तीनों ही जगत् की रचना, पालन करने और प्रलय करने में कारण हैं। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर परमात्मा, जीवात्मा और मूल-प्रकृति, तीनों को ब्रह्म के नाम से लिखा है। हमने यह भी बताया है कि तीनों को, एक ही नाम ब्रह्म से इस कारण स्मरण किया जाता है, क्योंकि ये तीनों अनादि, अजन्मा, नित्य, अव्यक्त, अव्ययी और जगत्-रचना में कारण हैं। इसपर भी तीनों भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि इनके कई एक गुणों में भिन्नता है। यह हम पीछे बता आये हैं।

इस सूत्र में एक अन्य बात लिखी है, जिससे जगत्-रचना में भी, तीनों में भेद कर दिया है। प्रथम भेद यह बताया है कि जगत्-रचना एक विचारित योजना है। 'ईक्षण' विचारित, योजनाबद्ध करने को कहते हैं। (ईक्षतेः) विचारित योजना होने के कारण जगत् के रचने का कार्य-भार परमात्मा पर है। प्रकृति और जीवात्मा पर नहीं।

साथ ही लिखा है (न अशब्दम्) शब्द प्रमाण से भी यही बात प्रतीत होती है।

इस सूत्र में दो बातें कही गयी हैं। एक तो कारण, शब्द और रचयिता शब्द में अन्तर कर दिया है। घड़े का कारण घड़े की मिट्टी भी हो सकती है, परन्तु घड़े को रचने वाली मिट्टी नहीं। रचने वाला तो कुम्भकार है। यही बात यहाँ पर लिखी है कि जगत्-रचना में कारण मूल प्रकृति अवश्य है, परन्तु वह जगत् की रचना करने वाली नहीं।

प्रायः सभी भाष्यकार इस सूत्र के प्रथम अंश का यही अर्थ करते हैं, परन्तु दूसरे अंश (अशब्दम्) के अर्थ में थोड़ा अन्तर आ गया है। उदाहरण के रूप में—

श्री रामानुजाचार्य के भाष्य में इस प्रकार लिखा है[1]—

The present Sutra declares that the texts treating of creation cannot refer to the Pradhan; the Sutra just mentioned will dispose of objections.

अर्थात्—जगत्-रचना के विषय में शास्त्र में जो लिखा है, प्रधान (प्रकृति)

---

१. आपका संस्कृत भाषा में भाष्य प्राप्य नहीं हो सका। G. Thibout द्वारा उनके भाष्य का अंग्रेजी में अनुवाद ही यहाँ दिया जा रहा है।

से यह हुआ, ठीक नहीं। कारण यह कि बिना विचार के यह हुआ नहीं। प्रधान जड़ होने से विचार नहीं कर सकता।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(ईक्षतेः) ईक्षति से (ब्रह्म का विद्रूप होने) (न) नहीं। (अशब्दम्) अशब्द-अशास्त्रीय-अप्रमाण। ईक्षण क्रिया का कर्ता होने से जगत् कारण ब्रह्म का विद्रूप होना तथा जगज्जन्मादि के प्रति निमित्त कारण होना अशब्द नहीं। शास्त्र-प्रमाण रहित नहीं।

स्वामी ब्रह्ममुनि जी इस प्रकार लिखते हैं—

(ईक्षतेः) ईक्षण क्रिया का प्रवर्तक—प्रेरक होने से ब्रह्म (परमात्मा) जगत् का निमित्त कारण है। उसके ईक्षण क्रियावान् होने से न कि उत्पादान कारण।

इन सब भाष्यों में यह बात एक समान लिखी है कि ईक्षण करने वाला परमात्मा है। अतः वह जगत् का रचने वाला है। ईक्षण का अर्थ किया गया है वह जो देखता है, विचार करता है। कुछ मतभेद 'अशब्दम्' के विषय में है। इसका अर्थ हमारे विचार से केवल इतना है कि यह बात वेदोक्त है। 'न अशब्दम्' के इतने ही अर्थ करने चाहिए। जहाँ कहीं उपनिषदादि ग्रन्थों में कुछ भिन्न लिखा दिखायी दे, उसमें हमारा मत है कि वे शब्द प्रमाण के ग्रन्थ हैं ही नहीं। वे भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा लिखे अथवा कहे गये ग्रन्थ हैं। वे गलत भी हो सकते हैं। उनके कहने का ढंग त्रुटिपूर्ण भी हो सकता है। शब्द प्रमाण में केवल चार वेद ही लेने चाहिए। भारतीय मान्यता इनको ही ईश्वरीय ग्रन्थ स्वीकारती है।

प्रो० बाल गंगाधर तिलक मानते हैं कि उपनिषदों में मतभेद है। इस कारण वे शब्द प्रमाण में नहीं आते।

जहाँ कहीं प्रधान (प्रकृति) को ईक्षण करने वाला बताया है, वह भूल है। अतः वहाँ अर्थ लगाने में पूर्वापर विचार कर लेना चाहिए। पाठकों से की जाने वाली भूल को सुधारने के लिए (न अशब्दम्) की बात लिखी है।

कुछ भी हो, हमारा मत है कि 'न अशब्दम्' का अर्थ इतना मात्र करना ही ठीक है कि (ईक्षणः) ईक्षण करने वाला ही जगत् का रचयिता है। यह वेदोक्त है। शब्द प्रमाण में केवल वेद ही लेने चाहिए।

ईक्षण करने वाले के विषय में इतना और बता देना ठीक होगा, इसके अर्थ केवल देखने वाले के नहीं। इसमें देखने से कहीं अधिक अर्थ हैं। देखना, विचार करना, निर्णय करना, योजना करना इत्यादि सब भाव आते हैं जो चेतन स्वरूप तत्त्व में होने चाहिए।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य द्वारा किये गए, इस सूत्र के अर्थ अवश्य विचारणीय हैं। स्वामीजी का विचार है कि शब्द (न अशब्दम्) इस कारण लिखा गया है कि

कही सांख्य में प्रतिपादित प्रकृतिवाद स्वीकार न हो जाये। इन सन्दर्भ में स्वामीजी लिखते हैं—

न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यं वेदान्तेष्वाश्रयितुम्। अशब्दं हि तत्।

सांख्य में कल्पना किया गया अचेतन 'प्रधान' (प्रकृति) जगत् का कारण वेदान्तों में नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह 'अशब्द' है। (श्रुति विपरीत है)।

यहाँ श्री स्वामीजी का यह कहना है कि सांख्य में यह कल्पना की गयी है कि प्रधान (प्रकृति) जगत् का रचने वाला है, स्वामीजी का कथन सांख्य के मूल ग्रन्थ कपिल मुनि प्रणीत सांख्य-दर्शन से अनभिज्ञता प्रकट करता है। यह हम जानते हैं कि कुछ लोगों ने अपने मन-घड़न्त ग्रन्थ लिखकर उनको सांख्य-दर्शन का नाम दिया है, परन्तु यह तो ऐसे ही है जैसे विकासवाद (evolution theory) को एक वैज्ञानिक (scientific) बात कही जाये। यह अवैज्ञानिक बात है किन्तु कई लोगों ने इसे वैज्ञानिक कहा है। इससे विज्ञान का यह मत नहीं हो जाता।

इसी प्रकार जब कोई सांख्य-दर्शन विपरीत बात को सांख्य से सिद्ध लिखने लगे तो सांख्य निन्दनीय नही हो सकता। सांख्य के आदि प्रवक्ता कपिल मुनि हुए हैं और उन्होंने वैसा कुछ नहीं लिखा जो स्वामी शंकराचार्य सांख्य के नाम से प्रख्यात कर रहे हैं।

कपिल मुनि मानते हैं कि जगत् की रचना में प्रकृति भी कारण है। यह हम बता चुके हैं कि कारण दो प्रकार के होते हैं; निमित्त कारण और उपादान कारण। हम घड़े और मिट्टी का उदाहरण भी दे चुके हैं। मिट्टी भी घड़े का कारण है, परन्तु मिट्टी घड़े की रचने वाली नहीं है। रचने वाला तो कुम्भकार है।

कपिल मुनि ने सांख्य-दर्शन में यह कहीं नहीं लिखा कि प्रकृति जगत् को रचती है, अर्थात् बनाती है। यह अवश्य लिखा है कि प्रकृति से जगत् बना है।

सांख्य का मूल सूत्र इस विषय में इस प्रकार है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्।

(सांख्य १-६१)

इसके अर्थ हैं कि सत्त्व, रजस् तथा तमस् की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है। प्रकृति से महान् बना।

यह नहीं कि प्रकृति ने महान् का निर्माण किया। यह कहा जाता है कि मिट्टी से घड़ा बनता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मिट्टी घड़े को बनाती है।

स्वामीजी उपादान कारण और निमित्त कारण में अन्तर न समझते हुए ही सांख्य-दर्शन में प्रकृति को जगत् की रचना करने वाला कहा मानते हैं। इसके विपरीत सांख्य के यदि अग्रवर्णित सूत्रों पर एकसाथ विचार करें तो पता चलेगा कि

सांख्य-दर्शन न केवल ईश्वर के अस्तित्व को मानता है, वरन् ईश्वर से सृष्टि की रचना असंदिग्ध शब्दों में मानता है।

सूत्र इस प्रकार हैं—

(१) न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्।
(२) अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्।
(३) स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।
(४) ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।
(५) प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वात्, उष्ट्रकुङ्कुमवहनवत्।
(६) अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य।

(सांख्य० ३-५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९)

इन सूत्रों में ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृति का परस्पर सम्बन्ध वर्णन किया है। अर्थ इस प्रकार हैं—

(१) जगत् कारण (मूल प्रकृति) में लय होने पर भी कृत-कृत्यता (कर्म करती हुई) रहती है। जैसे डूबा हुआ मनुष्य तैरने लगता है।

इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म-रात्रि के समय जब जगत् मूल-प्रकृति में लय हो गया होता है, तब भी कार्य होता रहता है। जैसे डूबा हुआ शव ऊपर उठ आता है और तैरने लगता है। अभिप्राय यह कि प्रकृति के गुण उसके साथ रहते हैं और उन गुणों में कृत-कृत्यता रहती है।

आगे लिखा है—

(२) परवश होने से अकार्यशील (जड़) होने पर भी वह (तत् योगः) सम्बन्धित रहती है।

अर्थात् प्रकृति कार्यशील दिखायी देती है, दूसरे के अधीन होने से।

सांख्य-दर्शनाचार्य कपिल मुनि यह लिखते हैं कि प्रधान (प्रकृति) स्वतः अकार्यशील (जड़) है। अतः कार्य नहीं कर सकती। यह दूसरे के वश में होकर कार्य करती है। जिसके वश कार्य करती है वह—

(३) सबकुछ जानने वाला और सबकुछ करने वाला है, अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

(४) इस प्रकार ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(५) प्रकृति का सृष्टि रूप किसी दूसरे के लिए है। इसके अपने भोग के लिए नहीं, जैसे ऊँट पर केसर ढोया जाता है।

यहाँ पर जगत् के रचने वाले ईश्वर और सृष्टि के उपादान कारण (प्रधान) के अतिरिक्त एक तीसरे को बताया है, जिसके लिए यह हो रहा है। यह जीवात्मा है।

अन्तिम सूत्र में लिखा है—

(६) प्रधान अचेतन होने पर भी ऐसे कार्य करता है, जैसे कि माँ के स्तन से दूध टपकने लगता है।

दूध अचेतन है, परन्तु माँ की पुत्र के प्रति ममता से विवश हो स्तन से निकलने लगता है।

इन सूत्रों से यह स्पष्ट है कि सांख्यकार न केवल यह मानता है कि ईश्वर सिद्ध है, वरन् वह यह भी स्वीकार करता है कि प्रधान जड़ होने से ईश्वर के वशीभूत कार्य करता है। साथ ही प्रधान और परमात्मा के संयोग से जो सृष्टि-रचना हुई है, वह जीवात्मा के निमित्त है।

इनके अतिरिक्त निम्न सूत्र भी यह सिद्ध करते हैं कि सांख्य परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है—

(१) **साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम्।** (१-१६१)

(२) **नित्य मुक्तत्वम्।** (१-१६२)

(३) **औदासीन्यं चेति।** (१-१६३)

(४) **उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् चित्सान्निध्यात्।** (१-१६४)

इनका अर्थ है—

(१) उसका सबके साथ साक्षात् सम्बन्ध होने से वह साक्षी है।

(२) वह नित्य मुक्त स्वभाव है।

(३) और वह अलिप्त है।

(४) (वह जगत् क्रियाशील है) समीप-संयोग होने से उस (परमात्मा का) सान्निध्य है।

हमारा निश्चित मत है कि सांख्य दर्शन प्रकृति का वर्णन करता हुआ भी परमात्मा के सान्निध्य को स्वीकार करता है।

इन प्रमाणों की विद्यमानता में स्वामी शंकराचार्य का यह कहना कि सांख्य में यह कल्पना की गयी है कि प्रकृति जगत् का निमित्त कारण है, उनकी सांख्य-दर्शन से अनभिज्ञता प्रकट करता है।

जो लोग जगत् की रचना में निमित्त एवं उपादान कारण दोनों को मानते हैं, वे इसी प्रकार कहते हैं जैसे कि सांख्य में लिखा है।

वास्तव में स्वामीजी स्वयं एक ही कारण इस जगत् का मानते हैं, इस कारण वे सांख्य मत को स्वीकार नहीं करते। कुछ बौद्धों ने अपने मत को सांख्य के नाम से प्रसिद्ध किया है। यह इसी प्रकार है जैसे कुछ वर्ष पूर्व एक कादियानी मुसलमान लाहौर के बाजारों में घूम-घूमकर यह प्रचार किया करता था कि पृथिवी स्लेट की भाँति चपटी है। यूरोप, एशिया तथा अमेरिका स्लेट के एक ही ओर हैं। इस स्लेट के नीचे क्या है, कोई नहीं जानता। यह मुसलमान अपने

मत को वैज्ञानिक (scientific) कहता था। यह मत वैज्ञानिक था अथवा नहीं, इस स्थान पर विचारणीय नहीं। हमारा तो यह कहना है कि जैसे यह महानुभाव पृथिवी को स्लेट की भाँति चपटी मानने वाला अपने मत को वैज्ञानिक (scientific) कहता था, वैसे ही बौद्ध मतावलम्बी, प्रकृति की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकट करने वाले भी अपने को सांख्य मतावलम्बी कहते होंगे। यह निर्विवाद है कि यह कपिल का सांख्य नहीं है। किसी ने सांख्य के नाम पर छलना की है।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने कपिल के विषय में यह छलनात्मक मत देखा है। इसी का शिकार वे हो रहे हैं। कपिल के सांख्य-दर्शन में तथा कणाद के वैशेषिक दर्शन में ऐसी कोई बात नहीं।

प्रधान को सत् गुण वाला माना है। सत् का अर्थ है नित्य। यह चेतनार्थक नहीं है। साथ ही चेतना, सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वज्ञता सत् से भिन्न बात है। उदाहरण के रूप मे जीवात्मा चेतन माना जाता है, परन्तु यह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं माना जाता। इसी प्रकार प्रकृति को अनादि (नित्य) माना है, परन्तु यह जड़ है।

स्वामी शंकराचार्य का मत यह है कि यह सूत्र (ब्र०-सू० १-१-५) उस पूर्व पक्ष के उत्तर में है जो उन्होंने 'ईक्षत्याधिकरण' में स्थापित किया है। अर्थात् उनके मत से सांख्याचार्य और कणाद ने लिखा है कि 'प्रधान' सृष्टि की रचना करता है और वे इसका खण्डन ब्रह्मसूत्र से करना चाहते हैं।

पहली बात तो यह कि वे स्वयं कणाद के वैशेषिक-दर्शन में यह लिखा बताते हैं कि 'काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वरं निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम्।' अर्थात् कणाद आदि तो सृष्टि-रचना में ईश्वर को निमित्त कारण और अणुओं को समवायिकरण मानते हैं।

स्वामीजी युक्ति से तो यह सिद्ध करना चाहते नहीं कि प्रकृति एवं जीवात्मा नही हैं। हाँ, उपनिषदादि ग्रन्थों के प्रमाणों से सिद्ध करना चाहते हैं। यद्यपि ये ग्रन्थ मनुष्य-कृत हैं, अपौरुषेय नहीं, इसपर भी हमारा कहना है कि ये उद्धरण भी सांख्य और कणाद के मत का खण्डन नहीं करते।

छान्दोग्य उपनिषद् (६-२-१, २, ३) के उद्धरण स्वामीजी ने सांख्य मत के विरोध में प्रस्तुत किये हैं। अतः पहले इन तीनों को ही देखें। मन्त्र इस प्रकार हैं—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥१॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳ स्यादिति होवाच। कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥२॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥३॥

हे सोम्य ! आरम्भ में सत् ही था। वह अद्वितीय था। इसके विषय में कुछ लोग कहते हैं पहले कुछ नहीं था। असत् से ही (सब कुछ) उत्पन्न हुआ।

हे सोम्य ! ऐसा कहाँ से यह सब उत्पन्न हो गया ? असत् से कैसे उत्पन्न हो सकता है ? सत् ही पहले एकमेव अद्वितीय था।

उसने इच्छा की बहुत हो जाऊँ, प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। उसने तेज का सृजन किया। परमात्मा को तेज से अपाः उत्पन्न हुआ।

स्वामीजी द्वारा माना गया सांख्य-सिद्धान्त का यहाँ भी खण्डन नहीं हुआ। ऐसा कहीं नहीं लिखा कि 'प्रधान' ने ईक्षण किया है, न ही यह लिखा है कि परमात्मा ने ईक्षण किया है।

ऋषि कहते हैं कि सृष्टि-रचना के पूर्व भाव था अर्थात् कुछ सत्तायुक्त था। वह अद्वितीय था अर्थात् उस जैसा दूसरा नहीं था।

यह सत् (भाव) क्या था, कैसा था, एक रस था इत्यादि व्याख्या यहाँ नहीं की। केवल यह कहा है कि वह अनुपम (जिसके समान दूसरा कोई न हो) था।

हमारा कहना है कि वह त्रिविध ब्रह्म (श्वे० १-९) ही था। इस त्रिविध ब्रह्म में ज्ञ, अज्ञ और (ह्येका भोक्त भोग्यार्थयुक्ता) प्रकृति थे। तीनों अज (अजन्मा) हैं। अतः सृष्टि-रचना से पूर्व के समय तीनों का होना स्वाभाविक ही है। इन तीनों को एक वचन में स्मरण करने का कारण यह है कि तीनों का एक ही नाम है। अभिप्राय यह कि ऋषि कहते हैं कि ब्रह्म सृष्टि-रचना से पूर्व भाव था। वह ब्रह्म था। उसके समान दूसरा नहीं था।

इन तीनों में ईक्षण वह ही कर सकता है जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है। वह श्वेताश्वतर उपनिषद् के अनुसार (ज्ञ) ज्ञानवान् तथा (अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता) अनन्तरूप विश्वरूप अकर्ता परमात्मा है।

हमारी उक्त धारणा का प्रमाण छान्दोग्य उपनिषद् के तीसरे मन्त्र (६-२-३) में मिलता है। इस मन्त्र में 'तदैक्षत' अर्थात्. उससे ईक्षण किये जाने पर (कि बहुत प्रजाओं में हो जाऊँ) तत् का अभिप्राय त्रिविध ब्रह्म से ही है। सृष्टि रचना में तीनों का योगदान होने वाला था। इसपर भी ईक्षण तो परमात्मा ही कर सकता है और उसी ने किया था।

यह इस प्रकार है जैसे कि कोई मनुष्य यह कहे, 'मैं विचार करता हूँ कि आज इण्डिया गेट की ओर भ्रमण के लिए जाऊँ।' इसका अभिप्राय यह है कि भ्रमण के लिए जाने वाला तो पूर्ण मनुष्य शरीर है, परन्तु विचार तो केवल मस्तिष्क करता है। हाथ-पाँव इत्यादि नहीं करते। इसी प्रकार जगत् की रचना तो त्रिविध ब्रह्म से ही होने वाली है, परन्तु ईक्षण करने वाला केवल वह है जो ईक्षण करने की शक्ति रखता है। वह पुरुष नाम से इसी मन्त्र में बताया गया है। लिखा है (पुरुषस्तेजस एवं तदद्यापो जायन्ते) पुरुष (परमात्मा) के तेज से अपः उत्पन्न हुआ।

इसमें यह स्पष्ट लिखा है कि भाव, अर्थात् सत् में से पुरुष परमात्मा के तेज से (द्वारा) अपः उत्पन्न हुआ।

स्वामी शंकराचार्य द्वारा कल्पित सांख्य-सिद्धान्त का खण्डन तो यहाँ है नहीं। न ही यहाँ प्रधान के ईक्षण करने की बात लिखी है। उपनिषद्कार कहता है कि सृष्टि रचना से पहले जो भाव था, उसने ईक्षण किया। प्रश्न यही है कि वह भाव अर्थात् सत् क्या था ? यदि उसे ब्रह्म मानें तो प्रश्न उत्पन्न होता है कि ब्रह्म एक है अथवा कई प्रकार का है ? दोनों अवस्थाओं में हमने यह सिद्ध किया है कि ईक्षण करने वाला परमात्मा है।

यदि 'त्रिविधं ब्रह्म' की बात् मानें तो मनुष्य विचार करता है कि इनमें से कौन ब्रह्म है जो ईक्षण करता है ? विचार करने वाले हाथ-पाँव नहीं, केवल मस्तिष्क ही होता है। इसी प्रकार ईक्षण करने वाला केवल परमात्मा ही है और यदि ब्रह्म में केवल एक ही सत्ता मानें, तब भी ईक्षण करने वाला ब्रह्म अर्थात् परमात्मा ही है।

यह कि ब्रह्म एक पदार्थ है अथवा यह तीन प्रकार का है, जिनमें कुछ गुण परस्पर मिलते हैं और कुछ नहीं मिलते, का निर्णय इस स्थान पर करने की आवश्यकता नहीं। यहाँ अभिप्राय यह है, दोनों अवस्थाओं में ईक्षण करने वाला परमात्मा है।

यहाँ एक अन्य बात विचारणीय है। परमात्मा, जो सब प्रकार से पूर्ण है वह ईक्षण क्यों करता है कि मैं बहुत हो जाऊँ ? क्या एक ही रहने से उसमें कुछ अभाव था, जिसकी पूर्ति के लिए वह बहुत हो जाने का ईक्षण करता है ?

इसका समाधान दो प्रकार से किया जाता है। एक तो ईक्षण शब्द का अर्थ इच्छा करना नहीं। यह शब्द देखने के अर्थ में आया है। परमात्मा ने देखा कि ब्रह्मरात्रि के समाप्त होने का समय आ गया और जीवात्माएँ जो सुषुप्ति अवस्था में पड़ी हैं, उन्हें परमात्मा (अपने सखा) से मिलने का अवसर मिलना चाहिए। ईश्वर ने देखा और निश्चय किया कि सृष्टि-रचना हो। दूसरा समाधान यह है कि 'मैं बहुत हो जाऊँ।' यह विचार तो ब्रह्म में परमात्म-तत्त्व ने ही किया, परन्तु ब्रह्म में प्रकृति भी तो है; अर्थात् बहुत होना ब्रह्म के 'प्रधान' (प्रकृति) अंश के लिए है। पुनः मनुष्य का उदाहरण लिया जा सकता है। मनुष्य विचार करता है कि मैं अन्न खाऊँ। विचार तो मस्तिष्क करता है, परन्तु खाता मुख है। अतः जब ब्रह्म ने देखा कि मैं बहुत हो जाऊँ तो यह देखने वाला तो ब्रह्म में उपस्थित परमात्म-तत्त्व ही था, परन्तु बहुत होने वाला ब्रह्म 'प्रधान' अंश था। यह उसी प्रकार है जैसे कि खाने का निश्चय करने वाला मस्तिष्क होता है, परन्तु अन्न खाने वाला मुख और पुष्टि प्राप्त करने वाला पेट होता है।

स्वामी शंकराचार्य ने उपनिषदों में यह तो सिद्ध कर दिया है कि ईक्षण करने की सामर्थ्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन-स्वरूप में ही हो सकती है।

दर्शन-शास्त्र ने इसे युक्ति से सिद्ध किया है। जड़ निश्चय नहीं कर सकता कि

कोई कार्य आरम्भ हो अथवा न हो, कब हो और कैसे हो ? इसके लिए किसी चेतन की आवश्यकता रहती है।

इसी सूत्र के भाष्य में श्री स्वामी शंकराचार्य ने परमात्मा के कर्ता होने तथा अनुभव के बिना कार्य करने इत्यादि के विषय में कहा है। हमारे विचार में उनका इस सूत्र के साथ सीधा अथवा उलटा कैसा भी सम्बन्ध नहीं है। अतः हमने इस पर विवेचना छोड़ दी है। इन उदाहरणों का स्वामीजी के विशेष मत से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।

स्वामीजी का विशेष मत यह है कि ब्रह्म और परमात्मा पर्यायवाचक शब्द हैं। परन्तु हमारा मत है कि ऐसा नहीं है। ब्रह्म उस एक अथवा अनेक पदार्थों को कहते हैं जो अनादि, अक्षर, अव्यय हैं। इन ब्रह्मस्वरूप पदार्थों में परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वव्यापक है। जीवात्माएँ अनेक हैं, अज्ञ हैं, अणु मात्र हैं। ये भी अनादि, अक्षर इत्यादि ब्रह्म गुण युक्त हैं। ब्रह्म में एक प्रधान भी है। यह कणदार, त्रिगुणात्मक और जड़ है। इसमें चेतना नहीं है।

ब्रह्म को इस प्रकार मानने से अनेक उपनिषद्-वाक्यों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं, परन्तु इस मत के स्पष्ट प्रवक्ता श्वेताश्वतर ऋषि हैं। इन्होंने असंदिग्ध शब्दों में यह कहा है—

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते, अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा, जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म, तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा, लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥

(श्वे० १-६, ७)

इन मन्त्रों में यह लिखा है कि इस जगत् (ब्रह्म-चक्र) में सब जीव स्थित हैं और भ्रमण कर रहे हैं। वे हंस समान जगत् रूपी भँवर में फँसे हुए हैं।

आत्मा (परमात्मा) प्रेरणा देने वाला है, उसे पृथक् मानना चाहिए। यह (जीवात्मा) उस (परमात्मा) से जुष्ट (संयुक्त) होकर अमृतत्व को प्राप्त होता है।

ऊपर कहा गया (जगत् अर्थात् ब्रह्म-चक्र) परम ब्रह्म है। वह प्रेरित होने योग्य है जीवात्मा और आत्मा अर्थात् परमात्मा जिसके संयोग होने पर अमृतत्व प्राप्त होता है; यह (ब्रह्म-चक्र अर्थात् तीनों) जगत् सहित परम ब्रह्म हैं और उन तीनों को स्थिर (अनादि) अक्षर कहते हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्म में लीन ब्रह्म-ज्ञानी योनि मुक्त मानने चाहिए।

अगले मन्त्रों में तो और भी स्पष्ट कथन है—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
(श्वे० १-८, ९, १०)

ये तीनों मन्त्र उक्त दोनों (श्वे० १-६, ७) मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करने के लिए दिये गए हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है—

क्षर और अक्षर का (ब्रह्म चक्र में) संयोग है। विश्व में व्यक्त और अव्यक्त दोनों का पालन करने वाला ईश्वर है। एक आत्मा अनीश्वर भी है। वह भोग की लालसा में बँधा हुआ है, परन्तु (देव) परमात्मा को जानकर वह सब बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

ज्ञानवान् और अज्ञ दो अजन्मा (आत्मतत्त्व) हैं। एक ईश (शक्तिमान्) और दूसरा अनीश्वर (अल्प शक्तिमान्) है। एक अन्य है जो भोग करने वाले के भोग के निमित्त है। जो अनन्त आत्मा है, वह विश्व के रूप बनाता है, परन्तु अकर्ता है। वह भोग नहीं करता। इन तीनों को ब्रह्म जानो।

प्रधान (प्रकृति) क्षर भी है और अमृत (अक्षर) भी है और हरि (परमात्मा) तो अक्षर ही है। इनमें एक देव (परमात्मा) क्षर रूप वाली प्रकृति और आत्माना (जीवात्माओं) को वश में रखता है (शासन करता है)। उस (देव) का ध्यान और योग करने से तथा उसके भाव को जानने से अन्त में जाकर विश्व की भ्रान्ति (मोह) निवृत्त हो जाती है।

अपने कथन को ऋषि ने और भी स्पष्ट किया है—

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥
(श्वे० १-१२)

इसे (त्रिविधं ब्रह्म को) जानकर (नित्यं) उसमें स्थित होकर उसके आगे और कुछ भी जानने योग्य नहीं है। (किसके आगे ?) भोक्ता, भोग्य और प्रेरणा देने वाले से मानो। ये सब तीन प्रकार के ब्रह्म कहे गये हैं।

ऋषि को इतने से सन्तोष हुआ प्रतीत नहीं होता। वह पुनः इस विषय पर उपनिषद् के चौथे अध्याय में प्रसंग चलाता है।

ऋषि प्रश्न उपस्थित करता है। क्या परमात्मा स्त्री है ? पुरुष है, कुमार है, कुमारी है, वृद्ध है, लाठी के आश्रय चलता है ? परमात्मा ही सब ओर मुख वाला है ?

क्या नीला, लाल, हरा, लोहित वर्ण वाला (सुन्दर रंगों वाला) पदार्थ वह

है ? सबका आदि माना जाने वाला, जिसके सामर्थ्य से व्यवहार हो रहा है, जिससे विश्व के भुवन (नक्षत्र) उत्पन्न हुए हैं, क्या वही आत्मा है ?

(श्वे० ४-३, ४)

इस प्रश्न को उपस्थित कर ऋषि स्वयं उत्तर देता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥*

(श्वे० ४-५, ६)

अर्थात्—एक अजन्मा है जो लोहित शुक्ल कृष्ण (रजस्, सत्त्व और तमस्) गुण वाला है, जो अपने ही (त्रिगुणात्मक) रूप की वस्तुएँ बनाता है। एक अन्य अजन्मा है, सेवन करता हुआ अनुशासन में रहता है। एक अन्य अजा (अजन्मा) है जो भोग-भोगी हुई (कार्य-जगत्) को त्याग देता है, अर्थात् स्वीकार नहीं करता।

दो सुपर्ण (सुन्दर पंखों वाले पक्षी) सयुजा (संयुक्त हो रहे) सखाया (सखा भाव रखते हुए) समानं वृक्षं (एक ही वृक्ष पर बैठे हुए) परिषस्वजाते (एक-दूसरे में मिले-जुले हुए हैं)। तयोरन्यः (उनमें एक) पिप्पलं (फल) स्वाद्वत् (स्वाद से खाता है) अनश्नन्नन्यो (दूसरा=परमात्मा नहीं खाता) और अभिचाकशीति (साक्षी रूप देखता है)।

उपर्युक्त कथन देने का प्रयोजन यह है कि ब्रह्म तीन पदार्थों का नाम है, प्रकृति, जीवात्माएँ और परमात्मा। इनमें समानता और भिन्नता हमने लिख दी है। ब्रह्म के इस प्रकार अर्थ समझ उपनिषदादि ग्रन्थों के अर्थ लगाये जाते हैं।

स्वामीजी ने उपनिषद ग्रन्थों से एक तत्त्व निकाला है। वह है 'एको ब्रह्म द्वितीयोनास्ति।' इसमें 'ब्रह्म एक है' तो सत्य निष्कर्ष है, परन्तु 'दूसरा कुछ नहीं', यह कहीं किसी भी मान्य उपनिषद् में नहीं मिलता। इसके विपरीत श्वेताश्वतर उपनिषद् का स्पष्ट मत हमने ऊपर प्रकट किया है।

यह मत सरल भाषा में त्रैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस ब्रह्माण्ड में तीन मूल पदार्थ हैं। ये तीनों अव्यक्त (इन्द्रियों से न दिखायी दिये जाने वाले) अक्षर (जिनका अन्त न हो), अनादि (जिनका आरम्भ नहीं), अव्यय (जो न्यूनाधिक नहीं होते) हैं; परन्तु इनमें एक जो परमात्मा के नाम से प्रसिद्ध है—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक सब प्रकार से पूर्ण है। दूसरा तत्त्व जीवात्मा है। जीवात्माएँ अगणित संख्या में हैं, अणु मात्र हैं, अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति के स्वामी हैं और परमात्मा

---

* (श्वे० ४-६) का मन्त्र ऋग्वेद १-१६४-२० का मन्त्र है।

के आश्रित हैं। ब्रह्म का तीसरा अंश प्रकृति है। वह जड़ है। 'इदं त्रिविधं ब्रह्म' ऐसा उपनिषद् में लिखा है।

यह विचार किया जाता है कि तीनों को एक ही तत्त्व क्यों न मान लिया जाए ? और उस एक ही तत्त्व की तीन स्थितियाँ समझ ली जाएँ। इसमें आपत्ति यह की जाती है कि स्थितियों में मूल गुण में परिवर्तन नहीं होता। जैसे वाष्प, जल और बर्फ एक ही पदार्थ की तीन स्थितियाँ कही जाती हैं। शंकर मतावलम्बी परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति को वाष्प, जल और बर्फ के समान एक ही पदार्थ की तीन स्थितियाँ मानते हैं। परन्तु वाष्प, जल और बर्फ की सैद्धान्तिक समानता है। तीनों में हाईड्रोजन और ऑक्सीजन १:८ की तुलना में संयुक्त है। यह सैद्धान्तिक समानता यदि विलुप्त हो जाए तो वाष्प, जल और बर्फ एक पदार्थ न हो, दो अथवा अधिक भिन्न-भिन्न पदार्थ हो जाएँगे।

इसी प्रकार त्रिविधं ब्रह्म के तीन घटकों में स्थितियों का सम्बन्ध नहीं है। इनके मूल-गुण भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरण के रूप में परमात्मा सत्, चित्, आनन्द है। जीवात्मा सत् और चित् है, आनन्द नहीं है; और प्रकृति केवल सत् है, न चित् है और न आनन्दस्वरूप है।

चैतन्यता और जड़ता मूल गुण माने जाते हैं। इनमें आत्मा और जीवात्मा एक श्रेणी में आते हैं और प्रकृति इनसे भिन्न है। एक अन्य भेद है। जीवात्मा और परमात्मा अविकारी (विकाररहित) हैं। प्रकृति विकारयुक्त है। इस प्रकार चैतन्यता और अविकारी होना ये मूल गुण हैं। इसी प्रकार आनन्दमय तथा अनानन्दमय होना भी मूल गुण हैं।

इसी सूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने कुछ अन्य प्रश्न उठाये हैं और उनका समाधान किया है। उनमें एक तो यह है कि परमात्मा ईक्षण करता है, विचार करता है। अतः विचार करने में क्रम होता है। इससे ईश्वर की नित्य सर्वज्ञता में सन्देह होता है। स्वामीजी ने इस आक्षेप का अपने ढंग पर उत्तर दिया है। हमारा इसमें केवल यह कहना है कि ईक्षण का अर्थ विचार करना नहीं। इसका अर्थ है निश्चय करना। सृष्टि उत्पत्ति के समय निश्चय करना कि अब सृष्टि बननी चाहिए।

दूसरा प्रश्न स्वामीजी ने यह उपस्थित किया है कि परमात्मा किन कारणों से सृष्टि की रचना करता है ? इसका भी उत्तर स्वामीजी ने अपने ढंग पर दिया है।

स्वामीजी ने दोनों संशयों का समाधान उपनिषद् प्रमाण से दिया है। ये समाधान, जहाँ तक आप्त प्रमाण का सम्बन्ध है, ठीक हैं। परन्तु जो लोग वेदादि शास्त्रों को सत्य विद्याओं के ग्रन्थ नहीं मानते, उनके लिए उक्त उपनिषदादि ग्रन्थों के उद्धरण निरर्थक सिद्ध होंगे। उनके लिए अनुमान अर्थात् युक्ति ही प्रमाण है। दर्शन-शास्त्र यही कर रहे हैं।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

गौणः+चेत्+न+आत्मशब्दात्।

गौणः=गौण है, चेत्=यदि कहो तो, न=यह (युक्तियुक्त) नहीं, आत्मशब्दात्=आत्म शब्द (के प्रयोग) से।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि यह कहो कि प्रकृति में ईक्षति गौण रूप से विद्यमान है तो यह युक्तियुक्त नहीं। कारण यह कि ईक्षण आत्म-शब्द के साथ सम्बन्धित है।

इसका उदाहरण नास्तिक इस प्रकार देते हैं। वृक्ष पर से पककर आम गिर जाता है। इसी कारण कहा जाता है कि आम पककर गिर पड़ता है अथवा नदी के तट के नीचे से मिट्टी बह जाती है तो वह गिर पड़ती है। इस प्रकार कहा जाता है कि अचेतन भी कार्य करता देखा जाता है।

सूत्रकार इस बात का खण्डन करता है और यह कहता है कि पका आम गिरता है अथवा नदी का किनारा टूटता है तो आम और किनारा कार्य नहीं करते। न ही वे गिरने का ईक्षण करते हैं। आम और नदी का किनारा नहीं गिरते हैं। कोई अन्य शक्ति उन्हें गिराती है। आम भू-आकर्षण से गिरता है। इसी प्रकार नदी का किनारा भू-आकर्षण से टूटता है। गिरने से पूर्व उनको गिरने से कोई रोके हुए था। यह रुकावट किसी अन्य कारण से दूर हुई तो आम और नदी का किनारा गिर पड़े। इनमें नदी के किनारे और आम ने स्वयं कुछ नहीं किया। वे तो जड़ ही हैं, निश्चल और ईक्षति रहित हैं। कार्य और ईक्षति दोनों आत्मतत्त्व से ही हो सकते हैं। आत्म-तत्त्व से चेतन का प्रयोजन है।

बौद्ध तथा अन्य नास्तिक प्रकृति को क्रियाशील प्रकट करने के लिए इसी प्रकार के उदाहरण दिया करते हैं। ये उदाहरण अयुक्ति-संगत हैं। यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

स्वामी शंकराचार्य अपने स्वभावानुसार इस सूत्र के भाष्य में असंगत बात उठा रहे हैं। वह कहते हैं कि अचेतन प्रधान के लिए जो सत् शब्द लिखा है, उसमें आपः और तेज के समान 'ईक्षतिः' शब्द औपचारिक है। सत् क्यों है? आत्म शब्द से।

इस सूत्र में केवल मात्र यह कहा है कि जहाँ कहीं प्रकृति ईक्षण करती हुई अथवा कार्य करती हुई दिखायी देती है, यह भ्रम है। वह नहीं करती। आत्मा (चेतन तत्त्व) ही ईक्षण करता है और कार्य करता है।

यहाँ ब्रह्मसूत्रों के एक अन्य भाष्यकार का मत भी लिख दिया जाये तो ठीक होगा। विद्याभास्कर वेदरत्न श्री उदयवीर शास्त्री, न्यायतीर्थ, सांख्य योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति ने इसी सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—

"शास्त्र में सर्ग विषयक ऐसे प्रकरण हैं, जहाँ जगत्कारण के लिए 'ईक्षति' का प्रयोग किया गया है। यह विवेचन करना आवश्यक होगा कि उनमें कहीं इस क्रिया-पाद का गौण प्रयोग है और कहीं मुख्य। किसी एक प्रकरण में गौण प्रयोग होने से सर्वत्र वैसा ही प्रयोग हो, यह किसी प्रकार न्याय नहीं कहा जा सकता···।

"ऐसे प्रकरणों में एतरेय उपनिषद् का प्रारम्भिक भाग है···।"

विद्वान् भाष्यकार ने उपनिषदादि ग्रन्थों में ऐसे प्रकरण देखे होंगे, जहाँ 'ईक्षण' शब्द का प्रयोग गौण रूप में किया गया होगा, परन्तु जो उदाहरण उन्होंने दिया है (ऐतरेय का प्रारम्भिक भाग) उसमें तो परमात्मा के विषय में ही ईक्षण करने का शब्द प्रयुक्त किया है। उपनिषद् वाक्य इस प्रकार है—

ओ३म् ॥आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
नान्यत् किंचन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥

(एतरेय १-१-१)

इसका अर्थ है—आत्मा परमात्मा ही यह सत्, जगत् रचना से पूर्व था। कुछ अन्य नही था, जो हिलता था। उसने ईक्षण किया कि लोकों का सृजन हो।

यहाँ स्पष्ट है कि आत्मा शब्द परमात्मा के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, प्रकृति के लिए नहीं, वैसे आत्मा(जीवात्मा)भी चेतन है और शरीरात्माओं में ऐसे ही कर सकता है।

शास्त्रीजी ने 'ईक्षति' गौण रूप से क्यों माना है यह उन्होंने स्पष्ट नही किया। इस उपनिषद् (१-१, २, ३, ४) में परमात्मा को ही ईक्षण करने वाला और सृष्टि रचने वाला बताया है। यहाँ ईक्षण गौण क्यों है, समझ में नहीं आया।

इसी प्रकार स्वामी शंकराचार्य ने प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न का उदाहरण दिया है। हमारा विचार है कि इस उद्धरण में भी परमात्मा अथवा आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी के ईक्षण करने की बात नहीं। इस प्रश्न के तीसरे मन्त्र में लिखा है—

स ईक्षां चक्रे=उसने ईक्षण किया। किसने? निस्सन्देह उस पुरुष ने जो सोलह कला वाले शरीर में रहता है और सोलह कला वाले शरीर में कलाओं को प्रकट करता है। यह शरीर में जीवात्मा है।

जीवात्मा भी आत्मतत्त्व है अर्थात् चेतन है। ईक्षण करना चेतनता के कारण है। यह जड़ पदार्थ में नहीं होता। परन्तु यह चेतन आत्मा में भी नहीं हो सकता, यह कोई युक्ति नहीं।

हमारा मत है कि यहाँ पण्डित श्री उदयवीरजी तथा स्वामीशंकराचार्यजी ने 'ईक्षण' को गौण मान 'ईक्षण' का केवल परमात्मा से सम्बन्ध माना है। वह ठीक नहीं है। ईक्षण करना चेतनता का लक्षण है। जीवात्मा भी चेतनतत्त्व है। अतः वह ईक्षण कर सकता है। यहाँ ईक्षण सृष्टि-रचना के विषय में नहीं प्रत्युत शरीर में हो रही क्रियाओं के विषय में है।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।।७।।

तत्+निष्ठस्य+मोक्ष+उपदेशात् ।

तत्=उस (में)। **निष्ठस्य=निष्ठा रखने वाले का। मोक्षोपदेशात्=मोक्ष के उपदेश से (कल्याण किया है शास्त्र द्वारा उसका)।**

अभिप्राय यह है कि जिसका वर्णन उक्त सूत्रों में किया गया है। सूत्र संख्या १-१-२ से लेकर १-१-६ तक जिसका उल्लेख किया गया है, उसमें निष्ठा रखने के लिए मोक्ष के उपदेश से (कल्याण किया गया है)।

निष्ठस्य का अर्थ है—निष्ठा अर्थात् विश्वास रखने वाले का। निष्ठस्य का एक अन्य अर्थ यह भी है—स्थित हुए का; ठहरे हुए का। यह दूसरा अर्थ हमने नहीं लिया। कारण यह कि जो उसमें स्थित हो गया है अर्थात् उस (परमात्मा) से जुष्ट हो गया है; उसके कल्याण के उपदेश की आवश्यकता ही नहीं रहती। उसका कल्याण हो चुका होता है।

अतः प्रथम अर्थ ही उपयुक्त है। निष्ठस्य अर्थात् निष्ठा (विश्वास) रखने वाले का मोक्ष के उपदेश से (कल्याण किया गया है)।

यदि तो अर्थ किये जाते 'स्थित', तो तत् के अर्थ परमात्मा के होंगे, परन्तु हमने अर्थ किये हैं विश्वास रखने के अर्थात् जैसा जो है वैसा उसको मानने के। तब यह ठीक होगा कि तत् से अर्थ 'ब्रह्म' के किये जाएँ।

इस तीनों ब्रह्म की अवस्था में हम इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार करते हैं। पूर्व सूत्रों (१-१-२ से १-१-६) तक में ब्रह्म अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा का वर्णन है। इस कारण इन तीनों में निष्ठा रखने वाले के लिए मोक्ष के उपदेश से कल्याण किया गया है। अभिप्राय यह कि परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों को जैसे-जैसे ये हैं, उनको वैसा मानने वाले को, शास्त्र में मोक्ष का उपदेश किया गया है।

यह बात अन्य लोग भी मानते हैं। उदाहरण के रूप में भगवान् कृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता में लिखते हैं—

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु । (भ० गी० ७-१)

अर्थात् —ब्रह्म के समग्र स्वरूप को संशय रहित होकर जानने के लिए सुन।

समग्र स्वरूप की व्याख्या भी की है। श्रीकृष्ण कहते हैं—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।

(भ० गी० ७-२)

इसका अर्थ है—मैं तुमको ज्ञान-विज्ञान सहित सम्पूर्ण रूप में बताता हूं, जिसे जानकर अन्य कुछ जानने योग्य नहीं रह जायेगा।

इस ज्ञान-विज्ञान में श्रीकृष्ण ने बताया है कि प्रकृति अष्टधा है। इस प्रकृति से सूक्ष्म तत्त्व है जो प्रकृति से मिलकर प्राणी जगत् बनाता है और इन दोनों तत्त्वों से भी सूक्ष्म एक अन्य तत्त्व है जो इस जगत् को बनाता है और इसका प्रलय करता है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।
(भ० गी० ७-४, ५, ६)

इस समग्र स्वरूप को जानने वाले के लिए ही सूत्रकार ने मोक्ष के उपदेश से कल्याण की बात बताई है।

इस सूत्र में एक बात और स्पष्ट की गयी है कि जो ब्रह्म में निष्ठा अर्थात् उसके स्वरूप को भली-भाँति समझ लेता है, उसको शास्त्र में मोक्ष का उपदेश दिया है। यह नहीं कि बिना ब्रह्म के स्वरूप को समझे मोक्ष का उपदेश हो जायेगा।

यही बात हमने सूत्र १-१-१ में 'अथ' शब्द की व्याख्या में लिखी है। वहाँ बताया है कि 'अथ' अधिकारार्थ है। सूत्रकार अधिकारपूर्वक कहता है कि ब्रह्म के जानने की इच्छा की हम पूर्ति करते हैं। स्वामी शंकराचार्य ने 'अथ' आनन्तर्यार्थ माना है। मुमुक्षत्व पहले होना चाहिए और ब्रह्म का ज्ञान पीछे दिया जायेगा। इसे ही गाड़ी को घोड़े के आगे लगाना कहते हैं। अर्थात् मोक्ष क्या है, ब्रह्म क्या है और मोक्ष-प्राप्त की इच्छा करने वाला क्या है, यह पीछे बतायेंगे, पहले मोक्ष की इच्छा कर लो। यह अस्वाभाविक है।

इस सूत्र में यह बात स्पष्ट कर दी है कि जो ब्रह्म के स्वरूप को जानकर उसमें विश्वास कर लेते हैं, उनके लिए शास्त्र में मोक्ष का उपदेश है। अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा और उसकी पूर्ति के उपाय तो पीछे बताये जाते हैं। पहले (त्रिविध) ब्रह्म को समझ लो।

इस सूत्र में यह बताया है कि विवेक और वैराग्य से जिसकी बुद्धि पर पड़ा बन्धन हट गया है, जिसको पूर्व के सूत्रों से ब्रह्म का अस्तित्व समझ में आ गया है, यह मोक्ष के उपदेश का अधिकारी है। अर्थात् उसे इस उपनिषद् के अनुसार गांधार का मार्ग दिखाया जा सकता है।

हेयत्वावचनाच्च ॥८॥

हेयत्व+अवचनात्+च ।

और (उसकी) हीनता न कहे जाने से ।

च=और शब्द के प्रयोग से यह प्रकट किया गया है कि इस सूत्र का पूर्व के साथ सम्बन्ध है। दोनों सूत्र (१-१-७ और १-१-८) सम्बन्धित हैं। दोनों को एक-साथ पढ़ना चाहिए।

पहले (ब्र० सू० १-१-७) सूत्र में यह कहा है कि उस ब्रह्म में निष्ठा रखने वालों के लिए मोक्ष का उपदेश है और इस सूत्र (ब्र० सू० १-१-८) में यह कहा है कि वह हीन स्थिति का नहीं कहा गया। अर्थात् वह सामर्थ्य एवं अन्य उच्च गुणों से रहित नहीं।

वह आत्मतत्त्व जो ईक्षण करने की सामर्थ्य रखता है, वह अपने में हीनत्व नहीं रखता।

हमने ब्रह्म में तीन मूल-पदार्थ स्वीकार किये हैं। ब्रह्मसूत्रों में (१-१-२, १-१-३, १-१-४) तीन प्रकार के ब्रह्म के विषय में कहा है। इनमें भी हमने यह स्पष्ट करने का यत्न किया है जो कुछ सूत्रों में कहा है उसमें एक ब्रह्म कर्ता है, दूसरा ब्रह्म वह है जिसके लाभ के लिए किया गया है और तीसरा वह जिसपर कार्य हुआ है। कार्य है जगत्-रचना। १-१-५ में सूत्रकार ने यह बताने का यत्न किया है कि इस त्रिविध ब्रह्म में ईक्षण करने वाला आत्मतत्त्व है। वह प्रमाणित अर्थात् शब्द प्रमाण से भी सिद्ध है। १-१-६ में यह बताया है कि आत्मतत्त्व में ईक्षण एक गौण कार्य नहीं है। जैसे हवा चलती है। इसमें हवा का चलना प्रकट करता है कि हवा स्वेच्छा से बिना किसी के आश्रय के चलती है, परन्तु ऐसा है नहीं। अतः हवा का चलना गौण कर्म है। इस प्रकार आत्मतत्त्व में ईक्षण गौण नहीं। यह मुख्य गुण है।

१-१-७ में ऐसे आत्मतत्त्व के समग्र ज्ञान वाले के लिए मोक्ष का उपदेश है। और १-१-८ में कहा है कि ऐसा आत्मतत्त्व हेय अर्थात् सामर्थ्यहीन, जड़ नहीं। ईक्षण (discretion and decision) से रहित नहीं है। यह शास्त्रोक्त भी नहीं। हेय का अर्थ कई उपनिषदों में कार्य-जगत् भी लिया है। कारण यह कि कार्य-जगत् अस्थाई और परिवर्तनशील है। परन्तु यहाँ हेय का अर्थ निम्न कोटि का मानना ही ठीक है।

स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र में भी पुनः अप्रासंगिक बात ले आये हैं। आप कहते हैं—

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यं 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छान्दो० ६-८-७) **इतीहोपदिष्टं स्यात् ।**

अर्थ है—यदि अनात्म प्रधान ही सत् शब्द से प्रकट होता तो छान्दोग्य उपनिषद् (६-७-८) में 'वह आत्मा तुम हो' में (प्रधान) उपदिष्ट होता।

उपनिषद्-वाक्य (६-७-८) के अर्थों के विषय में यह है कि वहाँ आत्म-शब्द से परमात्मा का अभिप्राय नहीं है। यहाँ हम यह भी बताना चाहते हैं कि सत् शब्द 'प्रधान' (मूल प्रकृति) का गुण यहाँ नहीं है। ऐसा सूत्र में नहीं लिखा। स्वामीजी अपना अप्रमाणित मत कि परमात्मा के अतिरिक्त कोई अन्य अनादि मूलतत्त्व नहीं सिद्ध करने के लोभ में यत्र-तत्र बिना संगति के भी अपना मत लिख देते हैं।

प्रथम, सत् शब्द का अर्थ 'चेतन' नहीं। यह बात समझ लेनी चाहिए। सत् का अभिप्राय है कि 'है,' जिसका अस्तित्व है। इसमें चेतनता-अचेतनता का प्रश्न नहीं।

मोनियर विलियम सत् शब्द के अर्थ अपने शब्दकोष में इस प्रकार लिखते हैं—

सत्—**being, existing, occuring, happening, being present... real, actual, lasting, enduring.**

क्योंकि जीवात्मा और परमात्मा भी उक्त गुण रखते हैं, इस कारण वे भी सत् हैं, और प्रधान, जैसा सांख्य और अन्य शास्त्रों में वर्णन किया गया है, वह भी उक्त लक्षण रखता है। इस कारण वह भी सत् है।

सत् का अर्थ चेतनता नहीं। स्वामी शंकराचार्य शब्दों के अर्थ विकृत कर अपने मत को उपनिषदादि ग्रन्थों में से सिद्ध करना चाहते हैं।

प्रधान का सत् होना अथवा असत् होना यह इस सूत्र से सम्बन्धित नहीं।

हमारा यह कहना है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् के मतानुसार ब्रह्म में तीन तत्त्व मानकर उपनिषद् के अर्थ किये जाएँ तो बहुत से संदिग्ध-वाक्य और अस्पष्ट वाक्य सरल और सुगम हो जाएँगे।

एक बात माननी पड़ेगी कि उपनिषद् ग्रन्थ मनुष्य-कृत होने से और इनके लिखने वाले भिन्न-भिन्न कालों में होने से भाषा में समानता नहीं रही। इसपर भी कुछ सैद्धान्तिक आधार हैं उनको बदला नहीं जा सकता और वे सैद्धान्तिक आधार वेदों से पता चलते हैं।

युक्ति तो बिना किसी प्रमाणित अथवा अप्रमाणित ग्रन्थ का आधार लिये हुए चलती है। इसके लिए बुद्धि विवेकशील अर्थात् सात्त्विकी होनी आवश्यक है और साथ ही वैराग्य अर्थात् पूर्वाग्रहों से रहित होनी अनिवार्य है। ऐसा व्यक्ति ही युक्ति कर सकता है और युक्ति की बात समझ सकता है।

जब शास्त्र-प्रमाण का अवसर आता है तो हिन्दू परम्परा में वेद स्वतः प्रमाण माने हैं। स्वामी शंकराचार्यजी ने तो वेद (संहिताओं) को निम्न कोटि के ग्रन्थ प्रकट कर नास्तिकों के पक्ष का समर्थन किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया? यह

इस कारण कि उनके अपने विचारों का उन ग्रन्थों में समर्थन नहीं मिलता।

वेद मत त्रैतवाद है। हम यह समझते हैं कि छहों वैदिक-दर्शन इसी को मानते हैं। उपनिषद् भी यह स्वीकार करते हैं। केवल वे कहीं-कहीं इतने अस्पष्ट हो जाते हैं कि भ्रम उत्पन्न होने लगता है।

स्वाप्ययात् ॥९॥

स्व+अप्ययात्।

अपने आप अभिगमन करने वाला होने से (वह परमात्मा है, अर्थात् चेतन है)।

इस प्रकार के अर्थ श्री ब्रह्म मुनिजी ने किये हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

स्व+अप्ययावत्=अपने में अप्यय (लय) होने से।

स्वामी शंकराचार्यजी इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं—

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रकृत्य श्रूयते—'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति' (छा० ६-८-१) **इति। एषा श्रुतिः स्वपितीत्येतत्पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं नाम निर्वक्ति। स्वशब्देनेहात्मोच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः। अपिपूर्वस्यैतेर्लयार्थत्वं प्रसिद्धं; प्रभवाप्ययावित्युत्पत्तिप्रलययोः प्रयोगदर्शनात्।**

अर्थात्—उसी सत् शब्द वाच्य कारण को श्रुति प्रकट करती है। श्रुति है (यत्रतत्पुरुषः—छा० ६-८-१)।

(श्रुति का अर्थ स्वामीजी लिखते हैं) जैसे सुषुप्ति अवस्था में वह पुरुष स्वपिति—सोता है, ऐसा कहा जाता है। उस समय हे सोम्य! यह सम्पन्न होता है अर्थात् परमात्मा के साथ तद्रूप होता है। अर्थात् अपने में लय होता है। उस समय उसे 'स्वपिति', ऐसा कहते हैं, वह अपने में ही लीन होता है। यह श्रुति भी पुरुष के स्वपिति (सोता है)। ऐसा लोकप्रसिद्ध निर्वचन है। स्व शब्द से आत्मा का अर्थ है जो प्रकृत और सत् शब्द वाच्य है, उसमें लीन होता है। अभिपूर्वक 'इण' गत्यर्थक धातु का लय अर्थ प्रसिद्ध है। प्रभव और अप्यय दोनों शब्द उत्पत्ति और प्रलय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

स्वामीजी के प्रवचन को सरल भाषा में लिखा जाये तो उक्त सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनेगा कि जब मनुष्य सोता है तो मनुष्य कलेवर में स्थित जीवात्मा सर्वव्यापक परमात्मा में लय हो जाता है।

अतः सूत्रार्थ बना—अपने में लीन हो जाने से वह आत्मा है। स्वामीजी स्व के अर्थ सत् और सत् के अर्थ आत्मा मानते हैं।

स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी (अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा) ने अंग्रेज़ी भाषा में ब्रह्मसूत्रों का भाष्य किया है। वे इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

On account of resolving or merging in one's own self. When a man is said to be thus asleep, he is united with the 'sat', my child; he merges in his own self. (chh. 6.8-1) Here it is taught that the individual soul merges in 'sat'.

वास्तव में शंकर-पंथी इस सूत्र की विवेचना में स्वप्नावस्था अथवा सुषुप्ति अवस्था को लाकर अर्थों को विषम ही बना रहे हैं। सूत्र का अर्थ जैसाकि स्वामी ब्रह्ममुनि ने लिखा है, अति सरल और एक अकाट्य युक्ति के रूप में है।

अर्थ है --(प्रलय काल में) परमात्मा में जीवात्मा का अभिगमन अर्थात् लय होता है। स्वामी ब्रह्ममुनि इस बात के समर्थन में एक वेद प्रमाण देते हैं। वह इस प्रकार है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥

(यजु० ३२-११)

अर्थ है—सब भूतों में व्याप्त होकर, सब लोकों में व्याप्त होकर, सब दिशाओं और उपदिशाओं में व्याप्त होकर वह प्रथम विद्यमान जो सत् (प्रकृति), आत्मा (जीवात्मा) को भी अपने में स्थापित एवं प्रविष्ट कर लेता है।

यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिए कि उपर्युक्त सूत्र परमात्मा के जगत् का निमित्त अथवा उपादान कारण होने की सिद्धि में नहीं लिखा। यह परमात्मा और जीवात्मा तथा प्रकृति के परस्पर सम्बन्धों के विषय में है।

अन्य भाष्यकारों के विषय में कठिनाई यह है कि उदाहरण देने में स्वामी शंकराचार्य द्वारा दिए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। स्वामीजी से पूर्व किसी भी विद्वान् का वेदान्त-दर्शन पर भाष्य मिलता नहीं और उनसे पीछे आने वाले भाष्यकार भी स्वामीजी का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं। भले ही उदाहरण का प्रस्तुत सूत्र से किसी प्रकार का मेल न हो।

ब्रह्मसूत्रों में तो उपनिषदादि ग्रन्थों के उदाहरण अथवा उद्धरणों का संकेत नहीं। वहाँ केवल मात्र वक्तव्य है। प्रायः वक्तव्य युक्तियाँ हैं। भाष्यकारों ने उन युक्तियों तथा वक्तव्यों का उपनिषदादि शास्त्रों में भी उल्लेख बताया है। वास्तव में वे सूत्रों का अंग नहीं हैं।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र के आशय को छा० ६-८-१ के उदाहरण से स्पष्ट करना चाहते हैं। सूत्र में इसका संकेत भी नहीं है। छान्दो०

६-८-१ के विषय में इतना बताना पर्याप्त होगा कि उसमें प्राणी की सुषुप्ति की अवस्था में स्वप्न में मन के भटकने और जीवात्मा के आश्रय लौट आने की बात कही है। वहाँ परमात्मा के अपने में लीन होने की बात नहीं है।

छान्दोग्य ६-८-१ में लिखा है—

(यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता) जब यह पुरुष (मनुष्य) सोया हुआ नाम से कहा जाता है। (सोम्य तदा सम्पन्नो भवति; स्वमपीतो भवति) हे सोम्य ! तब अपने में लीन हो गया होता है। (तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते, स्व ह्यपीतो भवति) इससे वह अपने में लीन कहा जाता है, अपने में ही लीन होता है। सम्पन्न का अर्थ अपने में सन्तुष्ट होना है।

यह जीवात्मा के विषय में कहा है। एक युक्ति यह है कि परमात्मा सोता नहीं। दूसरी युक्ति यह है कि छा० ६-८-२ में लिखा है कि जैसे डोरी से बँधा पक्षी बन्धन के कारण दिशाओं और उप-दिशाओं में उड़ता हुआ पुनः बँधने वाले स्थान पर आ जाता है, वैसे ही सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न होने पर मन अन्य कहीं आश्रय न मिलने पर प्राणी में आश्रय पाता है। प्राण बन्धन है मन का।

इससे स्पष्ट है कि उक्त अपने में लीन होने वाला परमात्मा नहीं, जीवात्मा है। कारण यह कि मन परमात्मा से बँधा नहीं होता, जीवात्मा से बँधा होता है। प्राण बन्धन है मन का। यहाँ प्राण परमात्मा के लिए नहीं, जीवात्मा के लिए है। प्राण मनुष्य भी नहीं। कारण यह कि मन शरीर के साथ बँधा नहीं। यह माना है कि मृत्यु के समय जब जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता है, तब मन भी उसको छोड़ जाता है।

अतः इस (छा० ६-८-१) में स्वपिति जीवात्मा के लिए आया है। परमात्मा के लिए नहीं।

स्वामी शंकराचार्य ने भी यहाँ यही माना है। अर्थात् उन्होंने भी जीवात्मा से ही अभिप्राय माना है। आप लिखते हैं—

स्वशब्देनेहात्मोच्यते। यः प्रकृतः सच्छब्दवाच्यस्तमपीतो भवत्यपिगतो भवतीत्यर्थः।

अर्थात्—(श्रुति उपनिषद् में) स्व शब्द से आत्मा का अर्थ है, जो प्रकृत एवं सत् शब्द से कहा गया है। उसमें अपीत (लीन) होता है।

परन्तु सूत्र (१-१-६) में स्वशब्द जीवात्मा के लिए नहीं है। यह परमात्मा के लिए है। अतः इस सूत्र की व्याख्या में छा० ६-८-१ का उद्धरण अयुक्त है, असंगत है।

सूत्र में स्व से आत्मतत्त्व का अभिप्राय है। क्योंकि वेदान्त-सूत्र (१-१-६,७,८) में ईक्षण करने वाले आत्मा का उल्लेख है। यह परमात्मा है।

गतिसामान्यात् ॥१०॥

गति की समानता होने से (चेतन परमात्मा के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है)।

इसका अभिप्राय है कि जगत् के सब पदार्थों में गति=व्यवहार की समानता होने से इसका एक समान कारण होना सिद्ध होता है।

यहाँ जगत् के विभिन्न पदार्थों में रूप तथा अन्य गुणों की समानता नहीं मानी। गति में समानता मानी है। गति का अर्थ व्यवहार है।

उदाहरण के रूप में सब प्राणियों में सन्तानोत्पत्ति का समान नियम है। पुरुष तथा स्त्री अंश मिलकर भ्रूण बनता है। प्राण ही चेतनता है। बीज से प्राणी बनता है। यह नियम व्यापक है। जिनके सन्तान होती है, सबमें यह समान है। अतः इससे जगत् के एक (समान) ही कारण की पुष्टि होती है।

और उदाहरण लीजिये। जगत् में सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि चक्राकार गति में घूमते हैं। इनकी गति वृत्ताकार (circular) नहीं होती, वरन् रवि मार्गाकार (elyptical) है। सब नक्षत्रादि इसी प्रकार घूमते हैं।

इस सूत्र का अर्थ है जगत् के पदार्थों की गतियों में समानता होने से इनके एक ही कारण होने का निश्चय होता है।

यहाँ भी स्वामी शंकराचार्य तथा उनके पद-चिह्नों पर चलने वाले भाष्यकारों ने इस सरल स्पष्ट अर्थ को छोड़ टेढ़ा-मेढ़ा अर्थ करने का यत्न किया है। स्वामीजी लिखते हैं—

यदि तार्किकसमय इव वेदान्तेष्वपि भिन्ना कारणावगतिरभविष्यत्क्वचिच्चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं, क्वचिदचेतनं प्रधानं, क्वचिदन्यदेवेति, ततः कदाचित्प्रधानकारणवादानुरोधेनापीक्षत्यादिश्रवणमकल्पयिष्यत। नत्वेतदस्ति; समानैव हि सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतिः।

अर्थात्—यदि तार्किकों की भाँति वेदान्तों में भी भिन्न-भिन्न कारण—गति (व्यवहार) होती है, कहीं चेतन ब्रह्म, कहीं अचेतन प्रधान, कहीं अन्य देवता जगत् का कारण माना जाता, तब कदाचित् प्रधान (प्रकृति) को कारण मानने वालों के विरुद्ध सिद्धान्त से ईक्षति आदि श्रुति भी प्रधान के विषय में कल्पित की जा सकती थी। ऐसा नहीं है। क्योंकि सभी (वेदान्तों) में समान रूप से चेतन कारण को ही माना है।

यहाँ प्रधान और चेतन के विरोध की बात अकारण उपस्थित कर दी है। साथ ही यह कि क्या जगत् की गतियों में भिन्नता का उल्लेख है? यह भी नहीं कि पूर्ण जगत् सिद्धान्त रूप में एक समान ही व्यवहार करता देखा जाता है। संसार में भिन्नता तो है। पृथिवी और अन्य नक्षत्रों के रूप-रंग में अन्तर (भिन्नता) दिखायी देता है, परन्तु गति (व्यवहार) में समानता है।

इसी प्रकार स्थावर और जंगम प्राणियों में रूप-रंग में भेद है, परन्तु सन्तानोत्पत्ति, जो एक व्यवहार है, उसमें समानता है। 'गतिसामान्यात्' से व्यवहार में समानता का ही अभिप्राय है।

पण्डित उदयवीर शास्त्री गति का अर्थ ज्ञान करते हैं। वह इस सूत्र का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

(गति सामान्यात्) गति=ज्ञान=चेतना के समान होने से (ब्रह्म-आत्मा जैसा चेतन है)।

गति के अर्थ ज्ञान हो सकते हैं, परन्तु हमारे मत में गति गम् धातु से बनने के कारण इसे 'चाल' भी कहते हैं और यहाँ वही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है, जो हमने ऊपर कहे हैं।

श्री ब्रह्ममुनि वही अर्थ करते हैं, जो हमने किये हैं। वे लिखते हैं—

(गति सामान्यात्) गति=गम्यमानता=रीति-नीति=लोक-व्यवहार की समानता से। लोक में चेतन निमित्त कारण ही देखा जाता है। वह उपादान भी नहीं हो सकता।

श्री स्वामी ब्रह्ममुनिजी ने चेतन और जड़ का झगड़ा यहाँ अनावश्यक रूप में उपस्थित कर दिया है।

यह वास्तविकता है कि कार्य-जगत् के व्यवहार में समानता होने से इसका कारण एक ही है।

उपनिषद् इसको इस प्रकार वर्णन करता है—

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥

(श्वे० ३-१, २)

(य एको) जो एक ही है, (जालवानीशत) जाल की भाँति जगत् को नियन्त्रित करता है; (ईशनीभिः) अपनी शक्ति से; (सर्वांल्लोकानीशत) सब लोकों को नियन्त्रण में रखता है; (ईशनीभिः) सब शक्तियों से (य एवैक) जो एक ही (उद्भवे संभवे च) उत्पत्ति एवं पालन करने में है (एतद् विदुः अमृतास्ते) इसे ही जानकर अमृत को प्राप्त होते हैं।

(एको हि रुद्रो) वह परमात्मा एक ही है, (न द्वितीयाय तस्थुर्य) किसी दूसरे को स्थापित मत करो; (इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः) इन लोकों को अपनी शक्तियों से नियन्त्रित करता है; (प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति) प्रत्यक्ष रूप में सब प्राणियों में रहता है; (संचुकोचान्तकाले) अन्त काल में संहार करता है; (संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः) विश्व के नक्षत्रादि को बनाकर उनका पालन करता है।

श्रुतत्वाच्च ॥११॥

श्रुतत्वात्+च

श्रुतत्वात्+च=और श्रुति में भी वर्णन से।

'जन्माद्यस्य यतः' से आरम्भ करके 'गति सामान्यात्' तक, सभी सूत्रों में युक्ति से ब्रह्म और उसमें चेतन तत्त्व के निमित्त कारण होने की बात कही है। दर्शनाचार्य कहते हैं कि श्रुति (वेद) भी इसका वर्णन इसी प्रकार करती है।

हमने अपनी इस व्याख्या के आरम्भ में ही कहा है कि वेदान्त-दर्शन एक वैदिक-दर्शन है। अतः इसमें वैदिक मान्यताओं को युक्ति से सिद्ध किया गया है।

हमारे उक्त कथन का प्रमाण ही यह सूत्र है। दर्शनाचार्य ने अभी तक एक भी संकेत किसी उपनिषद्-वाक्य अथवा वेदमन्त्र की ओर नहीं किया। सब सूत्रों में एक-से-एक प्रबल युक्ति देकर यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म है और वही जगत् का कारण है, वह मूल ज्ञान का दाता है, कार्य-जगत् में सब समन्वय उसी से होते हैं इत्यादि।

इतना सिद्ध कर इस सूत्र में कहा है कि वेदों में भी यही बात कही है। श्रुति में क्या लिखा है? वही जो हम ऊपर लिख आये हैं।

एक-दो उदाहरणों से बात स्पष्ट हो जायेगी। एक वेदमन्त्र में लिखा है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु० १३-४)

मन्त्र का अन्वय इस प्रकार है—

अग्रे+भूतस्य+जातः+पतिरेक+आसीत्+हिरण्यगर्भः+समवर्तत। स+दाधार+पृथिवीम्+द्यामुत+इमाम्+कस्मै+देवाय+हविषा+विधेम।

इसका अर्थ है—सर्ग के पूर्व में प्राणियों को उत्पन्न करने वाला एक स्वामी था; तब सम्पर्क रूप में स्थित हुआ हिरण्यगर्भ बना। उसने इस पृथिवी और द्युलोक को धारण किया। ऐसे परमात्मा की भक्तिपूर्वक उपासना करें।

एक अन्य उदाहरण है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥

(ऋ० १०-१२६-२)

उस समय (रचना से पूर्व) न मृत्यु थी न अमृत। (कुछ बनता बिगड़ता नहीं था) न दिन था न रात्रि (सूर्य नहीं था)। कुछ जानने योग्य नहीं था। एक गतिहीन शक्ति (latent form of energy) थी और एक अपने में स्थित (स्वधा) प्रकृति थी। इनके अतिरिक्त कुछ नहीं था।

इस मन्त्र का अभिप्राय ही सूत्र 'स्वाप्ययात्' में वर्णन किया है।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥१२॥

आनन्दमयः+अभ्यासात् ।

अभ्यास से अर्थात् उस (ब्रह्म) की बार-बार उपासना से (जीवात्मा) आनन्दमय हो जाता है ।

उपासना का अर्थ है समीप बैठना । परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है । अतः ब्रह्म के समीप बैठने का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने में ही विद्यमान परमात्मा एवं प्रकृति, जिससे बने हुए शरीर में आत्मा रहता है, इन दोनों के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करे । ब्रह्म के समग्र रूप को भली-भाँति समझना ही ब्रह्म की उपासना है । बार-बार उपासना करने से जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है ।

ब्रह्म के अस्तित्व को जानना तो ज्ञान का विषय है । यह युक्ति से भी जाना जा सकता है, परन्तु उस ब्रह्म के समग्र स्वरूप को समझने के लिए ब्रह्म के समीप बैठ-कर उससे जुष्ट होना आवश्यक है । सूत्रकार का कहना है कि यह अभ्यास से होता है और बार-बार अभ्यास करने से ब्रह्म का समग्र ज्ञान होता है । तब जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है ।

ब्रह्म को जानने का अर्थ त्रिविध ब्रह्म को जानना है । जीवात्मा अपने को जाने, उस प्रकृति को जाने जो उसे अपने में बाँधे हुए है और परमात्मा को जाने, जो इस सम्पूर्ण जगत् का रचने वाला, पालन करने वाला और प्रलय करने वाला है । परमात्मा और प्रकृति तथा जीवात्मा का अपने विषय में पूर्ण ज्ञान, बार-बार समीप बैठने से ही होता है और तब जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है ।

परमात्मा और जीवात्मा का सामीप्य तो मनुष्य के हृदय की गुहा में होता है, परन्तु जीवात्मा कार्य-जगत् के रसास्वादन में इतना लीन होता है कि वह परमात्मा के समीप होने पर भी, उसकी ओर ध्यान नहीं देता ।

उपनिषद् इस विषय में कहता है—

> **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।**
> **छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥**
>
> (कठो० १-३-१)

सत्य का पालन करते हुए (सुकृत) मनुष्य लोक में अर्थात् मानव-शरीर में, गुहा में बैठे हुए परम स्थान में (अभिप्राय है शरीर के उच्च स्थान में) दोनों छाया और धूप की तरह हैं । ब्रह्म को जानने वाले, पंच महायज्ञ करने वाले गृहस्थी और अखण्ड ब्रह्मचर्य रखने वाले यही कहते हैं । अभिप्राय यह कि सब विद्वान् और कर्म-योगी यही कहते हैं ।

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा मनुष्य के मस्तिष्क में, एक गुहा में इकट्ठे

होते हैं। वहीं दोनों में जुष्ट (योग) हो सकता है। इस योग को ही उपासना कहते हैं। इससे जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।

इस सूत्र पर भाष्य लिखते समय स्वामी शंकराचार्य अपनी विशेष बुद्धि का परिचय देते हुए इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

इदमुच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' पर एवात्माऽऽनन्दमयो भवितुमर्हति। कुतः? अभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते।

अर्थात्—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' यह सूत्र कहा है। परम आत्मा ही आनन्दमय हो सकता है। कैसे? अभ्यास से। परम आत्मा में ही आनन्द शब्द का प्रयोग हुआ है। बहुत बार अभ्यास करने से……

यहाँ तक तो ठीक है। आत्मा-शब्द से जीवात्मा भी लिया जा सकता है, परन्तु स्वामीजी इसके आगे तैत्तिरीय उपनिषद् २-६, २-७, २-८ तथा २-९ के उद्धरण देते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् २-६ तथा बृ० उ० ३-९ और २-८ में ब्रह्म के लिए ही आनन्द शब्द का प्रयोग हुआ है। अतः आप कहते हैं—

'आत्म ब्रह्मेति गम्यते।'

अर्थात्—आत्मा का अभिप्राय ब्रह्म ही है।

ब्रह्म आनन्दमय है। इससे ब्रह्म के आनन्दमय होने की बात कह रहे हैं। आपका कहना है कि केवल ब्रह्म को ही बार-बार आनन्दमय लिखा है। इस कारण उक्त सूत्र का अर्थ यह है कि शास्त्र में लिखा होने से यह मानना चाहिए कि वह आनन्दमय है।

परन्तु सूत्र में आनन्द परमात्मा के लिए नहीं है।

हमारा मत यह है कि 'उपासना के अभ्यास से जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।' सूत्र का यह अर्थ है। स्वामीजी के लिए इस सरल सीधे अर्थ को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि वह जीवात्मा एवं प्रकृति को अनादि तत्त्व मानते नहीं। वह मानते हैं 'एकमेव ब्रह्म द्वितीयोनास्ति।' अतः इस सूत्र में कौन उपासना करे? किसकी उपासना करे और कौन आनन्दमय होगा? वह इसका विचार नहीं कर सके।

जीव और परमात्मा के दो पृथक्-पृथक् तत्त्व होने के, हम वेद, उपनिषद् और गीता के प्रमाण दे चुके हैं। अतः हमारे लिए उक्त सूत्र के अर्थ में जीवात्मा के आनन्दमय हो जाना मानने में कुछ कठिनाई नहीं होती। हमारा मत है 'अभ्यासात्' का अभिप्राय शास्त्रों में बार-बार लिखा होना नहीं, वरन् बार-बार उपासना में परमात्मा से जुष्ट होना है, वैसे ही जैसे इस उपनिषद् में वर्णित है—

पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥

(श्वे० १-६)

अपने को और प्रेरणा करने वाले को पृथक्-पृथक् मान, उससे जुष्ट (संयुक्त) हो अमृत (मोक्ष) पाता है।

अब तनिक उन प्रमाणों को भी देखें जो स्वामीजी ने इस सूत्र के भाष्य में दिये हैं। क्या उन प्रमाणों में जीवात्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है ?

स्वामीजी तैत्तिरीय उपनिषद् के ब्रह्मवल्ली अध्याय का बार-बार उल्लेख करते हैं। अतः हम इस वल्ली के विषय में कुछ व्याख्या से यहाँ लिख दें तो स्वामीजी द्वारा उपस्थित भ्रम का निवारण हो जायेगा।

तैत्तिरीय उपनिषद् में तीन अध्यास (वल्लियाँ) हैं। प्रथम है शिक्षा वल्ली। इसमें उपनिषद्कार विद्यार्थी की शिक्षा का वर्णन करता है। इसमें वे अ-आ-इ-ई इत्यादि से लेकर शिक्षा का अन्त इस प्रकार करते हैं :

एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम् ॥

(तैत्तिरीय १-११-४)

अभिप्राय यह कि वर्णमाला से शिक्षा आरम्भ करके वेद, उपनिषद्, अनुशासन और उचित आचरण तक बताया है।

दूसरी वल्ली 'ब्रह्मवल्ली' है। इसमें ब्रह्म का उल्लेख है। ब्रह्म क्या है, इसका वर्णन किया है। इसके विषय में ही स्वामीजी बार-बार अपने शारीरिक भाष्य में लिखते हैं। इस पूर्ण वल्ली का अभिप्राय हम नीचे लिख देते हैं।

इस वल्ली में नौ 'अनुवाक' हैं। प्रथम अनुवाक है—

ओं ब्रह्मविदाप्नोति परम्······

ब्रह्म को जानने वाले परम्-पद पाते हैं।

वल्ली का आरम्भ ही यह प्रकट करता है कि ब्रह्म और उसके जानने वाले पृथक्-पृथक् हैं। यह स्पष्ट है कि जानने वाला ब्रह्म से पृथक् है।

आगे परम् का अर्थात् परमात्मा का वर्णन करते हुए लिखा है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।'

जो ब्रह्म को सत्य, अनन्त ज्ञानयुक्त, परम् व्योम की गुहा में स्थित मानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को भोगता है।

यहाँ भी, अनन्त ज्ञानयुक्त सबकुछ देखने वाले को जो ब्रह्म के साथ रहता हुआ सब कामनाओं को भोगने वाला है, उसको परमात्मा से पृथक् माना है।

इसके आगे इन कामनाओं को भोगने वाले का वर्णन किया है। यह पुरुष है अर्थात् प्राणी है।

यहाँ और इस वल्ली के आगे के अनुवाकों में बार-बार ये शब्द आये हैं—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन'

इसका अर्थ है कि उस तथा इस आत्मा से।

यहाँ उस और इससे अभिप्राय केवल मात्र यह है कि पुरुष जिसकी व्याख्या की जाने वाली है, उसमें दो पदार्थों का संयोग है। उस और इस। इसके साथ 'आत्मनः' शब्द आया है। इससे यह स्पष्ट है कि उसका अभिप्राय किसी अनात्म पदार्थ से है। निस्सन्देह वह प्रकृति ही हो सकती है।

लिखा है कि उस तथा इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी, पृथिवी से वनस्पतियाँ, वनस्पतियों से अन्न, अन्न से रेतस् तथा रेतस् से पुरुष। अतः वह पुरुष अन्न रसमय है। अर्थात् अन्न का सार रूप है।

शब्द हैं···**स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।**

अभिप्राय यह कि पुरुष के शरीर के बनने में प्रकृति और परमात्मा कारण हैं। प्रकृति उपादान कारण है और आत्मा निमित्त कारण है।

दूसरा अनुवाक इस प्रकार है—

शरीर को एक कोष माना गया है। कोष का अभिप्राय है खोल (sheath)। इसे अन्नमय कोष कहा है। यह कहा है कि पृथिवी पर जितने भी प्राणी हैं, सब अन्न से पैदा होते हैं। पैदा होने पर जीवित रहते हैं और अन्त में इस अन्न में ही लीन हो जाते हैं। अभिप्राय यह कि शरीर का अन्त उन तत्त्वों में होता है जो अन्न को उत्पन्न करते हैं। अतः अन्न प्राणियों का (ज्येष्ठ) मुख्य स्रोत है। यह सबकी औषधि है। यहाँ अन्न से अभिप्राय है पंचमहाभूत।

इसके अन्त में कहा है—

येऽन्नं ब्रह्मोपासते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति।

जो अन्न ब्रह्म की उपासना करता है, वह सम्पूर्ण अन्न को पाता है।

यहाँ अन्न को ब्रह्म कहा है। अन्न त्रिविध ब्रह्म का एक स्वरूप है। इसमें प्रकृति का अंश है, जीवात्मा भी और परमात्मा भी है। सब अक्षर होने से ब्रह्म हैं।

अगले अनुवाक के प्रथम मन्त्र में उसी वाक्य का प्रयोग किया है, जिसका प्रथम अनुवाक के अन्त में किया है।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः।

उस और इस अन्न के रसमय होने से इसमें भी एक सार (आत्मा) है। वह प्राणमय है।

अन्न का रस प्राण माना है और इसको अन्नमय से दूसरा कहा है।

आगे प्राणमय कोष का वर्णन किया है। प्राणमय कोष का रूप पुरुष शरीर जैसा ही है। इसका अर्थ है कि प्राण पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस कोष का भी शिर, पीठ, दक्षिण तथा उत्तर पक्ष है। पुरुष (शरीर) की भाँति इसके अवयव हैं।

प्राण का अर्थ श्वास लेते समय अथवा छोड़ते समय की वायु नहीं है। इसका

अर्थ है कि शरीर से कार्य कराने वाली शक्ति। जब तक शरीर कार्य करता है, यह जीवित माना जाता है। अतः प्राण को आयु भी कहा है।

लिखा है—**'ये प्राणं ब्रह्मोपासते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति।'** जो प्राण ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे आयु प्राप्त करते हैं।

जहाँ अन्न को ब्रह्म माना है, वहाँ प्राण को भी ब्रह्म माना है। प्राण प्रकृति से प्राप्त परमात्मा की शक्ति का रूप होने से यह भी ब्रह्म है।

तीसरा अनुवाक भी इसी प्रकार आरम्भ होता है—

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः।

उससे और इस प्राण ब्रह्म से पृथक् एक और आत्मा (सार) मनोमय है।

अब मनोमय कोष के लक्षण वर्णन करते हैं। मनोमय कोष भी पुरुष शरीर में व्यापक है। उसका स्वरूप पुरुष शरीर के समान है। इसके भी शिर, पीठ, दक्षिण-उत्तर इत्यादि पक्ष हैं।

इस कोष को भी ब्रह्म माना है। लिखा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

जब वाणियाँ (इन्द्रियों के विषय; वाणी एक उदाहरण के रूप में है) मन को अप्राप्त होकर लौट जाती हैं, तब ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ मन डरता नहीं। उस (मन) का यही शरीर में रहने वाला आत्मा है। यह इस कारण कि मन जन्म-जन्मान्तर तक जीवात्मा के साथ रहता है।

इसके आगे फिर वही लिखा है—**'तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः।'**

उस और इस मनोमय कोष से एक अन्य और उसके भीतर विज्ञानमय कोष है।

वह भी पूर्ण शरीर में रहता है। उसका स्वरूप पुरुष शरीर की भाँति है। उसके अवयव शरीर की भाँति हैं। उसके भी सिर, दक्षिण-उत्तर पक्ष और पीठ हैं।

पाँचवें अनुवाक में विज्ञानमय कोष का उल्लेख है। यह बुद्धि है। इससे धर्म का विस्तार होता है। कर्मों का भी विस्तार होता है। सब देव (इन्द्रियाँ) बुद्धि को अपना बड़ा (ज्येष्ठ) मानती हैं। इसका भी स्वरूप बताया है।

इसके आगे पुनः—**'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः।'**

इस और उस विज्ञानमय कोष से अन्य और भीतर एक आनन्दमय कोष है। वह भी पुरुष शरीर के स्वरूप का है। इत्यादि।

इस आनन्दमय कोष की पीठ ब्रह्म की ही है।

ये पाँच अनुवाकों का संक्षेप में वर्णन है। ये पाँचों कोष हैं। किसके? यह प्रश्न है। निस्सन्देह जीवात्मा के। परमात्मा तो इन कोषों से बाहर भी पूर्ण जगत् एवं ब्रह्माण्ड में व्यापक है। परन्तु यहाँ शरीर से अभिप्राय है।

आनन्दमय कोष भी पुरुष की भाँति पीठ, दक्षिण-उत्तर पक्ष इत्यादि रखता है। पुरुष की भाँति अवयव रखता है।

स्वामीजी ने इस उपनिषद् के चार उद्धरण दिये हैं। २-६, ७, ८, ९ और ३-६।

यहाँ पहले (तैत्ति० २-६) की व्याख्या दे रहे हैं।

(असन्नेव स भवति) असत् न इव=असत् की भाँति नहीं। स भवति, वह होता है; अर्थात् वह विनष्ट नहीं होता। (असद् ब्रह्मेति चेत्) यदि वह ब्रह्म नहीं होता; ('अक्षरं ब्रह्म' (भ० गी०) का अभिप्राय है) (अस्ति ब्रह्मेति चेत् वेद सन्तमेनं ततो विदुरिति) यदि कहो कि ब्रह्म—अक्षर है तो ऐसा ज्ञानी लोग जानते हैं; (तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य) जैसे पूर्व के कोषों को लिखा है, वैसे ही इस शरीर का भी आत्मा है।

(अथातोऽनुप्रश्नाः) इस पर एक छोटा-सा प्रश्न है। (उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३) कोई अविद्वान् मरने पर मोक्ष पद में जाता है क्या? (आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित् समश्नुता ३उ) कहो क्या विद्वान् मरने पर ब्रह्मलोक में जाता है? (अविद्वान् नहीं, विद्वान् जाता है) यह उत्तर है।

इससे यह स्पष्ट है जैसे कि ऊपर वर्णन किया है कि शरीर का आत्मा अन्न है, अन्न का आत्मा प्राण है, प्राण का मन है, मन का आत्मा विज्ञान (बुद्धि) है, और बुद्धि का आत्मा आनन्द है। इन सबमें रहने वाला आत्मा (जीवात्मा) है, जीवात्मा अज्ञानी होने पर ब्रह्म को नहीं पाता। ज्ञानी होने पर ब्रह्म को पाता है। यहाँ सब स्थान पर आत्मा का अर्थ सार है।

इस अन्तिम आत्मा को कुछ लोग परमात्मा मानते हैं। हमारा मत है कि यह जीवात्मा है। आनन्दमय कोष तो स्थान है। उसकी पुच्छ ब्रह्म है, परन्तु उसमें रहता आत्मा है। यह उस कोष का स्वामी है, परन्तु यह ब्रह्म को तब पाता है जबकि ज्ञानयुक्त हो जाता है। अन्यथा ब्रह्म को नहीं पाता।

आगे स्पष्ट किया है।

(सोऽकामयत) वह कामना करता है। (बहु स्यां प्रजायेयेति) बहुत प्रजायें (सन्तान) उत्पन्न करूँ। (स तपोऽतप्यत) वह तपस्या=प्रयत्न करता है। (स तपस्तप्त्वा इदँ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च) प्रयत्न करने से जो कुछ भी है, वह सब निर्माण करता है।

(तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्) उस=परिवार, सम्प्रद इत्यादि की सृष्टि कर वह उसमें ही लीन हो जाता है और फिर वैसा संसारी

ही बन जाता है। (निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च) कहे जाने योग्य अथवा न कहे जाने योग्य, आश्रित, अनाश्रित, ज्ञानयुक्त, ज्ञानरहित, सत्य, असत्य हो गया। जो कुछ वह हुआ, विद्वान् उसे सत्य ही कहते हैं।

हमारा निश्चित मत है कि यह वर्णन जीवात्मा का है, जब वह शरीर में प्रवेश करता है। परमात्मा का क्यों नहीं ? यह इस कारण कि ब्रह्म वल्ली के आदि से संगति बैठायें तो यही प्रकट होता है कि ब्रह्म (परमात्मा) से किसी अतिरिक्त का उल्लेख हो रहा है। आरम्भ में ही लिखा है (ब्रह्मविदाप्नोति परम्) ब्रह्म को जानने वाला परम् महान् है। उसी ब्रह्म को जानने वाले के विषय में यह ब्रह्म (वल्ली) कही है।

पग-पग कर यह वल्ली मनुष्य का विश्लेषण करती चली जाती है। शरीर, प्राण, मन, बुद्धि निस्सन्देह वह ब्रह्म को जानना चाहता है अथवा जान लेता है।

अब आगे देखिये, सातवाँ अनुवाक इस प्रकार है।

लिखा है—

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।

(असद्वा इदमग्र आसीत्) यह पहले असत् (क्षर) था। 'इदम्' अर्थात् पुरुष का शरीर। यह अन्नादि से बना है और यह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषों से बना है। इस (शरीर) में आने वाले को हमने जीवात्मा बताया है। छठे अनुवाक से यही सिद्ध होता है।

सातवें अनुवाक में इसे असत् लिखकर आगे लिखा है—(ततो वै सदजायत) तब वह सत् (अक्षर) हो जाता है। कारण यह कि उसमें, छठे अनुवाक के अनुसार, जीवात्मा प्रतिष्ठित होता है, जो सत् है। वह आत्मा स्वयं (आनन्दमय कोष में) प्रतिष्ठित होता है। इसी में (तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत) वह सुकृत अर्थात् भले काम करने वाला कहा जाता है।

यहाँ भी भाषा कुछ ढीली प्रतीत होती है, जब यह कहा है कि (तदात्मानं स्वयमकुरुत) उस आत्मा ने स्वयं अपना निर्माण किया। कुछ आचार्य तत् से परमात्मा का अर्थ लेते हैं और निर्माण का अर्थ प्रकट होना मानते हैं, परन्तु अगले ही पाद में बात स्पष्ट कर दी गयी है। वहाँ लिखा है कि इससे वह 'सुकृत' कहा जाता है। परमात्मा को अकर्ता माना है। यह जीवात्मा है जो शरीर में आकर

सुकृत करता है। 'स्वयं कुरुत' का अभिप्राय यह है कि वह अपने को आत्मवान् बना लेता है। वह (ब्रह्मविदाप्नोति) ब्रह्म को जानने वाला माना जा सकता है। अपने को आत्मवान् कर लेता है।

(यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै सः) जो वह सुकृत रूप है, वह ही रस (आत्मा) है। जब वह सुकृत करने वाला होता है, तब वह उस (प्रथम पाँचों कोषों) का सार हो जाता है।

(रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति) रस को पाकर आनन्दी (आनन्द भोगने वाला) हो जाता है। (को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्) कौन प्राण लेने वाली सत्ता और कौन अपान लेने वाला होता है? (यदेष) जो वह (आकाश) आनन्द में (न स्यात्) नहीं होता। अर्थात् शरीर जो साँस लेता है, वह आनन्द कोष में नहीं आता (एष ह्येवानन्दयाति) वह ही आनन्दित करता है। (यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये-ऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते) जब यह इस अदृश्य, शरीर रहित, अकथनीय, अविनाशी में अभय हो प्रतिष्ठा को पा लेता है, (अथ सोऽभयं भवति) तब वह अभय हो जाता है।

इस अनुवाक का अर्थ यह है कि जीवात्मा जब आनन्दमय कोष में पहुँच आनन्दी हो जाता है, तो वह सुकृत हो जाता है। तब वह अदृश्य, अशरीरी, अनिर्वचनीय, अक्षर, अभय परमात्मा में जुष्ट हो जाता है। और जुष्ट होकर वह भी अभय हो जाता है।

अब आठवें अनुवाक में परमात्मा के लक्षण लिखे हैं।

(भीषास्माद्वातः पवते) उस (परमात्मा) के भय अर्थात् आदेश से वायु चलती है। यहाँ वायु का अभिप्राय है सब प्रकार की गतियाँ। (भीषोदेति सूर्यः) उसी के आदेश से सूर्य उदित होता है। (भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति) उसी के भय से अग्नि, मेघ काम करते हैं। पाँचवीं मृत्यु उसी की आज्ञा से दौड़ती आती है।

स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः।

आठवें अनुवाक में उस आनन्द की तुलना की है, जो मानवी आनन्द कहलाता है। इसे सुख कहते हैं। इस आनन्द की तुलना गन्धर्वों के आनन्द से की है। गन्धर्व संगीत-विद्या के ज्ञाताओं को कहते हैं और यह लिखा है कि यह आनन्द वेद ज्ञान करने वाले श्रोत्रि के समान हैं। इसी प्रकार गन्धर्वों के आनन्द की तुलना देव गन्धर्वों और पितरों के आनन्द से की है। इनके आनन्द के अनुभव की देवताओं के आनन्द से और देवताओं की कर्म-देवों के आनन्द से तुलना की है। कर्म-देव उनको कहते हैं जो कर्म से देवत्व प्राप्त करते हैं। कर्म-देवों के आनन्द की तुलना देवों के आनन्द और इन्द्र के आनन्द से की है। बृहस्पति का अर्थ उस ज्ञानी से है, जो ब्रह्म-ज्ञान का ज्ञाता हो। ब्रह्म-ज्ञानी के आनन्द की तुलना प्रजापति के आनन्द से और

उसकी तुलना परमात्मा के आनन्द से की है। परमात्मा का आनन्द समाधिगत आत्मा को मिलता है।

नवाँ अनुवाक है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति। एतँ ह वाव न तपति। किमहँ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानँ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानँ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥

(तैत्ति० २-९)

जिसकी वाणियाँ (इन्द्रियों के विषय) मन को प्राप्त न होकर लौट आती हैं, वह विद्वान् ब्राह्मण कहलाता है। वह किसी से नहीं डरता। वह इस बात से सन्तप्त नहीं होता कि उसने साधु कर्म किया है अथवा पाप कर्म। जो ऐसा जानता है उसे ये (पाप-पुण्य) दोनों ही स्पर्श तो करते हैं (परन्तु प्रभावित नही करते)। वही जानता है।

इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि जीवात्मा परमात्मा के साथ जुष्ट होकर ब्राह्मण कहलाता है, वह ईश्वरीय आनन्द का भोक्ता हो जाता है।

इतना लम्बा उद्धरण देने का तात्पर्य यह है कि स्वामी शंकराचार्यजी तैत्तिरीय उपनिषद् की इस वल्ली को कई रूपों में उद्धरित करते हैं। अतः यहाँ पूर्ण वल्ली का अभिप्राय बताना उचित समझा गया।

यह ठीक है कि आनन्दमय तो परमात्मा ही है। साथ ही यह भी ठीक है कि जीवात्मा जब परमात्मा से जुष्ट होता है तो उस परमात्मा के आनन्दमय कोष में पहुँच जाता है। इसके लिए इन्द्रियों के विषयों को मन से पृथक् करने की आवश्यकता है। यह स्थिति योगाभ्यास से प्राप्त होती है, न कि शास्त्र में लिखित वर्णन के अध्ययन से।

स्वामी शंकराचार्य ने लिखा है—

कुतः ? अभ्यासात्। परस्मिन्नेव ह्यात्मन्यानन्दशब्दो बहुकृत्वोऽभ्यस्यते।

(श० भा० सू० १२)

कैसे ? अभ्यास से। (आगे तैत्तिरीय २-६ का वचन है) इसका अर्थ हम ऊपर कर आये हैं। बहुत अभ्यास करने से। यहाँ अभ्यास का अर्थ योगाभ्यास से है।

इससे दो बातों का पता चलता है। एक यह कि इस आनन्दमय कोष में आने वाला कोई भी क्यों न हो, वह परमात्मा से भिन्न है। दूसरा यह कि केवल ज्ञान से ब्रह्मत्व प्राप्त नहीं होता। इसके साथ योग का अभ्यास करना आवश्यक है। यह ठीक है कि योगाभ्यास से भी ज्ञान-उपलब्धि होती है, परन्तु अभ्यास ज्ञान से पृथक् बात है। उपासना अर्थात् योगाभ्यास कर्म है। यह ही ज्ञान को प्राप्त कराता है।

तैत्तिरीय २-६ से एक बात और विदित होती है। वह यह कि पाप-पुण्य का मोक्षात्मा को स्पर्श होता है, परन्तु प्रभाव नहीं होता। अभिप्राय यह कि ब्रह्मलीन आत्मायें भी पाप-पुण्य कर्म करती हैं, परन्तु निर्लेप भाव से।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१३॥

विकार शब्दात्+न+इति+चेत्+न+प्राचुर्यात्।

विकार वाचक (मय शब्द) का प्रयोग नहीं। यदि नहीं तो क्या है? यह तो प्राचुर्यता का अर्थवाचक है।

पूर्व के सूत्र में 'आनन्दमय' का अर्थ आनन्दवत् नहीं है। मय शब्द से ऐसा अर्थ लिया जाता है, परन्तु सूत्रकार कहता है कि यह नहीं। यहाँ (पूर्व सूत्र में) मय प्राचुर्यता अर्थात् परिपूर्णता का वाचक है।

पूर्व सूत्र का अभिप्राय है उपासना के अभ्यास से (जीवात्मा) आनन्दमय हो जाता है। आनन्दमय का अर्थ लिया है अतिशय आनन्द (अर्थात् परमात्मा) से जुष्ट हो जाता है।

पूर्व पक्ष वाले ने यह समझा है कि परमात्मा को आनन्दमय लिखा है। अर्थात् वह आनन्दवत् है। सूत्रकार कहता है कि यह बात गलत है। सूत्र में मय शब्द का अर्थ आनन्द से परिपूर्णता लेना चाहिए।

एक बात विचारणीय है कि ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या में कुछ भाष्यकार यह आवश्यक मानते हैं कि किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण देना चाहिए। चाहे इस उद्धरण की संगति वहाँ बैठे अथवा न बैठे।

यह स्वभाव इस कारण बना है कि स्वामी शंकराचार्य के प्रचण्ड प्रचार के कारण यह विख्यात हो गया है कि ब्रह्मसूत्र तो वेदान्त वाक्यों को सूत्रवत् पिरोने के लिए हैं। अतः सूत्र के साथ वेदान्त वाक्य अवश्य देने चाहिए। उनकी दृष्टि में वेदान्त का अर्थ उपनिषद् है। यह सब भ्रम स्वामी शंकराचार्य का फैलाया हुआ है और जो लोग अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते, वे सूत्र में निहित युक्ति को प्रकट तो कर नहीं सकते और अपनी बात को उपनिषद् वाक्य से सिद्ध करने लगते हैं।

वास्तव में सूत्र उपनिषद् वाक्यों अथवा वेद में अध्यात्म वाक्यों से सर्वथा पृथक् हैं। ये स्वतः युक्ति पर आधारित हैं। यह वेदादि शास्त्रों की श्रेष्ठता है कि जो कुछ दर्शनशास्त्र युक्ति से सिद्ध करते हैं, वह वेदादि शास्त्रों में भी मिलता है।

इस सन्दर्भ में हम श्री ब्रह्म मुनि के भाष्य का उदाहरण देना चाहते हैं। इसी सूत्र की व्याख्या में आप अष्टाध्यायी का एक सूत्र (४-३) देकर यह कहते हैं कि—

"प्रकृति नाम की जड़ वस्तु आनन्द शब्द से कही जाती है। उसका विकार आनन्दमय हो सकता है। आनन्द प्रकृति है। जैसे 'आनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः (माण्डूक्य-५)। यहाँ आनन्द भुक् आनन्द प्रकृति नामक वस्तु का भोक्ता भक्षक अर्थात् फल पिता पालक है।"

हमारा यह कहना है कि अष्टाध्यायी में कुछ भी लिखा हो। वह वेदान्त ग्रन्थ नहीं, परन्तु माण्डूक्य-५ में यह नहीं लिखा कि प्रकृति आनन्द का नाम है।

माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रह्माण्ड की चार अवस्थायें लिखी हैं। उस ब्रह्माण्ड में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों अव्यक्त रूप में रहते हैं। इसकी प्रथम अवस्था है जाग्रत। जब जगत् बन जाता है, जगत् कार्य करता है। यह ब्रह्म-दिन की अवस्था कहलाती है।

दूसरी अवस्था है स्वप्न अवस्था। इसमें परमात्मा अन्तः प्रज्ञः होता है। अर्थात् उसका ज्ञान अन्तर्मुखी होता है। यह उषा काल अर्थात् जगत् उत्पत्ति से पूर्व का काल कहा जा सकता है।

तीसरी अवस्था 'माण्डूक्य-५' में वर्णित है। वहाँ लिखा है—

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते, न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः।

(यत्र सुप्तो) जिस सोयी अवस्था में जीवात्मा (न कंचन कामं कामयते) कुछ भी कामना नहीं करता; (न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्) न कुछ भी स्वप्न देखता है, ऐसी सुषुप्ति अवस्था होती है। (सुषुप्त स्थान एकीभूतः) उस सोये स्थान में एक हो जाते हैं। (कौन एक हो जाते हैं? प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा) अर्थात् तीनों घुल-मिल जाते हैं। (प्रज्ञानघन) जीवात्मा बुद्धि युक्त और परमात्मा (आनन्दमयो) आनन्द से परिपूर्ण (आनन्दभुक्) आनन्द का भोग करने वाला। (चेतोमुखः) चैतन्य स्वरूप की (प्राज्ञस्तृतीयः पादः) प्राज्ञवान यह तीसरी स्थिति है।

यह उपनिषद् परमात्मा के विषय में ही लिखा गया है। चार स्थितियाँ तो ब्रह्माण्ड की हैं, परन्तु परमात्मा उनको उत्पन्न करने वाला है। यह हम इस कारण कहते हैं कि इसी उपनिषद् के प्रथम मन्त्र में लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिद ँ्सर्वं तस्योपव्याख्यानं···

'ओं' यह अक्षर ही सबकुछ है और यहाँ उसी का वर्णन है। माण्डूक्योपनिषद् को शंकर-पंथी वेदान्त का स्रोत मानते हैं। इस विषय पर हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हमारा केवल मात्र इतने से प्रयोजन है कि स्वामी ब्रह्म मुनिजी का कथन कि इस (माण्डूक्य-५) में प्रकृति का आनन्दमय होना लिखा है, यह उपयुक्त नहीं है। आनन्दमय तो परमात्मा ही है।

आनन्दमय वह स्थान है, जहाँ गुहा में जीवात्मा और परमात्मा का साक्षात्कार होता है। जब साक्षात्कार होता है तो, यहाँ कहा है कि 'एकीभूतः प्रज्ञानघन'। प्रज्ञानघन जीवात्मा को कहा है। वह आनन्दमय कोष में जाने से पहले विज्ञानमय कोष में होता है। वहाँ रहने वाले जीवात्मा को प्रज्ञानघन कहा है। वह प्रज्ञानघन जीवात्मा आनन्दमय कोष में उपस्थित 'ओमित्येतदक्षरमिदं' अक्षर ओं से एकीभूत हो जाता है। इसे ही जुष्ट होना कहते हैं। एकीभूत का अर्थ है मिश्री की भाँति जल में घुल जाना।

इस सूत्र (ब्र० सू० १-१-१३) का अभिप्राय है कि आनन्दमय का अर्थ आनन्दवत् नहीं है वरन् आनन्द की प्राचुर्यता से युक्त है। 'मय' प्रत्यय प्राचुर्यता के अर्थों में समझना चाहिए।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१४॥

तत्+हेतु+व्यपदेशात्+च।

और इसमें हेतु के उपदेश (कथन) से।

पूर्वोक्त (१-१-१२) सूत्र में लिखा है कि बार-बार अभ्यास करने से आनन्दमय हो जाता है। इस सूत्र में लिखा है कि परमात्मा तो आनन्दमय है ही। उसके आनन्दमय होने में हेतु नहीं। अतः हेतु यह है कि जो पहले आनन्दमय नहीं, वह आनन्दमय हो। अतः अभ्यास करने से परमात्मा का आनन्दमय होने की बात नहीं। यह जीवात्मा के विषय में है।

इस सूत्र में यह कहा है कि आनन्दमय होने में हेतु के कथन को समझ लेना चाहिए। अभिप्राय यह कि परमात्मा के अतिरिक्त कोई है जो आनन्दमय होना चाहता है। उसे ही आनन्दमय करने के हेतु अभ्यास की योजना है।

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥१५॥

मान्त्रवर्णिकम्+एव+च+गीयते।

मन्त्रों में वर्णित अर्थात् प्रतिपादित भी है और गाया भी गया है।

यहाँ दर्शनाचार्य ने युक्ति से सिद्ध की गई बात को कहा है कि वेदों में भी ऐसा ही प्रतिपादित है और गाया गया है।

युक्ति से क्या सिद्ध किया है? वह यह कि जीवात्मा जब परमात्मा से युक्त होता है तो वह आनन्दित हो जाता है। यह इसलिए कि परमात्मा आनन्दमय है

और उसका आनन्दमय होना हेतुमय है। हेतु है दूसरों (जीवात्माओं) को आनन्दित करना।

दर्शनाचार्य कहता है कि वेदमन्त्रों में भी इसी प्रकार गाया गया है।

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निद ँ् सञ्च वि चैति सर्व ँ् सऽओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥

(यजु० ३२-८)

(वेनः) मेधावी विद्वान् (पश्यत्) देखते हैं, (सत्) उसे (निहितं गुहा) गुहा में स्थित। कैसा देखते हैं ? (सत् यत्र विश्वम् भवति एकनीडम्) वह सत् स्वरूप अर्थात् अक्षर है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व (जगत्) एक घोंसले की भाँति टिका है। (तस्मिन् इदम्) उसमें यह जगत् (सम् एति च वि एति च) मिल जाता है और जिससे यह प्रकट हो जाता है। (स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु) वह विभु एक रम व्यापक प्रजाओं अर्थात् सृष्टि के पदार्थों में ओत-प्रोत है।

अनेक वेद-मन्त्र दर्शनाचार्य द्वारा कही बात को सिद्ध करने के लिए उदाहरण के रूप दिये जा सकते हैं। एक अन्य मन्त्र इस प्रकार है—

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृळ्हा चिदारुजे वसु॥

(ऋ० ४-३१-२)

अर्थात्—(कः त्वा) वह कौन है (सत्यो मदानां मंहिष्ठः) सत्य पुरुषों को आनन्दित करने वाला और उन पर कृपा करने वाला। (मत्सत्) हमें आनन्द से युक्त करता है। (दृळ्हा वसु अरुजे चित्) जो ृढ़ है, धन-धान्य प्राप्त कराता है और चैतन्यता प्रदान करता है। वह सत्य स्वरूप परमात्मा है।

अथर्ववेद का एक मन्त्र है—

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त॥

(अथर्व० २-१-५)

(परि विश्वा भुवनानि) विश्व के सब नक्षत्रादि से परे अर्थात् सूक्ष्म में अथवा त्यागकर (आयम् ऋतस्य तन्तुं विततं दृशे) आया हूँ सत्य नियमों के ताँतों को जो विस्तृत है और दुखःकर। (समाने योनौ वस् एरयन्त) समान योनियों अर्थात् उद्गम स्थानों में विचरते हुए (यत्र देवा) जहाँ देवा अर्थात् दिव्य गुणयुक्त योगी जन (अमृतम् अनशानाः) अमृत के आनन्द को भोगते हैं।

स्वामी शंकराचार्य ने भी इस सूत्र के ऐसे ही अर्थ किये हैं। जो विशेष बात स्वामीजी ने की है, वह यह कि इस सूत्र के भाष्य में भी संहिताओं (ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व) का प्रमाण नहीं दिया। यद्यपि सूत्र में स्पष्ट मन्त्र का शब्द है, परन्तु स्वामीजी के विचार में मन्त्र केवल उपनिषद् ग्रन्थों में ही हैं।

यह आर्ष ग्रन्थों की परम्परा में है कि ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व ईश्वरीय ज्ञान है और उपनिषदादि ग्रंथ ऋषियों तथा मुनियों के वचन हैं। ऋचायें (ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व) ईश्वरीय वाणी हैं। यह सर्वत्र माना गया है।

उदाहरण के रूप में अथर्ववेद में ही इस प्रकार कहा गया है —

यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य
लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

(अथर्व० १०-७-२०)

जिससे ऋक् वेद प्रकट हुआ; जिससे यजुः वेद कहा गया; जिसके लोम साम वेद हैं और जिसके जीवन का रस अर्थात् सार अथर्व वेद है; उसे स्कम्भ अर्थात् पूर्ण सृष्टि का आश्रय कहा है। वह अत्यन्त सुखमय है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार कहा है—

यो ब्रह्मणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वे० उ० ६-१८)

अर्थ है—जिसने सबसे आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न किया और जिसने उसके लिए वेदों को कहा है, वह देव जो मेरी बुद्धि को प्रकाशित कर रहा है, मैं मुमुक्षु उसकी शरण में आता हूँ।

मनुस्मृति में भी यही बात लिखी है—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम् ॥

(मनु० १-२३)

अर्थ है—उसे सनातन ब्रह्म (परमात्मा) ने अग्नि, वायु, आदित्य से तीन (ऋक्, यजुः, साम) वेद उत्पन्न किये यज्ञ की सिद्धि के लिए। अर्थात् इस लोक में मानव कल्याण के लिए।

मन्त्र वेद वाक्यों को कहते हैं। दर्शनाचार्य का यही कहना था कि युक्ति से कही बात वेदों में भी कही और गायी गयी है, परन्तु स्वामीजी वेद प्रमाण छोड़कर अन्य ग्रन्थों का, जो मनुष्यकृत हैं, प्रमाण दे रहे हैं।

अतः यहाँ सन्देह करने में पर्याप्त स्थान है कि स्वामी शंकराचार्य का ज्ञान वेद तक नहीं था और वे जो कुछ वेदों के विषय में कह गये हैं, वह उस काल में सुनी-सुनाई बात थी।

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

न+इतरः=अनुपपत्तेः ।

किसी दूसरे में (आनन्दमयता) नहीं । क्योंकि इस (आनन्द) की (उपपत्ति) दृष्टिगोचर नहीं होती ।

इस सूत्र में दो शब्द व्याख्या के योग्य हैं । एक 'इतरः' है । इसका अर्थ है कोई दूसरा । दूसरा किससे ? जिसका उल्लेख ऊपर किया जा रहा है । अर्थात् परमात्मा से दूसरा ।

हमारा मत है कि सूत्र (१-१-२, ३, ४) तो त्रिविध ब्रह्म के सम्बन्ध में हैं । अन्य आचार्य ब्रह्म को त्रिविध नहीं मानते । उनकी दृष्टि में ब्रह्म का अर्थ परमात्मा मात्र है ।

स्वामी शंकराचार्य तो परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ मानते ही नहीं । वह ब्रह्म के अर्थ केवल परमात्मा करते हैं और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत् पदार्थ मानते ही नहीं । इस बात का हम खण्डन कर चुके हैं । इसके साथ ही, यदि वहाँ ब्रह्म में प्रकृति और जीवात्मा को भी सम्मिलित कर लें तो हमारा मत मानने से अनेक स्थानों पर उपनिषद् के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं । जीवात्मा और प्रकृति के अनादि होने के प्रमाण भी हम दे चुके हैं । युक्ति भी इसी बात को मानती है ।

इन सूत्रों में ब्रह्म केवल परमात्मा मानें अथवा प्रकृति और जीवात्मा भी मानें, यह अपने-अपने मन की बात है । हमने क्यों त्रिविध ब्रह्म को इन सूत्रों में ला बैठाया है, यह हमने इन सूत्रों की व्याख्या में बताया है ।

सूत्र १-१-५ से १-१-१५ तक में उस ब्रह्म का उल्लेख है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है । यहाँ जीव और प्रकृति का उल्लेख नहीं, परन्तु इन सूत्रों से जीवात्मा तथा प्रकृति की असिद्धि प्रतीत नहीं होती ।

अब 'न+इतरः' शब्द से पुनः चेतन परमात्मा को ही आनन्दमय बताते हुए लिखा है कि अन्य ऐसा कोई नहीं ।

इससे चेतन परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य की उपस्थिति का संकेत मिलता है । परमात्मा के अतिरिक्त कोई है जो आनन्दमय नहीं ।

सूत्र में दूसरा शब्द है उपपत्ति । इसके अर्थ बहुत विस्तृत हैं । मोनियर विलियम्स इसके अर्थ इस प्रकार लिखते हैं—

उपपत्ति—

happening, occuring, becoming visible, appearing, taking place, production, effecting, accomplishing.

अर्थों की एक दूसरी श्रेणी भी है —

proving of right, resulting, cause, reason, ascertained as demolished conclusion, proof, evidence, argument.

आगे लिखा है कि वेदान्त में इस शब्द के अर्थ हैं—

fitness, propriety, possibility.

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनुपपत्ति के कौन-से अर्थ उक्त सूत्र में लिए जायँ ?

श्री ब्रह्म मुनि 'अनुपपत्तेः' से अर्थ लेते हैं अयुक्तता अर्थात् युक्ति से रहित होने के।

श्री उदयवीर शास्त्री इसके अर्थ लिखते हैं 'उपपाद' न किये जाने से। ब्रह्म से अन्य जीवात्मा आनन्दमय नहीं; क्योंकि (उपपत्ति) युक्ति द्वारा उनका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। आप यह भी लिखते हैं—

उपपत्ति का अर्थ युक्ति सहित प्रमाण ही मानना चाहिए।

श्री स्वामी शंकराचार्य द्वारा किया गया अर्थ और उस पर विवेचना पृथक् लिखेंगे।

उक्त दो आचार्यों के कथन से यह प्रतीत होता है कि उपपत्ति का अर्थ युक्ति तो है ही, साथ ही प्रमाण भी हो सकता है। कोषकार ने happening, occuring अर्थात् (शास्त्र में) होना अथवा आना लिखे हैं।

हमारा मत है कि यहाँ भी, इससे पूर्व के सूत्र की भाँति युक्ति से अर्थ नहीं। जैसे पूर्व के सूत्र में लिखा है कि मन्त्रों (संहिताओं) में परमात्मा को आनन्दस्वरूप लिखा है, वैसे ही इस सूत्र में यह लिखा है कि शास्त्र में प्रमाण न होने से यह सिद्ध है कि दूसरा आनन्दमय नहीं है।

अन्य शास्त्रों के प्रमाण हम आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ हम स्वामीजी का इस सूत्र पर अभिमत लिख देना चाहते हैं। स्वामीजी ने लिखा है—

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। नेतरः इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमयशब्देनाभिधीयते। कस्मात्? अनुपपत्तेः। आनन्दमयं हि प्रकृत्य श्रूयते—'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च' (तै० २-६) इति। तत्र प्राक्शरीराद्युत्पत्तेरभिध्यानं, सृज्यमानानां च विकाराणां स्रष्टुरव्यतिरेकः, सर्वविकारसृष्टिश्च न परस्मादात्मनोऽन्यत्रोपपद्यते ॥

अर्थात्—और इस कारण भी कि आनन्दमय परमात्मा ही है, इतर नहीं। इतर का अर्थ है कि ईश्वर से अन्य संसारी जीव। आनन्दमय शब्द से जीव का अभिधान नहीं है; क्योंकि उसमें आनन्दमयत्व की उपपत्ति नहीं है। आनन्दमय को प्रस्तुत कर उसने कामना की कि मैं बहुत प्रजाओं में हो जाऊँ। सो उसने तप किया

और तपस्या करने से यह सब सृजन किया। ऐसी श्रुति है (तैत्ति० २-६)। वहाँ (इस श्रुति में) शरीरादि की उत्पत्ति से पहले कामना, सृजमान विकारों का सृष्टा से अव्यतिरेकता (अभेद) एवं सब विकारों की सृष्टि, परमात्मा के अन्य से उत्पन्न नहीं होती।

यहाँ स्वामीजी ने जो कुछ लिखा है, वह कुछ भी सूत्र में नहीं है। न ही सूत्र में लिखी बात को सिद्ध करता है। सब कुछ असंगत है।

यह तो ठीक है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य आनन्दमय नहीं; परन्तु इसे न तो युक्ति से सिद्ध किया है और न ही प्रमाण से।

आपने प्रमाण दिया है (तैत्तिरीय २-६) सोऽकामयत्।

इस उद्धरण का अर्थ, हम तैत्तिरीय ब्रह्मवल्ली का अभिप्राय लिखते हुए वर्णन कर आये हैं। वहाँ हमने लिखा है कि पाँच कोषों में रहने वाला जब परमात्मा से जुष्ट होता है तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। कोषों में रहने वाला और परमात्मा से जुष्ट होने वाला परमात्मा से भिन्न है। उसे भी सत् (अक्षर) माना है। वह प्राणी नहीं हो सकता।

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं कि इतर से जीव (संसारी जीव अर्थात् शरीरधारी मनुष्य) माना है। यह मनुष्य सत् नहीं है। शरीर क्षर है। अतः शरीर में आत्मा ही अक्षर है। इसलिए इतर् से अर्थ मनुष्य नहीं, वरन् जीवात्मा ही है।

सबसे विचित्र बात यह है कि स्वामी शंकराचार्यजी कहते हैं कि परमात्मा आनन्दमय है; क्योंकि लिखा है कि उसने कामना की कि प्रजाओं को उत्पन्न करूँ और अनेक प्रजाओं की सृष्टि करता है। भला प्रजाओं की सृष्टि करने से उसके आनन्दमय होने का सम्बन्ध है क्या? बुद्धि इन दो बातों (प्रजाओं के उत्पन्न करने और आनन्दमय होने) में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं देखती। इस कारण हम कहते हैं कि स्वामीजी ने सूत्र का भाष्य करते हुए जो (तैत्ति० २-६) उद्धरण दिया है, वह असंगत है।

सबसे प्रबल प्रमाण है कि तैत्ति० २-७ में जीवात्मा का उल्लेख है, परमात्मा का नहीं। यह उसी में लिखे से सिद्ध होता है। इसका अर्थ और अभिप्राय हम ऊपर लिख आये हैं। वह इस प्रकार है—

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

यह पहले असत् (शरीरधारी क्षर) था। तब वह सत् (अक्षर) हो गया। वह आत्मा स्वयंभुः हुआ। इस होने से उसे सुकृत कहते हैं।

अर्थात्—शरीर छोड़कर अक्षर हो जाने को सुकृत माना है। इससे परमात्मा में लीन होने का अवसर होता है। जिसे इस वल्ली के आरम्भ में 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' लिखा है।

आगे इसी अनुवाक में लिखा है।

यद्वै तत्सुकृतम् रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।

वह जब सुकृत हुआ, उसका रस (सार) ही है। रस प्राप्त होने पर वह आनन्दयुक्त हो जाता है।

बात स्पष्ट है कि जब ब्रह्मवेत्ता शरीर छोड़कर शुद्ध, निर्मल, अक्षर जीवात्मा रह जाता है, तब वह सुकृत है। यह सुकृत किया हुआ जीवात्मा ही आनन्दमय कहलाता है। निस्सन्देह यह परमात्मा नहीं वरन् जीवात्मा है जो शरीर त्यागकर परमात्मा में लीन हो जाता है।

अतः उक्त सूत्र का अभिप्राय यह है कि आनन्दमय परमात्मा ही है, जीवात्मा नहीं है। इतर् आनन्दमय नहीं, शास्त्र-प्रमाण न होने से।

भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥

भेदव्यपदेशात्+च।

और भेद बताने से भी।

अभिप्राय यह कि जहाँ-जहाँ शास्त्र में परमात्मा को आनन्दमय बताया है, वहाँ उसे (जीवात्मा से) पृथक् बताया है।

उक्त उदाहरण में भी ऐसा ही प्रकट होता है कि आत्मा सन्तान उत्पन्न करता है। पहले रेतस् से शरीर निर्माण होता है; फिर कोई जीवात्मा उसमें जा बैठता है। यही भेद है।

ऋग्वेद १-१६४-२० में इसका उल्लेख है। श्वेताश्वतर १-६,७ में और १-९ में भी इसका उल्लेख है।

जीवात्मा और परमात्मा में भेद युक्ति से भी सूत्रकार ने बताया है। इसे अगले सूत्र में देखिये।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥

कामात्+च+न+अनुमान+अपेक्षा।

अनुमान की अपेक्षा नहीं।

अर्थात्—अनुमान से भी (आत्मा और परमात्मा में) भेद प्रकट होता है, जीवात्मा का आनन्द की कामना रखने से। कामना वही करता है, जिसके पास

इच्छित वस्तु नहीं होती। जीवात्मा आनन्द की कामना करता है। अर्थात् वह आनन्दमय नहीं है।

यह कहा जाता है कि आत्मा सुख की उपलब्धि चाहता है, आनन्द की नहीं। कामना सुख की होती है।

उपनिषद्कार (तैत्तिरीय) ब्रह्मवल्ली के आठवें अनुवाक में लिखता है—

सैषानन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

यह उस आनन्द पर विचार है (अर्थात् वर्णन है)। मनुष्य युवा हो श्रेष्ठ एव पठित हो शिष्ठतायुक्त, सुदृढ़ और बलवान् हो। उसके पास धन इतना हो कि पृथिवी भर जाये। यह मानुषी आनन्द है।

अभिप्राय यह कि यह सुख है। यौवन, शिष्ठता, लम्बी आयु, विद्वत्ता, पुरुषार्थ, शिक्षा और अतुल धनराशि, इनकी प्राप्ति से मानवी आनन्द मिलता है।

मानवी आनन्द और ईश्वरीय आनन्द में अन्तर मात्रा में है। यह कहा है कि मानवी आनन्द से सौ गुणा अधिक गान्धर्व आनन्द है। इससे सौ गुणा अधिक देव गान्धर्व आनन्द होता है। देव गान्धर्व से सौ गुणा अधिक आनन्द पितरों का है। उससे सौ गुणा अधिक ज्ञानज देवताओं का आनन्द है। इनसे कर्म करने वाले देवों का आनन्द है।

इसी प्रकार देवों से इन्द्र का, इन्द्र से बृहस्पति का, बृहस्पति से प्रजापति का और प्रजापति से ब्रह्म का आनन्द सौ-सौ गुणा अधिक बताया है।

इस सबका अर्थ यह है कि मानवी आनन्द (सुख) भी उसी श्रेणी का है, जिस श्रेणी के अन्य आनन्द हैं। अन्तर मात्रा में है। ब्रह्मानन्द मानवी-आनन्द से करोड़ों गुणा अधिक है।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'चाकामहतस्य' अर्थात् यह कामनारहित हो। निष्काम रहते हुए हो।

इसका अर्थ यह है कि मानवी आनन्द (सुख) भी कामना रहित हो, तब ही वह वास्तविक आनन्द है।

संक्षेप में, सुख भी जब निष्काम जीवन व्यतीत करते हुए मिले तो वह आनन्द है। यद्यपि ब्रह्मानन्द से बहुत कम है।

इसीलिए कहा है कि जीवात्मा आनन्द की कामना करता है। अर्थात् वह आनन्दमय नहीं है।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१९॥

च+अस्मिन्+अस्य+तत्+योगं+शास्ति ।

और इसमें उसका वह योग होता है। ऐसा शास्त्र में लिखा है।

'इसमें' का अभिप्राय है परमात्मा में। अस्य—जीवात्मा का; यह योग बताया है कि जीवात्मा आनन्दमय नहीं। जीवात्मा परमात्मा से योग की इच्छा करता है। ऐसा 'शास्ति'=शास्त्र में लिखा है।

इन (२ से १९) सूत्रों में ब्रह्म की स्थापना की गयी है। अभिप्राय यह कि ब्रह्म है। ऐसा मत प्रतिष्ठित किया गया है।

सूत्र संख्या दो, तीन और चार में यह बताया है कि ब्रह्म सत् है। वह अक्षर है। यह तीन प्रकार का है।

परन्तु तीनों में भेद भी है। उनमें पहला भेद चैतन्य और जड़ता में है। यह सूत्रकार ने सूत्र ५, ६, ७, ८, ९ और १० में वर्णन किया है। उनमें यह कहा है कि आत्म-तत्त्वों और जड़-तत्त्वों में अन्तर है।

सूत्र ११ में यह लिखा है कि जगत् के पदार्थों में समानता होने से जगत् का कर्ता एक ही है। इसके उपरान्त सूत्र १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८ तथा १९ में आत्म-तत्त्वों, अभिप्राय यह कि परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर बताया है। युक्ति से भेद बताया है और फिर शास्त्र प्रमाण का भी उल्लेख किया है।

स्वामी शंकराचार्य की कठिनाई यह है कि उन्होंने एक मिथ्या अयुक्ति-युक्त मत पहले स्वीकार कर लिया कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सत् (अनादि तथा अक्षर) नहीं, तब वह पूर्ण वेदान्त शास्त्र में ऐसी बातें लिखते चले गये, जो सूत्रकार के मत के अनुकूल नहीं, सूत्रों में वर्णित भी नहीं और वैदिक शास्त्रों में भी उपलब्ध नहीं। ऐसा करने के लिए उनको अपना पूर्ण कथन अयुक्ति-युक्त बनाना पड़ा है।

स्वामी शंकराचार्य का सांख्य के प्रणेता कपिल से तथा वेद संहिताओं से विरोध भी इसी कारण है कि वे उनके मत का प्रतिपादन नहीं करते। स्वामीजी अपने मत का समर्थन उपनिषदों में ढूंढ़ते हैं। वहाँ पर भी, जब और जहाँ उनके मत का स्पष्ट विरोध मिलता है, वह अर्थों में खींचातानी करने लगते हैं।

उदाहरण के रूप में तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्म वल्ली में स्पष्ट रूप में शरीर और जीवात्मा को आनन्दमय ब्रह्म से पृथक् माना है। वहाँ लिखा है कि पाँच कोष हैं। अन्नमय मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। जिस-जिस कोष में जीवात्मा रहता है, वैसा ही वह हो जाता है। इसी उपनिषद् के सातवें अनुवाक में लिखा है—

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति।

(यदा) जब (ह्येवैष) ही यह (एतस्मिन्) इस (अदृश्य) अदृश्य में अभिप्राय है अव्यक्त में (अनात्म्ये) अनात्म में अर्थात् जो (अनिरुक्त) अनिवर्चनीय है (अनिलयेन) आश्रय रहित है, वह (अभयं प्रतिष्ठां विन्दते) अभय अर्थात् स्थिर प्रतिष्ठा पा लेता है, (सो अभयं) वह अभय हो जाता है।

कौन अभय हो जाता है ?

इसका उत्तर नहीं बना तो स्वामी शंकराचार्य अर्थों में खींचातानी करने लगे। 'सः' का अर्थ स्वामीजी ने अपने तैत्तिरीय उपनिषद् के भाष्य में साधक किया है। वहाँ वह प्रश्न उठाते हैं—

कदासावभयं गतो भवति ? उसका स्वयं उत्तर देते हैं—**साधको यदा नान्यत्पश्यत्यात्मनि चान्तरं भेदं न कुरुते तदाभयं गतो भवतीत्यभिप्रायः।**

कब वह अभय गति वाला होता है ? स्वामीजी कहते हैं, 'जब साधक अन्य कुछ नहीं देखता और अपने आत्मा में किसी प्रकार का अन्तर भेद नहीं करता, तब अभय गति का अभिप्राय है।'

स्वामीजी ने 'सः' का अर्थ विकृत कर साधक कर दिया। वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा को साधक कहा है, परन्तु प्रश्न तो ज्यों-का-त्यों ही रहा कि क्या साधक परमात्मा से पृथक् है ? तभी तो वह अवस्था विशेष में अपने और उसमें अन्तर न देखकर अभय होता है। यह इस प्रकार है कि जब किसी स्वामी का सेवक स्वामी से अपने को अभिन्न मानता है तो स्वामी की रक्षा का आश्रय पा वह निर्भय हो जाता है। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि स्वामी और सेवक एक ही हैं।

साधक कहिए अथवा जीवात्मा, वह परमात्मा से भिन्न है और जब वह अपने को परमात्मा के आश्रय कर देता है तो वह निर्भय हो जाता है।

हमारा यह विचारित मत है कि स्वामी शंकराचार्य मिथ्या सिद्धान्त पर अपने ज्ञान को आधारित कर रहे हैं। होना यह चाहिए था कि सिद्धान्त ज्ञान पर आधारित होता। यदि कोई सिद्धान्त ज्ञान के विपरीत बन गया है तो सिद्धान्त का नवीकरण होना चाहिए था, न कि ज्ञान को विकृत कर मिथ्या सिद्धान्त का प्रतिपादन।

तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मवल्ली का उद्धरण प्रस्तुत कर स्वामीजी ने भूल की है। कारण यह कि इस उद्धरण से स्वामीजी के मत का प्रतिपादन नहीं होता। यहाँ ब्रह्म को प्राप्त करने वाले को ब्रह्म से पृथक् माना है। उसे ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए उन कोषों को छोड़ना पड़ता है जो अन्नमय, मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय हैं और आनन्दमय कोष में प्रविष्ट होना पड़ता है। इसमें प्रविष्ट होकर वह उन कोषों में पूर्ण मानवी आनन्द को भी प्राप्त कर लेता है; क्योंकि उससे कई लक्ष गुणा अधिक आनन्द वह प्राप्त कर लेता है और इस (१-१-१९) सूत्र में

सूत्रकार कहता है कि शास्त्र में भी यह वर्णन है कि आत्मा के परमात्मा से योग में आनन्द की प्राप्ति होती है।

श्री स्वामी शंकराचार्य ने उदाहरण इसी बात का दिया है, परन्तु इस सूत्र को और उसमें दिये उद्धरण को अपने सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव ना परः' के विपरीत देख इन दोनों के अर्थों में खींचातानी कर दी है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री ने अपने वेदान्त भाष्य में इस सूत्र की व्याख्या में स्वामीजी के इस (तैत्तिरीय ब्रह्मवल्ली के) उद्धरण के अर्थों को विकृत करने का विस्तार से खण्डन किया है।

स्वामीजी ने एक अन्य व्यर्थ का विवाद उत्पन्न कर दिया है। वह यह कि आनन्दमय ब्रह्म से पृथक् है। क्योंकि ब्रह्म को आनन्दमय का पुच्छ लिखा है। इस सब विवाद को अनावश्यक समझ हम यहाँ उसका विस्तृत उल्लेख नहीं कर रहे हैं।

हमारा केवल इतने मात्र से प्रयोजन है कि इस उद्धरण में जीव तथा ब्रह्म में पृथकता उल्लिखित है और स्वामीजी ने उसको छुपाने का यत्न किया है। होना यह चाहिए था कि वेद (संहिताओं) में से वह कोई प्रमाण देते जिससे यह सरलता से सिद्ध हो जाता कि सूत्र के अर्थों का समर्थन वेद में उपलब्ध है। यजुर्वेद में यह कहा है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥

(यजु० ३२-११)

सब भूतों, सब लोकों, सब दिशाओं-प्रदिशाओं को जानकर अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर सत्य परमात्मा की प्रथम उत्पन्न वाणी का ज्ञान प्राप्त कर जीवात्मा परमात्मा में प्रवेश कर लेता है (अर्थात् उससे युक्त हो जाता है)।

इसी प्रकार ऋग्वेद में भी लिखा है—

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत्कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्॥

(ऋग्वेद ७-८६-२)

मैं अपनी इस देह से उसका कब साक्षात् करूँगा? कब मैं उसे वरण करने योग्य हृदय में होऊँगा? कब वह कोपरहित होकर मेरी प्रार्थना को स्वीकार करेगा और कब मैं शुभ-चित्त होकर उस परम आनन्दमय को प्राप्त करूँगा?

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

अन्तः+तत्+धर्म+उपदेशात्।

अन्तस् में उपस्थित अर्थात् सबके भीतर व्यापक परमात्मा के धर्मों का वर्णन कर रहे हैं।

प्रथम १६ सूत्रों में त्रिविध ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि, अन्तर, परमात्मा की जड़ से विलक्षणता और अन्त में परमात्मा की जीवात्मा से विलक्षणता का वर्णन कर अब परमात्मा के धर्मों का वर्णन किया जा रहा है।

अन्तः शब्द से अभिप्राय है सबमें व्यापक और वह परमात्मा ही है। यह जीवात्मा नहीं हो सकता। कारण यह कि वह सबके भीतर व्यापक नहीं है। अतः परमेश्वर के ही धर्मों का वर्णन किया जा रहा है।

सूत्रकार अपने आशय को अगले सूत्र में स्पष्ट करता है।

भेदव्यपदेशाच्चान्य ॥२१॥

च+भेदव्यपदेशात्+अन्यः।

और व्यवहार में भेद से यह दूसरा है।

जिसको अन्तः कहा है वह जीवात्मा से व्यवहार में दूसरा है। अन्तः के धर्मों का वर्णन हो रहा है, जीवात्मा के नहीं। यहाँ स्पष्ट रूप में यह स्वीकार किया है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई है, जिसके विषय में भूल की जा सकती है। इस कारण उसके धर्मों का उल्लेख हो रहा है।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

आकाश+तत्+लिङ्गात्।

आकाश उसका लिङ्ग है।

यहाँ आकाश शब्द से पाँचभौतिक आकाश नहीं मानना चाहिए। उस आकाश की उत्पत्ति तो प्रधान से हुई है। प्रधान से महत्, महत् से अहंकार, तदनन्तर अहंकार से पंच महाभूतों में आकाश। वह परमात्मा का लक्षण नहीं हो सकता।

वस्तुतः आकाश से यहाँ अभिप्राय है कि वह विस्तृत असीम अवकाश (space) जिसमें परमात्मा व्याप्त है। क्योंकि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, इस कारण यह माना जाता है कि स्थान, जहाँ परमात्मा व्याप्त है, वह भी परमात्मा की भाँति

अनन्त है। इसका अन्त नहीं। अतः परमात्मा और यह आकाश पर्यायवाचक माने जाते हैं। वस्तुतः आकाश तो स्थान है परमात्मा उसमें व्याप्त पदार्थ है। आकाश का कोई अंश परमात्मा के बिना नहीं। अतः आकाश परमात्मा का लिंग माना है।

स्वामी शंकराचार्य ने यहाँ भी यह पूर्व पक्ष उठाया है कि आकाश शब्द से भूताकाश लेना चाहिए। पूर्व पक्ष में आकाश से भूताकाश लेने में युक्ति यह दी है कि यदि यह नहीं लेंगे तो आकाश शब्द अनेकार्थ वाचक हो जायेगा। साथ ही यह कहा है कि आकाश शब्द का अर्थ भूताकाश ही प्रसिद्ध है।

यह पूर्व पक्ष की युक्ति थोथी है। संस्कृत भाषा तथा वैदिक भाषा में अनेक शब्द हैं जो अनेकार्थ वाचक हैं। साथ ही प्रसिद्ध अर्थ का अभिप्राय यह नहीं कि दूसरे अर्थ हैं ही नहीं। जहाँ जो अर्थ उपयुक्त लगें, वही लेने चाहिए। जो वस्तु हमारे समीप है और बार-बार हमारे प्रयोग में आती है, उसका नाम प्रसिद्ध हो जायेगा। इस पर भी दूसरी वस्तु भी है।

परन्तु विस्मय तो यह है कि इस पूर्व पक्ष का उत्तर स्वामीजी अयुक्तिसंगत दे रहे हैं। स्वामीजी लिखते हैं—

प्राप्ते ब्रूमः—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तम्। कुतः? तल्लिङ्गात्। परस्य हि ब्रह्मण इदं लिङ्गम्—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इति। परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा। ननु भूताकाशस्यापि वाय्वादिक्रमेण कारणत्वं दर्शितम्।

अर्थात्—ऐसा (पूर्व पक्ष) प्राप्त होने पर हम कहते हैं। 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' में आकाश शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करना युक्त है। क्योंकि उसका लिंग है। इसे परमात्मा का लिंग ग्रहण करने में 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते' प्रमाण है। परब्रह्म से ही भूतों की उत्पत्ति होती है, यह वेदान्तों में मर्यादा है। साथ ही भूताकाश से ही वायु इत्यादि भूतों की क्रम से उत्पत्ति दिखाई है।

यह सब कुछ ठीक होते हुए भी पूर्व पक्ष का उत्तर नहीं। उत्तर तो यह है कि वेद और उपनिषद् में अनेक शब्द हैं जो अनेकार्थ वाचक हैं। दूसरे यह कि विख्यात और अविख्यात होने से कोई अर्थ निःशेष नहीं हो जाता। यह है पूर्व पक्ष की युक्तियों का खण्डन। यदि पूर्व पक्ष वाला आपके वेद तथा उपनिषद् को प्रमाण न माने तो क्या किया जायेगा?

पूर्व पक्ष के उक्त खण्डन के उपरान्त पक्ष का समर्थन यह है कि भूताकाश प्रकृति की उपज है। सांख्य के अनुसार प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार और अहंकारों से पंचमहाभूत—ऐसा उत्पन्न हुआ है।

प्रकृति से इन भूतों की उत्पत्ति के विषय में मनुस्मृति में लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानऽव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ (मनु० १-५,६)

अर्थात्—यह सब कुछ तम में लीन, अज्ञात, चिह्नरहित, तर्क से परे, अविज्ञेय और सर्वत्र सोये हुए के समान था ।

तब स्वयम्भू भगवान् जो अव्यक्त और अपरिमित शक्ति वाला तथा अन्धकार को दूर करने वाला है, उसने इस संसार को प्रकट करते हुए इन महाभूतादि को पैदा किया ।

इससे भूत आकाश परमात्मा का लक्षण नहीं, वह परमात्मा से निर्मित पदार्थ है। आकाश के अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी हैं। जब पंचमहाभूत नहीं थे तब क्या परमात्मा का एक लिंग नहीं रहा मानना होगा ?

भूताकाश और परमात्मा के लिंग-आकाश में अन्तर है कि भूताकाश जगत् का एक अंश होने से सर्वव्यापक नहीं। यह सीमा वाला है और परमात्मा का लिंग-आकाश असीम है।

स्वामी शंकराचार्यजी कहते हैं कि आकाश शेष चारों भूतों का उत्पत्ति स्थान है और परमात्मा भी सबकुछ का उत्पत्ति स्थान होने से आकाश उसका पर्याय-वाचक है। यह युक्ति नहीं। यथा—बैल गोवंश का उत्पत्ति स्थान होने से और गधा गधा वंश का उत्पत्ति स्थान होने से पर्यायवाचक नहीं हो सकते। न ही मोहन का पुत्र गौतम और गौतम का पुत्र कृष्ण होने से मोहन और कृष्ण पर्यायवाचक हो सकते हैं।

ठीक बात को भी ठीक ढंग से न बता सकने का कारण है स्वामीजी को सांख्य दर्शन का ज्ञान न होना। स्वामीजी ने सांख्य के प्रणेता कपिल मुनि को अनीश्वर-वादी माना है। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि स्वामीजी को जैसे ऋक् आदि वेदों का ज्ञान नहीं था, वैसे ही सांख्य का ज्ञान भी नहीं था।

इस स्थान पर इतना लिख देना उचित है कि इस सूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य ने एक वेद-मन्त्र का उद्धरण भी दिया है। मन्त्र है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋ० १-१६४-३९)

यहाँ व्योम शब्द परमात्मा का वाचक है। इस मन्त्र के अर्थ हैं— वेद-मन्त्रों में वर्णन किये गए परम-व्योम (परमात्मा) में सब नक्षत्रादि विश्व-देवता स्थित हैं। जो उस परमात्मा को नहीं जानता, वह वेद के अर्थ को क्या समझेगा ?

जो उसका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर उपासना करता है, वह ही विद्वान् समझा जाता है।

यह एक (कदाचित् एक आध और भी) वेद का उद्धरण स्वामीजी के लेखों में दिखाई दिया है। जहाँ सूत्र १-१-१५ में 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते' मन्त्र में लिखा होने पर भी वेद मन्त्र से कोई प्रमाण नहीं दिया जा सका।

सूत्र का अर्थ है कि आकाश परमात्मा का लिंग है। लिंग का अर्थ गुण नहीं। जैसे अग्नि का लिंग धुआँ है; अर्थात् धुएँ से अग्नि का ज्ञान होता है। इसी प्रकार आकाश के सर्वत्र होने से सर्वव्यापक परमात्मा का ज्ञान होता है। आकाश परमात्मा का निवास स्थान है।

अत एव प्राणः ॥२३॥

इसी प्रकार प्राण भी परमात्मा का लक्षण है।

प्राण का अर्थ है, गति उत्पन्न करने वाला। कार्य करने की सामर्थ्य को प्राण कहते हैं। परमात्मा से कार्य-जगत् की उत्पत्ति हुई है। अतः यह कार्य करने की सामर्थ्य रखता है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व ११-४-१)

यह सबकुछ जिसके वश में है (उस) प्राण के लिए नमस्कार हो। जो स्वयम्भू है, सबका ईश्वर है, जिसमें सबकुछ प्रतिष्ठित है।

और भी—

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

(कठो० २-३-२)

जो कुछ यह सब विस्तृत जगत् है (प्राण एजति) प्राण से क्रियावान् हो रहा है, वह महान् भय, उठे हुए वज्र के समान है। जो इसे जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।

अतः प्राण का अर्थ कर्म करने का सामर्थ्य है। परमात्मा परम सामर्थ्यवान् है। इस कारण प्राण उसका लिंग है। वास्तव में सब प्राकृतिक पदार्थों में और जीवों के शरीर में भी कार्य करने का सामर्थ्य उस परमात्मा का ही माना जाता है। इस कारण जीवों को भी प्राणी माना है। प्राण के अर्थ साँस लेने तथा छोड़ने वाला वायु नहीं। यह वायु प्राणरूपी सामर्थ्य से चलता है; इस कारण इसे भी प्राण कहा है।

सब प्राकृतिक पदार्थ तथा जीवों के शरीर भी प्राण से कार्य करते हैं और वह प्राण भी ईश्वर के सामर्थ्य का ही सूचक है। ईश्वर का सामर्थ्य (प्राण) कैसे प्राकृतिक पदार्थों में काम करता है ? यह प्रश्न है। यह कहा जाता है कि प्रकृति अपने गुणों के बल पर कार्य करती है।

यह ठीक है, परन्तु गुणों का बल भी तो परमात्मा के बल से ही प्रकट हुआ है। यह सांख्य-सिद्धान्त है कि प्रकृति के प्रत्येक कण (परमाणु) में तीन गुण (सत्त्व, रजस् तथा तमस्) साम्यावस्था में विद्यमान रहते हैं। प्रकृति गुणों की परस्पर सन्तुलित अवस्था है। इनका सन्तुलन परमात्मा के सामर्थ्य से ही टूटता है। सन्तुलन के न होने से ही गुण, कार्य करने लगते हैं। इनका कार्य तब तक चल सकता है, जब तक इनका सन्तुलन टूटा रहता है। परमात्मा ही प्रकृति के परमाणु के अन्तर्गत गुणों को पुनः सन्तुलित करने का सामर्थ्य रखता है। अतः वह ही सब चराचर पदार्थों में कार्य का सामर्थ्य देने वाला है।

अतएव प्राण परमात्मा का लक्षण है। इसे परमात्मा का स्वरूप भी कहते हैं।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।।२४।।

ज्योतिः+चरणाभिधानात्।

छन्दों में ज्योति भी परमात्मा का लक्षण माना है।

ज्योति का अर्थ प्रकाश एवं ज्ञान है। चरणों में अर्थात् वेद-छन्दों में लिखा गया ज्योतिः शब्द परमात्मा का लक्षणस्वरूप है।

जैसे आकाश परमात्मा नहीं। आकाश परमात्मा का निवास स्थान होने से परमात्मा का लक्षण होता है; इसी प्रकार प्राण परमात्मा नहीं। परमात्मा का सामर्थ्य परमात्मा का लक्षण (चिह्न) है। अतः प्राण परमात्मा का लक्षण है। इसी प्रकार ज्योतिः परमात्मा नहीं है, परन्तु ज्योति सदा और सर्वत्र परमात्मा के कारण विद्यमान होने से परमात्मा का लक्षण है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सूत्रकार परमात्मा के लक्षण बता रहा है।

उदाहरण के रूप में वेद मन्त्र है—

> यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
> दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।
> (यजु० ३४-१)

जागते हुए देव (आत्मा) का (मन) दूर आता जाता है और उस देव (आत्मा) के सोये हुए का (मन) भी वैसा ही करता है। अभिप्राय यह कि जागते अथवा सोये

आत्मा का मन भटकता रहता है । वह दूर स्थित ज्योति वालों में ज्योति वाला एक मात्र मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो ।

और भी देखिए—

अयं होता प्रथमः पश्येतममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३वर्धमानः ।।

(ऋ० ६-९-४)

अर्थात्—यह ही सबसे उत्तम सुखों को देने वाला है । इसका साक्षात्कार करो । मरणशीलों में यह अमर ज्ञानस्वरूप है ।

अतः अनेक स्थलों पर ज्योति शब्द प्रकाश एवं ज्ञान के लिए आया है और परमात्मा को ज्ञानस्वरूप माना है । प्रकाश को भी परमात्मा का लक्षण माना है ।

भगवद्गीता में भी इस प्रकार लिखा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।।

(भ० गी० १३-१७)

ज्योतियों में भी वह ज्योति है । वह अन्धकार से दूर कहा जाता है । वह ज्ञानस्वरूप, जानने के योग्य और ज्ञान से जाना जाने योग्य सबके हृदय में स्थित है । प्रकाश और ज्ञान परमात्मा के लक्षण हैं ।

छान्दोग्य उपनिषद् में एक बात स्पष्ट की है—

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योति ।

(छा० ३-१३-७)

परम उच्च देव लोक में विश्व की पीठ पर जो ज्योति प्रकाशित है, वह ही सब उत्तम स्थानों पर प्रकाशमान् है । वह ही इस लोक में पुरुष में उपस्थित है ।

अभिप्राय यह है कि ज्योति सब स्थानों पर एक ही है और वह उस परमात्मा का ही स्वरूप है । अतः ज्योतिः भी परमात्मा का लक्षण है ।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ।।२५।।

छन्दो+अभिधानात्+न+इति+चेत्+न+चेतः+अर्पण+निगदात्+हि+तथा+दर्शनम् ।

चेत् (यदि) छन्दों में कहा गया है, ऐसा नहीं । क्योंकि (वहाँ) चित्त को अर्पण करना कहा है । यही बात दर्शनशास्त्र में कही गयी है ।

पूर्व सूत्र में 'चरणाभिधानात्' ऐसा वाक्य है। शंका की जा रही है कि यह कोई युक्ति नहीं कि वेदों में कहा गया है कि ज्योति उसका लक्षण है। इससे यह माना नहीं जा सकता।

जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे जगत् में प्रकाश की उत्पत्ति प्रकृति के गुणों से मानते हैं। इस कारण ये लोग शंका करते हैं कि वेद में लिखा होने से स्वीकार नहीं किया जा सकता। सूत्रकार कहता है कि 'न सही।' मत मानो। वहाँ इस ज्योति में चित्त को लगाने के लिए लिखा है। वही बात दर्शनशास्त्र में युक्ति से वर्णन की गयी है।

अधिकांश भाष्यकारों ने इस सूत्र के अर्थ स्पष्ट रूप में नहीं लिखे। वे बता नहीं सके कि शंका क्या है और फिर उसका उत्तर क्या दिया गया है? उक्त व्याख्या हमने अपने विचार से की है।

शब्दों के अर्थों से हमने यही समझा है और यही बात ठीक प्रतीत होती है। पूर्व सूत्र (१-१-२४) में 'चरणाभिधानात्' लिखा है। इसका अर्थ है कि वेदों के पदों में ऐसा प्रतिष्ठित है। वर्तमान सूत्र (१-१-२५) में यह शंका उठा दी है 'छन्दोऽभिधानात् च इति चेत् न'। यदि वेदों में लिखा कहो तो स्वीकार योग्य नहो। क्यों स्वीकार नहीं? इस कारण कि शंका करने वाला वेदों को प्रमाण-ग्रन्थ नहीं मानता। वह नास्तिक है।

इसपर सूत्रकार उत्तर देता है 'न तथा'—यह इस प्रकार नहीं। अर्थात् वेद में ज्योति को परमात्मा का स्वरूप बताया है। वहाँ परमात्मा का ऐसा वर्णन कर चित्त को उसके अर्पण करने के लिए लिखा है, परन्तु 'तथा हि दर्शनम्' इसी प्रकार दर्शनशास्त्र में भी सिद्ध कर चुके हैं। अर्थात् यही बात कि ब्रह्म ही पूर्ण जगत् का रचने वाला है, हम युक्ति से भी सिद्ध कर चुके हैं।

हमारा मत यह है कि दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र रूप से ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। वेदादि शास्त्रों में लिखा तो वही है जो दर्शनशास्त्र सिद्ध कर चुके हैं, परन्तु दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र है। वैदिक दर्शनशास्त्र वेदादि शास्त्रों में वर्णित सच्चाइयों को ही सिद्ध करते हैं। इसी कारण वेदादि का उल्लेख किया जा रहा है।

नास्तिक की शंका का समाधान दर्शनशास्त्र में है। जब जगत् का कर्ता परमात्मा सिद्ध हो गया तो सूर्यादि में ज्योति का कर्ता भी तो वही सिद्ध है।

जब प्रकृति के गुणों में सन्तुलन टूटता है अर्थात् उनकी साम्यावस्था भंग होती है तो जगत् की रचना होती है। यह सम्यावस्था भंग होती है ईश्वर की करनी से। अन्य कौन कर सकता है? और जगत् के सूर्य का कितना प्रकाश है और ब्रह्माण्ड में तो इस सूर्य से भी सहस्रों गुणा अधिक प्रकाशमान सूर्य विद्यमान हैं। इतना प्रकाश, इतनी शक्ति तो किसी अद्वितीय 'पुरष' में ही हो सकती है।

उसी को परमात्मा के नाम से स्मरण किया जाता है। इसी कारण उसके लिए यह कहा है—**एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म।**

यहाँ पुनः यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आकाश, प्राण, ज्योति परमात्मा के लक्षण हैं। ये परमात्मा नहीं हैं। ये गुण भी नहीं हैं। गुण गुणी के साथ रहते हैं। लक्षण अर्थात् चिह्न पदार्थ से पृथक् भी दिखाई देते हैं। साथ ही लक्षणों को प्राप्त कर लेने से ही पदार्थ की प्राप्ति सम्भव नहीं। उदाहरण के रूप में सूर्य का प्रकाश, विद्युत में ऊर्जा, अग्नि में ताप, मनुष्य में ज्ञान परमात्मा से प्राप्त होते हैं, परन्तु इनकी प्राप्ति से परमात्मा की प्राप्ति नहीं मानी जाती।

एक वैज्ञानिक आण्विक शक्ति का नियन्त्रण कर, उससे कार्य का संचालन करता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह परमात्मा को नियन्त्रण में कर उससे कार्य ले रहा है। यद्यपि यह सत्य है कि उसने शक्ति पर अधिकार प्राप्त किया है, परन्तु यह अधिकार परमात्मा के अधिकार का सूचक नहीं। कोयला जलाकर ताप से स्टीम इन्जन चलाना और आण्विक शक्ति से मशीनों को चलाना, एक ही श्रेणी के कार्य हैं। शक्ति पर अधिकार प्राप्त किया गया है। यह शक्ति परमात्मा द्वारा मूल प्रकृति से मुक्त (release) हुई कही गई है। उसके एक अति न्यून अंश पर मनुष्य का अधिकार हो गया है। यह अधिकार परमात्मा पर अधिकार का सूचक नहीं।

अतः इस सूत्र का अर्थ केवल नास्तिकों का समाधान करना है कि वेद के नाम से भयभीत होने की बात नहीं। 'तथा ही दर्शनम्।' इसी प्रकार दर्शनशास्त्र में युक्ति से सिद्ध कर चुके हैं।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥२६॥

भूतादि+पाद+व्यपदेशः+उपपत्तेः+च+एवम्।

भूतादि का अभिप्राय जगत् है। जड़ और चेतन के ये पाद कहे गए हैं और उपपत्ति (युक्ति) से भी ऐसा ही प्रकट होता है।

ऊपर के सूत्र में बताया है कि यदि वेद को प्रमाण नहीं मानते तो दर्शनशास्त्र (युक्ति) से भी तो हम ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध कर चुके हैं।

यह विश्व (पृथिवी नक्षत्रादि) जिसे सूत्र में भूतादि कहकर वर्णन किया है, इनको चरण (पग) ही कहा है। परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति में भूत इत्यादि चरण मात्र हैं। इस जगत् की रचना में तो कई पग हैं।

सूर्यादि को देवता माना है। ये भूतों से अगला पग है। इससे भी आगे अन्य पग हैं। यह जगत्-रचना में युक्ति की जा सकती है। इस प्रकार ज्योति इत्यादि लक्षण भी उस परमात्मा के कर्तृत्व में पग हैं।

स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र के भाष्य में पाद का अर्थ गायत्री छन्द के पाद कहते हैं। यह अशुद्ध है।

अतः हमारा कहना यह है कि गायत्री उक्त सूत्र (वे० द० १-१-२६) से सम्बन्धित नहीं।

यह आशय सूत्र का नहीं है। इसमें लिखा है कि परमात्मा की शक्ति (ज्योति) का एक पाद भूतादि (जड़ चेतन) जगत् में है। दूसरे पादों का यहाँ (सूत्र में) उल्लेख नहीं, परन्तु संकेत है कि दूसरे पाद देवतागण हैं और अन्तिम पाद (दिव्य) ब्रह्मलोक में है। ये पाद हैं छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार।

यहाँ पाद का अभिप्राय भी समझ लेना चाहिए। परमात्मा ने सृष्टि को रचा है। रचने में कई पग (stages) पर कार्य हुआ है। प्रथम पग है जड़-चेतन जगत्। दूसरा पग है सूर्यादि देवता, तीसरा पग है ब्रह्मलोक।

श्री स्वामीजी द्वारा ब्रह्मसूत्र—१-१-२६ में जो पाद वर्णन किये हैं, उनका गायत्री के पादों से समन्वय कर सूत्रार्थ में भ्रम फैला है।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

उपदेश + भेदात् + न + इति + चेत् + न + उभयस्मिन् + न + अपि + अविरोधात्।

कथन (के ढंग) में भेद से; यदि कहो तो भेद नहीं। दोनों में विरोध भी नहीं है।

उपनिषद् ग्रन्थों में तथा अन्य अनेक स्थानों पर परमात्मा से सृष्टि और परमात्मा की सृष्टि का भिन्न-भिन्न विभक्तिप्रों में वर्णन मिलता है। सूत्रकार का कहना है कि इस वर्णन के भेद से अर्थों में भेद नहीं पड़ता। परस्पर विरोध भी नहीं है।

उक्त विभक्तियों में भेद से अर्थों में भेद की सम्भावना तो है ही। यह सूत्रकार ने बताया है कि अर्थों में भेद नहीं पड़ता, परन्तु सूत्रकार का एक अन्य भी अभिप्राय है जो प्रायः भाष्यकारों की दृष्टि में नहीं आया।

उपनिषदों में अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन मिलता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। उदाहरण के रूप में उपनिषद् वाक्य हैं—

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। (माण्डूक्य० १)

इसका अर्थ है—ओं जो यह अक्षर है, वही सबकुछ है। सब भूत, भविष्य

और वर्तमान उसका ही व्याख्यान है। सब ओंकार ही है। अन्य भी, जो इन तीन कालों से परे है, वह भी ओंकार ही है।

इसका अर्थ यह है कि ओंकार अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। परन्तु एक अन्य उपनिषद् में लिखा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥

(श्वेताश्वतर० १-९, १०)

इन दोनों मन्त्रों का भावार्थ इस प्रकार है —

ज्ञानवान् और अज्ञानी दो अजन्मा हैं। एक ईश्वर है और दूसरा अनीश्वर है। एक अन्य अजन्मा है, जो भोग करने वाले के भोग के निमित्त है। विश्वरूप आत्मा तो अनन्त है। वह अकर्ता (भोग नहीं करने वाला) है। जब मनुष्य यह जान जाता है कि ये तीनों ब्रह्म हैं तो वह जान जाता है।

नाशवान् कार्य जगत् और अविनाशी (जीवात्मा) और हरि, ये तीन हैं। कार्य-जगत् और आत्मा (जीवात्मा) इन दोनों पर जो एक देव शासन करता है, इस देव का चिन्तन करने से सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है।

आगे और भी लिखा है—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

(श्वेताश्वतर० १-१२)

भोग करने वाला, भोग्य-सामग्री और प्रेरणा देने वाला सब तीन प्रकार का ब्रह्म कहा है।

अतः माण्डूक्य उपनिषद् के मन्त्र संख्या १ तथा श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऊपर लिखे मन्त्रों में अर्थभेद प्रतीत होता है। सूत्रकार का कहना है कि यहाँ अर्थ-भेद नहीं है। कैसे भेद नहीं है? यह इन उपनिषदों के भाष्यकार अपने-अपने मत से बताते हैं। हमने भी बताया है कि माण्डूक्योपनिषद् में जहाँ परमात्मा को ही सबकुछ कहा है, वह परमात्मा को निमित्त कारण मानकर ही कहा है। वहाँ प्रधान और जीवात्मा का विरोध नहीं है। परमात्मा इन दोनों पर शासक होने से सबकुछ है, ऐसा माना है। श्वेताश्वतर में तीनों के गुणों में समानता और भेद का वर्णन किया है।

सूत्रकार उक्त सूत्र से यह प्रकट करते हैं कि यह भेद परस्पर विरोध प्रकट नहीं करता।

इस और पूर्व के सूत्र को देने का प्रयोजन नास्तिकों, शास्त्र पर शंका करने वालों का समाधान करना है। सूत्रों में संकेत है। भाष्यकारों का कर्तव्य था कि

वे इस दिखाई देने वाले भ्रम की व्याख्या और निराकरण करते। अधिकांश भाष्यकार विभक्तियों का उल्लेख कर ही रह गये हैं। वे तो हैं ही, परन्तु वास्तविक बात अन्य है।

स्वामी शंकराचार्य भी इसी भ्रम में फँस गये हैं। इस भ्रम मे फँसने का कारण यह है कि दर्शनशास्त्र के सूत्रों को वेदान्त-वाक्यों की व्याख्या में समझ पूर्व सूत्र (१-१-२६) में एक उद्धरण देकर, उस उद्धरण में सप्तमी और पंचमी के चक्कर में वह फँस गये हैं। वास्तविकता यह है कि सूत्रकार ने किसी भी उपनिषद् वाक्य तथा अन्य किसी शास्त्र के वाक्य का उल्लेख नहीं किया। सूत्रकार ने तो सिद्धान्त उपस्थित किये हैं। जब सूत्र कहा था, तब उसके मन में कौन-सा वाक्य था, कहा नहीं जा सकता।

सिद्धान्त यह है कि कहीं-कहीं परमात्मा को ही सबकुछ माना है और कहीं जीवात्मा और प्रकृति को भी अजन्मा और अनादि माना है। यह भेद है जिसके विषय में सूत्रकार कहता है कि अर्थ-भेद नहीं। ये परस्पर अविरोधी हैं।

कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी शंकराचार्य भाष्य करते हुए यत्र, तत्र, संगत-असंगत उद्धरण देते रहे हैं और फिर उनकी संगति बैठाने के लिए सूत्रार्थों में खींचातानी करने लगे हैं।

अतः हमारा मत है कि सूत्र में 'उपदेशभेदान्नेति' का अभिप्राय है प्रकृति, आत्मा, परमात्मा को जो भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा गया प्रतीत होता है, उनमें भेद नहीं है। एक पदार्थ के व्याख्यान में, दूसरे के वर्णन के अभाव से उसका विरोध नहीं होता।

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥

प्राणः+तथा+अनुगमात्।

इसी प्रकार प्राण भी अनुगम होने से।

जैसे ज्योति है, वैसे भी प्राण है। हमने बताया है कि ज्योति परमात्मा नहीं है। परमात्मा का लक्षण है। जहाँ शास्त्र में ज्योति को परमात्मा लिखा है अथवा प्राण को परमात्मा लिखा है, वहाँ यही समझना चाहिए जो अनुगम (संगति से ठीक) है।

स्वामी शंकराचार्य तथा उनके अनुगामी भाष्यकार सूत्र पढ़ते ही किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण देने को लालायित हो जाते हैं। सूत्रकार के मन में सूत्र कहने के समय वही उपनिषद् वाक्य उपलक्ष्य था यह कहना कठिन है। अतः उचित तो यह है कि सूत्र की युक्तियुक्त व्याख्या की जाए। आवश्यक हो तो कोई

उदाहरण दिया जाए। यत्न यही होना चाहिए कि व्याख्या स्वयं में ऐसी सामान्य और विस्तृत हो कि वह वाक्य पर युक्त हो सके। ब्रह्मसूत्रों के शंकर भाष्य और अधिकांश अन्य भाष्यों में ऐसा प्रकट करने का यत्न किया गया है, मानो सूत्रकार ने उपनिषद् वाक्यों पर ही अपने सूत्र कहे हैं।

सूत्रकार ने ऐसा कहीं उल्लेख नहीं किया है। संकेत भी नहीं किया। अतः हमारा मत है कि सूत्र युक्तियाँ हैं। प्रायः ब्रह्मसूत्र (परमात्मा, जीवात्मा, एवं प्रकृति के) रहस्य को स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं। कहीं-कहीं नास्तिकों के शास्त्र वर्णित सिद्धांतों पर शंकाओं को दूर करने का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसे स्थानों पर भी सैद्धान्तिक स्पष्टता ही है।

उक्त सूत्र पर भाष्य आरम्भ करते ही स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं —

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' इत्यारभ्याम्नाता। तस्यां श्रूयते—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व' इति।

अर्थात्—दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन युद्ध और पराक्रम से इन्द्र के प्रिय धाम-स्वर्ग को गया। कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् में इन्द्र और प्रतर्दन की आख्यायिका कही गयी है। उसमें 'स होवाच्च प्राणोऽस्मि' इन्द्र ने कहा कि मैं प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा हूँ। उस मेरी आयु तथा अमृत रूप से उपासना कर—इत्यादि।

क्या यह उद्धरण सूत्रकार के मन में था? हमारा मत है कि नहीं था। कारण यह है कि सूत्र के अर्थों से इसकी संगति नहीं बैठती।

सूत्र स्पष्ट है। तथा=इसी प्रकार, प्राणः=प्राण है। अनुगमात्=अनुगामी होने से।

किसका अनुगामी? परमात्मा का। अर्थ है कि प्राण परमात्मा की प्रेरणा पर कार्य करता है। अतः प्राण से भी ब्रह्म का अभिप्राय समझा जा सकता है।

जैसे तुलसीकृत रामचरितमानस तुलसी की अनुगामी (विचारानुकूल) होने से दोनों एक ही माने जा सकते हैं। इसपर भी तुलसी पृथक् है और रामचरित मानस पृथक् है।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२९॥

न+वक्तुः+आत्मोपदेशात्+इति+चेत्+अध्यात्म+संबन्धभूमा+हि+अस्मिन्।

वक्ता की आत्मश्लाघा के लिए यह नहीं। अध्यात्म सम्बन्धी प्रकरण में यदि न आया होता :

यह वाक्य कि प्राण ब्रह्म (परमात्मा) का वाचक है, मनुष्य आत्मश्लाघा के लिए भी कह सकता है। मनुष्य प्राणी कहलाता है। इसमें प्राण (कार्य करने का सामर्थ्य) रहता है। अतः यदि प्राण परमात्मा है और मनुष्य का जीवन प्राण रहने तक माना जाता है तो प्राणी परमात्मा है ऐसा मनुष्य आत्मश्लाघा के लिए कह सकता है। सूत्रकार कहता है कि नहीं। यदि यह होता तो अध्यात्म के प्रसंग में प्राण का प्रयोग न होता।

अभिप्राय यह है कि प्राणी में प्राण जीवन तक रहता है। अतः संशय करने वाले के मत से शास्त्र में प्राण शब्द आदि-अन्त वाले पदार्थ के लिए माना जाएगा। सूत्रकार का कहना है कि नहीं। क्योंकि प्राण अध्यात्म के प्रसंग में आया है। अध्यात्म है अक्षर का ज्ञान।

अब इसके उदाहरण दिये जा सकते हैं। अथर्ववेद में एक प्राण सूक्त (अथर्व० ११-४) है। इसमें प्राण परमात्मा है। और प्राण क्यों है, इसका विस्तार से वर्णन है।

इस सूत्र का प्रथम मन्त्र है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
(अथर्व० ११-४-१)

जिसके वश में सबकुछ है, उस प्राण के लिए नमस्कार हो। जो स्वयम्भू है, सबका ईश्वर है, जिसमें सब प्रतिष्ठित हैं।

स्पष्ट है कि यहाँ प्राण परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है।

इसी सूक्त के एक अन्य मन्त्र में लिखा है कि (स्तनयित्नवे) जैसे स्तन से दूध निकलता है, वैसे ही सुखों की वर्षा करने वाला प्राण (अथर्व० ११-४-२) है।

इसी प्रकार एक अगले मन्त्र में लिखा है '**स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः**' (११-४-३) मेघों द्वारा ओषधियों का पालन करने वाले प्राण हों। प्राण का विशेष प्रयोजन भी वर्णन किया है। (**प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते**) (अथर्व० ११-४-३) गर्भ धारण कराने में एवं बहुविध प्रजाओं की उत्पत्ति में विशेष रूप में प्राण सहायक होता है।

और आगे अथर्व० ११-४-६ में कहा है '**अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्**' भरपूर वर्षा से सिंचित ओषधियाँ प्राण रूप परमात्मा से कहती हैं कि '**आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः**' आप उन्हें (ओषधियों को) आयु देते हैं। वे हम सबको सुगन्धित पुष्प प्रदान करती हैं।

इस प्रकार इसी सूक्त में एक स्थान पर लिखा है '**नमस्ते प्राण विद्युते**' (११-४-२) बिजली में प्राण (शक्ति) तुम हो और हम तुमको नमस्कार करते हैं।

हमारा कहने का अभिप्राय यह है कि प्राण शब्द जहाँ अध्यात्म प्रसंग में आया है, वहाँ परमात्मा का वाचक है। साथ ही परमात्मा को प्राण इस कारण कहा है, क्योंकि यह सर्वशक्तिमान् है और शक्ति ही प्राण है। प्राण परमात्मा का लक्षण है।

प्राणी में भी प्राण (शक्ति) ईश्वर का ही दिया हुआ है। यह अन्न (ओषधियों) से प्राप्त होता है और अन्न में प्राण परमात्मा ही डालता है।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥३०॥

शास्त्रदृष्ट्या+तुः+उपदेशः+वामदेववत् ॥

शास्त्र की दृष्टि के उपदेश को (शास्त्र माना जाता है), जैसे वामदेव (का कथन है।)

प्राणवान् परमात्मा को प्राण ही कहा जाता है, वैसे ही जैसे वामदेव जैसे शास्त्र दृष्टा के उपदेश को शास्त्र ही माना जाता है।

गुणी गुण से जाना जाता है। इसी प्रकार का पदार्थों का ज्ञान उनके लक्षणों से होता है। लक्षण को ही लिङ्ग कहते हैं।

न्याय-दर्शन में यह सूत्र है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।

(न्या० १-१-१०)

अर्थात्—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान (चेतना) ये आत्मा के लिङ्ग (लक्षण) हैं।

जैसे यहाँ सुख, दुःख, इच्छा इत्यादि जीवात्मा नहीं, वरन् ये आत्मा के लिङ्ग हैं, इसी प्रकार आकाश, प्राण, ज्योति इत्यादि परमात्मा के लिङ्ग हैं।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात ॥३१॥

जीव+मुख्यप्राण+लिङ्गात्+न+इति+चेत्+न+उपासा+त्रैवि-ध्यात्+आश्रित्वात्+तद्योगात्।

जीवात्मा का मुख्य लिंग प्राण होने से यहाँ (जीवात्मा का अर्थ) नहीं। (यदि होता तो) त्रिविध उपासना का आश्रय का प्रसंग न होता।

सूत्र १-२९ की व्याख्या में हमने अथर्व वेद के प्राण सूक्त का उदाहरण दिया है। वहाँ प्राण परमात्मा का सूचक है।

जीवात्मा में भी प्राण लिंग है। न्याय-दर्शन में प्राण का पर्याय 'प्रयत्न' लिखा है, परन्तु उक्त (अथर्व वेद तथा अन्य ऐसे ही) प्रसंगों में प्राण परमात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। सूत्रकार कारण यह देता है कि वहाँ उपासना का प्रसंग है। तीन प्रकार में किसी भी प्रकार की भी उपासना का प्रसंग हो, वहाँ प्राण से परमात्मा का ही अर्थ लेना चाहिए।

इसके साथ वेदान्त दर्शन का प्रथम पाद समाप्त होता है।

इस पाद में तीन सूत्र (२,३,४) ब्रह्म की सिद्धि में हैं। हमने अपना मत व्यक्त किया है कि त्रिविध ब्रह्म से ही इनका अभिप्राय है। इसमें प्रमाण हमने दिया है। साथ ही हमारा यह मत है कि उपनिषदादि ग्रन्थों में ब्रह्म शब्द इन तीन में से किसी एक, दो अथवा तीनों (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति) के लिए माना जा सकता है। यह किसके लिए है ? प्रसंगानुसार देखना चाहिए। इन सूत्रों में परमात्मा को निमित्त कारण के रूप में, प्रकृति को उपादान कारण के रूप में और जीवात्मा को भोक्ता के रूप में स्वीकार कर 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि का अर्थ सर्वथा युक्तियुक्त है।

जिस द्वारा जन्म, जिससे और जिसके लिए हुआ है, वह ब्रह्म है, ऐसा मानना ठीक रहेगा। अन्य भाष्यकारों का विरोध नहीं, वरन् वर्णन करने में एक विशेषता के रूप में ही यह है।

सूत्र ५, ६, ७ परमात्मा अर्थात् परम चेतन तत्त्व की व्याख्या में है।

सूत्र ८, ९, १० परम चेतन तत्त्व की जड़ तत्त्व (प्रधान) से भिन्नता को दर्शाने के लिए हैं।

सूत्र ११, १२, १३, १४, १५ में यह बताने का यत्न किया है कि जो कुछ पूर्व के सूत्रों में युक्ति से सिद्ध किया है, वह वैदिक शास्त्रों में भी लिखा है।

सूत्र १६, १७, १८, १९ परमात्म-तत्त्व और आत्म-तत्त्व (जीवात्मा) में भेद वर्णन करते हैं।

सूत्र २० में यह लिखा है कि परमात्मा, जो सबके भीतर व्यापक है, उसके धर्मों का आगे वर्णन होगा।

सूत्र २१ में यह बताया है कि जिसके धर्मों का आगे वर्णन होगा, वह जीवात्मा से भिन्न है।

सूत्र २२, २३, २४ में ब्रह्म के तीन लक्षण लिखे हैं। आकाश से सर्वव्यापकता का लक्षण है। प्राण से सर्वशक्तिमान् का अभिप्राय है और ज्योति से सर्वान्तर्यामी, सर्वत्र, ज्ञानवान् का प्रयोजन है। ये परमात्म-तत्त्व के मुख्य लिंग हैं।

सूत्र २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ में बताया गया है कि वेदादि शास्त्रों में ऐसे ही लक्षण परमात्मा के हैं। नास्तिकों के कुछ संशयों का भी निवारण किया गया है।

हमने यत्र-तत्र श्री स्वामी शंकराचार्य के भ्रममूलक भाष्य का उल्लेख किया है और उसमे भ्रम को स्पष्ट करने का यत्न किया है। जितने उद्धरण हमने स्वामीजी के भाष्य में से दिये हैं, केवल वे ही सब भ्रममूलक नहीं, अन्य भी हैं, परन्तु स्थानाभाव के कारण कुछ का ही उल्लेख हो सका है।

स्वामी शंकराचार्य परवर्ती अनेक भाष्यकारों ने पूर्णतः उनकी भाष्य शैली का ही अनुकरण किया है। उनकी शैली है कि सूत्र ग्रन्थ वेदान्त वाक्यों (उपनिषदादि ग्रन्थों) को, मणियों को सूत्र में बाँधने की भाँति हैं। स्वामीजी के प्रचार का प्रभाव इतना प्रबल हुआ है कि अन्य भाष्यकारों ने आँखें मूँदकर स्वामीजी का, पूर्णरूपेण अथवा आंशिक रूप में अनुकरण किया है।

हमारा मत उनसे भिन्न है। हम दर्शनशास्त्रों को ऐसा नहीं समझते, जैसा कि श्री स्वामीजी ने माना है। हमारा मत यह है कि वैदिक दर्शनशास्त्र युक्ति अर्थात् अनुमान-प्रमाण से वैदिक सिद्धान्तों को सिद्ध एवं स्पष्ट करने के लिए लिखे गए हैं। अतः सूत्र का अर्थ वर्णन करने के लिए उपनिषदादि ग्रन्थों की साक्षी आवश्यक नहीं, वरन् वैदिक सिद्धान्तों की सत्यता को सिद्ध करने के लिए दर्शन-शास्त्र स्वतन्त्र प्रमाण देते हैं। ये सूत्र उनके लिए ही लिखे गए हैं जो वेदादि ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मानते।

प्रत्येक सूत्र एक युक्ति प्रस्तुत करता है और वह युक्ति वेदादि शास्त्रों में वर्णित सिद्धान्तों का समर्थन करती है।

इस बात के लिए ही शास्त्र और मन्त्रों इत्यादि की ओर संकेत है।

——

द्वितीय पाद

प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में ब्रह्म में दो आत्म तत्त्वों की परस्पर समानता, भेद और सम्बन्ध के विषय में लिखा है। हमारा यह मत है कि सूत्र शुद्ध, सरल और अकाट्य युक्तियाँ हैं। इस पाद के अध्ययन से भी यही सिद्ध होता है।

श्री स्वामी शंकराचार्य इस द्वितीय पाद के लिखने का प्रयोजन यह लिखते हैं—

अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषांचिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिंगानि संदिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि। पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिंगानि संदिह्यन्ते—किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किंचिदिति। तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते।

अर्थात्—कुछ शब्दों के प्रसिद्ध ऐसे अर्थ जो ब्रह्म के अतिरिक्त हैं, उनको ब्रह्म के हेतु ही बताने से एवं कुछ ऐसे वाक्य हैं, जिनमें ब्रह्म लिंग तो स्पष्ट है, परन्तु सन्देह होता है कि वे ब्रह्म विषयक हैं अथवा नहीं, उनका निर्णय करने के लिए सूत्र हैं। फिर भी अन्य वाक्य हैं कि वे स्पष्ट ब्रह्म लिंग वाले नहीं हैं और उन पर सन्देह किया जाता है कि वे स्पष्ट ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं अथवा किसी दूसरे अर्थ का। इस निर्णय के लिए दूसरे और तीसरे पाद का आरम्भ किया जाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी शंकराचार्य वेदान्त दर्शन का और साथ ही उसके प्रथम अध्याय के दूसरे और तीसरे पाद का वह प्रयोजन नहीं मानते, जो हमने ऊपर वर्णन किया है। वे समझते हैं कि कई उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट हैं और उनके, स्पष्ट रूप से संशयरहित अर्थ करने के लिए ये सूत्र लिखे गये हैं।

हमारा मत इसके विपरीत है। हम समझते हैं कि न तो उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट हैं और न ही उनके अर्थ लगाने में कहीं भ्रम हो रहा है। आर्ष परम्परा यह है कि उपनिषादादि ग्रन्थ मनुष्यकृत हैं। उनमें भूल हो सकती हैं; परन्तु भूल जानने की कसौटी वेद हैं, ब्रह्मसूत्र नहीं। वैसे उपनिषद् इतने अस्पष्ट और अशुद्ध नहीं कि उनको स्पष्ट करने के लिए दर्शनशास्त्रों की आवश्यकता पड़े। दर्शनशास्त्र तो सूत्रवत् हैं। यदि कहीं अस्पष्टता अथवा भूल है तो उसको ईश्वरीय ज्ञान वेद से संशोधित किया जा सकता है। दर्शनशास्त्रों का प्रयोजन भिन्न है और वह प्रयोजन हम ऊपर कह चुके हैं।

अब हम इस दर्शनशास्त्र के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद का भाष्य करते हैं। इसमें हम बतायेंगे कि स्वामी शंकराचार्य इस शास्त्र के प्रयोजन से ही अनभिज्ञ थे। यह शास्त्र वेदान्त वाक्यों की अस्पष्टता को सुधारने के लिए नहीं, वरन् उन वेदान्त वाक्यों की सत्यता को युक्ति से सिद्ध करने के लिए है।

दर्शन स्वतः अपने मत को सिद्ध करने वाले ग्रन्थ हैं। यह सत्य है कि उन सिद्ध किए जाने वाले सिद्धान्तों को दर्शनाचार्य ने वेदादि शास्त्रों से ही ग्रहण किया है, परन्तु उन सिद्धान्तों को बिना शास्त्र का आश्रय लिये ही सिद्ध किया है।

इसका एक प्रमाण तो हम वे० द० १-१-२५ की व्याख्या में दे आये हैं। वहाँ दर्शनाचार्य ने कहा है कि वेदादि शास्त्र को प्रमाण नहीं मानते तो न मानो, परन्तु हम 'दर्शन' युक्ति (logic) से भी तो वही बात सिद्ध कर रहे हैं।

एक अन्य भी संकेत है जो यही प्रकट करता है कि दर्शनशास्त्र स्वतन्त्र शास्त्र हैं। वेदान्त दर्शन में कहीं भी किसी वेदान्त वाक्य की ओर संकेत नहीं। उल्लेख तो है ही नहीं।

यह तो वैदिक ग्रन्थों की श्रेष्ठता और सत्यता का प्रमाण है कि जो श्रेष्ठ युक्ति से सिद्ध होता है, वह वेदादि शास्त्रों में भी पाया जाता है;

हम जहाँ कहीं भी उपनिषदादि शास्त्र का उद्धरण देते हैं, हमारा उससे अभिप्राय: यह है कि वेदादि शास्त्र जिस सत्य का निरूपण करते हैं, उसी को दर्शनशास्त्र युक्ति से सिद्ध करते हैं।

इस द्वितीय पाद में परमात्मा तथा जीवात्मा के सम्बन्ध में ही लिखा है।

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥१॥

सर्वत्र+प्रसिद्ध+उपदेशात्।

सब स्थान पर प्रसिद्ध के कहे जाने से।

क्या प्रसिद्ध है? वह जगत् ही प्रसिद्ध है। हम देखते हैं, सुनते हैं, अनुभव करते हैं कि जगत् है।

जगत् है। यदि यह बन-बिगड़ रहा है तो इसके बनाने-बिगाड़ने वाला भी कोई है। यह किससे बना है? यह भी सिद्ध है कि कुछ है, जिससे यह बना है। साथ ही इसके बनने में क्या प्रयोजन है? यह भी हम देखते हैं।

वही पहले कही गयी बात है कि परमात्मा इस जगत् को बनाने वाला अर्थात् निमित्त कारण है। जड़ प्रकृति इसका उपादान कारण है और जीवात्माओं के भोग के लिए इसका निर्माण हुआ है।

इस सूत्र के एक अन्य प्रकार से भी अर्थ किये गए हैं।

सर्वत्र=सब स्थानों पर, प्रसिद्ध उपदेश से। इस अर्थ में और ऊपर दिये अर्थों में अन्तर यह है कि ऊपर है प्रसिद्ध उपदेश से, परन्तु इसमें है सर्वत्र उपदेश से।

दोनों के भावों में अन्तर नहीं है। इसमें युक्ति यह है कि मुख्य शब्द है सर्वत्र। इसका अर्थ है कि सब स्थानों पर, अथवा सर्वत्र से अर्थ है सब शास्त्रों में वर्णित। हमारा यह मत है कि यहाँ अभिप्राय है लोक में सर्वत्र। वैसे शास्त्रों में भी जगत् की ही चर्चा सर्व प्रसिद्ध है।

चाहे तो यह कहें कि लोक में सर्वत्र प्रसिद्ध बात की चर्चा से और चाहे यह कहें कि सर्वत्र लोक में प्रसिद्ध चर्चा से। दोनों का समाधान एक ही होगा।

जो सर्वत्र प्रसिद्ध बात है अथवा जिसकी प्रसिद्ध चर्चा है, वह प्रसिद्ध बात जगत् के विषय में है अथवा वह बात प्रसिद्ध जगत् के विषय में है।

अत: कथन से यह प्रसिद्ध कैसे है? प्राणी जो इस पृथ्वी पर रहता है, वह जो कुछ देखता, सुनता, स्पर्श इत्यादि करता है और अनुभव करता है, वही तो प्रसिद्ध है। अतः यह प्रसिद्ध है कि जगत् है। इसके कारण, दोनों निमित्त और उपादान भी सिद्ध हैं और यह भी प्रसिद्ध है कि मनुष्य और अन्य प्राणी हैं, जो इस जगत् के स्वादिष्ट फलों का भोग करते हैं।

अत: तीन पदार्थों की उपस्थिति इस जगत् में होनी सिद्ध है। निमित्त कारण परमात्मा, उपादान कारण प्रकृति और जगत् में भोक्ता जीवात्मा। केवल एक शंकराचार्य ही हैं जो यह मानते हैं कि यह जगत् मिथ्या है, परन्तु वह भी इसको युक्ति से मिथ्या सिद्ध नही कर सके। उपनिषदों के वाक्यों के भ्रान्त अर्थ करके ही वह यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं। सीधी सरल बात को नहीं मानते कि जगत् सत्य है। यह बना है। अत: इसके बनाने वाला (कुम्हार की भाँति) निमित्त कारण है और (मिट्टी की भाँति) उपादान कारण भी है। वह प्रकृति है। इस लोक में रहने वाले प्राणी भी हैं।

यह है इस सूत्र का भावार्थ।

कुछ भाष्यकारों ने प्रसिद्ध बात ब्रह्म मानी है। हमारा इसमें यह मत है कि सूत्रकार का यह आशय नहीं। यदि ब्रह्म प्रसिद्ध अर्थात् भली-भाँति सिद्ध किया हुआ होता तो फिर ब्रह्मसूत्रों के लिखने की आवश्यकता ही न रहती।

सूत्रकार स्पष्ट (प्रत्यक्ष) बात से ब्रह्म की सिद्धि चाहता है। इस कारण उसने कहा है कि बात के प्रसिद्ध उपदेश से अथवा प्रसिद्ध बात के उपदेश अर्थात् कथन से ब्रह्म की सिद्धि होती है और वह स्पष्ट प्रत्यक्ष बात है जगत्।

महाभारत में एक प्रसंग मिलता है जब इस प्रकार का एक प्रश्न यक्ष द्वारा युधिष्ठिर से पूछा गया। प्रश्न है 'का वार्त्ता'? बात अर्थात् चर्चा किस बात की है?

इस प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठर ने कहा—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥
(महा भा० वन० ३१३-११८)

अर्थात् —इस महा मोह रूपी कड़ाहे में भगवान् काल समस्त प्राणियों को मास तथा ऋतुओं की करछी से उलट-पुलटकर सूर्य रूपी अग्नि में एवं रात-दिन के ईंधन से राँध रहा है। यही वार्त्ता है।

अतः प्रसिद्ध बात जगत् है और उसके कथन से ब्रह्म की सिद्धि होती है। इस पाद में प्रथम सूत्र का यह अर्थ हमने अपने विचार से किया है। सूत्र के अर्थ करने में किसी वेदान्त वाक्य की सहायता की आवश्यकता नहीं।

सरल बात ही कही है कि—

जो सर्वत्र प्रसिद्ध है। उसके कथन से (ब्रह्म की सिद्धि होती है)।

प्रसिद्ध तो यही है कि हम हैं। वह जगत् है। यह बन और बिगड़ रहा है। इस प्रसिद्ध बात का अर्थ सूत्रकार ने यह बताया है कि इस जगत् का निमित्त कारण है, उपादान कारण है। और इसका प्रयोजन है जीवात्माओं को सुख और उनकी अनादि खोज, आनन्द की प्राप्ति के लिए अवसर प्रदान करना।

शास्त्र भी ऐसा ही मानते हैं तो यह एक पृथक् बात है। इससे शास्त्र की महिमा प्रदीप्त होती है, परन्तु सूत्र का अर्थ वही है जो हमने बताया है।

श्री ब्रह्म मुनि 'प्रसिद्धोपदेशात्' का अर्थ करते हैं, **'उपास्य रूप से प्रतिपादित किये हुए ब्रह्म का उपदेश होने से अन्यत्र संदिग्ध अथवा सन्देह युक्त स्थलों में केवल ब्रह्म ही उपास्य जानना चाहिए।'**

यह सर्वथा स्वामी शंकराचार्यजी का मत है।

हमारा इसमें यह कहना है कि 'उपदेशात्' के सरल अर्थ 'कहने से' को छोड़ उपास्य ब्रह्म को बीच में लाने, संदिग्ध स्थलों को लाकर खड़ा कर देने में कुछ भी प्रयोजन नहीं था। क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने यह लिखा था, अतः ब्रह्म-मुनिजी ने उसी भाव का उल्लेख कर देना उचित समझा है।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥२॥

विवक्षित + गुणोपपत्तेः + च।

और कहे गये गुणों की स्पष्ट उपपत्ति से।

विवक्षित के अर्थ हैं स्पष्टता से कहना। उपपत्ति के अर्थ हैं उपस्थित होना।

प्रथम सूत्र के साथ इस सूत्र को मिलाने से यह अर्थ बनते हैं कि जगत् का होना सर्वत्र प्रसिद्ध है और यह प्रसिद्धि गुणों की स्पष्ट उपस्थिति से है।

कुछ गुण हैं जो हमें बाह्य इन्द्रियों से अनुभव होते हैं। कुछ गुण ऐसे हैं जो हम अपने अन्तःकरण से अनुभव करते हैं। कुछ ऐसे भी लक्षण हैं, जिनको हम अनुमान प्रमाण अथवा उपमान् प्रमाण से समझ पाते हैं। इन सबका सामूहिक अनुभव यह है कि जगत् है। यह निर्मित है, यह कार्य कर रहा है और इसका लय होगा। साथ ही इसके गुण भली-भाँति दिखाई देते हैं।

विवक्षित के अर्थ हैं कि स्पष्ट रूप से अनुभव में आने से। उपपत्तिः का अभिप्राय है समीप आ जाने से। अर्थात् समझ में आ जाने से।

प्रायः अन्य भाष्यकार इस सूत्र को उपनिषद् वाक्यों के स्पष्टीकरण में ही मानते हैं। उदाहरण के रूप में श्री स्वामी शंकराचार्य इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं—

तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनोपनिष्टाः सत्यसंकल्पप्रभृतयस्ते परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यन्ते। सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थितिसंहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात्परमात्मन एवावकल्पते। परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्यत्र 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इतिश्रुतम्।

अर्थात्—इसलिए जो गुण उपासना के लिए उपादेय के रूप में उपदिष्ट होते हैं, वे सत्य संकल्प प्रभृति परब्रह्म में उपपद्य हैं। सत्य संकल्प ही सृष्टि, स्थिति, संहार अपरिमित शक्ति से ही परमात्मा में कल्पित किये जाते हैं। परमात्मा पापरहित है। (छा० ८-७-१) यहाँ सत्यकाम और सत्य संकल्प परमात्मा के गुणरूप में सुने जाते हैं।

इसका सरल भाषा में भाव यह है कि उपनिषद् वाक्य में जहाँ कहीं सत्यसंकल्प, सत्यकाम शब्द आये हैं, उसे परमात्मा के अर्थों में समझो। कारण यह कि इन्हीं गुणों वाले की उपासना अभीष्ट है।

यह बात तो ठीक है, परन्तु क्या यह सूत्र से प्रकट होती है? सूत्र में किसी भी उपनिषद् वाक्य का उल्लेख अथवा संकेत नहीं। न ही यहाँ उपासना का उल्लेख है।

सूत्र संख्या एक में यह लिखा है कि एक सर्वत्र प्रसिद्ध बात कही जाने से। दूसरे सूत्र में यह कहा गया है कि प्रसिद्ध क्यों है? यह प्रसिद्ध है स्पष्ट गुणों की विद्यमानता से।

स्वामीजी तथा उनकी परिपाटी के भाष्यकारों का यह कहना है कि उन गुणों की उपपत्ति केवल परमात्मा में ही हो सकती है और हम कह रहे हैं कि प्रसिद्ध बात है पूर्ण जगत् की। इस जगत् में गुण हैं परमात्मा के, जीवात्मा के और प्रधान (जड़ प्रकृति) के। बस इसी बात में अन्तर है।

उपासना के लिए अभी तक इन दो सूत्रों में कुछ भी उल्लेख नहीं। जगत् के गुणों की उपासना करें अथवा उसको जानकर क्या करें, यह अभी तक नहीं लिखा।

उपासना का अभिप्राय हम ऊपर लिख आए हैं और ब्रह्म के अर्थ हम कई बार बता चुके हैं।

भ० गी० ७-१, २, ३, ४, ५, ६ से यह स्पष्ट है कि पूर्ण जगत् का ज्ञान प्राप्त करने से ही कल्याण की आशा की जा सकती है। इसी को ब्रह्म की उपासना माननी चाहिए।

स्वामी जी ने छान्दोग्य (८-७-१) का उद्धरण दिया है। इस उद्धरण से भी तो वही बात प्रकट होती है, जो हमने कही है। उपनिषद्कार ने एक कथा के रूप मे बात कही है।

एक बार देवताओं के राजा इन्द्र और असुरों के राजा विरोचन प्रजापति के पास यह जानने के लिए पहुँचे कि आत्मा क्या है ?

प्रजापति ने बता दिया कि जल के पात्र में अपना-अपना प्रतिबिम्ब देखो। बस वही आत्मा है।

इसका अर्थ दोनों भिन्न-भिन्न समझे। विरोचन यह समझा कि प्रतिबिम्ब तो शरीरादि वस्त्राभूषणों का था। बस वही आत्मा अर्थात् परमात्मा है। अतः असुर शरीर की पूजा (सजाने) में लग गये।

इन्द्र को इससे सन्तोष नहीं हुआ। प्रजापति ने उसे कुछ और अधिक बता दिया। परन्तु उसे इस पर भी सन्तोष नहीं हुआ। वह कई बार प्रजापति के पास गया। अन्त में प्रजापति से परम सूक्ष्म बात उसे बता दी। प्रजापति ने कहा—

आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा प्रजापते···सभां वेश्म प्रपद्ये— (छा० ८-१४-१)

निश्चय से आकाश (निराकार परमात्मा) ही है जो नाम और रूपों (जगत् के पदार्थों) को (निर्वहिता) चलाने वाला है। (ते यदन्तरा तद्ब्रह्म) वे अर्थात् भिन्न-भिन्न नामों और रूपों वाली वस्तुएँ जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है। वह (अमृत) अक्षर है। वह (जो चलाने वाला है) आत्मा है। हम उस प्रजापति की सभा अर्थात् संगत में उपस्थित हों···

इस वाक्य से सब बात समझ में आ जाती है और यह अन्तिम बात है जो प्रजापति ने इन्द्र को बताई। इस बात को सुनकर इन्द्र को सन्तोष हो गया।

इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास आत्मा के विषय में जानने के लिए गए थे। प्रजापति ने बताने का यत्न किया, परन्तु इन्द्र की समझ में तब तक नहीं आया जबतक प्रजापति ने यह नहीं बता दिया कि पूर्ण जगत् ब्रह्म है और उसपर नियन्त्रण करने वाला आत्मा है।

अब उपनिषद् के उस अंश को देखें, जिसका उद्धरण श्री स्वामीजी ने दिया है। वह इस प्रकार है—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः···

इसी मन्त्र के अन्त में लिखा है—

स सर्वा्ँश्च लोकानाप्नोति सर्वा्ँश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच । (छा० ८-७-१)

इसका अर्थ है कि जो आत्मा पापरहित है, अजर, अमर है, शोकरहित है, क्षुधा तथा पिपासा रहित है…इत्यादि, जो आत्मा को जान लेता है, उसका साक्षात् कर लेता है; वह सब लोकों को और सारे मनोरथों को प्राप्त कर लेता है। ऐसा प्रजापति ने कहा है।

स्पष्ट है कि जो इस आत्मा (परमात्मा) को जान लेता है। कौन जान लेता है? ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न-भिन्न हैं और फिर सब लोकों और मनोरथों को प्राप्त कर लेता है तो लोक और मनोरथ भी भिन्न हैं।

यह निर्विवाद है कि ज्ञाता, ज्ञेय और लोक तीन पदार्थ हैं। प्रश्न केवल यह रह जाता है कि परमात्मा जिसे ज्ञेय का नाम दिया है केवल वह ही जानने योग्य है अथवा पूर्ण ब्रह्म (निमित्त कारण, उपादान कारण और जीव) सबकुछ जानने योग्य हैं। उल्लिखित उपनिषद् के प्रवक्ता का अभिप्राय है कि आत्मा (परमात्मा) जानने योग्य है। भाष्यकारों ने इसके साथ 'ही' शब्द अपने पास से लगा दिया है। उपनिषद् के शब्द हैं 'सोऽन्वेष्टव्यः' वह जानने योग्य है। इसके अतिरिक्त और 'कुछ नहीं'। यह यहाँ नहीं लिखा।

यह बात यजुर्वेद (४०-१४) में लिखी है कि विद्या और अविद्या दोनों को जानना चाहिए। अविद्या के ज्ञान से मृत्यु को पार किया जा सकता है और विद्या को जानने के लिए अमृत प्राप्त किया जा सकता है।

परन्तु सूत्रार्थों के साथ यह सब असंगत है। सूत्रार्थ तो यह है कि सर्वत्र प्रसिद्ध बात के कहने से (ब्र० सू० १-२-१) और (वह सर्वत्र प्रसिद्ध) उसके स्पष्ट दिखाई देने वाले गुणों से उपमेय होता है (सिद्ध होता है)।

वह सर्वत्र प्रसिद्ध पूर्ण दृश्य-अदृश्य जगत् है। इससे अधिक प्रसिद्ध और सिद्ध अन्य कुछ भी नहीं। सूत्रकार का अभिप्राय है कि मूल में परमात्मा, जीवात्मा और जड़ (प्रधान) तीनों प्रसिद्ध हैं। परन्तु…

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥३॥

अन्+उपपत्तेः+तु+न+शारीरः।

(कुछ गुण) अनुपस्थित होने से शरीर शरीरधारी नहीं है।

क्या नहीं है? इसी विषय में स्वामी शंकराचार्य और प्रायः भाष्यकार कहते हैं 'उपास्य नहीं है'। अभी तक के तीनों सूत्रों में उपास्य शब्द लाकर इस सूत्रों की संगति उपनिषद् से लगाने का यत्न किया गया है। यह अकारण है।

उपनिषद् का जो उद्धरण श्री स्वामी शंकराचार्य तथा अन्य भाष्यकारों ने दिया है, वह छान्दो० (८-७-१) का है और वहाँ उपासना शब्द नहीं है। वहाँ जानने योग्य आत्मा (परमात्मा) तो लिखा है, परन्तु केवल वह ही जानने योग्य है, ऐसा नहीं लिखा।

अतः हमारा मत है कि सूत्र में उपासना का अर्थ यदि जानने से लिया जाये तो इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार बनते हैं —

कुछ गुणो की अनुपपत्ति (अनुपस्थित) होने से शरीरी नहीं है, (वह जिसमें वे गुण है)। अभिप्राय यह कि जो सर्वत्र प्रसिद्ध है उसके कुछ गुण शरीरी में न होने से वे उन गुणों वालों से पृथक् हैं। यहाँ जगत् में तीन पदार्थ की भिन्नता प्रकट कर दी है।

देखिए, सूत्र के उपरान्त सूत्र में कैसे संगति बैठती चली जाती है। प्रसिद्ध बात बताने मे (प्रथम सूत्र) जो बात स्पष्ट गुणों से दिखाई देती है, (दूसरा सूत्र) कुछ गुण न होने से वह शरीरी नहीं है।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥४॥

कर्म+कर्तृ+व्यपदेशात्+च।

और कर्म तथा कर्ता के (भिन्न-भिन्न) कहे जाने से।

कर्म है 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः' (भ० गी० ८-३) भूत (प्राणियों) के भाव (रूपादि) को उत्पन्न करने वाला और उनका विसर्ग (प्रलय) करने वाला कर्म है।

अभिप्राय यह कि जगत् का निर्माण, पालन और प्रलय कर्म है और इसके करने वाला कर्ता (परमात्मा) है।

(उपदेशात्) बताये जाने से।

अर्थात्—जो सूत्र ३ में लिखा है कि कुछ गुणों के अनुपस्थित होने से वह शरीरी नहीं है, जो उन गुणों के रखने वाला है। अब गुणों में भेद की ओर संकेत किया है। वह इस प्रकार से कि एक (जगत्) कर्म है, दूसरा (परमात्मा) कर्ता है। कार्य जगत् जिसमें प्राणी भी है, वह कर्म है और कर्ता परमात्मा है।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में क्रमवार परमात्मा और जीवात्मा में विलक्षणता का वर्णन किया गया है।

द्वितीय पाद के सूत्रों की व्याख्या में हमने प्रायः अन्य भाष्यकारों का बीच में उपासना को ले आने का खण्डन किया है। यहाँ परमात्मा और जीवात्मा मे भेद प्रकट करते हुए कहा है कि कर्ता है परमात्मा। जीवात्मा कर्म का कर्ता नही। अर्थात् उस कर्म को करने मे असमर्थ है, जिस कर्म की व्याख्या भगवद्गीता (८-३) में की है।

शब्दविशेषात् ॥५॥

शब्द + विशेषात् ।

शब्द प्रमाण से भी परमात्मा और जीवात्मा में विशेषता से (भिन्नता बताई है) ।

उक्त चार सूत्रों में जगत्, उसमें परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के विषय में और उनमें गुणों का भेद बताकर कह दिया है कि वेदादि शास्त्रों में भी ऐसा ही वर्णन किया हुआ है। क्या वर्णन किया है ? यही कि परमात्मा जीवात्मा (शरीरी) से भिन्न है।

यहाँ शब्द प्रमाण के विषय में समझ लेना चाहिए। सामान्य रूप में शब्द प्रमाण से अभिप्राय है आप्त व्यक्ति का कथन। परन्तु कोई जन्म-मरण में फँसा हुआ व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता और उसके कथन में भूल हो सकती है। अतः शब्द प्रमाण का अर्थ सदा परमात्मा का कथन वेद ही लेना चाहिए।

सूत्र (ब्र० सू० १-२-१, २, ३, ४) में सिद्धान्त की बात कही है और फिर सूत्र संख्या पाँच में कह दिया है कि जो कुछ हमने ऊपर सिद्ध किया है, वह शब्द प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

शब्द प्रमाण से हमारा अभिप्राय वेद प्रमाण ही है। उपनिषदादि ग्रन्थों को हम गौण प्रमाण मानते हैं। वे उस सीमा तक ही प्रमाण हैं जहाँ तक वे वेदानुकूल हैं।

अलंकारिक रूप में ऋ० १-१६४-२० में तो बताया ही है कि एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक फलों को खाता है और दूसरा साक्षी मात्र है। इसी सूक्त का एक अन्य मन्त्र है—

न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥
(ऋ० १-१६४-३७)

मन से सन्नद्ध हुआ (जन्म-जमान्तर में) चलने वाला मैं कौन हूँ, छुपा हुआ मैं नहीं जानता। जब मैं पहले ऋत् (ज्ञानकारण) इन्द्रियों से सम्बद्ध हुआ। इस वाणी के भोग अर्थात् सत्य ज्ञान को प्राप्त हूँ।

इससे अगले मन्त्र में उक्त संशय का उत्तर दिया है —

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम् ॥
(१-१६४-३८)

यह (जीवात्मा) प्रकृति से संयुक्त होकर जन्म लेता है अर्थात् निकृष्ट योनियों अथवा उच्च योनियों में जाता है।

शाश्वत अर्थात् आत्मा तथा नाशवान् अर्थात् देह इकट्ठे हो जाते हैं। (लोग) एक (देह) को जान लेते हैं और दूसरे आत्मा को नहीं जान पाते।

इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ जीवात्मा और परमात्मा में भेद बताया गया है।

स्मृतेश्च ॥६॥

स्मृतेः + च।

और स्मृतियों में भी यही बात बताई गई है।

क्या बताई गई है? यही कि जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं।

स्मृति से अभिप्राय मनुष्य-कृत ग्रन्थों से है। श्री स्वामी शंकराचार्य इस सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए भगवद्गीता का प्रमाण देते हैं।

प्रश्न है कि क्या स्पष्ट करने के लिए उद्धरण दिया है? निस्सन्देह जो ऊपर के सूत्रों में कहा है। ऊपर के सूत्रों में कहा है कि प्रसिद्ध वस्तु की चर्चा से पता चलता है कि उसके गुण मूल पदार्थों के गुण हैं, परन्तु कुछ गुण शरीरी में नहीं पाये जाते। कर्म और कर्ता के गुण शरीरी (जीवात्मा) में नहीं हैं।

परन्तु स्वामीजी उदाहरण देते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(भ० गी० १८-६१)

सब प्राणियों के हृदय-देश में ईश्वर रहता है। सब प्राणी शरीर रूपी यन्त्र में बँधे हुए मेरी शक्ति से भ्रम में फँसे रहते हैं।

पूर्व के सूत्रों में कही बात से किंचिन्मात्र भी इसकी संगति नहीं।

आचार्य उदयवीर शास्त्री ने स्मृति में से निम्न प्रमाण दिया है—

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥ (मनु० ८-९१)

अर्थात्— न्यायाधीश साक्षी को कहता है कि हे भले आदमी, यदि तुम ऐसा मानते हो कि तुम अकेले थे जब तुमने पाप किया था, तुमको किसी ने देखा नहीं। यह ठीक नहीं। तुम्हारे हृदय में नित्य विराजमान परमात्मा पुण्य-पाप को देखता है।

इससे भी अधिक स्पष्ट मनुस्मृति का यह प्रमाण है—

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि।
तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः॥

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥
यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥

(मनु० १-५४, ५५, ५६)

अर्थात्—जब एकाएक प्रलय होती है तब उस परमात्मा में सब प्राणी लीन हो जाते हैं। तब सब प्राणियों की जीवात्मा संसार से निवृत्त होकर सुख से सोता है।

जब जीवात्मा चिरकाल तक इन्द्रियों के साथ तमोभूत रहने के उपरान्त अपना कर्म करना छोड़ देता है, तब यह शरीर में से निकल जाता है।

जब यह अणुमात्र होकर स्थावर अथवा चर प्राणियों के बीजों में प्रवेश करता है तब (नवीन) प्रकृति के सम्पर्क में आकर (पूर्व) देह को छोड़ देता है।

जीवात्मा का इन्द्रियों के भोग भोगते हुए थककर शरीर छोड़ना और फिर अणु रूप हो बीच में प्रवेश कर नये स्थावर अथवा चर प्राणी के शरीर में जाना तथा प्रलय के समय प्राणी के शरीर का तो परमात्मा में लीन हो जाना और जीवात्मा का सुखपूर्वक सोना, उसका परमात्मा से पृथकता का वर्णन ही है।

स्वामी शंकराचार्य एक उदाहरण देते हैं बृहदारण्यक उपनिषद् का (३-७-२३)। इसमें भी पूर्ण सातवाँ खण्ड देखें तो एक भिन्न ही बात दिखाई देगी।

बृहदारण्यक ३-७ के १ से २३ मन्त्र तक पढ़ें तो पता चलेगा कि यह परमात्मा के लिए नहीं लिखे। वहाँ कथा इस प्रकार है: एक बार अरुणी के पुत्र उद्दालक ने याज्ञवल्क्य मुनि को कहा कि क्या वह उस सूत्र के विषय में जानता है, जिससे पूर्ण जगत् संचालित होता है! यदि नहीं जानता तो वह ब्राह्मणों के लिए लाई गौओं को ले जाकर पाप करेगा। (३-७-१) याज्ञवल्क्य ने कहा कि वह जानता है कि वह कौन-सा सूत्र है, जिससे जगत् संचालित हो रहा है।

याज्ञवल्क्य ने बताया कि सुनो, '**स होवाच वायुर्वै गौतम**···

हे गौतम! वह वायु है। (बृ० उ० ३-७-२)

वायु परमात्मा को उसी प्रकार कहते हैं कि जैसे आकाश परमात्मा को कहते हैं। आकाश परमात्मा नहीं, वह परमात्मा का लिंग है। यह हम ऊपर प्रथम पाद (सूत्र १-२-२२) की व्याख्या में बता चुके हैं। इसी प्रकार वायु परमात्मा नहीं। यह परमात्मा का लिंग है। यह परमात्मा की सामर्थ्य है, जैसे अग्नि है। इससे पूर्ण जगत् में गति सम्पन्न होती है। यह सामर्थ्य परमात्मा की है।

इसी को कहा है कि यह पृथिवी में है। पृथिवी से बाहर भी है, पृथिवी इसे नहीं जानती। पृथिवी इसका शरीर है। (बृहद० ३-७-३)

इसी प्रकार जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थों का नाम लेकर बताया है। यहाँ ध्यान देने के योग्य है कि पृथिवी, अपः, अग्निः, दिशा, सूर्य और भौतिक वायु है। (बृहद० ३-७-१ से १४ पर्यन्त)

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यह लिखा है—

'एषयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।' इस पद से विभ्रम उत्पन्न हुआ है, परन्तु पूर्व के भाव को देखें तो भ्रम नहीं रहता। इस पद का अर्थ है कि (यमा इति एवं त आत्मान्तर्यामी अमृतः), यमा है यह जो अन्तर्यामी अमृत है। दो शब्द यहाँ विशेष आये हैं। यमा है संचालन करने वाला, चलाने वाला, नियन्त्रण करने वाला। अन्तर्यामी के अर्थ साधारण भाषा में आत्मा के लिये जाते हैं, परन्तु आत्मा इस कारण लिए जाते हैं कि वह भी भीतर से शरीर का संचालन और नियन्त्रण करता है। यहाँ वायु भी यही करती बतायी है। अतः इस स्थान पर अन्तर्यामी के अर्थ वायु है।

मोनियर विलियम ने अन्तर्यामी के अर्थ 'soul' के अतिरिक्त यह भी लिखा है, 'Checking or regulating the internal feelings'.

अतः हमारा मत है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में एक तो यह लिखा है कि वायु वह सूत्र है, जिससे जगत् संचालित होता है। साथ ही यह भी लिखा है कि सब गतिशील पदार्थों में वायु है। वायु उनके बाहर भी है। वे पदार्थ वायु को नहीं देखते। वे वायु का शरीर हैं। अभिप्राय यह कि जगत् वायु नहीं। जगत् वायु से पृथक् है।

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में लिखा है (यमा) वह जो जगत् का संचालन करती है, वही है जो तुम्हारा (उद्दालक का) भीतर से नियन्त्रण कर रही है। वह भीतर अक्षर है अथवा वायु अमर है। कुछ भी हो। यहाँ परमात्मा का उल्लेख नहीं।

इसी खण्ड के मन्त्र १४ के उपरान्त लिखा है, **'इत्यधिदैवतमथाधिभूतम्।'**

अभिप्राय यह कि ३ से १४ तक तो देवताओं (अन्तरिक्ष के दिव्य पदार्थों के विषय में लिखा है और अब अधिभूतों (प्राणियों) के विषय में लिखेंगे।

प्राणी के विषय में भी वैसा ही लिखा है कि वायु उनमें है। वायु उनसे बाहर भी है। प्राणी उनको नहीं जानते। वह ही सामर्थ्य है जो प्राणी के भीतर बैठी हुई उसका संचालन करती है।

मन्त्र १५ के अन्त में लिखा है, **'इत्यधिभूतमथाध्यात्मम्।'**

यह प्राणियों के विषय में लिखा है। अब अध्यात्म के विषय में लिखेंगे। अध्यात्म से अभिप्राय आत्म तत्त्व के विषय में है।

अब आगे (बृहद० ७-३-१६ से २३ मन्त्र तक) यह लिखा है प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, मन, बुद्धि और रेतस् सब वायु से संचालित हैं। इनसे बाहर भी हैं, इनके भीतर भी हैं। प्राण, वाक् इत्यादि वायु नहीं। ये वायु का शरीर हैं।

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में वही बात लिखी है कि यही संचालक वायु तुम्हारे अन्तर्यामी भीतर से संचालन एवं नियन्त्रण करने वाली है। वह अक्षर है।

उपनिषद् में ध्यान देने योग्य बात यह है कि सब वस्तुओं के बाहर और भीतर वायु का होना कहा गया है। इससे स्पष्ट ही है कि वायु और संसार की वस्तुएँ भिन्न-भिन्न हैं।

वायु को अमर इस कारण कहा है कि जिसकी यह सामर्थ्य है, वह अमर है।

कुछ भी हो। यह निश्चय है कि सूत्रों में इस संचालन और नियन्त्रण करने वाले का उल्लेख नहीं। वहाँ कर्ता (ब्र० सू० १-२-४) को कर्म (जगत्) से भिन्नता प्रकट करने के लिए लिखा है।

उपासना का शब्द इसमें भी नहीं है। यह सामर्थ्य की बात इस एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। एक मोटरगाड़ी है। उस मोटर को चलाने की शक्ति पैट्रोल की है। चलाने वाले चालक और मोटर से यह भिन्न है। न तो मोटर पैट्रोल है, न ही चालक। इसी प्रकार जगत् है। इसमें देवता हैं, प्राणी हैं और आत्मा हैं। ये तीनों वह शक्ति (वायु) नहीं, जो जगत् (देवता, प्राणी तथा भीतर से संचालन करने वाली) की सामर्थ्य है। जगत्-रूपी मोटर में ड्राइवर जीवात्मा का यहाँ उल्लेख नहीं। यहाँ पैट्रोल का वर्णन है।

इस उपनिषद् के पूर्ण उद्धरणों को देने से हमारा प्रयोजन यह है कि ऊपर का सूत्र इनके विषय में नहीं है। वे पृथक् हैं।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥७॥

(अर्भकौकस्त्वात् + तत् + व्यपदेशात् + च + न + इति + चेत् + न + निचाय्यत्वात् + एवं व्योम वत् + च)

और बहुत छोटे से स्थान वाला होने और वैसा कहे जाने से नहीं। यदि ऐसा कहा जाता तो यह ठीक नहीं और निश्चय (साक्षात्कार) होने से इस प्रकार आकाशवत् है।

यहाँ पुनः आत्मा और परमात्मा में भेद प्रकट किया है। आत्मा हृदय की गुहा में रहता है। गुहा बहुत छोटा-सा स्थान है और परमात्मा, आकाश की भाँति सर्वव्यापक है। दोनों में अन्तर है।

जीवात्मा का प्रभाव शरीर से बाहर नहीं दिखायी देता और परमात्मा का प्रभाव सर्वत्र है। अतः दोनों भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा आकाश की भाँति सर्वव्यापक है। दोनों का साक्षात्कार तो उस छोटे-से स्थान गुहा में ही होता है। परमात्मा

सर्वत्र होने से वहाँ भी होता है और जीवात्मा केवल वहीं रहता है। इस कारण दोनों वहाँ सम्पर्क में रहते हैं।

यह भेद इस प्रकार प्रकट किया गया है।

बहुत छोटे से स्थान में होने वाला कहे जाने से वह (छोटा) नहीं। जीवात्मा भी उस छोटे-से स्थान में रहता है। वह छोटा है। दोनों में भेद यह है कि वह आकाशवत् व्यापक दिखायी देता है (परन्तु जीवात्मा का प्रभाव शरीर से बाहर नहीं। अतः वे एक-दूसरे से भिन्न हैं।)

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

संभोगप्राप्ति+इति+चेत्+न+वैशेष्यात् ॥

यदि कहो कि सम्भोग प्राप्ति है (तो) नहीं। (कारण) विशेष गुणों से।

जब यह निश्चय हुआ कि हृदय की गुहा में जीवात्मा और परमात्मा साथ-साथ रहते हैं तो स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि जीवात्मा जब भोग करता है तो क्या वह भोग परमात्मा को भी प्राप्त होता है? यदि यह कहें कि साथ-साथ होने से समान रूप में दोनों द्वारा भोग हो सकता है। इसपर सूत्रकार कहता है कि नहीं। ऐसा नहीं होता। कारण यह कि दोनों के गुणों में विशेषता है।

क्या विशेषता है?

एक अज्ञ है और दूसरा ज्ञानवान् है। (श्वेताश्वत० १-९)। अज्ञानी सांसारिक भोगों में लिप्त हो जाता है, परन्तु जो सर्वज्ञ है, वह लिप्त नहीं होता।

केवल उपनिषद् के कहने से ही नहीं, वरन् यह प्रत्यक्ष है कि प्राणी में जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं। उसको न तो कुछ दूर भूत की, न ही कुछ भविष्य काल की बात का ज्ञान होता है और परमात्मा के विषय में तो यह मानना ही पड़ता है कि वह त्रिकालज्ञ है, अपार ज्ञान का स्वामी है।

दोनों में भेद का यह स्पष्ट वर्णन स्वाभाविक रूप में स्वामी शंकराचार्य को चिन्तित करने वाली बात है। स्वामीजी मानते हैं कि ब्रह्म के अतिरिक्त जीव है ही नहीं। तो फिर जब जीवात्मा भोग प्राप्त करता है तो परमात्मा क्यों नहीं? दोनों में, स्वामीजी के कथनानुसार, भेद नहीं।

इसपर भी स्वामीजी ने इस सूत्र में टेढ़ी-मेढ़ी युक्तियाँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।

स्वामीजी पूर्व पक्ष लिखकर कि जब जीव और ब्रह्म एक ही हैं और ये परस्पर सान्निध्य में रहते हैं तो फिर एक का भोग दूसरे को भी प्राप्त होना चाहिए, इस पूर्व पक्ष का आप जो उत्तर देते हैं, वह बहुत विचित्र है। आप लिखते हैं—

"न; वैशेष्यात्। न तावत्सर्वप्राणिहृदयसंबन्धाच्चिद्रूपतया च शारीरवद्ब्रह्मणः संभोगप्रसङ्गः; वैशेष्यात्। विशेषो हि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्ता भोक्ता धर्माधर्मादिसाधनः सुख-दुःखादिमांश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादि-गुणः एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य।"

अर्थात्—पूर्व पक्ष को अस्वीकार करते हुए आप कहते हैं, परमात्मा भोग नहीं करता। अर्थात् अपनी विशेषताओं के कारण सब प्राणियों के हृदय में सम्बन्ध से और चैतन्य रूप होने से, जीव के समान ब्रह्म में भोग प्राप्ति नहीं। (अपनी-अपनी) विशेषता के होने से। शरीरी और परमेश्वर में वैशेष्य है ही। एक कर्ता है, भोक्ता है, धर्म-अधर्म में साधन है और सुख-दुःखादि वाला है। दूसरा पहले से विपरीत पाप इत्यादि से रहित गुणों वाला है। इस प्रकार दोनों में विशेषता होने से एक भोग करता है, दूसरा नहीं।

यह है स्वामीजी महाराज की युक्ति। एक कर्ता है, भोक्ता है, धर्म-अधर्म में साधन है और दूसरा इसके विपरीत है। इस कारण एक भोक्ता है और दूसरा नहीं। यह थोथी युक्ति स्वामीजी ने दी है।

हमारा यह कहना है कि जीवात्मा और परमात्मा का हृदय की गुहा में सान्निध्य होने पर दोनों के कर्म समान नहीं; क्योंकि दोनों के गुणों में भिन्नता है। एक अज्ञानी है और दूसरा ज्ञानवान् है। व्यर्थ और हानिकर बातों को करना तथा वस्तुओं का भोग करना अज्ञान के लक्षण हैं।

स्वामीजी इस बात का भास तो करते हैं कि जीवात्मा अज्ञानी होने से भोग में फँस जाता है, परन्तु जीव और ब्रह्म को एक मान लेने के उपरान्त वे एक को ज्ञान-वान् और दूसरे को अज्ञानी नहीं मान सके। परस्पर-विरोधी गुण एक ही पदार्थ में नहीं हो सकते। अतः आपने एक अन्य विशेषण घड़ा है। आप लिखते हैं—

अथागृहीतं शारीरस्य ब्रह्मणैकत्वं, तदा मिथ्याज्ञाननिमित्तः शारीरस्यो-पभोगः।

अब शरीरी का ब्रह्मा के साथ एकत्व अस्वीकार किया है तो मिथ्या ज्ञान के कारण शरीरी की भोग प्रवृत्ति है।

भला मिथ्या ज्ञान और अज्ञान में क्या अन्तर है ? एक सर्वज्ञ मिथ्या ज्ञानी क्यों हो गया ? क्या (स्वामीजी की मान्यता के अनुसार) एक-दूसरे की उपज नहीं हैं ? सर्वज्ञ को मिथ्या ज्ञान नहीं होना चाहिए। वास्तव में यह मिथ्या पक्ष को सिद्ध करने का असफल प्रयास ही है।

आकाश कड़ाही के तल की भाँति गोल दिखाई देता है। यह ठीक है, परन्तु इसको ऐसा मानता तो वही है जो अज्ञानी है। पूर्ण ज्ञान रखने वाला जान जायेगा कि आकाश की गोलाई नहीं, वरन् यह उसकी दृष्टि की सीमा है जो आकाश को

ऐसा दिखा रही है। बालक की भाँति अज्ञानी ही इस मिथ्या भाग को सत्य स्वीकार करेंगे। प्रश्न यह है कि ज्ञानी मिथ्या ज्ञानी हुआ कैसे ?

अतः जीवात्मा अज्ञानी है और वह परमात्मा से भिन्न है जो सर्वज्ञ है। इसी कारण संसार का यह भोग करता है और परमात्मा नहीं करता।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥६॥

अत्ता+चराचर+ग्रहणात्।

चर और अचर को खा जाने वाला होने से (परमात्मा में विशेषता है)।

चर और अचर (स्थावर और जंगम) प्राणियों के जीवन को समाप्त करने वाला परमात्मा ही है, जीवात्मा नहीं। यह सूत्र भी दोनों में भेद बताता है।

अत्ता का अर्थ खा जाने वाला, जैसे रोटी खाने वाला ग्रास-ग्रास कर खाता है, वैसे ही चराचर पदार्थों की आयु थोड़ी-थोड़ी कर समाप्त की जाती है। प्राणी का जीवन क्यों समाप्त होता है ? शरीर में घिसाई (wear and tear) होती है। वह उसके करने से होती है, जिसने शरीर में चलने की शक्ति उत्पन्न की है। यह वायु, जो परमात्मा का लिंग है, के कारण है। अतः जिसने चलने की सामर्थ्य दी है, उसने ही घिसाई बनाई है।

जीवात्मा यह चाहता है कि उसका शरीर सदैव चलता रहे। अपनी सामर्थ्यानुसार वह इसे चालू रखने का यत्न भी करता है, परन्तु अन्त में शरीर वृद्धता को प्राप्त होता है और वह समाप्त हो जाता है। यही अर्थ है खाये जाने का।

स्थावर-जंगम प्राणियों को खा जाने वाला ईश्वर है; जीवात्मा नहीं। यह बात भी दोनों में भेद बताती है। जीवात्मा शरीर में भोग करता हुआ सदा के लिए बना रहना चाहता है, परन्तु कोई उच्च स्तर की शक्ति है जिसने शरीर निर्माण किया था और वह ही इसमें ह्रास उत्पन्न कर रहा है। यह परमात्मा है। अतः दोनों में भेद है।

प्रायः भाष्यकारों ने यह अपना धर्म समझ रखा है कि प्रत्येक सूत्र की व्याख्या में किसी उपनिषद् के वाक्य का उद्धरण दें। यह बात ठीक होते हुए भी व्यर्थ है। उक्त युक्ति और संसार के अनुभव की विद्यमानता में उपनिषद् वाक्यों के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। सूत्रार्थ प्रकट करने के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं। हाँ, वेदान्त-वाक्यों की महिमा गान करने के लिए कि वे सर्वथा युक्ति-युक्त होते हुए सत्य का निरूपण करते हैं, वेदान्त-वाक्यों का उल्लेख समझ में आ सकता है।

प्रकरणाच्च ॥१०॥

प्रकरणात्+च ।

और प्रकरण से भी यही पता चलता है (कि परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है)।

किस प्रकरण से ? जो चल रहा है।

प्रकरण का अर्थ है पूर्वापर की संगति। यहाँ प्रकरण से अभिप्राय है कि इसी दर्शन में जो कुछ ऊपर लिखा गया है और जो कुछ आगे लिखा जाने वाला है।

स्वामी ब्रह्म मुनि इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'यहाँ प्रकरण परमात्मा के भोक्ता होने का नहीं है, किन्तु उसकी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए उसका जानना (प्राप्त करना) चल रहा है।' यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती।

अभिप्राय यह कि जीवात्मा की तुलना में परमात्मा की सामर्थ्य का उल्लेख सूत्रों में आ रहा है। यही प्रकरण है और इससे पता चलता है कि दोनों में भेद है।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥

गुहां+प्रविष्टौ+आत्मानौ+हि+तद्+दर्शनात् ।

गुहा में दो आत्मा प्रविष्ट हुओं के दर्शन करने से (यह पता चलता है कि दोनों में अन्तर है)।

जहाँ तक सूत्र का सम्बन्ध है किसी प्रकार का विवाद नहीं, परन्तु शंकराचार्यजी तथा उनकी परिपाटी के लोग अपना कर्तव्य बना बैठे हैं कि सूत्र के सरल-सीधे अर्थों को स्पष्ट करने के लिए किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण दें। उन उद्धरणों के देने से उपनिषद् वाक्य स्पष्ट होते हैं अथवा नहीं होते, हाँ ! सूत्रार्थों में भ्रम अवश्य पड़ जाता है।

इस सूत्र के भाष्य में यही बात हुई है। सूत्र के अर्थ तो स्पष्ट हैं कि गुहा में दो आत्माओं के प्रविष्ट हुओं के दर्शन से परमात्मा और जीवात्मा में भेद प्रकट हो जायेगा।

परन्तु स्वभावानुसार उक्त सूत्र के भाव से मिलता-जुलता कठोपनिषद् का एक मन्त्र दे दिया है। मन्त्र है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

(कठो० १-३-१)

इस मन्त्र के अर्थ हैं—(ऋतं) सत्य को (पिबन्तौ) पान करते हुए (सुकृतस्य लोके) सुकृतों से प्राप्त लोक (मानव देह) में (गुहां प्रविष्टौ) गुहा में प्रविष्ट हुए (परमे परार्धे) उच्च स्थान पर (छायातपौ) धूप और छाया के समान विद्यमान हैं। ऐसा ब्रह्मवादी पंच कर्म करने वाले गृहस्थी और (त्रिणाचिकेता) अखण्ड ब्रह्म का पालन करने वाले कहते हैं।

यह मन्त्र जिस प्रकार प्रकरण में आया है, वह ब्रह्मसूत्रों का प्रकरण नहीं। ब्रह्मसूत्र तो शुद्ध वैज्ञानिक एवं दार्शनिक (philosophical) दृष्टि से लिखे गये हैं। सूत्रकार तो एक-एक अक्षर विचारकर लिख रहा है। परन्तु उपनिषद् भक्ति-भाव से उत्प्लावित हो मनोद्गारों के बहते हुए वाक्य हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उपनिषद् की भाषा उतनी स्थिर और निश्चित अर्थयुक्त न हो, जितनी कि सूत्र की है।

यही बात इस मन्त्र में दिखाई देती है। स्वामी शंकराचार्यजी इस मन्त्र की भाषा की शिथिलता प्रकट करने में पूर्व पक्ष उपस्थित करते हैं। पूर्व पक्ष वाले के मन में जो संशय उत्पन्न होता है, उसका भी वर्णन किया है।

संशय यह है कि (१) गुहा का क्या अर्थ है? यह कहाँ है? गुहा का अर्थ शरीर है अथवा शरीर में कोई स्थान है?

(२) दो कौन हैं? मन्त्र में आत्मानौ शब्द नहीं। अभिप्राय यह कि ये दो आत्मा हैं, संदिग्ध है।

(३) ऋतं पिबन्तौ के अर्थ सत्य कृत्यों का पान करने वाले अर्थात् अच्छे कर्मों का फल भोगने वाले हैं। अतः इन दो में एक परमात्मा नहीं हो सकता।

(४) सुकृतस्य लोके—अच्छे कर्मों से प्राप्त लोक में। यह विशेषण भी परमात्मा का नहीं हो सकता।

(५) छाया और आतप से एक चेतन और दूसरा अचेतन लेना चाहिए। अतः दोनों आत्मा नहीं हो सकते।

ये सब शंकायें श्री स्वामीजी ने इस ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित की हैं। साथ ही पूर्व पक्ष यह दिया है कि ये दो जीवात्मा और परमात्मा नहीं हो सकते, वरन् ये बुद्धि और जीव हैं।

स्वामी शंकराचार्य ने इन संशयों का उत्तर अपनी युक्ति से शिथिल ढंग से दिया है। एक बात स्वामीजी ने भी की है कि इस मन्त्र में दो को जीवात्मा और परमात्मा ही माना है। आप लिखते हैं—

एवं प्राप्ते ब्रूम—विज्ञानात्मपरमात्मानाविहोच्येयाताम्।

अर्थात्—ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं कि (इस प्रसंग में) जीवात्मा और आत्मा दोनों यहाँ कहने चाहिए।

यह ठीक है कि स्वामीजी जीव का अर्थ विज्ञानात्मा कहते हैं। विज्ञानात्मा से

उनका अभिप्राय परमात्मा का वह अंश है जो बुद्धि से लिप्त हो जाता है। इस विषय पर किसी अन्य स्थान पर लिखेंगे कि परमात्मा बुद्धि से लिप्त होकर जीव की संज्ञा में आ जाता है अथवा जीव परमात्मा से भिन्न है। इतना स्पष्ट है कि स्वामीजी गुहा में दो प्रविष्ट हुओं को जीव और परमात्मा मानते हैं।

यह नहीं कि हम उपनिषद् (कठो० १-३-१) को आत्मा और जीवात्मा के विषय में नहीं मानते। हमारा यह कहना है कि उपनिषद् वाक्य सूत्र के समर्थन में ठीक उद्धरण नहीं है।

सूत्र उपनिषद् वाक्य से अधिक स्पष्ट है। वहाँ दो आत्माओं का उल्लेख है। गुहा में प्रविष्ट हुओं का उल्लेख है और उनके दर्शन से सूत्रकार के विषय के प्रकरण का उल्लेख है।

विशेषणाच्च ॥१२॥

विशेषणात्+च।

और विशेषण से। (स्पष्ट होता है।)

विशेषण से क्या स्पष्ट होता है? जो ऊपर के सूत्र (१-२-११) में कहा है।

हम यहाँ कुछ व्याख्या से विवेचना करना चाहते हैं। यह इस कारण कि इन सूत्रों से ही स्वामी शंकराचार्य अपने अद्वैतवाद की पुष्टि करते हैं।

स्वामीजी, जैसाकि हमने ऊपर बताया है, गुहा में दो आत्म तत्त्वों की उपस्थिति तो मानते हैं, परन्तु एक को ब्रह्म कहते हैं और दूसरे को विज्ञानात्मा अर्थात् बुद्धि। हमने पूर्व सूत्र (१-२-११) के भाष्य में स्पष्ट किया है कि वेद प्रमाण से दो आत्म तत्त्व, जीवात्मा और परमात्मा ही हैं। ऋग्वेद (१-१६४-२०) में 'द्वा सुपर्णा' परमात्मा और जीवात्मा को ही कहा है। जीवात्मा को वृक्ष के फल खाता प्रकट किया है, बुद्धि नहीं खाती, यह स्वाद लेती है परन्तु किसी दूसरे के लिए। यदि दूसरा केवल परमात्मा ही मानें तो बुद्धि परमात्मा के लिए वृक्ष के फलों का स्वाद लेता सिद्ध हो जायेगा और वेद ऐसा नहीं मानता।

बुद्धि अपने लिए कार्य नहीं करती, यह किसी दूसरे के लिए कार्य करती है। वह दूसरा ही आत्म तत्त्व जीवात्मा है।

अतः इस सूत्र का अर्थ बनता है कि दो आत्म तत्त्व अपने गुणों से स्पष्ट हैं।

जीवात्मा और परमात्मा हृदय की गुहा में जो उपस्थित हैं वे दो हैं, एक नहीं। यही बात विशेषणों से विदित होती है।

विज्ञानात्मा और जीवात्मा की समानता और अन्तर में कोई प्रमाण नहीं

दिया। विज्ञानात्मा का अभिप्राय बुद्धि है परन्तु यह शब्द जीवात्मा के स्थान पर नहीं है।

अगला सूत्र है—

अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥

अन्तर+उपपत्ते।

अन्तर भेद युक्ति से है।

सूत्र १-२-१२ में तो कहा है कि दो हैं और यह विशेषणों से स्पष्ट होता है। और इस सूत्र (१-२-१३) में कह दिया है युक्ति से भी दोनों में भेद है। युक्ति क्या है? मनुष्य के शरीर में दो प्रकार के कार्य हो रहे हैं। एक प्रकार के कार्य हैं जो मनुष्य के अधीन हैं। जैसे हाथ-पांव का हिलाना। मनुष्य चाहे तो इनसे काम ले सकता है और यदि न चाहे तो नहीं भी ले सकता।

परन्तु मनुष्य में कुछ अन्य भी कार्य हैं जो उसके नियन्त्रण में नहीं हैं। वह उनको रोकना चाहे तो भी रोक नहीं सकता। उदाहरण के रूप में हृदय की गति है। सांस का लेना है। रक्त संचालन अथवा भोजन का गले से नीचे से चलकर गुहा तक पहुँचना है। ये कार्य मनुष्य के अधीन नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि शरीर में दो आत्म तत्त्व कार्य कर रहे हैं।

इस युक्ति से भी स्पष्ट है कि हृदय की गुहा में दो आत्म तत्त्व स्थित हैं।

अगला सूत्र है—

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

स्थानादि+व्यपदेशात्+च।

और स्थान इत्यादि के कहे जाने से।

दोनों आत्माओं के स्थान के विषय में अन्तर है। एक सर्वव्यापक है और दूसरा केवल शरीर में ही स्थित है। जो सर्वव्यापक है, वह परमात्मा है परन्तु जीवात्मा शरीर शरीर में भिन्न-भिन्न हैं।

मनुष्य में हृदय की गति परमात्मा के अधीन कार्य है। सब मनुष्यों में इसकी गति समान है। एक मिनट में ७२ बार होती है। थोड़ा-बहुत अन्तर होता है वह शरीर की अवस्था के कारण है। परन्तु जो हाथ-पांव हिलाने वाली शक्ति है वह तो मनुष्य मनुष्य में सर्वथा भिन्न-भिन्न है। यदि एक मनुष्य रहा है तो दूसरा बैठा

हुआ है। कोई पूर्व को जा रहा है तो दूसरा पश्चिम को। कोई रोटी खा रहा है तो दूसरा दूध पी रहा है।

इस प्रकार शरीर में दो प्रकार के कार्य दो आत्म तत्त्वों से होते हैं।

जीवात्मा के कार्य भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न प्रकार और समय पर होते हैं। परन्तु परमात्मा के कार्य सब शरीरों में समान रूप से होते हैं। यह है अर्थ दोनों में स्थान भेद का।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥

सुखविशिष्ट+अभिधानात्+एव+च।

सुख विशेष के कथन से भी यही प्रकट होता है।

प्रकट यह होता है कि हृदय की गुहा में दो आत्म तत्त्व हैं।

सुख विशेष का अभिप्राय है कि जब इन दोनों आत्म तत्त्वों में संयोग हो जाता है तो विशेष सुख प्राप्त होता है।

उदाहरण के रूप में शरीर की गतियाँ जो मनुष्य के अपने अधीन नहीं हैं, यदि ये सुचारु रूप से चलती रहें तो आत्मा को विशेष सुख प्राप्त होता है।

यहाँ सुख विशेष से आनन्द की प्राप्ति जो मुक्तावस्था में होती है उसका वर्णन नहीं है। यहाँ परमात्मा के शरीर संचालन में पूरा-पूरा सहयोग देने से जीवात्मा को जो विशेष सुख प्राप्त होता है उस सुख से ही अभिप्राय है।

कहा जा सकता है कि यह सुख बुद्धि को प्राप्त होता है। परन्तु बुद्धि तो जड़ है, उसे सुख-दुःख से कुछ भी सरोकार नहीं हो सकता। अतः दोनों आत्म तत्त्वों से ही अभिप्राय है।

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥

श्रुतोपनिषत्क+गति+अभिधानात्+च।

और वेद तथा उपनिषद् के ज्ञाता के व्यवहार के कहे जाने से होती है।

वेद और उपनिषद् में हृदय की गुहा में दो आत्म तत्त्वों के होने की बात कही है। उपनिषद् (कठ० १-३-१) का उदाहरण ऊपर दिया है। वेद का उदाहरण है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥१॥
(ऋ० १-१६४-१)

अभिप्राय है—सुन्दर वृद्धता को प्राप्त होने वाले शरीर में दो आत्म तत्त्व हैं। एक भोग भोगता है और दूसरा इन दोनों की रक्षा और पालन करता है।

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥१७॥

अनवस्थितेः+असम्भवात्+च+न+इतरः।

और (शरीर में सर्वत्र) होना असम्भव होने से यह दूसरा नहीं।

इस सूत्र में दो बातें समझने की हैं। एक तो 'इतरः' से अभिप्राय जीवात्मा से है। यह परमात्मा से दूसरा है। यह पूर्ण शरीर में उपस्थित नहीं। और परमात्मा का कार्य पूर्ण शरीर में होता।

जीवात्मा के उन अंगों का, जो इसके अधीन कार्य करते हैं सम्बन्ध मस्तिष्क से शिराओं (nurves) से बना होता है। हाथ, पाँवादि, कर्मेन्द्रियाँ और आँख, नाक, कान इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ जीवात्मा से सम्बन्ध रखती हैं। इन शिरा तन्तुओं के द्वारा। इनका nurves कहते हैं। परन्तु वे कलायें जो परमात्मा के प्रभाव के अधीन कार्य करती हैं उनका सम्बन्ध किसी शिरा इत्यादि के द्वारा मस्तिष्क से नहीं है। हृदय है, फुसफुस है, आँतों के भोजन की गति है। ये किसी प्रकार की शिराओं से कार्य नहीं करते।

यह अभिप्राय है इस सूत्र का।

जीवात्मा का सम्बन्ध इन्द्रियों से है शिराओं के द्वारा। यह इस कारण कि यह (जीवात्मा) अणु मात्र है। शरीर में व्यापक नहीं और परमात्मा व्योम में व्यापक होने से शरीर के प्रत्येक अंग में भी हैं। इस कारण यह शरीर में बिना शिराओं के कार्य करता प्रतीत होता है।

जो परमात्मा के कार्य शरीर में हो रहे हैं वे जीवात्मा द्वारा नहीं हो रहे। क्योंकि वह शरीर में सर्वत्र नहीं है।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१८॥

अन्तर्यामी+अधिदेवादिषु+तत्+धर्म+व्यपदेशात्।

अधि देवादि में अन्तर्यामी है। उन धर्मों के वहाँ कहे जाने से।

ऊपर के सूत्र में बताया है कि जीवात्मा शरीर में भी सर्वत्र नहीं है। परन्तु परमात्मा तो व्योम में सर्वत्र है। देवताओं का भी भीतर से नियमन करता है।

इस कारण वह आत्म तत्त्व जो बिना सम्बन्ध के शरीर में कार्य कर रहे हैं, वह सर्वव्यापक होने से देवताओं को भी भीतर से संचालित करता है।

जैसे देवताओं को भीतर से नियमित करता है वैसे ही शरीर में भी हृदयादि अंगों को बिना प्रत्यक्ष सम्बन्ध के चलाता है।

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥१९॥

न+च+स्मार्तम्+अतत्+धर्माभिलापात्।

और यह मन नहीं है। धर्मों के कथन से।

स्मार्त शरीर के उस यन्त्र को मन अथवा मस्तिष्क कहते हैं जो स्मरण रखता है। सूत्रकार कह रहा है कि यह दूसरा भी नहीं है। क्योंकि उसके गुणों में इसके गुणों में अन्तर कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि शरीर की गुहा में जो दो हैं उनमें एक तो परमात्मा है और दूसरा मन नहीं। यह जीवात्मा है। गुण कहे जाने से पता चलता है। आत्म तत्त्व में ईक्षण करने की शक्ति है। कार्य को आरम्भ करने, चलाने और फिर बन्द करने की सामर्थ्य मन में नहीं है। मन केवल मात्र ज्ञान का संचय और कल्पना करता है। कार्य करने की सामर्थ्य जीवात्मा में ही है।

परमात्मा का कार्यक्षेत्र पूर्ण विश्व है और जीवात्मा का कार्यक्षेत्र केवल शरीर है। वह भी केवल वह शरीर जिसमें वह बैठा है।

स्वामी शंकराचार्य ने इस दूसरे को विज्ञानात्मा कहकर बुद्धि का नाम दिया है। यह शब्द यहाँ प्रयोक्त नहीं हुआ। साथ बुद्धि की शास्त्रोक्त कल्पना यह है कि यह परामर्शदाता है, कार्यकर्ता नहीं और इन सूत्रों से पता चलता है कि दूसरा कार्य कौन करता है।

भगवद्गीता में कहा है—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

(भ० गी० ३-४३)

अतः बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा को जानकर अपनी इन्द्रियों को वश में करें।

यहाँ बुद्धि से आत्मा को श्रेष्ठ माना है। अतः पृथक् है।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ।।२०।।

शरीरः+च+उभयं+अपि+हि+भेदेन+एनम्+अधीयते ।

मन और शरीर (जीवात्मा) दोनों भी (नहीं परमात्मा) भेद उपस्थित होने से ।

इस सूत्र में 'नहीं हैं' शब्द नहीं लिखे । क्योंकि पूर्व सूत्र की युक्ति ही चल रही है; इस कारण उस सूत्र का 'न' इसमें भी प्रयुक्त समझना चाहिए । उस सूत्र में कहा है कि स्मृति-यन्त्र अन्तर्यामी नहीं है। अब यह कहा है कि स्मृति-यन्त्र और जीवात्मा दोनों भी नहीं (वह शक्ति जो परमात्मा की कही गई है) ।

जीवात्मा उस शक्ति का स्वामी नहीं, जिससे प्राणी की इन्द्रियाँ इत्यादि काम करती हैं । यह शक्ति परमात्मा की ही है । जीवात्मा भोगकर्ता है । भोग करने में शक्ति तो परमात्मा की ही है । हमने मोटर, पैट्रोल और ड्राइवर का उदाहरण दिया है ।

यहाँ वही युक्ति दी जा सकती है जो हम ऊपर के दो सूत्रों में दे आये हैं ।

श्री उदयवीर शास्त्री 'उभयेऽपि' का अर्थ करते हैं कि वेदों की दोनों शाखाओं में जीवात्मा और परमात्मा का भेद वर्णन किया है । यह अर्थ असगत नही है। स्वामी शंकराचार्य भी यही मानते हैं । इसपर भी हमारा मत है कि क्योंकि सूत्र १९ और २० सम्बन्धित हैं, इस कारण 'उभये' से अभिप्राय स्मृति-यन्त्र और शरीरी (दोनों) से है । यहाँ वेद की शाखा श्री उदयवीर शास्त्री द्वारा ले आने से भ्रम ही उत्पन्न होता है ।

इन्द्रियों में और शरीरी में कार्य करने की शक्ति न तो स्मृति-यन्त्र (मन) की है और न ही जीवात्मा की । शक्ति ईश्वर की है । जीवात्मा उस शक्ति का प्रयोग करता है और मन जीवात्मा के प्रयोग में सहायक मात्र है । सूत्र के अर्थ हैं 'और शरीरी (जीवात्मा) तथा स्मृति-यन्त्र दोनों ही भेद से हैं ।' इसको कहते हैं कि शरीर में कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है ।

इस स्थान पर स्वामी शंकराचार्य ने यह पक्ष, कि जीवात्मा परमात्मा से भिन्न नहीं है, उठाया है । यद्यपि इस प्रश्न का सूत्र के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है. इसपर भी यह प्रश्न सूत्र के भाव से उत्पन्न हो सकता है । स्वामी शंकराचार्य इसको इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

तस्माच्छारीरादन्य ईश्वरोऽन्तर्यामीति सिद्धम् । कथं पुनरेकस्मिन्देहे द्वौ द्रष्टारावुपपद्येते ? यश्चायमीश्वरोऽन्तर्यामी, यश्चायमितरः शारीरः । का पुनरिहानुपपत्तिः ? 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इत्यादि श्रुतिवचनं विरुध्येत । अत्र हि प्रकृतादन्तर्यामिणोऽन्यं द्रष्टारं, श्रोतारं, मन्तारं, विज्ञातारं चात्मानं प्रतिषेधति ।

अर्थात्—इससे यह सिद्ध होता है कि शरीर से भिन्न अन्तर्यामी ईश्वर है। यदि यह है तो इस देह में दो द्रष्टा कैसे विद्यमान हो सकते हैं? एक ईश्वर अन्तर्यामी और दूसरा शरीर का स्वामी जीव। इसमें अनुपपत्ति क्या है? द्रष्टा (ईश्वर से) भिन्न नहीं। इस श्रुति वचन के विपरीत होगा। यहाँ (श्रुति में) प्रकृति (शरीर) के भीतर अन्तर्यामी के अतिरिक्त देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला, विज्ञाता आत्मा का विरोध किया है।

यह स्वामीजी ने पूर्व पक्ष दिया है। वह यह कि यदि द्रष्टा ईश्वर से जीव को भिन्न मानें तो श्रुति-विपरीत हो जायेगा; क्योंकि वहाँ शरीर के भीतर अन्तर्यामी के अतिरिक्त देखने, सुनने वाले का विरोध है। इसका उत्तर स्वामीजी इस प्रकार देते हैं—

…नियन्त्रन्तरप्रतिषेधार्थमेतद्वचनमिति चेत्—न:; नियन्त्रन्तराप्रसङ्गाद-विशेषश्रवणाच्च। अत्रोच्यते…अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्यकरणोपाधिनिमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति; न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतः, यथा घटाकाशो महाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादिभेदश्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते। तथा च श्रुति—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वंव्यवहारं वारयति।

अर्थात्—नियन्त्रण से किसी दूसरे के प्रतिबन्ध का कथन है। यदि ऐसा कहें तो नहीं; क्योंकि यहाँ दूसरे नियन्ता का प्रसंग नहीं और किसी विशेष का श्रवण भी नहीं। यहाँ अविद्या से प्रस्थापित कार्य-कारण के निमित्त से शरीर के भीतर अन्तर्यामी से भेद कहा है। यह पारमार्थिक नहीं। वस्तुतः प्रत्यगात्मा एक ही है। दो प्रत्यगात्मा सम्भव नहीं। एक में ही भेद व्यवहार उपाधिकृत है। जैसे घट का आकाश और महाकाश और इससे ज्ञाता-ज्ञेय इत्यादि भेद श्रुति में, प्रत्यक्ष प्रमाण में, संसार अनुभव में, विधि प्रमिषेध शास्त्र में यह सब उपपन्न है। और श्रुति है 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पृश्यति' यह अविद्या विषय में सब व्यवहारों को दिखाती है और 'यत्र त्वस्य सर्व' यह श्रुति विद्या विषय में सब व्यवहार का निषेध करती है।

इस लम्बे उद्धरण को देने का कारण यह है कि स्वामी शंकराचार्य की कल्पना का पूर्ण उल्लेख इसमें आया है और हम उसका थोथापन यहाँ प्रकट करना चाहते हैं।

स्वामीजी ने जो पूर्व पक्ष उठाया है, वह संशय हो सकता है। यह पूर्व पक्ष इस प्रकार है कि जो ब्रह्मसूत्र (१-२-१८, १९, २०) में यह कहा गया है कि देवताओं

का भीतर से नियमन करने वाला उसके धर्मों के उपदेश से वह (परमात्मा) है, वह प्राणी में स्मृति यन्त्र नहीं और न ही दूसरा (जीवात्मा) है।

इन सूत्रों से पूर्व-पक्षी कहता है कि यदि यह बात है तो जीव की उपस्थिति, जो शरीर का स्वामी माना जाता है, की क्या आवश्यकता है? स्वामीजी कहते हैं कि शरीर के स्वामी (नियन्ता) से किसी दूसरे का अभिप्राय यदि है तो यह नहीं।

अर्थात् स्वामीजी पूर्व पक्ष को उपस्थित कर यह मान गये हैं कि नियन्त्रण करने वाला और स्वामी एक ही है। अर्थात् (अपने पुराने उदाहरण में) मोटर में पेट्रोल और ड्राइवर एक ही हैं।

स्वामीजी पूर्व पक्ष का उत्तर नहीं जानते थे। इसी कारण मान गये हैं और अपने मानने को सिद्ध करने के लिए आगे युक्ति और प्रमाण देते हैं। हम पहले स्वामीजी की अपने पक्ष की सफाई को देखेंगे; बाद में पूर्व पक्ष का अपना उत्तर देंगे।

स्वामीजी कहते हैं कि उपनिषद् वाक्यों में जहाँ नियमन करने वाला परमात्मा माना है, वहाँ किसी दूसरे नियन्ता का प्रसंग नहीं।

यह बात स्वामीजी ने उपनिषद् के अर्थ को न समझते हुए ही कही है। यद्यपि हम ऊपर बता आये हैं, परन्तु इस स्थान पर उसका संकेत कर देना चाहते हैं कि स्वामीजी उपनिषद् का अर्थ ठीक नहीं कर रहे। स्वामीजी का आशय (बृ० उ० ३-७) से है। वैसे तो बार-बार इन मन्त्रों में एक बात प्रकट की गई है। हम एक मन्त्र को ही लेकर स्पष्ट करेंगे। मन्त्र है—

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानँ शरीरं, यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ (बृ० ३-७-२२)

जगत् के तथा प्राणी के भिन्न-भिन्न पदार्थों को लेकर यही बात कही गई है जो उक्त मन्त्र में विज्ञान के विषय में है।

विज्ञान का अर्थ बुद्धि है। यह कहा है जो बुद्धि में रहता हुआ बुद्धि से बाहर भी है, जिसे विज्ञान (बुद्धि) नहीं जानता, जिसका शरीर बुद्धि है, जो विज्ञान (बुद्धि) को भीतर से नियमन करता है, वह तुम्हारे आत्मा (जीवात्मा) में अन्तर्यामी अमृत (परमात्मा) है।

यहाँ आत्मा (जीवात्मा) को अमृत (परमात्मा) से भिन्न बताया है। शब्द है त+आत्मा+अन्तः+यामी+अमृतः। वह जीवात्मा के भीतर यामी (नियन्त्रण करने वाला) अमृत है।

कहीं किसी उपनिषद् में परमात्मा का ही उल्लेख हो सकता है और आत्मा का नहीं, परन्तु किसी के उल्लेख न होने से उसका अस्तित्व ही नहीं है, कहना अज्ञानता है।

इसके आगे स्वामीजी उक्त उद्धरण में कहते हैं कि अविद्या के कारण दो प्रत्यगात्मा दिखाई देते हैं। वास्तव में दो हैं नहीं।

यह कथन मात्र है। यह शास्त्र में कहीं नहीं मिलता कि एक के दो दिखाई देते हैं। ठीक तो यह होगा कि अविद्या के कारण दो के एक दिखाई देते हैं। दो कैसे हैं, यह हम आगे चलकर बतायेंगे। युक्ति और प्रमाण दोनों देंगे। परन्तु केवल कथन से, विद्या-अविद्या से क्या दिखाई देता है इसका निश्चय नहीं हो सकता।

स्वामीजी कहते हैं कि एक में ही व्यवहार भेद से भेद दिखाई देता है जैसे घटाकाश और महाकाश।

यह मिथ्या युक्ति है और मिथ्या वक्तव्य है। घड़े में आकाश और घड़े से बाहर के आकाश के व्यवहार में क्या अन्तर है? एक दूसरे का भाग है। यह स्पष्ट है कि दोनों के व्यवहार में कुछ भी अन्तर नहीं।

यह इस प्रकार है कि जैसे एक घड़े में जल भरा हो, उस जल में से एक गिलास में जल ले लें तो घड़े में जल के आकार और गिलास में जल के आकार में भेद हो जायेगा। इसपर भी घड़े के जल और गिलास वाले जल का व्यवहार, गुण एवं धर्म में किसी प्रकार का अन्तर नहीं। अतः दोनों जल, जल ही हैं और जल ही कहे जाते हैं। घटाकाश और महाकाश एक ही हैं। दोनों में अन्तर नहीं।

स्वामी जी कहते हैं कि ज्ञाता और ज्ञेय का भेद ही है। अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय दो नहीं हो सकते, अथवा दो नहीं हैं। यह कोई युक्ति नहीं है। इसका प्रमाण कहाँ है?

कोई प्रोफेसर इतिहास का ज्ञाता होने से स्वयं ही इतिहास नहीं होता। न लौह धातु का ज्ञाता लोहा होता है। ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न-भिन्न होते हैं। श्री स्वामीजी लिखते हैं कि घटाकाश और महाकाश में भेद ज्ञाता और ज्ञेय का है। इसी कारण हम कहते हैं कि स्वामीजी को तार्किक कहना उपयुक्त नहीं। स्वामीजी ज्ञाता और ज्ञेय के एक होने को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। हमें तो यह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता।

आप कहते हैं कि संसार अनुभव में, विधि प्रतिषेध शास्त्र में यह सब सिद्ध है। विधि प्रतिषेध का अर्थ क्रिया-प्रतिक्रिया (action and reaction) के हैं। परन्तु यह क्रिया-प्रतिक्रिया का सिद्धान्त यहाँ लागू नहीं होता। कारण यह कि क्रिया और प्रतिक्रिया की दिशा विपरीत होती है, परन्तु व्यवहार में समानता होती है। प्रतिक्रिया भी गति ही है। गति की प्रतिक्रिया स्थिरता (जड़ता) नहीं होती।

स्वामीजी संस्कृत भाषा के दो वाक्य उद्धरण के रूप में देते हैं। एक है, 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति।' एक अन्य वाक्य आपने दिया है, 'यत्र त्वस्य सर्वं ...' ये दोनों वाक्य किसी प्रामाणिक ग्रन्थ के प्रतीत नहीं होते। ये युक्ति और वेद प्रमाण के भी विपरीत हैं।

स्वामीजी ने पूर्व पक्ष उठाया, परन्तु उसको बिना प्रमाण और युक्ति के मान लिया है। उस मानने के पक्ष में जो युक्तियाँ दी हैं, वे अशुद्ध हैं। प्रमाण गलत हैं।

पूर्व पक्ष का हमारा उत्तर है कि पहले प्रमाण लें। (ऋ० १-१६४-२०) में परमात्मा, आत्मा को भिन्न-भिन्न माना है। श्वेताश्वतर उपनिषद् १-९, १० में भी यही लिखा है। १-६, ७ में भी इसी का उल्लेख है। भगवद्गीता ७-४, ५, ६ में भी इसी प्रकार वर्णन है। भगवद्गीता १३-१९, २०, २१ में तथा १५-१६, १७, १८ में भी ऐसा ही वर्णन है।

ये और अन्य अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं, जहाँ जीवात्मा और परमात्मा में भेद वर्णित है और वहाँ यह नहीं लिखा कि अविद्या से दो दिखाई देते हैं।

अब तनिक सूत्रों की हमारी व्याख्या देखें तो पता चलेगा कि जिस बृहदारण्यक उपनिषद् (३-७-१ से १३ तक) के उद्धरणों पर स्वामीजी ने अपना भवन-निर्माण किया है, वह कल्पना मात्र ही है।

उसी उपनिषद् में अरुणि का पुत्र उद्दालक प्रश्न करता है कि वह कौन-सा सूत्र है, जिससे पूर्ण चराचर जगत् संचालित है? याज्ञवल्क्य कहता है कि वह 'वायु' है।

याज्ञवल्क्य कह सकता था कि वह ब्रह्म है, ईश्वर है अथवा आत्मा है। किन्तु उसने ऐसा नहीं कहा। वायु गति उत्पन्न करने वाली शक्ति है। यह ठीक है कि यह परमात्मा की शक्ति है, परन्तु यह परमात्मा नहीं है। परमात्मा तो शक्तिमान् है।

'वायु' जगत् का संचालन करती है। प्रश्न है परमात्मा क्या करता है? परमात्मा इस शक्ति के प्रयोग की दिशा और काल निश्चय करता है। इसको अंग्रेजी मे कहते हैं decision and direction। निर्णय और दिशा-निर्धारण ज्ञानवान् ही कर सकता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (३-७) में परमात्मा का उल्लेख नहीं, वरन् परमात्मा की शक्ति वायु का उल्लेख है। परमात्मा जब चाहता है और जहाँ चाहता है, उस वायु का प्रयोग कर जगत् की रचना, पालन और प्रलय करता है।

यही बात प्राणी में बताई है। प्राणी के अंग-प्रत्यंग का संचालन वायु से होता है; परन्तु उस वायु की दिशा, स्थान और काल जीवात्मा निश्चय करता है।

उदाहरण के रूप में आँख में देखने की शक्ति वायु है। वह परमात्मा की शक्ति है। परन्तु आँखें क्या देखें, किधर देखें और कब देखें, इसका निश्चय जीवात्मा करता है 'decision and direction' जीवात्मा ही करता है।

इस पर भी जगत् में वायु से कार्य करने वाला परमात्मा है और प्राणी में वायु से कार्य करने वाला (परमात्मा से भिन्न) जीवात्मा है। यह इसका अर्थ है।

कुछ विद्वान् लोग यह कहते हैं कि शक्ति और शक्तिमान् एक ही हैं। हम यह नहीं मानते। यह न तो युक्ति से सिद्ध है और न प्रमाण से। देखिये, अग्नि में विद्युत में, आणविक शक्ति ईश्वरीय है परन्तु इसका प्रयोग मनुष्य करता है। कोई [illegible] भी हैं। प्राण, वाक् इत्यादि वायु नहीं। ये वायु का शरीर [illegible]

इससे समुद्रयान अथवा कारखाने चलाते हैं, दूसरे इससे अस्त्र-शस्त्र युद्ध में प्रयोग कर सहस्रों-लाखों मनुष्यों की हत्या करते हैं। यदि शक्ति और परमात्मा एक ही मान लें तो प्रयोग में यह भेद नहीं हो सकता।

वही उद्धरण पेट्रोल और मोटर ड्राइवर का ले सकते हैं। पेट्रोल मोटर गाड़ी चलाता है, परन्तु ड्राइवर मोटर का प्रयोग मानवी सेवाओं के लिए कर सकता है अथवा डाका डालने के लिए भी कर सकता है। यदि पेट्रोल की शक्ति और परमात्मा एक होते तो डाका डालने के समय पेट्रोल निस्तेज हो जाता।

प्रमाण हम ऊपर वेद, उपनिषद् और गीता में से दे चुके हैं।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः॥२१॥

अदृश्यत्वादि+गुणकः+धर्मोक्तेः।

अदृश्य इत्यादि गुणों वाला कहे गये धर्मों से (जानना चाहिए)।

स्वामी शंकराचार्य तथा अन्य भाष्यकार भी यह मानते हैं पर वहां हमने केवल जानना चाहिए लिखा है वहाँ ब्रह्म है। ऐसा वह लिखते हैं। इसमें, उनके विचार से अर्थ बन जाते हैं—

'अदृश्यत्व आदि गुणों वाला। कहे गये धर्मों से ब्रह्म मानना चाहिए।'

हमारा यह कहना है कि क्योंकि इस पूर्ण पाद में परमात्मा और जीवात्मा दोनों का वर्णन आ रहा है और दोनों में भेद बताते चले आ रहे हैं तो यहाँ दोनों में समानता अथवा भेद का वर्णन है। दोनों अदृश्य, इन्द्रियों से न पता चलने वाले, अर्थात् अव्यक्त हैं। इस पर भी धर्मों में भेद है।

यह ठीक है कि यहाँ दो का स्पष्ट उल्लेख नहीं। साथ ही यहाँ सूत्र में एक वचन है, इससे यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि यह परमात्मा के लिए ही है। धर्म तो दोनों के पृथक् हैं। अदृश्य दोनों ही हैं।

अतः हमारा यह कहना है कि जीवात्मा अथवा परमात्मा समान अव्यक्त गुण वाले हैं और पृथक्-पृथक् धर्मों वाले हैं। एक वचन का प्रयोग दोनों को चेतन तत्त्व मानकर किया गया है।

गुण तो अव्यक्त हैं और धर्म कर्म के साथ सम्बन्ध रखता है। दोनों ही ईश्वरीय शक्ति से अपने-अपने क्षेत्र में काम करते हैं। परमात्मा पूर्ण जगत् में और जीवात्मा केवल शरीर में। दोनों में कर्म का काल, दिशा और स्थान निश्चय करने का धर्म है। अर्थात् दोनों ईक्षण करने से चेतन हैं। परन्तु धर्म का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

गुण अव्यक्तता अर्थात् अदृश्यता है। स्वामी शंकराचार्य ने मुण्डकोपनिषद्

का उद्धरण दिया है कि परमात्मा अदृश्य है। इसको अस्वीकार नहीं किया जाता, परन्तु परमात्मा ही अदृश्य है, यह वेदादि शास्त्रों से सिद्ध नहीं होता।

तीन अक्षर हैं। तीनों अव्यक्त हैं। ये गुण परमात्मा, जीवात्मा और प्रधान तीनों में हैं। इस पर भी तीनों एक नहीं हैं। कारण यह कि इनके कुछ अन्य गुण, धर्म और लक्षण हैं जिनसे इनकी भिन्नता सिद्ध होती है।

मुण्डकोपनिषद् के पूर्ण वाक्य से यहाँ सम्बन्ध नहीं, वह विषयान्तर है।

अतः अदृश्यत्व इत्यादि गुणों वाला अवयव कहे गये धर्मों से जानना चाहिए। जो गुण कर्मजन्य हैं, धर्म कहलाते हैं। अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा के धर्मों में अन्तर है। अतः अदृश्यत्वादि गुणों में समानता होने पर भी धर्मों (की विलक्षणता) से जानो।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥२२॥

विशेषण+भेद+व्यपदेशाभ्यां+च+न+इतरौ।

और विशेषणों में भेद कहे जाने से दूसरे दो (जीवात्मा और प्रकृति) नहीं।

गुण और विशेषणों में क्या अन्तर है? जो गुणों में समान हैं, क्या वे विशेषणों में भेद रख सकते हैं और क्यों? यह इस सूत्र के पढ़ने से संशय उत्पन्न होता है।

पूर्व सूत्र में यह कहा है कि अदृश्यत्व आदि गुण वालों को कहे धर्मों से जानना चाहिए। अभिप्राय यह कि गुण समान होने से धर्म में भेद हो सकता है। यह हमने उक्त सूत्र की व्याख्या में बताया है कि जीवात्मा जगत् का संचालन नहीं कर सकता। इसको उत्पन्न तथा इसका प्रलय भी नहीं कर सकता। ईश्वर कर सकता है। अतः एक शक्तिहीन और दूसरा सर्वशक्तिमान् है। यह धर्मों में अन्तर है। जहाँ जीवात्मा अपने शरीर के कार्यों तथा शरीर द्वारा कार्यों की दिशा, काल और स्थान निश्चय कर सकता है, परन्तु जगत् के जन्म, पालन एवं मरण के विषय में जीवात्मा काल, दिशा और स्थान का निश्चय नहीं कर सकता।

वर्तमान सूत्र में लिखा है कि धर्मों के अतिरिक्त परमात्मा विशेषणों में भी दूसरे दो से भिन्न है। विशेषण इस प्रकार हैं—परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक है। जीवात्मा अणु समान होने से सर्वव्यापक हो नहीं सकता। वह सर्वज्ञ भी नहीं और न ही सर्वशक्तिमान् है। जड़ तो चेतन भी नहीं और अन्य विशेषण भी इसके साथ प्रयुक्त नहीं हो सकते।

जैसे धर्म उस गुण को कहते हैं जो कर्म करने में योगदान देता है, इसी प्रकार विशेषण उन गुणों से बनते हैं जो लक्षण उत्पन्न करते हैं।

परमात्मा का सर्वज्ञ होना गुण है। यह विशेषण भी है। इसमें कारण यह है कि सर्वज्ञता से जगत् के सुचारु रूप में संचालनादि के लक्षण प्रकट हुए हैं।

प्रकृति में अवस्थितत्व (inertness) है। यह जिस अवस्था और स्थिति में पड़ी हो, पड़ी रहती है। अपनी अवस्था तथा स्थान को बदल नहीं सकती। अतः प्रकृति का जड़त्व अर्थात् अवस्थितत्व गुण है और अक्रियता इसका लक्षण है। जड़त्व इसका विशेषण भी है।

विशेषणों में भेद होने से यह दूसरे दो (जीवात्मा तथा प्रकृति) नहीं।

विशेषणों का उल्लेख इसी पाद के सूत्र १-२-१२ में भी आया है। वहाँ गुहा में प्रविष्ट दो आत्म-तत्त्वों की तुलना की जा रही थी। यहाँ सामान्य रूप में तीनों अक्षर तत्त्वों जी तुलना हो रही है।

रूपोपन्यासाच्च ॥२३॥

रूप+उपन्यासात्+च।

और रूप का कथन होने से भी परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति में भेद है।

रूप से क्या अर्थ है? यह विशेष विचारणीय बात है। रूप से क्या नाक, कान इत्यादि का अभिप्राय है अथवा क्या इससे गोरा-काला अथवा लम्बे-चौड़े से अभिप्राय है?

कुछ भाष्यकार ऐसा ही मानते हैं, परन्तु यह अशुद्ध है।

आचार्य उदयवीर शास्त्री सूत्र १-२-२१ के भाष्य में लिखते हैं, 'जीवात्मा यद्यपि अदृश्य, सूक्ष्म, नित्य और अव्यय, अपरिणामी है, पर वह अचक्षु-श्रोत्र तथा अपाणिपाद नहीं माना जाता। वह अगोत्र और अवर्ण भी नहीं। सर्ग के आदिकाल से जीवात्मा के साथ इन्द्रियाणि समस्त कारणों का सम्पर्क बराबर रहता है तथा देह धारण करने पर गोत्र (वंश) और वर्ण (ब्राह्मणत्वादि) की रेखा पर होकर ही जीवात्मा का मार्ग है'।

हमारा आचार्य उदयवीर जी से मतभेद है। ये अवयव जीवात्मा के नहीं। ये सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर के हैं। भले ही शरीर और जीवात्मा का सम्बन्ध एक दीर्घ काल के लिए हो, परन्तु शरीर शरीर है और जीवात्मा जीवात्मा। ये परस्पर परिवर्तित नहीं हो सकते।

जीवात्मा का भी स्वरूप है, परन्तु वह आँख, श्रोत्र, नेत्रादि नहीं। वह अन्य है। यह स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे।

आचार्य उदयवीरजी वर्तमान सूत्र (१-२-२३) का अर्थ इस प्रकार करते हैं—
'(रूपोपन्यासात्) रूप का कथन होने से (च) भी। इस प्रसंग में आगे ब्रह्म के

विराट रूप का कथन होने से जीवात्मा और प्रकृति अदृश्यात्वदि गुण वाले नहीं माने जाने चाहिए।'

आचार्यजी इस सूत्र में रूपोपन्यास का अभिप्राय नहीं समझे।

रूप का अर्थ अंग-उपांग नहीं, वरन् उन गुणों से है जो लक्षण उत्पन्न करते है। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों में ऐसे गुण हैं जो विशेष और अपने भिन्न-भिन्न लक्षण उत्पन्न करते हैं। उनमें भेद होने से परमात्मा जीवात्मा और प्रकृति से भिन्न है। इस सूत्र का अर्थ यह बनता है।

अब देखना यह है कि वे कौन-कौन से गुण व लक्षण हैं, जिनसे तीनों में भेद होता है? परमात्मा का स्वरूप है अग्नि स्वरूप अथवा वैश्वानरः। जीवात्मा का स्वरूप है अणुहीन, अज्ञानी तथा शक्तिहीन। और प्रकृति का स्वरूप है अक्रिय जड़वत्।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥२४॥

वैश्वानरः+साधारण+शब्दविशेषात्।

वह अग्नि जो पूर्ण विश्व में नायक है; सामान्य शब्द का विशेष अर्थ लेने से परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है।

पूर्व के सूत्र में रूपों का वर्णन है। वहाँ परमात्मा के रूप में अग्नि उसका एक स्वरूप वर्णन किया है। मुण्डकोपनिषद् में भी परमात्मा का शिर अग्नि कहा है। शिर इसलिए कहा है कि इसके द्वारा ही परमात्मा ने सम्पूर्ण जगत् में प्रवेश किया हुआ है। वहाँ अग्नि का अर्थ वह शक्ति है जो तेजोमय है। शक्ति जिससे तेज और ताप (प्रकाश) का प्रादुर्भाव होता है।

वर्तमान सूत्र में इसका, जो पूर्ण विश्व में व्यापक है, उल्लेख है। वैश्वानरः वह अग्नि है जो विश्व का आधार है। विश्व और अग्नि साधारण शब्द हैं, परन्तु इन साधारण शब्दों से विशेष अग्नि का अभिप्राय है। यह वह अग्नि नहीं, जिससे रोटी सेंकी जाती है अथवा जल गर्म किया जाता है। यद्यपि यह अग्नि भी पूर्ण जगत् में देखी जाती है और यह भी परमात्मा की शक्ति ही है, परन्तु वैश्वानर के विशेष अर्थ हैं। यह वह अग्नि है जो परमात्मा ने हिरण्यगर्भ में बीजारोपण करते हुए डाली थी और जिससे देवता, पृथिवी और द्युलोक बने थे।

इस विशेष अग्नि से परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है।

यों तो पूर्ण जगत् का प्रत्येक कार्य परमात्मा की शक्ति से ही चलता है, ऐसा हम ऊपर लिख चुके हैं, परन्तु उस शक्ति का कार्य किसी-न-किसी साधन द्वारा होता है। उदाहरण के रूप में लकड़ी जलने से ताप उत्पन्न होता है। है तो वह भी

परमात्मा की शक्ति का रूप ही, परन्तु लकड़ी जलाने वाले के द्वारा इसका प्रकटीकरण होता है। अतः यह परमात्मा के स्वरूप को प्रकट करने में वह स्पष्टता नहीं रखता जितना कि वह शक्ति जो हिरण्यगर्भ में बीज बनकर जगत् की रचना करती है। इस वैश्वानर अग्नि को प्रकट होने और कार्य करने में किसी दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं। उस समय जब अचल, मृत-प्राय प्रकृति में सृष्टि-रचना आरम्भ होती है, तब परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष था नहीं। अतः वैश्वानर अग्नि परमात्मा के स्वरूप को प्रकट करती है। इस स्वरूप को देखकर परमात्मा के दर्शन होते हैं।

इसी कारण इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही दर्शनाचार्य ने परमात्मा की सिद्धि के लिए 'जन्माद्यस्य यतः' का उल्लेख किया है।

यहाँ इस सूत्र में वैश्वानर को अपनी विशेषता के कारण परमात्मा के स्वरूप का प्रतीक वर्णन किया है।

स्वामी शंकराचार्यजी इसको इस प्रकार वर्णन करते हैं। वे लिखते हैं कि जठराग्नि को भी वैश्वानर के शब्द से स्मरण किया है। इसका वह उदाहरण बृ० ५-९ से देते हैं।

यह सब ठीक है। इसी कारण सूत्रकार ने कहा है कि 'विशेषात्' विशेष अर्थों में जब प्रयोग किया जाए तो वह परमात्मा के स्वरूप की वाचक है।

स्वामीजी ने वैश्वानर अग्नि को विशेष अर्थों में प्रयोग करने का एक उदाहरण ऋ० १०-८८-१२ का दिया है। इस ऋग्वेद के मन्त्र में वैश्वानर उस अग्नि को कहा है, जिससे द्युलोक के नक्षत्रादि बने हैं।

अतः वैश्वानर अग्नि जब विशेष अर्थों में हो तो परमात्मा के स्वरूप का प्रतीक है।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

स्मर्यमाणम्+अनुमानम्+स्यात्+इति।

स्मरण किया जाने योग्य अनुमान से है यह (परमात्मा का स्वरूप)।

स्मरण का अभिप्राय है, जाना जाता है। अतः इस सूत्र का अर्थ बनता है कि अनुमान से जाना जाता है कि वैश्वानर अग्नि परमात्मा के स्वरूप की प्रतीक है।

एक तो अनुमान की बात समझ लेनी चाहिए। हमने पूर्व के सूत्र में यह बताया है कि अग्नि जहाँ भी देखी जाती है, वह परमात्मा की सामर्थ्य की ही सूचक है। परन्तु जब जगत्-रचना में इसका प्रयोग होता है तब यह स्पष्ट रूप से परमात्मा की शक्ति का ही सूचक होती है। यही अनुमान है। ऐसा अनुमान इस कारण

है कि उस समय मनुष्य देवता इत्यादि अन्य कोई विद्यमान नहीं था। उस समय प्रकृति थी तथा परमात्मा था। प्रकृति जड़ होने से स्वयं कुछ भी करने योग्य नहीं थी। अतः हिरण्यगर्भ में जो अग्नि प्रकट हुई, वह परमात्मा की ही थी। अन्य कोई था ही नहीं तो वह अग्नि परमात्मा का ही स्वरूप हो सकती थी।

दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह है परमात्मा के और वैश्वानराग्नि के परस्पर सम्बन्ध की।

हम अग्नि एतदर्थ वैश्वानराग्नि को परमात्मा की शक्ति, सामर्थ्य मानते हैं। इस सामर्थ्य को ही परमात्मा का स्वरूप माना है। कुछ विद्वान् शक्ति, और शक्ति के स्वामी परमात्मा में अन्तर नहीं मानते। उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्यजी ही लिखते हैं—

इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः, यस्मात्परमेश्वरस्यैवाग्निरास्यं द्यौर्मूर्धेतीदृशं त्रैलोक्यात्मकं रूपं स्मर्यते "यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः।" इति। एतत्स्यमर्यमाणं रूपं मूलभूतां श्रुतिमनुमापयदस्य वैश्वानरशब्दस्य परमेश्वरपरत्वेऽनुमानं लिङ्गं गमकं स्यादित्यर्थः।

अर्थात्--इससे भी परमेश्वर ही वैश्वानर है; क्योंकि उनका अग्नि मुख है। द्यौमूर्धा—यह भी त्रिलोकी के आत्मा का रूप स्मरण किया जाता है; जिनका अग्नि मुख है, द्यौ मूर्धा है, आकाश नाभि, पृथिवी चरण, सूर्य नेत्र और दिशायें श्रोत्र हैं; उस लोकात्मा को नमस्कार हो। यह श्रुति है। इस प्रकार यह 'स्मर्यमाणं रूपं' भी अपनी मूलभूत श्रुति का अनुमान कराता हुआ वैश्वानर शब्द के परमेश्वरपरक अनुमान लिङ्ग ज्ञापक हैं। ऐसा अर्थ है।

और तो स्वामीजी ने वही लिखा है जो हम ऊपर लिख आये हैं। अर्थात् वैश्वानर शब्द अनुमान लिङ्ग से पता चलता है, परन्तु स्वामीजी का यह कहना ठीक नहीं कि 'इतश्च परमेश्वर एव वैश्वानरः'। वैश्वानर परमेश्वर की शक्ति है, परमेश्वर नहीं। यदि शक्ति और शक्तिमान पर्यायवाचक मानेंगे तो शक्ति पर आंशिक अधिकार मनुष्य का हो जाता है। इससे यह सिद्ध होगा कि वास्तविक रूप में परमेश्वर पर ही अधिकार है।

उदाहरण के रूप में आणविक शक्ति से मनुष्य ने बहुत काम लिया है। इसका, भले और बुरे कामों पर अपनी इच्छा से प्रयोग भी किया है। अतः यदि शक्ति और शक्तिमान् पर्यायवाचक मान लें तो यह मानना पड़ेगा कि आंशिक रूप में ही सही, परमात्मा पर मनुष्य का अधिकार हो गया और वह इससे अच्छे और बुरे कर्म करा सकता है।

यह बात अशुद्ध होगी। शक्ति परमात्मा की है परन्तु यह परमात्मा से पृथक् है और मनुष्य, देवता अथवा राक्षस तपस्या से इसे प्राप्त कर लेते हैं और वे अपने

आत्मा के निर्देश पर उस शक्ति का प्रयोग करते हैं।

अतः हमारा यह मत है कि परमात्मा और उसकी शक्ति दो पृथक्-पृथक् हैं। यह शक्ति किसी प्रकार की स्थाई वस्तु नहीं है। यह परमात्मा से प्रकट होती रहती है और वह कार्य करने पर निरर्थक हो जाती है। अभिप्राय यह है कि इसका गुप्त (latent) तथा प्रकट (potential) रूप होते हैं।

अतः यह परमेश्वर नहीं है, परन्तु यह परमेश्वर से उदभव होने से परमात्मा का स्वरूप मानी जाती है। स्वरूप का अर्थ लक्षण है जैसे धूआँ अग्नि का लक्षण है।

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युप-देशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥२६॥

च+शब्दादिभ्यः+अन्त.+प्रतिष्ठानात्+न+इति+चेत्+न+तथा दृष्टि+उपदेशात्+असम्भवात्+पुरुषम्+अपि+च+ऐनम्+अधीयते।

ऊपर कहा है कि वैश्वानर परमात्मा के स्वरूप का ज्ञापक है। उस बात को आगे चलाते हुए सूत्रकार कहता है कि वैश्वानर (जगत् के) भीतर प्रतिष्ठित होने से 'शब्दादि' से (वह परमात्मा है)।

सूत्रार्थ इस प्रकार है—

च=और; शब्दादिभ्यः=शब्दादि से (कहने मात्र से); अन्तः=भीतर (जगत् के); प्रतिष्ठानात्=प्रतिष्ठित होने से; न इति=नहीं है; चेत न=यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं; तथा=और; दृष्टि=दृष्टि का; उपदेशात्=उपदेश से (कहे जाने से); असम्भवात्=असम्भव होने से; पुरुषम् अपि=पुरुष (परमात्मा) भी; च=और; ऐनम्=ऐसा; अधीयते=पढ़ते हैं।

अभिप्राय यह है—

वैश्वानर जगतादि के भीतर प्रतिष्ठित होने से इसको परमेश्वर नहीं मानना चाहिए। यदि यह परमेश्वर नहीं और देखने से, असम्भव होने से भी यह परमेश्वर नहीं। फिर भी परमात्मा का प्रतीक समझा जाता है अथवा पढ़ा जाता है।

जैसे वेदों में अग्नि, मित्र, वरुण इत्यादि शब्दों से परमात्मा का अभिप्राय लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि वैश्वानर परमात्मा नहीं, परन्तु परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में भी वह शक्ति सम्भव न हो सकने से, परमात्मा का वाचक ही मानी जाती है।

हमने यह लिखा है कि वैश्वानर परमात्मा की शक्ति का ज्ञापक है। शक्ति और शक्तिमान भिन्न-भिन्न हैं। सूत्रकार कहता है कि यह बात ऐसे ही है। वैश्वानर परमात्मा नहीं। देखने से और असम्भव होने से भी यही मानना चाहिए कि

वैश्वानर अग्नि परमात्मा नहीं; परन्तु पुरुष, अभिप्राय यह कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी में जगत् रचना की सामर्थ्य नहीं तथा इस (वैश्वानर) को परमात्मा का सूचक भी स्वीकार किया जाता है।

ऋग्वेद के दशम् मण्डल के ८८वें सूक्त में मन्त्रों का देवता अर्थात् विवेचित विषय है सूर्य वैश्वानरौ। सूर्य और वैश्वानर दोनों विषयों पर मन्त्र हैं। इसी सूक्त के मन्त्र १२ का उल्लेख पिछले सूत्र में किया है। उसमें वैश्वानर उस अग्नि को कहा है कि जिससे नक्षत्रादि निर्माण होते हैं। सूर्य भी नक्षत्र है और सूर्य के निर्माण से दिन-रात की गणना होती है। मन्त्र इस प्रकार है—

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन् ।
आ यस्ततानोषसो विभातीरपो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन् ॥

(ऋ० १०-८८-१२)

अर्थात्—देवताओं ने (इन्द्रादि देवताओं ने) सम्पूर्ण भुवन (solar system) के लिए वैश्वानर को विश्व की आत्मा का ज्ञापक माना है (प्रकट किया है)। यह दिनों को बनाती है। जो उषाओं (हिरण्यगर्भ (nebula) के प्रकाश) को चमकाती है और फैलाती है, अन्धकार को दूर करती है।

इसी सूक्त का एक और मन्त्र है—

वैश्वानरं कवयो यज्ञियासोऽग्निं देवा अजनयन्नजुर्यम् ।
नक्षत्रं प्रत्नममिनच्चरिष्णु यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम् ॥

(ऋ० १०-८८-१३)

इस मन्त्र का पदच्छेद और अर्थ इस प्रकार है—

यज्ञासः=यज्ञ के उपासक; कवयः=विद्वान् लोग; अग्निम्=अग्नि को; अजनयन=प्रज्वलित करते हैं; देवा=ज्ञानवान परमात्मा को; अजुर्यम्=जो नाश न होने वाला; नक्षत्रम्=सर्वव्यापक; प्रत्नम्=अति पुरातन; चरिष्णु=नाना कर्मों का फल देने वाला; यज्ञस्य अध्यक्षम्=संसार रूपी यज्ञ का अध्यक्ष; तविष बृहन्तम्=महान् बलवान; वैश्वानरम्=वैश्वानर अग्नि का (स्वामी है)।

कहने का अभिप्राय यह है कि वैश्वानर उस अग्नि को कहते हैं जो सूर्यादि नक्षत्रों में परमात्मा ने स्थापित की है।

परन्तु सूत्रकार कहता है कि वैश्वानर तो साधारण शब्द है। इसकी विशेषता के कारण यह परमात्मा की ज्ञापक है और आगे लिख दिया है कि वैश्वानर इत्यादि शब्द जगत् में प्रतिष्ठित होने से यद्यपि परमात्मा नहीं और दिखायी देने से, वेदों में कहे जाने से और परमात्मा के बिना असम्भव होने से इसे परमात्मा का भी ज्ञापक माना जाता है।

इस विषय में हमारा मत है कि यद्यपि सामान्य लकड़ी इत्यादि में अग्नि परमात्मा की शक्ति से ही निर्माण होती है, परन्तु है यह भिन्न। यह लकड़ी इत्यादि

की अग्नि आधुनिक विज्ञान में रासायनिक अग्नि (chemical energy) कहाती है। यह इन्द्र का रूप है। परमाणु की त्रिगुणात्मक शक्ति का रूप है। वह अग्नि जिससे सृष्टि-रचना का कार्य आरम्भ हुआ और जो रचना करती है वैश्वानर का रूप हो गयी। वह इन्द्र से उत्पन्न शक्ति की निर्माता है परन्तु वह उससे भिन्न है।

इन्द्र की शक्ति आपः कणों (quantum) से चलती है। और परमात्मा की वैश्वानर अग्नि तरंगों (waves) से चलती है। परमात्मा की अग्नि स्वतः ईश्वरेच्छा से उत्पन्न होती है अथवा उसकी इच्छा से ही शान्त हो जाती है। इसके विपरीत इन्द्र द्वारा प्रस्तुत अग्नि किसी मानवी प्रयास से चलती अथवा समाप्त हो सकती है। मनुष्य के अतिरिक्त कुछ एक देवताओं के भी कर्म का फल है।

यद्यपि वैश्वानर से सामान्य अग्नि उत्पन्न होती है, परन्तु दोनों में अन्तर है। यह परमाणु के भीतर उपस्थित इन्द्र का रूप है।

अत एव न देवता भूतं च ॥२७॥

अतः+एव+न+देवता+भूतम्+च।

अतः (वैश्वानर) न तो देवता है और न ही भूत (पञ्चमहाभूतों में कोई है)।

देवता का अर्थ है वायु, मरुत, वरुण इत्यादि अन्तरिक्ष की दिव्य शक्तियाँ। ये वैश्वानर नहीं हैं। भूतम् से अभिप्राय सूक्ष्म अथवा स्थूल भूतों से है। भूताग्नि से वैश्वानर का अभिप्राय नहीं है। साथ ही ऊपर बता चुके हैं कि यह है तो अग्नि ही, परन्तु विशेष अर्थों में यह उस अग्नि को कहते हैं जो परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य के द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती। यह केवल परमात्मा से ही उत्पन्न की गयी है। अतः यह परमात्मा की ज्ञापक मानी जाती है।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥२८॥

साक्षात्+अपि+अविरोधं+जैमिनिः।

साक्षात् में जो अग्नि है, वह भी विरोध नहीं करती।

अर्थात् यह भी परमात्मा से ही दी जाती है। उसी की शक्ति का रूप है। ऐसा जैमिनि मुनि का (उत्तरमीमांसा में) कथन है।

वैश्वानर के अर्थ निरुक्त में इस प्रकार किये हैं—

वैश्वानरः कस्मात्? विश्वान् नरान् नयति। विश्व एनं नरा नयन्तीति वा।

अपि वा विश्वानर एव स्यात् । प्रत्युतः सर्वाणि भूतानि । तस्य वैश्वानरः । तस्यैषा भवति ।
(निरुक्त ७-२१)

इसका अर्थ है—वैश्वानर किस (कारण) से ? सारे नरों को ले जाता है। अथवा सारे नर इसे ले जाते हैं। सब भूतों में पहुँची हुई है। वैश्वानर ऐसी है।

अभिप्राय यह है कि सब नर इससे काम करते है और यह सब नरों का कार्य करती है। शब्द है 'प्रति ऋतः' । इसका अर्थ है सबमें पहुँची हुई है (भूतों में) पंच महाभूतों में।

यहाँ उस अग्नि को वैश्वानर कहा है जो पृथिवी पर सामान्य काम में आती है।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

अभिव्यक्तेः+इति+आश्मरथ्यः ।

अभिव्यक्त होने अर्थात् स्पष्ट वर्णन होने से ऐसा अश्मरथ नामक आचार्य ने कहा है।

ऊपर वे० द० १-२-२८ में जैमिनि की साक्षी दी है। यहाँ अश्मरथ् ऋषि के कथन की साक्षी दी है।

स्पष्ट रूप में क्या कहा है ? यही कि इस पृथिवी पर वैश्वानर से सामान्य शक्ति को लेना चाहिए। अभिप्राय यह कि सामान्य अग्नि भी द्यू लोक की वैश्वानर से ही उत्पन्न हुई है।

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥३०॥

अनुस्मृतेः+बादरिः।

अनुस्मरण अर्थात् जाना हुआ, स्मरण करने से यह कहा जा सकता है कि बादरि ऋषि भी यही कहते थे।

बादरि व्यासजी के पिता थे। इसी कारण व्यास का नाम बादरायण पड़ा। व्यासजी लिखते हैं कि अपने पिता की बात स्मरण कर मैं भी यही कहता हूँ कि वैश्वानर से परमात्मा का अर्थ लेना चाहिए तथा संसार में भी उसी अग्नि का रूप है।

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥३१॥

सम्पत्तेः + इति + जैमिनिः + तथा + हि + दर्शयति ।

समाधि से प्राप्त अवस्था को सम्पत्ति कहते हैं । सम्पत्ति से भी ऐसा ही सिद्ध होता है ।

क्या सिद्ध होता है ? वैश्वानर परमात्मा का स्वरूप ही है और जैमिनि भी अपने दर्शन शास्त्र में यही सिद्ध करते हैं ।

वैश्वानर अग्नि आदि अग्नि का रूप ही है । यह अग्नि जब परमाणुओं पर अधिष्ठित होकर परमाणु के भीतर उपस्थित इन्द्र को बहिःमुख कर देती है (ऋ० १-१६३-२) तब इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति कार्य करती हुई भौतिक अग्नि के रूप में प्रकट होती है । जब तक परमाणु का तेज परमाणु पर आरूढ़ रहता है, तब तक इन्द्र की त्रिगुणात्मक शक्ति भौतिक अग्नि के रूप में कार्य करती रहती है और जगत् का व्यवहार चलता रहता है । जब परमात्मा अपनी आदि शक्ति को समेट लेता है तब परमाणु पुनः साम्यावस्था में हो जाते हैं । वह प्रलयकाल होता है । अतः बिना आदि अग्नि के वैश्वानर के रूप में कार्यरत हुए इन्द्र बहिःमुख नहीं होता और रचना कार्य नहीं चल सकता ।

इस कारण यह वैश्वानर, इन्द्र से भिन्न होते हुए भी उसका कारण है ।

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

आमनन्ति + च + ऐनम् + अस्मिन् ।

और बार-बार वेदों में उल्लेख करते हैं इसे इस विषय में ।

बार-बार कौन उल्लेख करते हैं ? ऋषिजन । कुछ का नाम सूत्रकार ने ऊपर लिखा है ।

सूत्रकार का कहना है कि इस विषय में इनके अतिरिक्त भी विद्वान् यही कहते हैं । प्रश्न है कि किस विषय में ? हमारा मत है कि यह सूत्र इस पाद का अन्तिम है । अतः 'इस विषय' का अभिप्राय पूर्ण पाद के विषय से है ।

पूर्ण पाद में क्या लिखा है ? यह हम संक्षेप में यहाँ लिख दें तो उपयुक्त होगा ।

(१) प्रसिद्ध वस्तु ब्रह्म नहीं, वरन् यह जगत् है । जगत् दिखाई देता है । हमारे अनुभव में दिन और रात आते हैं । (वे० द० १-२-१)

(२) इस जगत् में एक से अधिक मूल पदार्थ हैं । यह बात विशेष गुणों के देख जाने से पता चलती है । इसमें विवक्षित गुणों के अर्थ हैं कि विशेष रूप में गुणों के देखे जाने से यह सिद्ध होता है । (वे० द० १-२-२)

(३) शरीरी में विशेष गुणो की असिद्धि से। शरीरी के अर्थ—जीवात्मा और शरीर। प्राणी भी है। यहाँ परमात्मा को जीवात्मा और शरीर से पृथक् सिद्ध किया है। (वे० द० १-२-३)

(४) कर्म कर्ता के सिद्धान्त से भी जगत् और जगत् का कर्ता भिन्न-भिन्न हैं। इसको दार्शनिक भाषा मे कार्य और कारण भी कहा जाता है। (वे० द० १-२-४)

(५) शब्द-प्रमाण से भी कार्य और कारण मे भेद स्पष्ट है। स्मृतियों में भी यह स्वीकार किया है। परमात्मा शरीर (प्रकृति एवं जीवात्मा) से पृथक् है। (वे० द० १-२-५,६)

(६) जीवात्मा एक छोटे से स्थान में रहने वाला है और परमात्मा आकाश मे व्यापक है। इस कारण आत्म तत्त्व दो हैं। (वे० द० १-२-७)

(७) साथ ही जीवात्मा भोग करता है, परन्तु परमात्मा समीप और सब स्थान पर रहता हुआ भी भोग से पृथक् रहता है। इस कारण दो हैं। (वे० द० १-२-८)

(८) ईश्वर चर और अचर को खाता चला जा रहा है। अर्थात् उनकी आयु क्षीण करता जाता है। यह खाने का प्रसंग परमात्मा की शक्ति का प्रकरण है। (वे० द० १-२-९,१०)

(९) ये दोनों आत्म-तत्त्व गुहा में प्रविष्ट होने पर पता चलते हैं। इनमें भेद इनके विशेषणों से पता चलता है। एक अज्ञ है और दूसरा ज्ञानवान् है। एक सामर्थ्यहीन है और दूसरा सामर्थ्यवान् है। एक अणु मात्र है और दूसरा सर्वव्यापक है। दोनों में अन्तर सिद्ध है। (वे० द० १-२-११, १२, १३)

(१०) निवास स्थान के भेद से भी जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। इसके साथ सुख विशेष होने से भी दोनों में भिन्नता प्रकट होती है। (वे० द० १-२-१४,१५)

(११) श्रुति और उपनिषद् ग्रन्थों में भी यही वर्णित है कि परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर है। (वे० द० १-२-१६)

(१२) शरीर के सब अंगों में विद्यमान न हो सकने से जीवात्मा परमात्मा नहीं। इसके विपरीत परमात्मा, शरीर तो क्या सब देवताओं में भी विद्यमान है और उनके धर्मों को भीतर से नियन्त्रण करता है। (वे० द० १-२-१७, १८)

(१३) प्राणी के शरीर में कर्मों का अधिष्ठाता स्मृति-यन्त्र (मन) नहीं। क्योंकि उन धर्मों की वहां उपस्थिति नहीं। देवताओं को भीतर से परमात्मा नियमन करता है, शरीर को जीवात्मा। कुछ लोग कहते हैं कि यह मन है। यह नहीं। कारण ऊपर बता दिया है। जीवात्मा और मन दोनों मिलकर भी नहीं। (वे० द० १-२-१९, २०)

(१४) आत्म तत्त्व अदृश्य हैं। विशेष बात यह है कि दोनों में कर्म करने का धर्म समान है। कर्म का काल, दिशा और ढंग निश्चय करना इनका धर्म है। परन्तु विशेषण से ये एक-दूसरे से भिन्न हैं और दोनों ही धर्म और विशेषणों से प्रकृति से भिन्न हैं। (वे० द० १-२-२१,२२)

(१५) स्वरूप से परमात्मा जीवात्मा से विलक्षण है। स्वरूप का अर्थ विशिष्ट गुणों से है। परमात्मा का एक स्वरूप वैश्वानर है। यह अनुमान से जाना जाता है। वैश्वानर अग्नि जो हिरण्यगर्भ में बीज डालकर जगत् की रचना करती है। (वे० द० १-२-२४, २५)

(१६) वैश्वानर अग्नि शब्द के साधारण अर्थ तो सब प्रकार की अग्नि है, परन्तु जगत्-रचना में वैश्वानर तो परमात्मा की ही शक्ति का ज्ञापक है। अतः वह परमात्मा को प्रकट करता है। (वे० द० १-२-२६)

(१७) यह वैश्वानर देवता अथवा भूत-अग्नि नहीं। जैमिनि ऋषि तो वैश्वानर को देवताओं और भूतों में भी परमात्मा की ही शक्ति मानते हैं। (वे० द० १-२-२७, २८)

(१८) इस सिद्धान्त को कि सब शक्ति परमात्मा की है, अश्मरथ ऋषि भी मानते हैं। बादरि भी यही कहते हैं और अन्य विद्वानों ने यही कहा है। योगाभ्यास से समाधि में भी यही पता चलता है। (वे० द० १-२-२९, ३०, ३१, ३२)

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस पाद में जगत् की चर्चा है और इसके मूल में तीन अव्यक्त हैं—परमात्मा, आत्मा और प्रकृति तथा ये तीनों गुण, धर्म और लक्षणों से भिन्न-भिन्न हैं।

इस पाद पर हमारे विचार इस प्रकार हैं—

(१) दर्शन शास्त्र सत्य का निरूपण करने के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इनकी रचना शब्द प्रमाण के पुनरुल्लेख के लिए नहीं हुई।

(२) वैदिक दर्शनशास्त्र वेदों में प्रतिपादित सत्य को शब्द-प्रमाण के अतिरिक्त साधनों से सिद्ध करने के लिए लिखे गये हैं। अतः हमारा अन्य भाष्यकारों से यह मतभेद है कि हम सूत्रों को वेदान्त-वाक्यों के स्पष्टीकरण के लिए लिखे गये नहीं मानते। प्रत्येक सूत्र एक युक्ति है, जिससे किसी-न-किसी सच्चाई को सिद्ध किया गया है।

(३) जहाँ वेद शास्त्र अथवा शब्द-प्रमाण का उल्लेख आया है, वहाँ इसका अर्थ है कि सूत्रकार यह कहना चाहता है कि जो कुछ उसने सूत्रों में युक्ति से सिद्ध किया है, वह वैदिक शास्त्रों में भी लिखा है।

यह नहीं कि वैदिक शास्त्रों में ऐसा लिखा है, इस कारण सूत्र का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए। जो दर्शनशास्त्र में युक्ति से सिद्ध किया है, वह वेदान्त में भी है। अतः सूत्र का साक्षी वेदान्तवाक्य नहीं, प्रत्युत सूत्र वेदान्त की बात को सिद्ध करते हैं।

तृतीय पाद

महर्षि व्यास ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के आरम्भ में कहते हैं—

'जन्माद्यस्य यतः'।

अर्थात्—जिससे कार्य-जगत् का जन्मादि (जन्म, पालन और प्रलय) होता है; (वह ब्रह्म है)।

इस सूत्र का भाष्य करते हुए हमने लिखा है कि कार्य जगत् के जन्मादि में कारण दो हैं और इस कार्य का उद्देश्य जीवात्माओं को अपना कल्याण करने का अवसर प्रदान करना है।

इसी अध्याय में दूसरे पाद का प्रथम सूत्र है—

'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्'।

अर्थात्—जो सर्वत्र प्रसिद्ध है, उसकी बात बताने से। सर्वत्र प्रसिद्ध यह कार्य-जगत् है। प्रसिद्ध का अर्थ है जो सहज ही सिद्ध होता है। इस कार्य-जगत् का निर्माण, पालन और प्रलय ही प्रसिद्ध है। इसमें भी सूत्रकार ने यह बात बताने का यत्न किया है कि इस जगत् में एक तो इसको करने वाला है, दूसरा, इस जगत् का उत्पादन कारण है और तीसरे जीवात्माएँ हैं, जिनके भोग के लिए इस जगत् की रचना हुई है।

द्वितीय पाद में सूत्रकार ने परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर स्पष्ट करने का यत्न किया है।

अब सूत्रकार तृतीय पाद को आरम्भ करता है।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्॥१॥

द्यु+भू+आदि+आयतनम्+स्व+शब्दात्।

अर्थ है—द्यु लोक, भूलोक इत्यादि का आश्रय स्थान है, अपने शब्द से।

सूत्र सर्वथा सरल है। केवल 'स्व' शब्द के अर्थ की विवेचना की आवश्यकता है।

जो लोग सूत्रों के अर्थ उपनिषदादि ग्रन्थों में ढूंढ़ने लगते हैं, वे उपनिषदों में स्व शब्द का प्रयोग भी खोज करने में लगे हैं। दस उपनिषदों में स्व शब्द इस प्रसंग में नहीं मिला तो उसी के अर्थ वाला शब्द ढूंढ़ा जाना आवश्यक समझा गया। स्वामी शंकराचार्य को स्व शब्द द्यु, भू इत्यादि के सन्दर्भ में मिला प्रतीत नहीं हुआ; अतः उन्होंने लिख दिया—

यदेतदस्मिन्वाक्ये द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं मनः प्राणा इत्येवमात्मकं जगदोतत्वेन निर्दिष्टं तस्यायतनं परं ब्रह्म भवितुमर्हति। कुतः? स्वशब्दात्, आत्मशब्दादित्यर्थः। आत्मशब्दो हीह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति।

ऐसा सिद्ध होने पर इस वाक्य में द्यौ, पृथिवी अन्तरिक्ष को मन, प्राण आदि जगत् में ओत-प्रोत भाव आत्म-निर्दिष्ट किया है। उसका आयतन परब्रह्म ही हो सकता है। क्योंकि स्व शब्द है। आत्म शब्द इसका अर्थ है। इस श्रुति में '**तमेवैकं जानथ आत्मानम् इति**' (मुण्ड० २-२-५) यह श्रुति है।

हमारा यह अभिप्राय नहीं कि मुण्डक उपनिषद् में ऐसा नहीं लिखा जैसाकि सूत्रकार ने लिखा है। हमारा कहना है कि सूत्र पढ़ते ही उसके शब्दों को उपनिषद् वाक्यों में ढूंढ़ने से सूत्रार्थ विकृत हो जाते हैं। यही बात यहां हुई है। स्व शब्द से आत्मा अर्थात् परमात्मा के अर्थ नहीं।

स्व शब्द के अर्थ ब्रह्म मुनिजी ने ठीक किये हैं। वे लिखते हैं—

(स्व शब्दात्) निज शब्द से। पूर्व सूत्रों में द्यू, भू आदि पदार्थ उस परमात्मा के अंग कहे हैं और वह परमात्मा का केवल अंग ही नहीं, किन्तु उन द्यू, भू आदि का आयतन-आधार भी है।

हमारा मत है कि 'स्व' शब्द सूत्रकार अपने लिए प्रयोग करता है। वह कह रहा है कि जैसे पूर्व कहे अपने सूत्रों से सिद्ध होता है, वह परमात्मा द्यु, भू आदि का आयतन (आश्रय स्थान) है।

हम यह बात बार-बार कहते चले आ रहे हैं कि सूत्रों के अर्थ स्वतन्त्र रूप से करने चाहिए। ये सूत्र उपनिषदादि ग्रन्थों पर आश्रित नहीं हैं। न ही सूत्र उपनिषदों के संदिग्ध वाक्यों के अर्थ स्पष्ट करने के लिए कहे गये हैं।

सूत्र तो इस जगत् के रहस्य को युक्ति से स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं। हां, स्थान-स्थान पर इन सूत्रों में यह कहा है कि जो बात सूत्रों में युक्ति से सिद्ध की गई है, वही वेदादि शास्त्रों में भी लिखी है।

उक्त सूक्त का अर्थ हम इस प्रकार करते हैं—

द्यु-लोक, भू-लोक आदि और अन्तरिक्ष भी जिसके आश्रय हैं अथवा जिसमें टिके हुए हैं, वह परमात्मा है। ऐसा हम (सूत्रकार) ऊपर कह आये हैं। पूर्व के वचन से भी यही पता चलता है।

सूत्रकार क्या कह आये हैं और कहां कह आये हैं, यह प्रश्न उपस्थित होता है।

ब्रह्म मुनिजी ने सूत्रकार का इस सन्दर्भ में सूत्र 'रूपोपन्यासाच्च' (१-२-२३) का उल्लेख किया है। परमात्मा का रूप-उपन्यास से अर्थ परमात्मा के अंग-उपांग नहीं है। हमने वहाँ कहा है कि परमात्मा का वास्तविक स्वरूप अग्नि, वायु, वेदवाणी इत्यादि है। सूर्य, चन्द्रादि इसका स्वरूप नहीं हैं।

अतः सूत्रकार 'स्व' शब्द से इस सूत्र 'रूपोपन्यासाच्च' की ओर संकेत नहीं करता। उसका संकेत निम्न सूत्रों की ओर है—

(१) जन्माद्यस्य यतः (१-१-३)
(२) तत्तु समन्वयात्। (१-१-४)
(३) आकाशस्तल्लिङ्गात्। (ब्र० सू० १-१-२२)

इसी प्रकार कुछ अन्य सूत्र भी इसी आशय के हैं।

इन सूत्रों में जगत् की रचना और पालन इत्यादि की ओर संकेत है। यहाँ इस सूत्र में भी यही लिखा है कि द्यु-लोक और अन्तरिक्षादि उस परमात्मा के आश्रय हैं अर्थात् परमात्मा ही उनका निवास स्थान है।

इसमें सूत्रकार अब युक्ति नहीं देता। वह केवल यह कहकर आगे चलता है कि ऐसे वह पहले कह चुका है (स्व शब्दात्)। उसने यह कहाँ कहा है ? प्रथम पाद के सूत्र संख्या २, ४, २२ की ओर उसका संकेत है।

इस बात को यहाँ दोहराने का अभिप्राय यह है कि सूत्रकार इस तृतीय पाद में जगत् में तीनों ब्रह्मों (परमात्मा, आत्मा और प्रकृति) का परस्पर सम्बन्ध बताना चाहता है।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।।२।।

मुक्तः+उपसृप्य+व्यपदेशात्।

मुक्त आत्माओं के उपसृप्य अर्थात् उपगम्य स्थान कहे जाने से।

कहे जाने से क्या ? यह कहने से कि मुक्त जीव परमात्मा में ही गमन करते हैं, यह सिद्ध होता है कि इनका भी वह (परमात्मा) ही आश्रय स्थान है।

मुक्त जीव ब्रह्मलीन माने जाते हैं। अर्थात् वे परमात्मा में ही रहते हैं। उनका आयतन परमात्मा ही है।

जब यह स्वीकार किया गया कि जगत् की रचना जीवात्माओं को मोक्ष प्राप्त करने का अवसर देने के लिए है तो यह भी सिद्ध है कि मुक्त जीवात्मायें प्रकृति के बन्धन से छूट परमात्मा में ही लीन हो जाती हैं।

यही इस सूत्र का आशय है।

नानुमानमतच्छब्दात् ॥३॥

न+अनुमानम्+अतत्+शब्दात् ।

ऊपर 'स्व शब्दात्' आया है। यहाँ 'अतत् शब्दात्' आया है। अभिप्राय है (सूत्रकार कहता है) कि उस शब्द (कथन) से नहीं, जो हमने 'स्वशब्दात्' से संकेत किया है। हम अनुमान नहीं लगा रहे। न तो उससे जो हमने कहा है और न ही अनुमान से है। हमने कहा है कि द्यू, भू और मुक्त आत्माओं का आश्रय स्थान परमात्मा है। केवल कथन से नहीं, न ही अनुमान से। दूसरे प्रकार से भी यही सिद्ध होता है कि द्यू, भू इत्यादि का आश्रय स्थान परमात्मा है।

अनुमान नहीं लगा रहे तो क्या कर रहे हैं? अनुमान के अतिरिक्त तो प्रत्यक्ष ही अभिप्रेत हो सकता है।

परन्तु प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। एक तो इन्द्रियों से अनुभव होने वाला प्रत्यक्ष और दूसरा योगी द्वारा समाधि द्वारा किया हुआ प्रत्यक्ष।

जगत् की रचना के विषय में 'जन्माद्यस्य यतः', ज्ञान देने के विषय में 'शास्त्र योनित्वात्' और संसार चलाने के विषय में भी 'तत्तु समन्वयात्' ये तीन सूत्र और इसी प्रकार की अन्य बातें जो सूत्रकार ने ऊपर लिखी हैं, वे अनुमान मात्र नहीं, वरन् प्रत्यक्ष भी हैं।

संसार में कोई वस्तु बनती, चलती अथवा बिगड़ती नहीं, जब तक उसके बनाने वाला न हो, जब तक उसके लिए उपादान कारण न हो और जब तक उस बनने वाली तथा चलने वाली वस्तु का कुछ उपयोग न हो। इस प्रत्यक्ष बात से ही सूत्रकार ने कहा कि इस जगत् के बनाने, पालन करने और विनष्ट करने वाला कोई निमित्त कारण है। उपादान कारण है और कोई इस जगत् का भोग करने वाला भी है। इसी को सूत्रकार ने कहा है कि 'अतत् शब्दात् न अनुमानम्' यह केवल अनुमान ही नहीं है।

यह भी हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि बिना किसी के ज्ञान दिये मनुष्य कुछ सीख नहीं सकता। सृष्टि के आदि में उसे ज्ञान देनेवाला कोई होना चाहिए। अतः यह भी प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार 'समन्वयात्' की बात है।

वर्तमान विवेच्य सूत्र का अर्थ और व्याख्या हमने अपने मत से की है। अब तनिक देखें कि अन्य भाष्यकार क्या कहते हैं?

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह। नानुमानिकं सांख्यस्मृतिपरिकल्पितं प्रधानमिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम्। कस्मात्? अतच्छब्दात्। तस्याचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः शब्दस्तच्छब्दः, न तच्छब्दोऽतच्छब्दः। न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति, येनाचेतनं प्रधानं कारणत्वेनायतनत्वेन वाऽवगम्येत।

अर्थ है—जैसे ब्रह्म के प्रतिपादन करने वाला विशेष हेतु कहा गया है—किसी दूसरे पदार्थ का प्रतिपादक कोई विशेष हेतु नहीं। इस प्रतिपादक के विषय में यह कहा है 'नानुमानिकं' सांख्यस्मृति में कल्पित प्रधान को वहाँ द्यू, भू आदि आयतन रूप में स्वीकार करना उचित नहीं। यह क्यों? अतत् शब्दात् होने से। उस अचेतन प्रधान का प्रतिपादक शब्द 'तत् शब्द' और तत् शब्द से भिन्न अतत् शब्द हुआ। यहाँ अचेतन प्रधान का प्रतिपादक ऐसा कोई शब्द नहीं जिससे अचेतन प्रधान कारण रूप से अथवा आश्रय रूप से अवगत होता हो।

किसी ने भी प्रधान को द्यू, भू का आयतन (घर) स्वीकार नही किया। कारण और आश्रय शब्द न तो पर्यायवाचक हैं और न ही संयोनिवाचक। योनि का अर्थ उत्पत्ति स्थान है। आश्रय का अर्थ उपादान कारण हो सकता है, परन्तु यह आयतन शब्द से प्रकट नहीं होता। जो लोग प्रधान (प्रकृति) को एक अनादि पदार्थ मानते हैं, वे कहते हैं कि द्यू, भू इत्यादि प्रकृति का कार्यरूप हैं। द्यू, भू आदि और प्रधान भी उस (परमात्मा) के आयतन (निवास स्थान) में रहते हैं।

द्यू, भू का अथवा प्रधान का भी आयतन परमात्मा होने से क्या द्यू, भू अथवा प्रधान के अस्तित्व से इन्कार हो गया? कोई कहे कि रामचन्द्र शान्ति निवास में रहता है तो इसका क्या यह अभिप्राय हो गया कि शान्ति निवास अस्तित्वहीन है?

इसी प्रकार यदि आयतन का अर्थ आश्रय लें तब भी यही उदाहरण उस स्थिति का ठीक विश्लेषण करता है। मान लो कि रामचन्द्र अपने पिता भागीरथ के आश्रय ही है तो क्या रामचन्द्र अस्तित्वहीन हो गया?

इसी प्रकार द्यू, भू को सांख्य-दर्शन वाले प्रधान (प्रकृति) का परिणाम मानते हैं। अतः द्यू, भू की भाँति उनका स्रोत प्रधान भी परमात्मा के आयतन में रहने वाला माना जायेगा।

ब्रह्म के प्रतिपादन का विशेष हेतु कहा है। ऐसा स्वामीजी ने इस सूत्र के अपने भाष्य में कहा है। ठीक है, परन्तु किसी दूसरे पदार्थ के प्रतिपादन में कोई हेतु नहीं। यह क्यों? भगवद्दत्त द्वारा शान्ति निकेतन बनाया गया, परन्तु वह मकान रामचन्द्र के रहने के लिए बनाया है, यह क्यों सत्य नहीं? और उस मकान को बनाने में ईंट, सीमेंट, लोहा इत्यादि का प्रयोग हुआ है, यह भी सत्य क्यों नहीं?

स्वामीजी अपनी कल्पित बात की कल्पना करते हुए सर्वथा अयुक्ति-संगत और अप्रामाणिक बातें कह देते हैं और उनके इस प्रकार के कल्पित वक्तव्यों को पढ़कर उनके शिष्य स्वामीजी को तार्किक कहने लगते हैं।

परमात्मा के लिए तो हेतु है, परन्तु जगत् के मूल पदार्थ प्रधान के होने में हेतु क्यों नहीं?

श्री स्वामीजी अपनी बात के लिए किसी उपनिषद् वाक्य का उद्धरण दे देते हैं। प्रायः वह उद्धरण उस बात का उल्लेख ही नहीं कर रहा होता, जिसके विषय

में वह उद्धरित किया गया है। कभी कुछ उस विषय पर लिखा होता है तो वह स्वामीजी के कथन को सिद्ध ही नहीं करता। एक स्थान पर स्वामीजी लिखते हैं—

नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह।

अर्थात्—अन्य पदार्थ का प्रतिपादक कोई विशेष हेतु नहीं है। इस बात का न तो सूत्र में संकेत किया गया है और न ही किसी उपनिषद् में। स्वामी जी मुण्डक उपनिषद् का उल्लेख करते हैं। प्रत्युत मुण्डक उपनिषद् में तो प्रकृति और जीवात्मा का उल्लेख है।*

सूत्र है—**'नानुमानमतच्छब्दात्'**।

स्व शब्दों में, जो सूत्रकार ने प्रथम पाद में ब्रह्म की सिद्धि के लिए कहा है, वह केवल अनुमान मात्र नहीं; प्रत्यक्ष भी है।

वर्तमान पाद में ब्रह्म और प्रकृति का सम्बन्ध बताने के लिए उक्त बात कही जा रही है। प्रथम सूत्र में सूत्रकार ने कहा है कि हम (सूत्रकार) कह चुके हैं कि द्यु, भू आदि (ब्रह्म के) आश्रय हैं।

दूसरे सूत्र में कहा है कि मुक्त पुरुषों का भी उपगमन स्थान ब्रह्म ही है। इसी आशय को श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥

(श्वे० १-७)

परमात्मा से युक्त होकर आत्मा मुक्त हो जाता है।

यह सब परम ब्रह्म (ब्रह्माण्ड) ही है। इस परम ब्रह्म में तीन अक्षर अनादि प्रतिष्ठित हैं। इसी में ब्रह्मविद् हैं, जो ब्रह्म में लीन कहे जाते हैं।

अत: तीसरे सूत्र में कहा है कि यह जो हम (सूत्रकार) ने कहा है, यह अनुमान मात्र ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष भी है। प्रत्यक्ष की व्याख्या ही तो स्वशब्दात् में है।

यह तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है कि जगत् में बिना किसी बनाने वाले के कुछ बनता नहीं। इसी प्रत्यक्ष से यह अनुमान है कि जगत् बना है तो इसके बनाने वाला भी कोई है। वह बनाने वाला ब्रह्म है।

अतः यह अनुमान मात्र ही नहीं है।

दूसरा प्रत्यक्ष जो योगी लोग सिद्धि प्राप्त कर जानते हैं, वह तो केवल मात्र प्रत्यक्ष हैं। उसमें अनुमान को स्थान नहीं है। कारण यह है कि जो कुछ अनुमान किया गया है, वह योगी को स्पष्ट दिखायी देने लगता है।

---

* विस्तृत विवेचन के लिए देखें मुण्डक उपनिषद् पर लेखक का भाष्य।

प्राणभृच्च ॥४॥

प्राण+भृत्+च।

और प्राण धारणा करने वाला भी उसी के आश्रय है।

वास्तव में स्वामी शंकराचार्य तथा उनका अनुकरण करने वाले अन्य भाष्यकार इस पाद का अर्थ आरम्भ से ही भिन्न प्रकार से करते हैं।

उन्होंने प्रथम सूत्र का अर्थ किया है—

द्यू, भू आदि परमात्मा के आश्रय हैं अथवा परमात्मा में निवास करते हैं।

इतना तो ठीक है। 'स्वशब्दात्' के अभिप्राय में मतभेद था। इन भाष्यकारों ने स्व का अर्थ परमात्मा का शब्द अर्थात् वेद वाक्य अथवा वेदान्त शास्त्रों से लिया है। हमने 'स्व' से अभिप्राय सूत्रकार के अपने शब्द लिया है।

दूसरे सूत्र में मुक्त जीवों का भी आयतन ब्रह्म ही है, ऐसा कहा गया है। इस सूत्र में भी मतभेद नहीं।

मुख्य मतभेद है तीसरे सूत्र में। अनुमानम् से, शंकर इत्यादि भाष्यकार यह कहते हैं कि अनुमान से जो जाना जाता है अर्थात् प्रकृति आयतन नहीं है।

हमारा कहना है कि यह ठीक नहीं कि अनुमान से केवल प्रकृति का ही ज्ञान होता है और परमात्मा-जीवात्मा का नहीं। यह मत श्री स्वामीजी का ही है। 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रों के भाष्य में हम बता चुके हैं कि उनमें अनुमान का आश्रय लेकर ही ब्रह्म की सिद्धि की गयी है।

अतः 'अनुमानम्' से केवल प्रकृति ही सिद्ध होती है, यह बात गलत है। हम जीवित शरीर और मृत शव में अन्तर देखकर ही जीवित शरीर में चेतन जीव का अनुमान लगाते हैं। अतः जीवात्मा की सिद्धि भी अनुमान से होती है।

इसी कारण सूत्र १-३-३ के अर्थ करने में मतभेद हुआ है। 'न अनुमानम्' अनुमान से ही नहीं, 'तत् शब्दात्' उन शब्दों का अर्थ लगाये जाने से। वरन् प्रत्यक्ष से भी लगाया जा सकता है। यह हमने पूर्व सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कर दिया है।

अब वर्तमान सूत्र के अर्थ में भी मतभेद है। हमारा यह मत है कि इस सूत्र (१-३-४) का 'च' शब्द से सम्बन्ध सूत्र सं० १-३-१, २ से है, सूत्र सं० १-३-३ से नहीं।

जैसे कहा है कि द्यू, भू आदि परम ब्रह्म में आश्रित हैं, जैसे यह कहा है कि मुक्त जीव भी परम ब्रह्म के आश्रित है, वैसे ही वर्तमान सूत्र में यह कहा है कि 'प्राणभृत्' अर्थात् प्राणी भी उसके आश्रय ही हैं, अर्थात् उसमें ही निवास करते हैं।

आयतन का शाब्दिक अर्थ है निवास स्थान। निवास स्थान जिस प्रकार स्थान पर रहने वाले का आश्रय होता है; इसी प्रकार परमात्मा भू, द्यू इत्यादि का आश्रय है। मुक्त जीवों का भी आश्रय है और प्राणभृत् का भी आश्रय स्थान है।

स्वामी शंकराचार्य तो प्रकृति और जीवात्मा का परमात्मा से पृथक् अस्तित्व मानते नहीं। अतः वे ब्रह्म के अर्थ, आयतन के अर्थ और प्राणभृत् के अर्थ अपने पृथक् ही करते हैं। उपनिषदकार ऐसा नहीं मानते। समझने की बात इस प्रकार है—

(१) ब्रह्म के अर्थ परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों से, दोनों से अथवा केवल परमात्मा से भी लिये जाते हैं। जैसाकि हम ऊपर लिख चुके हैं।

(२) परम ब्रह्म शब्द का प्रयोग प्रायः तीनों ब्रह्म के समूह को बताने के लिए किया जाता है।

(३) तीनों ब्रह्म अक्षर माने हैं। जो अक्षर है, वह अनादि भी होता है। यह नहीं कि किसी का आदि तो हो, परन्तु अन्त न हो।

(४) प्राणी (प्राणभृत्) जीवात्मा और प्रकृति के विशेष संयोग का नाम है।

(५) परमात्मा सर्वव्यापक होने से प्राणी में भी रहता है और जीवात्मा प्राणी के हृदय की गुहा में रहता है। वहीं बैठा यह मन तथा इन्द्रियों द्वारा पूर्ण शरीर पर नियन्त्रण रखता है।

(६) परमात्मा सर्वव्यापक होने से पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। पूर्ण ब्रह्माण्ड असीम है। इसी को आकाश कहा है।

इन सब बातों को सिद्ध किया जा सकता है। प्रत्यक्ष (योग सिद्धि) से भी और आंशिक रूप में सामान्य प्रत्यक्ष से भी, अनुमान से भी। शब्द प्रमाण तो इन सब बातों को सिद्ध करने के लिए प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं।

अतः उपनिषद् वाक्यों के अर्थ करते समय इन शब्दों को इस प्रकार समझ कर किये जायें तो उपनिषद् वाक्य स्पष्ट अर्थ देने वाले प्रकट होंगे। अन्यथा सूत्रों से उपनिषदों को स्पष्ट करते रहेंगे और उपनिषद् वाक्यों से सूत्रों को। इससे दोनों ही असिद्ध हो जायेंगे।

भेदव्यपदेशात् ॥५॥

भेद+व्यपदेशात्।

भेद कहे जाने से।

किस-किस में भेद? प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा में। भू, द्यु और प्राणियों में ये तीनों ही विद्यमान हैं। इस विषय में ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय द्वितीय पाद में बताया है। द्यु, भू इत्यादि का आश्रय यह जीवात्मा, प्रकृति नहीं, वरन् परमात्मा है।

स्वामी शंकराचार्य और आचार्य उदयवीर शास्त्री ने और कदाचित् अन्य भाष्यकारों ने भी इसको सिद्ध किया है मुण्डक उपनिषद् (२-२-५) के उद्धरण से।

वहाँ बताया है कि जिसमें द्यू, भू, अन्तरिक्ष, मन, प्राण सब ओत-प्रोत हैं, उस एक को ही जानें। (आत्मानम् अन्या) जीवात्मा दूसरा है। (वाचोविमुञ्चथ) इसकी बात छोड़ो। वह (परमात्मा) ही अमृत का सेतु है। यह पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥

(मुण्ड० २-२-५)

अर्थ हैं—जिसमें द्यू, पृथिवी और अन्तरिक्ष, मन और प्राणी सहित सब ओत-प्रोत हैं, उस एक को ही जानो। अन्य आत्मा की बात छोड़ो। मोक्ष में यह ही सेतु है।

परन्तु इस उद्धरण का सूत्र के साथ क्या सम्बन्ध है?

परमात्मा से जीवात्मा का भेद सूत्रकार ने बताया है। उससे यह स्पष्ट है कि जीवात्मा भू, द्यू इत्यादि का आश्रय नहीं। जो आश्रय नहीं अर्थात् जो पूर्ण ब्रह्माण्ड का निवास स्थान नहीं, क्या उसको जानना ही नहीं चाहिए? अमृत प्राप्त करने के लिए न सही, परन्तु संसार में रहने के लिए भी क्या जीवात्मा का ज्ञान वर्जित है।

ब्रह्मसूत्र तो परम ब्रह्म का रहस्य प्रकट करने के लिए लिखे गये हैं और परम ब्रह्म वह है (श्वे० १-७) जिसमें तीन अक्षर रहते हैं अर्थात् तीन अक्षरों के समूह को परम ब्रह्म कहते हैं। अतएव जानना तो तीनों अक्षरों के विषय में है, परन्तु मोक्ष-प्राप्ति के लिए केवल परमात्मा ही स्रोत अर्थात् सहायक है। अभिप्राय यह कि उपनिषद् (मुण्ड० २-२-५) तो सर्वथा सत्य है, परन्तु इस सूत्र के साथ उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। विरोध तो है ही नहीं।

प्रकरणात् ॥६॥

प्रकरण के विचार से।

अर्थात्—भेद से तो यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा द्यू, भू इत्यादि का आश्रय नहीं।

परन्तु प्रकरण के विचार से इस पाद में परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा को समझना चाहिए। जहाँ-जहाँ जिसका प्रकरण है, वहाँ-वहाँ उसको समझना चाहिए।

स्थित्यदनाभ्यां च ॥७॥

स्थिति+अदनाभ्यां+च ।

स्थिति का विचार करके और अदन (भोग सामग्री) का विचार करके।

स्थिति का अभिप्राय है कि जिसमें सब-कुछ स्थित है, जो सबका आयतन है और अदन का अभिप्राय है भोग सामग्री अर्थात् कार्य-जगत् ।

जहाँ जिसका प्रकरण हो, उसको ही वहाँ समझना चाहिए। यह बात सूत्रकार अपने सूत्र ग्रन्थ को समझाने के लिए कह रहा है कि जहाँ परमात्मा का प्रकरण हो, वहाँ परमात्मा समझो और जहाँ कार्य जगत् का, जो भोग सामग्री उपस्थित करता है, प्रकरण हो वहाँ कार्य जगत् समझना चाहिए ।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य, तो सूत्र ग्रन्थों का प्रयोजन ही अन्य समझे हैं, यहाँ भी मुण्डक उपनिषद् का उद्धरण दे देते हैं ।

आप लिखते हैं—

द्युभ्वाद्यायतनं च प्रकृत्य 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३-१-१) इत्यत्र स्थित्यदने निर्दिश्येते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनम् 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति' इत्यौदासीन्येनावस्थानं च। ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वर-क्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते। यदि चेश्वरो द्युभ्वाद्यायतनत्वेन विवक्षितस्ततस्तस्य प्रकृतस्येश्वरस्य क्षेत्रज्ञात्पृथग्वचनमवकल्पते । अन्यथा ह्यप्रकृतवचनमाकस्मिकमसंबद्धं स्यात्।

यह संशय वर्णन किया है कि—

अर्थात्—द्यू, भू के आश्रय को प्रस्तुत कर 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३-१-१) इस मन्त्र में स्थिति और अदन (भोग) का निर्देश किया गया है। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इस मंत्रांश से कर्मफल भोग का वर्णन है और 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'। इससे अन्य उदासीन रहने वाले का निर्देश है। इस स्थिति और भक्षण से इस मन्त्र में ईश्वर और जीव का ग्रहण करना चाहिए। यदि ईश्वर द्यू, भू आदि के आश्रय रूप विवक्षित माना जाये तो उस प्रवृत्त ईश्वर का क्षेत्रज्ञ से पृथक् वचन उपपन्न (सिद्ध) होता है। अन्यथा यह अप्रकृत (अस्वाभाविक) वचन आकस्मिक और असम्बद्ध हो जावेगा।

आपका वचन भी पृथकता विवक्षित करेगा ।

हम तो यह कहते हैं कि मुण्डकोपनिषद् के इस उद्धरण का सूत्र के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

इस पर भी देखें कि इस संशय का श्री स्वामीजी क्या उत्तर देते हैं? संशय (स्वामीजी के विचार से) यह है कि 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (ऋ० १-१६४-२० तथा मुण्डक० ३-१-१) में प्रकृति, जीव और परमात्मा पृथक्-पृथक् वर्णन किये हैं। अतः इनको पृथक्-पृथक् क्यों न माना जाये ?

स्वामीजी कहते हैं—

न; तस्याविवक्षितत्वात्। क्षेत्रज्ञो हि कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन च प्रतिशरीरं बुद्ध्याद्युपाधिसंबद्धो लोकत एव प्रसिद्धो नासौ श्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यते। ईश्वरस्तु लोकतोऽप्रसिद्धत्वाच्छ्रुत्या तात्पर्येण विवक्ष्यत इति न तस्याकस्मिकं वचनं युक्तम्। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० १-२-११३) इत्यत्राप्येतद्दर्शितं 'द्वा सुपर्णा' इत्यस्यामृचीश्वरक्षेत्रज्ञावुच्येते इति।

नहीं, क्योंकि जीव अविवक्षित (असंकेतित) होने से। क्षेत्रज्ञ तो कर्त्ता और भोक्ता रूप से प्रति शरीर में बुद्धि आदि उपाधियों से युक्त है और लोक में प्रसिद्ध है। इस कारण वह श्रुति के तात्पर्य से अभिप्रेत नहीं। ईश्वर लोक में अप्रसिद्ध होने से श्रुति के तात्पर्य से अभिप्रेत है। इस कारण उसे आकस्मिक कहना युक्त नहीं। 'गुहां प्रविष्टवात्मानौ' में भी यही दिखाया गया है। 'द्वा सुपर्णा' में ईश्वर और क्षेत्रज्ञ को कहा गया है।

इस पूर्ण युक्ति का कुछ भी ओर-छोर पता नहीं चलता। संशय यह था कि 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र मे लिखे जीवात्मा और परमात्मा दो कहे गये हैं। स्वामीजी कहते हैं कि क्योंकि जीव विवक्षित नहीं। विवक्षित का अर्थ है कि जीव को पृथक् बताने का मतलब नहीं है। बताया तो है। यह कैसे पता चले कि जो कहा गया, वह मतलब नहीं। तो फिर कहा ही किसलिए गया है?

आप उदाहरण देते हैं कि ब्रह्मसूत्र (१-२-१२) में भी तो गुहा में दो का होना बताया गया है और वहाँ भी दो से मतलब नहीं। यह कैसे? वहाँ क्यों विवक्षित नहीं और यहाँ क्यों विवक्षित नहीं? स्वामीजी अपने मन से ही कहते जाते हैं अथवा इस विवक्षित न होने के लिए कोई युक्ति है अथवा प्रमाण है?

आप यह कह सकते हैं कि मुण्डक उपनिषद् में 'द्वा सुपर्णा' से जीव की पृथकता विवक्षित नहीं। मुण्डकोपनिषद् के आरम्भ में ही ऋषि बताता है कि ब्रह्मा जो सृष्टि का रचने वाला और पालन करने वाला है, देवताओं में वह प्रमुख है।

हमने वहाँ बताया है कि अन्य देवता कौन हैं। यह सूर्य, वरुण नहीं हो सकते। कारण यह है कि ब्रह्मा उनको उत्पन्न करने वाला है। यहाँ शब्द है 'ब्रह्म देवानां प्रथमः सम्बभूव, विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।'

अतः ब्रह्मा (परमात्मा) के अतिरिक्त देवता—जीवात्मा और प्रकृति ही हो सकते हैं।

अतः मुण्डकोपनिषद् में भी यह नहीं कि जीव विवक्षित ही नहीं। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों विवक्षित हैं।

अतः हमारा यह कहना है कि स्वामीजी ने इस (ब्र० सू० १-३-७) का भाष्य भी अशुद्ध किया है।

और स्थिति तथा भोग सामग्री से प्रकरणानुसार अर्थ समझने चाहिए। जगत् की (द्यु, भू आदि की) स्थिति परमात्मा में है और अन्न अर्थात् कार्य-जगत् का भोग जीव के लिए है। यही बात अगले सूत्र में लिखी है।

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥८॥

भूमा+सम्प्रसादात्+अधि+उपदेशात्।

आश्रय (परमात्मा) समीप स्थित (जीवात्मा) से ऊपर उपदेश किये जाने से (पृथक् है)।

परमात्मा को इस पाद में आयतन (आश्रय स्थान) कहा है। अतः यह भूमा है। जैसे कि भूमि आश्रय-स्थान है, वैसे ही परमात्मा है।

सम्प्रसादात् (सम्+प्रसादात्) समान स्थित। जीवात्मा से ही अभिप्राय है। ऊपर कहे अनुसार ये पृथक्-पृथक् हैं।

पूर्व (ब्र० सू० १-३-७) में स्थिति अर्थात् जिसमें सबकुछ स्थित है और जो भोग-सामग्री (कार्य-जगत्) है, में अन्तर का वर्णन है। वर्तमान सूत्र (ब्र०सू० १-३-८) में भूमा (आश्रय) अर्थात् परमात्मा और सम्प्रसाद (जीवात्मा) में अन्तर की ओर संकेत है।

स्वामी शंकराचार्य ने भूमा का अर्थ वर्णन करके के लिए छान्दोग्य उपनिषद् (७-२३, २४) का उद्धरण दिया है। अर्थात् इस उपनिषद् के इस स्थल पर भूमा परमात्मा को ही माना है। अतः सूत्र में भी भूमा से परमात्मा का अर्थ लेना चाहिए।

परमात्मा कार्य-जगत् से पृथक् है (ब्र० सू० १-३-७)। परमात्मा जीवात्मा से पृथक् है (१-३-८)।

यह कैसे पता चलता है कि कार्य-जगत्, जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् हैं? यह अगले सूत्र में बता दिया है।

धर्मोपपत्तेश्च ॥९॥

धर्मोपपत्तेः+च।

और धर्मों के उपपन्न (उपस्थित) होने से।

'और' शब्द का प्रयोग इस कारण है कि भेद तो ऊपर भी बताया है और वहाँ कहा गया है धर्मों की उपस्थिति से पता चलता है।

दोनों के धर्मों में क्या अंतर है ? यह ऊपर (पूर्व में) वर्णन कर चुके हैं। ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद में यह व्याख्या सहित बता आये हैं।

यहां स्थिति और भूमा शब्दों से परमात्मा के धर्मों का वर्णन किया है और जीवात्मा और द्यू, भू इत्यादि भूमा नहीं हैं।

महान तो परमात्मा ही है। अतः वह भूमा है। सबका आश्रय परमात्मा ही है; अतः वह भूमा है। जीवात्मा और प्रकृति सबका आश्रय नहीं। इसका आश्रय भी परमात्मा ही है।

और भी कहा है--

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ।।१०।।

अक्षरम्+अम्बरान्त+धृतेः ।

अक्षर जो आकाश के अन्त तक धारण करने वाला है (वह परमात्मा है। वही सबका आश्रय है।)

अक्षर तो परमात्मा के अतिरिक्त भी है, परन्तु वे आकाशान्त तक धारण नहीं करते। वे अल्प होने से आकाशान्त तक नहीं पहुँच पाते।

परमात्मा ही अक्षर है; ऐसा इसका अर्थ नहीं। अम्बरान्त धारण करने वाला अक्षर परमात्मा ही है। दूसरे अक्षर अम्बरान्त धृतेः नहीं हैं।

यह हम उपनिषद् के प्रमाण (श्वेताश्वतर १-६ तथा ४-५) से बता चुके हैं कि अक्षर तीन हैं, परन्तु यहाँ उस अक्षर का उल्लेख है जो अम्बरान्त है। धृति अर्थात् धारण करने से परमात्मा के धर्म का वर्णन है।

इसी में परमात्मा का एक अन्य धर्म बता दिया है।

सा च प्रशासनात् ।।११।।

सा+च+प्रशासनात् ।

और वह प्रशासनकर्ता होने से (परमात्मा कहलाता है।)

अम्बरान्त धारण करता है और जो कुछ भी उसमें है, उसपर शासन करता है। नियन्त्रण रखता है। यह भी परमात्मा का धर्म है।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

अन्य+भाव+व्यावृत्तेः+च ।

और दूसरे भावों के (पृथक्) व्यवहार से।

दूसरे भावों का अर्थ है दूसरे अक्षर। व्यावृत्ति का अभिप्राय है पृथक् व्यवहार अर्थात् भिन्न व्यवहार से अर्थात् भिन्न धर्म वालों से। दूसरे अक्षर हैं जीवात्मा और प्रधान। इनके धर्म उस अक्षर के जो 'व्योमान्त' धृति और 'प्रशासनात्' से स्मरण किया गया है, भिन्न हैं।

यहाँ सूत्र (१-३-१०, ११) में परमात्मा के धर्म बताये हैं। ये धर्म हैं अम्बरान्त धारण करने वाला, अम्बरान्त प्रशासन करने वाला और ब्रह्मसूत्र में लिख दिया है कि अन्य भाव (परमात्मा से दूसरे अक्षर) विपरीत धर्म वाले हैं।

इन सूत्रों में भी श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने अपनी विलक्षणता प्रकट की है।

शंकराचार्य जी कहते हैं कि 'दूसरे भावों के पृथक् व्यवहार' का अभिप्राय है कि परमात्मा से दूसरे व्यवहार अक्षर नहीं क्षर हैं।

यह अर्थ अशुद्ध है। सूत्र का अर्थ है कि दूसरे भाव अर्थात् अक्षर हैं परन्तु उनका व्यवहार पृथक् है।

ऊपर के सूत्रों में अमरत्व का विवाद नहीं है। इस कारण पृथकता अक्षरात्व में है। वरन् 'अम्बरांत धृतेः और प्रशासनात्' है।

अतः 'अक्षरमम्बरान्त धृतेः' का अर्थ है कि अक्षर जो आकाश के अंत तक धारण करने वाला है, वह परमात्मा है। इसी प्रकार 'सा च प्रशासनात्' का अर्थ है कि वह परमात्मा ही अम्बरान्त तक शासन करता है और 'अन्यभाव व्यावृत्तेश्च' का अर्थ है कि अन्य अक्षर भिन्न व्यवहार रखने वाले हैं। न तो वे अम्बरान्त तक धारण करने वाले हैं और न ही वे शासन करने वाले हैं।

वह निश्चय से कहा गया है कि वह अक्षर है। इसका यह अर्थ नहीं बनता कि उसके अतिरिक्त कोई अक्षर नहीं है।

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥१३॥

ईक्षति कर्म+व्यपदेशात्+सः।

ईक्षति कर्म के बतलाये जाने से वह है।

परमात्मा अम्बरान्त धारण करने वाला, प्रशासन करने वाला और इस सूत्र के अनुसार ईक्षति कर्म करने वाला है। ये सब परमात्मा के गुण बताये हैं।

ईक्षण क्रिया की व्याख्या हम ब्र० सू० १-१-५ के भाष्य में कर चुके हैं। यहाँ इसका पुनः उल्लेख करने का अभिप्राय यह है कि यहाँ परमात्मा और प्रकृति के धर्मों मे अन्तर का वर्णन हो रहा है। प्रकृति में ईक्षण क्रिया नहीं होती।

पुनः स्मरणार्थ इतना कह देना ठीक रहेगा कि दिशा और काल का निश्चय ही ईक्षण है। कर्म की दिशा, स्थान और काल निश्चय करना, यही आत्मतत्त्व का लक्षण है। परमात्मा और जीवात्मा में यह गुण साँझा है। अन्तर केवल यह है कि जहाँ परमात्मा के कार्य अम्बरान्त हैं, वहाँ जीवात्मा का कार्य क्षेत्र केवल प्राणी का शरीर है।

स्वामी शंकराचार्य ने इस सूत्र की उपादेयता प्रकट करने के लिए प्रश्नोपनिषद् में कुछ अंशों में संशय अथवा संदिग्धता दिखायी है।

हमारा यह विचार है कि यहाँ भी सूत्रों के भाष्य को बोझिल बनाने के लिए ही ऐसा संशय उत्पन्न किया गया है और प्रमाण दे दिये गये हैं। वास्तव मे सूत्र सर्वथा सरल और स्वतः स्पष्ट है। उपनिषद् के उद्धरण असंगत हैं, परन्तु स्पष्ट अर्थ वाले हैं।

'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति' इति प्रकृत्य श्रूयते—'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत' (प्र० ५-२, ५) इति।

किमस्मिन्वाक्ये परं ब्रह्माभिध्यातव्यमुपदिश्यते आहोस्विदपरमिति। एतेनैवायतनेन परमपरं वैकतरमन्वेतीति प्रकृत्वात्संशयः। तत्रापरमिदं ब्रह्मेति प्राप्तम्। कस्मात् ?—

इसका अर्थ इस प्रकार है—'एतद्वै सत्यकाम' यह जो उकार है वही निश्चय से पर और अपर ब्रह्म है—विद्वान् लोग इसमें ध्यान लगा उस एक को प्राप्त हो जाते हैं—'यः पुनरेतम्—' ऐसा (प्रश्न० ५-२, ५ में) कहा है।

इसमें स्वामी जी कहते हैं कि सन्देह होता है।

क्या इस वाक्य में परब्रह्म ध्यातव्य (ध्यान करने योग्य) माना है अथवा यह अमर है ? स्वाभाविक संशय है कि यह आश्रय है अथवा अमर है ? वहाँ परमब्रह्म की प्राप्ति से अभिप्राय है। कैसे ?—

अभिप्राय यह है कि उक्त उपनिषद् वाक्यों में परब्रह्म अथवा अपर ब्रह्म की उपासना का उल्लेख है। यह स्वाभाविक संशय उत्पन्न होता है।

अब देखना चाहिए कि क्या उक्त उपनिषद् वाक्यों से यह संशय उत्पन्न होता भी है अथवा नहीं और साथ ही उक्त सूत्र के अर्थों से इन उपनिषद् वाक्यों की किसी प्रकार की संगति है भी अथवा नहीं ?

प्रश्नोपनिषद् ५-२ इस प्रकार है—

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ।। (प्रश्न ५-२)

अर्थ है—उसको वह बोला। हे सत्यकाम ! पर और अपर ब्रह्म ओंकार ही है। इसलिए विद्वान् इस आश्रय से (किसी) एक को पा लेता है।

तनिक दूसरे उद्धरण को भी देख लें। यह (प्रश्नो० ५-५) इस प्रकार है—

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत, स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत, एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम् स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः ।। (प्रश्नो० ५-५)

पुनः कहते हैं—जो त्रिमात्रा युक्त ओं अक्षर द्वारा परम पुरुष की उपासना (ध्यान) करता है, वह तेजोमय सूर्य में सम्पन्न हो जाता है। जैसे साँप केंचुली से विमुक्त हो जाता है, वैसे ही वह पुरुष पापों से मुक्त हो जाता है। उसे सामवेद के गान के साथ ब्रह्म-लोक में ले जाया जाता है। वह उस उच्च जीवन में भी उच्च स्थिति में पहुँच परम पुरुष का साक्षात्कार करता है। इस विषय में आगे दो श्लोक कहे हैं।

उपनिषद् वाक्य तो सर्वथा स्पष्ट हैं परन्तु स्वामी शंकराचार्यजी को घबराहट हुई है (५-२ में) परा और अपरा ब्रह्म का उल्लेख देखकर।

निस्सन्देह ब्रह्म तीन हैं। अपरा ब्रह्म प्रकृति है और परा जीवात्मा तथा परमात्मा हैं।

यह रहस्य श्री स्वामीजी महाराज को पता नहीं चला। संशय तो यह है कि किसकी उपासना की जाये ? परन्तु उपनिषद् में स्पष्ट लिखा है कि 'परंचापर च ब्रह्म यदोंकारः'—ओंकार से पर और अपर ब्रह्म दोनों का पता चलता है और विद्वान् लोग इसी (ओंकार) के आश्रय पर अथवा अपर में किसी एक ब्रह्म को पा लेते हैं। प्रकृति को भी पाया जा सकता है जैसे आजकल के वैज्ञानिक पा रहे हैं।

उपनिषद्कार ने अपने भाव को सर्वथा स्पष्ट करने के लिए कहा है कि ओं शब्द में तीन मात्रा हैं। मात्रा के अर्थ हैं मूल-तत्त्व। पर और अपर ब्रह्म का उल्लेख किया है, परन्तु परब्रह्म दो हैं। परमात्मा और जीवात्मा। अतः ओं शब्द के जप में पर और अपर दोनों जाने जा सकते हैं। इसका अभिप्राय उपनिषद्कार ने स्पष्ट कर दिया कि ओंकार के जप में तीन मूल-तत्त्व हैं। एक अपर और दो पर अर्थात् एक प्रकृति और दो अन्य हैं—जीवात्मा तथा परमात्मा। ओं के जप से किसी एक की प्राप्ति अर्थात् ज्ञान होता है।

आगे चलकर बताया है कि जो अपरा का ध्यान करता है वह इस पृथिवी पर (मर्त्य लोक में) ही रहता है। जो दूसरे स्तर अर्थात् जीवात्मा के स्तर पर ध्यान

लगाता है, वह अन्तरिक्ष में पहुँच पाता है। यहाँ अन्तरिक्ष का अर्थ है 'मनसि सम्पद्यते' मन की एकाग्रता पाता है। और तीनों मात्राओं में ध्यान लगाने वाला अर्थात् प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा में ध्यान लगाने वाला वहाँ पहुँचता है, जिसका प्रश्नो० ५-५ में वर्णन किया है।

उपनिषद् तो स्पष्ट है और स्वामीजी ने कह दिया कि संशय युक्त है और फिर कह दिया कि सूत्र (ब्र० सू० १-३-१३) इसको स्पष्ट करने के लिए लिखा है।

सूत्र है—'ईक्षति कर्म' के बताने से (परमात्मा के धर्म का ज्ञान होता है)। पूर्व के सूत्रों के साथ इसी प्रकार इस सूत्र की संगति बैठती है। उपनिषद् के वाक्य और सूत्र में परस्पर किसी प्रकार का सामंजस्य नहीं है।

यह कहा जाता है कि ब्रह्मसूत्र बहुत कठिनाई से समझ में आते हैं। यह तो ठीक है, परन्तु असंगत उपनिषदों के वाक्यों ने तो उनको और भी दुरूह बना दिया है।

दर्शन-शास्त्र जगत् की वैज्ञानिक व्याख्या कर रहे हैं और स्वामीजी तथा उनकी परिपाटी के भाष्यकार लगे हैं पूजा-पाठ तथा मोक्ष और पाप-पुण्य की बातें करने।

यह ठीक है कि परम साध्य, मोक्ष प्राप्ति है; परन्तु ब्रह्मसूत्र तो ब्रह्म (त्रिविध ब्रह्म) को समझाने के लिए लिखे गये हैं। भाष्यकारों ने अनावश्यक असम्बद्ध विषय को बीच में लाने का यत्न किया है। वह विषय अपने स्थान पर आवश्यक होता हुआ भी यहाँ पर असम्बद्ध है।

दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

दहर+उत्तरेभ्यः।

आगे कहे हुए वर्णनों से 'दहर' होने के कारण।

दहर का शाब्दिक अर्थ है 'सूक्ष्म'। परन्तु पारिभाषिक अर्थ है पर। अर्थात् आत्म-तत्त्व। एक जीवात्मा और दूसरे परमात्मा।

परमात्मा के धर्मों का वर्णन हो रहा है। वह परमात्मा जो अन्तरिक्ष में सूर्य, चन्द्रादि ग्रहों को तथा नक्षत्रों को धारण किये हुए है अथवा जो अम्बरान्त में शासन करता है। अभिप्राय यह कि अम्बरान्त सबको नियन्त्रण में रखता है तथा जो ईक्षति कर्म करता है।

यह भी परमात्मा का ही वर्णन चल रहा है और इस सूत्र में कहा है कि आगे सूक्ष्म स्थान पर रहने वाले का वर्णन है। सूक्ष्म-स्थान है हृदय की गुहा में जहाँ दोनों आत्म-तत्त्व साथ-साथ निवास करते हैं।

'दहर' शब्द उस सूक्ष्म स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ है जो हृदय देश में है। सूक्ष्म देश अवकाश (रिक्त स्थान) को कहते हैं और अवकाश (space) को परमात्मा का लिंग माना है (ब्र० सू० १-१-२२)। अतः दहर शब्द से परमात्मा का ही अभिप्राय है। ऐसा कहा जाता है।

दहर शब्द का परमात्मा के लिए छान्दोग्य उपनिषद् ८-१-१, ३, ५ में प्रयोग किया गया है।

उत्तरेभ्यः का अर्थ है कि आगे कहे हुए के वर्णन से। अतः यह देखना चाहिए कि सूत्रकार आगे किस आत्म-तत्त्व का वर्णन करता है। हमारा मत है कि सूत्रकार दहर से परमात्मा का अभिप्राय लेता है अथवा जीवात्मा का, यह उपनिषद् की साक्षी से निर्णय नहीं हो सकता। स्वतन्त्र रूप से देखना चाहिए कि आगे के सूत्रों में किस आत्म-तत्त्व का वर्णन है।

अन्य भाष्यकार तो सूत्रों के अर्थ लगाने में उपनिषद् को ही साक्षी मानते हैं। स्वामी शंकराचार्य वेद (ऋक्, यजु, साम तथा अथर्व) को भी गौण प्रमाण मानते हैं। वह उपनिषद् को ही वेदान्त वाक्य मानते हैं। साथ ही श्री स्वामीजी और अन्य भाष्यकार यह मानते हैं कि कहीं-कहीं उपनिषद् वाक्य अस्पष्ट होने से संशय उत्पन्न करते हैं और वह कहते हैं कि सूत्र उन संशयों का निवारण करते हैं।

हमने इस बात का खण्डन किया है। इस सूत्र के भाष्य में जो उद्धरण (छान्दो० ८-१-१) दिया है, वह संदिग्ध नहीं। उसमें तो स्पष्ट लिखा है—

ब्रह्मपुरी में सूक्ष्म कमल रूपी ग्रह है। उसमें आकाश के भीतर जो दहर है, उसकी खोज करनी चाहिए। (किसको किसकी खोज करनी चाहिए ? निस्सन्देह जीवात्मा को परमात्मा की) (छान्दो० ८-१-१)।

इसी प्रकार इसी उपनिषद् (८-१-६) में वर्णन है कि—

···तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ···

अर्थात्—जो इस आत्मा (दहर) को और सत्य कामनाओं को बिना जाने मर जाता है, उसकी सब लोकों में यथेच्छ गति नहीं होती।

इस प्रकार इस उपनिषद् में तो दहर स्पष्ट रूप में परमात्मा के लिए आया है। यह लिखा है कि जो जीवात्मा इसको जाने बिना शरीर छोड़ जाता है, उसकी कामनाएँ अपूर्ण रह जाती हैं। स्पष्ट है कि जानने वाला ज्ञेय से भिन्न है।

परन्तु इस सूत्र में दहर का अर्थ (उत्तरेभ्यः) आगे वर्णन से ही पता चलेगा।

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंगं च ॥१५॥

गतिशब्दाभ्यां+तथाहि+दृष्टं+लिंग+च।

और वाकादि इन्द्रियों की गति से ही दिखाई देता है लिंग (लक्षण) दहर का।

गति का अभिप्राय है कि शरीर के अंग-प्रत्यंग का हिलना-डोलना। शब्द का अभिप्राय है वाक्। यह प्रथा है कि एक इन्द्रिय के उल्लेख से सब इन्द्रियों का उल्लेख माना जाता है। अतः शब्द से पाँचों कर्मेन्द्रियों का अभिप्राय है।

तथाहि का अभिप्राय है जिससे। दृष्टं से अभिप्राय है दिखाई देता है। लिंग =चिह्न।

यह हम ऊपर बता आये हैं कि शरीर में गति और कर्म की शक्ति परमात्मा की है। जीवात्मा उस गति की दिशा, काल और स्थान निश्चय करता है। हमने मोटर में पैट्रोल और चालक का उदाहरण देकर अपना आशय स्पष्ट किया था।

यहाँ भी यही वर्णन है। शरीर में गति और कर्मेन्द्रियों की कर्म शक्ति उससे है, जो दहर है। यहाँ हमने शरीर की बात क्यों कही है? यह इस कारण कि परमात्मा के शरीर की गुहा में उपस्थित होने के कारण प्रकट होने वाले धर्मों का उल्लेख कर रहे हैं।

जीवात्मा शरीर की शक्तियों एवं गतियों का स्रोत नहीं माना जाता। यह तो ईश्वर ही है। ईश्वर ही पूर्ण जगत् में गतियों का करने वाला स्वीकार किया गया है, परन्तु यहाँ केवल शरीर के साथ सम्बन्ध है। इसी कारण शब्द (वाक्) कर्मेन्द्रिय का और इससे पाँचों कर्मेन्द्रियों का वर्णन है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि इससे पूर्व सूत्र में दहर से परमात्मा का ही वर्णन है। उपनिषद् में भी ऐसा ही वर्णन है।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥१६॥

धृतेः+च+महिम्नः+अस्य+अस्मिन्+उपलब्धेः।

और अस्य=इसकी। अस्मिन्=इस (शरीर) में। धृते=धारण करने की (पालन-पोषण करने की)। महिम्नः=महिमा के। उपलब्धे=पाये जाने से।

अभिप्राय यह कि हृदयाकाश में रहते हुए दहर परमात्मा का महान् कार्य इस शरीर में पालन-पोषण ही है। यही दिखायी देता है।

यहाँ इस सूत्र में और इससे पहले सूत्र में अन्य भाष्यकारों ने गति, शब्द और इसमें धृति को अन्तरिक्ष में होने वाली घटनाओं से जोड़ा है। यह ठीक है कि

परमात्मा वहाँ भी गति इत्यादि का कर्ता है, परन्तु इन गतियों का उल्लेख ग्रन्थरान्त के साथ करना विषयान्तर होगा।

साथ ही इस सूत्र में भी स्पष्ट 'अस्मिन्' शब्द आया है। इसका अन्य कुछ अर्थ ही नहीं। यहाँ शरीर का ही वर्णन कर रहे हैं।

अतः हमने गति शब्द का अर्थ शरीर सम्बन्धी क्रियाओं से ही किया है और धृति अर्थात् धारण करने की क्रिया का सम्बन्ध भी शरीर से ही जोड़ा है। विषयान्तर बात सत्य होते हुए भी करणीय नहीं कही जा सकती।

शरीर का पालन-पोषण जीवात्मा नहीं करता। वह कर सकता भी नहीं। अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जीवात्मा शरीर छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु ईश्वरीय शक्ति की प्रतिकूलता के कारण शरीर रहने योग्य नहीं रहता।

यह ठीक है कि जीवन और जीवन में उपलब्धियाँ कर्मफल से होती हैं और कर्म करने की स्वतन्त्रता जीवात्मा को है, परन्तु कर्म करने के उपरान्त फल भोगने में वह स्वतन्त्रता का प्रयोग नहीं कर सकता। वह परतन्त्र ही होता है।

उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाती है। एक मनुष्य मद्यपान करे अथवा न करे, इसमें वह स्वतन्त्र है। परन्तु मद्यपान के चिरकाल तक प्रयोग से हृदय की दौर्बल्यता एवं रुग्णता को रोकने की स्वतन्त्रता उसमें नहीं। जब रोग हो जाता है तो उससे होने वाला कष्ट होगा ही।

अभिप्राय यह कि शरीर का संचालन, भरण-पोषण तो जीवात्मा से किसी अन्य के हाथ में है। जीवात्मा उस संचालन इत्यादि को कब, कहाँ और किस प्रकार प्रयोग करे, इसमें स्वतन्त्र है।

प्रसिद्धेश्च ॥१७॥

प्रसिद्धेः+च। **और प्रसिद्धि के कारण भी।**

उक्त सूत्र में दिये गये उदाहरणों को नित्य देखने से यही बात स्पष्ट है कि शरीर में कर्म करने की शक्ति, पालन-पोषण करने की शक्ति, जीवात्मा के अतिरिक्त किसी की है, ऐसा शास्त्र ग्रन्थों में भी लिखा है।

जीवात्मा तो न जन्म लेता है, न मरता है। न बीमार होता है, न छोटा-बड़ा होता है। जो कुछ होता है, शरीर ही होता है। शरीर जड़ है; अतः इसमें जो गति इत्यादि देखी जाती है अथवा परिवर्तन इत्यादि जो दिखाई देते हैं, वे किसी चेतन शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। वह चेतन शक्ति जीवात्मा न होने से परमात्मा ही हो सकती है। परमात्मा भी दहर स्थान में उपस्थित होने से दहर ही है। अतः अभिप्राय यह है कि मनुष्य शरीर में शक्ति परमात्मा की है।

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥१८॥

इतरपरामर्शात्+स+इति चेत्+न+असम्भवात्।

इस सूत्र का अर्थ करने में इति चेत्+न+असम्भवात् ही कुंजी है। इसका दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है। एक है यदि कहो तो (ठीक) नहीं, असम्भव होने से। दूसरे प्रकार से अर्थ यह है कि यदि यह कहो तो यह (न असम्भवात्) अर्थात् असम्भव न होने से। न असम्भवात् का अर्थ इकट्ठा किया है। क्या? सम्भव होने से।

यदि पहला अर्थ लिया जाये तो सूत्र का भावार्थ इस प्रकार बनता है—

वह (परमात्मा की शक्ति का कार्य होता है) दूसरे के परामर्श से। यदि यह कहो कि नही तो असम्भव होने से है। अर्थात् यह मानना असम्भव है कि शरीर में कार्य इतर के परामर्श से नहीं होता।

दूसरे ढंग से अर्थ करने पर भावार्थ इस प्रकार बनता है। परमात्मा (की शक्तियों का प्रयोग) दूसरे के परामर्श से है। यह कहो तो सम्भव है।

दोनों भावार्थ समान अर्थ वाले हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि दहर स्थान में दो आत्म-तत्त्व हैं। यह सूत्र (ब्र० सू० १-२-११) में स्पष्ट किया जा चुका है। जीवात्मा शरीर में कार्य की दिशा, स्थान और काल निश्चय करता है। इसे निर्णय करना कहते हैं। यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा कार्य के काल, स्थान और दिशा का निर्णय करता है।

परमात्मा की सामर्थ्य से ही शरीर कार्य करता है। परन्तु क्या जीवात्मा उस सामर्थ्य का प्रयोग करने में दिशा, स्थान और ढंग का निर्णय भी परमात्मा की सम्मति से करता है? सूत्रकार कहता है कि यदि यह कहो कि करता है तो ऐसा करना असम्भव होने से है।

असम्भव इस कारण है कि जीवात्मा को स्वतन्त्रता और उसके अपने कर्मफल के भोग करने की बात नहीं हो सकेगी। यदि जीवात्मा कर्म की दिशा, स्थान और ढंग भी परमात्मा के निर्णय से करता है तो उस कर्म के फल का अधिकारी भी परमात्मा ही होगा। यह संभव नहीं।

इस सूत्र में मनुष्य शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध वर्णित है। सम्बन्ध यह है कि जीवात्मा परमात्मा की शक्ति का प्रयोग करता है।

शक्ति तो परमात्मा की है। यदि इस शक्ति का दुरुपयोग भी परमात्मा की करनी से माना जाये, तो इस संसार में जो भी पाप होता है, वह परमात्मा की करनी से मानना पड़ जायेगा। इसी कारण इस सूत्र की आवश्यकता है। सूत्र बताता है कि शरीर में परमात्मा की शक्ति का प्रयोग जीवात्मा अपनी सम्मति से करता है।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी अपने पूर्वग्रहों से ग्रसित जीवात्मा नाम की किसी पृथक् सत्ता को मानते नहीं। अतः जहाँ भी जीवात्मा का उल्लेख आता है, वहाँ विषयान्तर बात कर देते हैं। यही बात उन्होंने यहाँ की है।

वृत्तान्त हो रहा है दहर स्थान में उपस्थित परमात्मा का। पूर्व सूत्रों में यह बताया है। वाकादि इन्द्रियों में गति दहर स्थित परमात्मा से होती है। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि परमात्मा की शक्ति से इन्द्रियों की क्रियाओं में दिशा, स्थान और काल का निर्णय भी परमात्मा करता है क्या? इसके लिए इस सूत्र की आवश्यकता है। सूत्रकार कहता है (इतर परामर्शात्) इतर के परामर्श से होता है। यह असम्भव नही है।

श्री स्वामी शंकराचार्य यहाँ असम्बद्ध बात ले आये हैं कि सम्प्रसाद की अवस्था में परमात्मा जीव को परामर्श करता है। हमारा यह मत है कि सूत्रार्थ सर्वथा सरल है। इतर (जीवात्मा) के परामर्श से (परमात्मा की शक्ति का प्रयोग होता है)। सूत्र मे शब्द है परामर्श। इसके अर्थ मोनियर अपने शब्द कोष में करता है—Referring or pointing to, reflection or consideration, judgement.

यहाँ इतर (जीवात्मा) को लिखा है। परमात्मा की सामर्थ्य के विषय में लिखा है।

श्री उदयवीर शास्त्रीजी ने भी लगभग वैसे ही अर्थ किये जैसे शंकराचार्य ने किये हैं। वे भी असम्बद्ध हैं। यहाँ सम्प्रसाद की अवस्था का उल्लेख नहीं। न ही सुषुप्ति की अवस्था का वर्णन है।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१९॥

उत्तरात्+चेत्+आविर्भूतस्वरूपः+तु।

उत्तरात्=अगले से (परमात्मा से)। चेत्=यदि। आविर्भूज=प्रत्यक्ष हुए। स्वरूपः=स्वरूप वाले। तु=तो।

यदि परमात्मा से प्रत्यक्ष हुए स्वरूप वाला कहो तो (न असम्भवात्) असम्भव नहीं है। अर्थात् यह सम्भव है। यहाँ यह पूर्व सूत्र की पुनरावृत्ति है। तु शब्द से इसका संकेत मिलता है। क्या सम्भव है? कार्य जीवात्मा के परामर्श से हो। परामर्श के अर्थ हम पूर्व सूत्र के भाष्य में लिख आए हैं।

सूत्र का भावार्थ यह बनता है—जीवात्मा को जब परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, तब भी इसका कार्य जीवात्मा के परामर्श से होता है? सूत्रकार का कहना है कि यह सम्भव है।

साक्षात्कार में जीवात्मा मुक्त हो जाता है। मुक्त जीवात्मा क्या करते हैं? यह

दर्शन-शास्त्र के चतुर्थ अध्याय में लिखा है। कम से कम वह आनन्द को तो प्राप्त होता ही है। इसमें भी वह आनन्द का भोग स्वेच्छा से करता है अथवा परमात्मा ही उसका निर्णय करता है? सूत्रकार का मत है कि स्वेच्छा से ही आनन्द का भोग करता है। परमात्मा का इसमें आदेश नहीं।

पूर्व सूत्र में हम लिख आये हैं कि शरीर में स्थित जीवात्मा भी कार्य की दिशा, काल और विधि स्वयं निर्णय करता है और इस सूत्र में लिखा है कि साक्षात्कार हो जाने पर भी वह जो कुछ भी करता है, स्वेच्छा से करता है।

यथार्थ बात यह है कि जीवात्मा दोनों अवस्थाओं में स्वतन्त्र है। शरीर में स्थित अवस्था में भी और मोक्षावस्थाओं में भी।

यह इस प्रकार है जैसेकि कोई शिष्य गुरु से पढ़कर ज्ञानवान् हो जाता है और गुरु की भाँति धर्मों वाला हो जाता है। इस पर भी वह गुरु नहीं हो जाता। यदि वह गुरु के धर्मों का पालन करता है तो स्वेच्छा से करता है, आदेश से नहीं। उस समय भी वह अपने किये का स्वयं उत्तरदायी है।

सूत्रार्थ स्पष्ट है—

(दहर गुहा में स्थित) अगला (परमात्मा) प्रत्यक्ष हुए स्वरूप से भी अर्थात् जीवात्मा की मोक्षावस्था में भी परामर्शदाता होना आवश्यक नहीं।

जीवात्मा अपने कर्मों में स्वतन्त्र है और अपने कर्मों के फल को भोगता है।

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

अन्यार्थः+च+परामर्शः।

अन्यार्थः=दूसरे के लिए। च=और। परामर्शः=निर्णय करने के लिए।

अन्य कौन हैं? निस्सन्देह जीवात्मा से प्रयोजन है। वर्णन है परमात्मा की शक्ति का।

ऊपर हम बता चुके हैं कि दहर स्थान में परमात्मा और जीवात्मा दो विद्यमान हैं। एक जो अम्बरान्त तक धारण और शासन करता है। दूसरा अणु मात्र है और शरीर में कार्य करता है। यह भी बताया है कि प्राणी में यह शक्ति किसी दूसरे के प्रयोग के लिए है और उसकी सम्मति से काम में लायी जाती है। वह दूसरा भी दहर में ही रहता है।

अर्थात् शरीर में परमात्मा की शक्ति जीवात्मा के प्रयोग के लिए है और उसके द्वारा ही इसके प्रयोग की दिशा, काल और स्थिति का निर्णय होता है।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥२१॥

अल्प श्रुतेः+इति+चेत्+तत्+उक्तम् ।

(चेत् इति) यदि यह कहो कि (अल्पश्रुतेः) यह छोटे स्थान में कहा गया है (तो यह छोटा है) (तत्) इस विषय में (उक्तम्) ऊपर कह दिया गया है।

यह ऊपर (ब्र० सू० १-३-१०) कहा गया है कि आकाश के अन्त तक यह धारण किये हुए है। अतः उसका उल्लेख इस छोटे स्थान में भी होना अयुक्तिसंगत नहीं।

वह सर्वव्यापक होने से इस हृदय की गुहा में भी है। यहाँ इसकी शक्ति वही है जो अम्बरान्त में कार्य कर रही है। जीवात्मा का निवास-स्थान भी यही है। अतः जीवात्मा परमात्मा की उस शक्ति का प्रयोग कर शरीर का संचालन करता है और इससे कर्म करता है। अतः इस अल्प स्थान में भी परमात्मा के होने से परमात्मा में किसी प्रकार का छोटापन नहीं आ जाता। जो सर्वव्यापक है, वह छोटे-बड़े सब स्थानों पर है।

अनुकृतेस्तस्य च ॥२२॥

अनुकृते+तस्य+च ।

और उसका अनुकरण करने से।

उस अल्प स्थान में होने वाले का अनुकरण करने से। कौन अनुकरण करे? उस अल्प स्थान में जो उसके पास है। कैसे अनुकरण करे? उपासना कर उसके गुणों की स्तुति करने से।

सूत्र (१-३-१४) से परमात्मा का दहर स्थान में होने पर प्राणी में कार्य का वर्णन हो रहा है। उसी सूत्र में कहा गया है कि आगे के वर्णन से। और अगले सूत्र (१-३-१५) में वर्णन किया है कि उस परमात्मा से, जो दहर स्थान पर है, शरीर में गति और कर्मेन्द्रियों के कार्य होते दिखाई देते हैं। फिर (१-३-१६ में) कहा है कि उसी परमात्मा की महिमा (कृपा) से शरीर का पालन-पोषण होता है। और (१-३-१७ में) कहा है कि यह प्रसिद्ध (सर्वविदित) है कि ईश्वर की कृपा से ही सब कार्य होते हैं। तदनन्तर (१-३-१८ में) कह दिया है कि यह दूसरे का परामर्श है। यदि यह कहो तो असम्भव नहीं। अर्थात् परमात्मा शक्ति तो देता है, परन्तु शक्ति के प्रयोग का परामर्श नहीं देता। आगे १-३-१९ में कहा है कि दूसरे को जब प्रत्यक्ष होता है तो भी यह असम्भव नहीं। यह स्वतः ही कार्य करता है। आगे १-३-२० में कहा है कि यह शक्ति का प्रयोग दूसरे के परामर्श के लिए है। १-३-२१ में लिखा है कि छोटे स्थान में होने से वह छोटा नहीं हो गया।

और इस सूत्र में लिखा है कि उसका जो दहर में उपस्थित है, अनुकरण करने से। अर्थात् परमात्मा का अनुकरण करने से लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

अपि च स्मर्यते ॥२३॥

च+स्मर्यते+अपि।

और (स्मर्यते) ऐसा ही स्मरण भी किया जाता है।

अनुकरण करने से मोक्ष प्राप्त होता है और स्मरण करने से भी।

अनुकरण करना तो कर्म है और कर्म का फल होता है। वह फल मोक्ष है। परन्तु प्रश्न यह है स्मरण करने से क्या होगा? स्मरण करना तो किसी प्रकार से कर्म नहीं।

ऐसा वेद और उपनिषदों में लिखा है कि स्मरण करने से परमात्मा की उपलब्धि होती है, परन्तु क्यों और किस प्रकार स्मरण करने से कल्याण होता है? यह प्रश्न बना रहता है।

नास्तिक कहते हैं कि परमात्मा क्या अपनी प्रशंसा अथवा खुशामद कराना पसन्द करता है जो वह बार-बार पुकार करनेवाले के कष्ट निवारण कर देता है?

वैदिक मीमांसा यह नहीं है। दर्शन-शास्त्रकार का भी यह अभिप्राय नहीं है।

इसमें समझने की बातें दो हैं। क्या स्मरण करना चाहिए और उस स्मरण करने से कर्मों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

स्मरण तो परमात्मा को ही करना चाहिए, परन्तु परमात्मा तो गुण स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, सुकृत कर्म करने वाला है। अतः परमात्मा का जब उसके गुणों सहित स्मरण किया जाता है तो उपासक के मन पर उसके गुणों का प्रभाव होता है। उसके मन पर उन गुणों के संस्कार बैठने लगते हैं। उन संस्कारों से वह स्वभाव से ही वैसे गुण अपने में धारण करने लगता है।

परमात्मा दयालु है, सबका हित करता है, पश्चात्ताप करने वाले को क्षमा कर देता है। इन गुणों का बार-बार स्मरण करने से मनुष्य स्वयं भी वैसे ही गुण वाला हो जाता है। इससे उसका कल्याण होता है।

स्मरण करने से कल्याण होता है, यह शास्त्र का विधान भी है। भगवद्गीता में इस प्रकार लिखा है —

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(भ० गी० ८-१३)

इसका अर्थ है—ब्रह्म का, जो एक ओ३म् अक्षर से प्रकट किया जाता है, उच्चारण करते हुए तथा स्मरण करते हुए जो शरीर का त्याग करता है वह परम गति को प्राप्त होता है।

ऐसे अन्य प्रमाण भी हैं। इनमें युक्ति वही है जो हमने ऊपर लिखी है। परमात्मा के गुणानुवाद करने से वैसे गुणों के संस्कार मन पर बैठने से मनुष्य के कर्म भी वैसे ही हो जाते हैं। इससे उसका कल्याण होता है।

इसी प्रकार परमात्मा के अन्य नामों को स्मरण करने का प्रयोजन है; परन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि कुछ लोगों ने परमात्मा के ऐसे गुण कल्पित कर लिए हैं जो वास्तव में हैं नहीं। उन गुणों को स्मरण करने से कुछ लाभ होगा अथवा नहीं? हमारा विचार है कि नहीं होगा। कदाचित् हानि ही होगी।

उदाहरण के रूप में 'कृष्ण बाँसुरी के बजैया, मधुवन के गवैया' ऐसा गाते हुए लोग समझते हैं कि वे परमात्मा का स्मरण कर रहे हैं। ये परमात्मा के गुण नहीं हैं, अतः इन गुणों के संस्कार मन पर अंकित होने से मनुष्य संगीताचार्य हो जाये तो हो जाये, परन्तु वह ईश्वर के दर्शन कर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

वेद में इस प्रकार कहा है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ् शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर। क्लिबे स्मर। कृत ँ् स्मर।

(यजु० ४०-१५)

इस मन्त्र का अभिप्राय है कि वायु, अग्नि इस जगत् में अमृत (परमात्मा) के लक्षण हैं। शरीर तो भस्म हो जाता है। यह आत्मा का लक्षण नहीं। अतः हे! कर्म करने वाले! (ओ३म् क्रतो स्मर) ओ३म् (परमात्मा) को स्मरण कर (क्लिबे) पूर्ण सामर्थ्य से (उसको) स्मरण कर (कृत ँ् स्मर) अपने कर्मों को भी स्मरण कर।

इसी प्रकार परमात्मा दयावान् है। इससे जब कोई तुम्हारे एक गाल पर चपत लगाये तो दया कर दूसरा गाल उसके आगे कर दो। यह परमात्मा को स्मरण करना नहीं। इससे परमात्मा के न्यायकारी होने का प्रतिवाद हो जायेगा। इस प्रकार गुण, जो परमात्मा के हैं ही नहीं, उनका स्मरण करने से जीव का कल्याण सम्भव नहीं।

वहाँ स्मरण करने का अभिप्राय है जो परमात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव माने गये हैं, उनको स्मरण करना।

स्मरण करने पर अनुकरण भी होता ही है और इससे जीव का परम कल्याण अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति होती है।

शब्दादेव प्रमितः ॥२४॥

शब्दात्+एव+प्रमितः।

शब्द (वेद) से ही प्रमाणित है।

वे सब बातें जो ऊपर इस पाद में अभी तक कही हैं, वेदों में भी वर्णित हैं।

यह सूत्र हमारे इस कथन का ही प्रमाण है। ब्रह्मसूत्र स्वतः युक्ति से सिद्धान्तों का निश्चय करते हैं और दर्शनाचार्य वेदानुयायी होने से कहते हैं कि ऐसा वेदों में भी वर्णन किया गया है।

मोटी-मोटी बातें, जो इस पाद में अभी तक कही हैं, उनका उल्लेख हम यहाँ कर देते हैं।

(१) अपने कथनानुसार द्यूलोक, भूलोक इत्यादि का आश्रय स्थान परमात्मा है।

वेद प्रमाण है—

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥

(ऋ० १-१५४-१)

अर्थ है—जो परमेश्वर सब पार्थिव (सूर्य चन्द्रादि) लोकों को अपने बल से बनाता है, जो तीन प्रकार से चक्रमण करता हुआ सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है तथा संचालन करता है और जो बहुतों से गाया जाता है, उस परमात्मा का मैं वर्णन करूँ।

(२) मुक्त आत्माएँ उसी में उपगमन करती हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(मुण्डको० ३-२-८)

अर्थात्—जैसे प्रवाहमान नदी, समुद्र में पहुँचकर नाम, रूप त्यागकर समुद्र में लीन हो जाती है, वैसे ही ज्ञानी मनुष्य नाम रूप से रहित होकर अत्यन्त उत्तम और दिव्य परमेश्वर को प्राप्त होते हैं।

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ता॥

(श्वे० १-७)

ब्रह्मचक्र, जीव-समूह और प्रकृति भली-भाँति प्रतिष्ठित अक्षर है। इनमें भेद को जानकर ब्रह्मज्ञानी परमात्मा में लीन, उसी में तत्पर जन्म-मरण से मुक्त है।

(३) ऊपर जो कहा है कि द्यूलोक और भूलोक परमेश्वर के आश्रय हैं और मुक्त जीव भी उसी के आश्रय हैं तो यह केवल अनुमान ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष भी है।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि स विवेश॥

(यजु० ३२-११)

(४) सब भूतों, लोकों, दिशाओं-दिशाओं को जानकर अर्थात् इनका ज्ञान प्राप्त कर जीवात्मा परमात्मा में प्रवेश कर लेता है (अर्थात् उससे युक्त हो जाता है)।

(५) तीन अक्षर तत्त्व हैं (ऋ० १-१६४-२०)। तीनों में भेद स्पष्ट है।

(६) जहाँ जिसका प्रकरण हो, वहाँ उसका ही अर्थ लेना चाहिए।

(७) स्थिति और भोग के विचार से जीवात्मा की सिद्धि है।

(८) परमात्मा जीवात्मा पृथक्-पृथक् हैं।

(९) धर्मों के उपस्थित होने से परमात्मा और जीवात्मा पृथक्-पृथक् हैं।

(ऋ० १-१६४-२०) (श्वेता० १-९)

(१०) आकाश के अन्त तक धारण करने वाला परमात्मा है।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं……(ईशा० १)

(११) वह सब पर शासन करता है।

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।
इन्द्रस्य त्वा भागꣳ सोमेना तनच्मि विष्णो हव्यꣳ रक्ष॥

(यजु० १-४)

वह विश्व की आयु है, वह विश्व का रचने वाला है, वह विश्व का पालन-पोषण करने वाला है। तुम्हारे शासन से आनन्द का विस्तार होता है। वह परमात्मा सबकी रक्षा करता है।

(१२) अन्य अक्षर है भिन्न व्यवहार वाला। (भगवद्गीता १३-२१, २२)

इनमें प्रकृति, पुरुष और परमात्मा तीन भिन्न-भिन्न अक्षर माने हैं।

(१३) कर्म का काल, दिशा और स्थान निश्चय करने वाले को इक्षित गुण रखने वाला माना जाता है। (भ० गी० ८-१७, १९)

सृष्टि की रचना कब होती है और प्रलय कब होती है?

(१४) दहर परमात्मा जो आत्मा के साथ हृदय स्थल पर गुहा में रहता है।

(छा० ८-१-१), (कठो० १-३-१)

(१५) शरीर में गति आदि कर्म परमात्मा के करने से होते हैं।

(बृ० उ० ३-७ पूर्ण ब्राह्मण)

(१६) उस दहर स्थित परमात्मा से शरीर धारण हो रहा है।

(ऋ० १०-१२१-१)

(१७) प्रसिद्ध है कि परमात्मा शरीर को चालू रखता है।

(यजु० ३-३७)

(१८) शरीर कार्य जीवात्मा के परामर्श से चलते हैं। यह प्रत्यक्ष है।
(ऋ० ७-६६-१६, १७), (कठो० १-३-३, ४)

(१९) शरीर में परमात्मा की शक्ति को स्वरूप जीवात्मा देता है।
(कठो० १-३-५, ६, ७, ८, ९, १०, ११)

(२०) कर्म करने में जीवात्मा स्वतन्त्र है। जीवात्मा के कर्म परमात्मा की शक्ति को ही दिशा इत्यादि देते हैं।
(कठो० १-४-३)

(२१) दहर स्थित परमात्मा ही सर्वव्यापक परमात्मा है।
(कठो० १-३-१२)

वही परमात्मा जो हृदय की गुहा में है, सब भूतों में है।

(२२) परमात्मा का अनुकरण करने से (ब्रह्म की प्राप्ति)।
(भ० गी० ९-१४, १५)

परमात्मा के कीर्ति-गान और उपासना से मोक्ष की प्राप्ति होती है। उपासना का अभिप्राय है कि समीप बैठ गुणों के स्मरण करने से गुणों का अनुकरण होता है।

(२३) स्मरण करने से अनुकरण होता है। (भ० गी० ८-१४, १५)

अब पुनः सूत्रों का भाष्य प्रारम्भ करते हैं।

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥२५॥

हृदि + अपेक्षया + तु + मनुष्याधिकारत्वात्

हृदय में अपेक्षा से ही मनुष्य पर अधिकार से।

हृदय का अभिप्राय है दहर स्थान। वह सूक्ष्म स्थान जहाँ आत्मा-परमात्मा साथ-साथ रहते हैं। अपेक्षा का अभिप्राय है इसपर देखने से। अधिकारत्वात्—अधिकार से।

अतः इस सूत्र का अर्थ है कि हृदय स्थान पर रहता हुआ परमात्मा अपेक्षा से अर्थात् निगरानी रखने से मनुष्य पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और इस अधिकार से कर्म करने की सामर्थ्य इसमें देता है।

यहाँ मनुष्य शब्द का प्रयोग हुआ है। इसमें आत्मा, बुद्धि, मन और इन्द्रियों के समूह से अभिप्राय है। इस समूह पर ही दहर की अपेक्षा से अधिकार है।

इस सूत्र का अर्थ जीवात्मा पर भी हो सकता है। तब यह अर्थ बनेंगे कि जीवात्मा हृदय में रहता हुआ इसपर निरीक्षण रखने से पूर्ण मनुष्य शरीर पर अधिकार रखता है।

हमारे मत से जीवात्मा और परमात्मा दोनों से ही यहाँ अभिप्राय लेना चाहिए। दोनों साथ-साथ रहते हैं।

कुछ अन्य अर्थ भी किये गये हैं। उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री ने इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार किये हैं—

'(हृदि) हृदय में (अपेक्षया) अपेक्षा से (तु) तो (मनुष्याधिकारत्वात्) मनुष्यमात्र का अधिकार होने से। परमात्मा का अंगुष्ठ मात्र रूप से शास्त्रीय वर्णन हृदय में जीवात्मा द्वारा उसके साक्षात्कार होने की अपेक्षा से है। स्वतन्त्र रूप से नहीं; क्योंकि शास्त्र वर्णित साक्षात्कार में मनुष्यमात्र का अधिकार है।'

हमें इन अर्थों में कुछ अधिक खींचा-तानी प्रतीत हुई है। यह बात तो ठीक है कि शास्त्र मनुष्य ही पढ़ और समझ सकते हैं, अन्य प्राणी नहीं। परन्तु सूत्र के यह अर्थ हैं अथवा नहीं, यह बात विचारणीय है।

शब्द (अपेक्षया) अपेक्षा से किसी प्रकार उक्त अर्थों में ठीक नहीं बैठते।

हृदय में देख-रेख करने से अथवा ध्यान से देखने से इसका सम्बन्ध (मनुष्याधिकारत्वात्) मनुष्य के अधिकार से किस प्रकार बैठेगा ? विचार करने का विषय है।

इसका अर्थ केवल यही बैठता है कि हृदय में जो कोई भी है, वह हृदय मे इधर-उधर देख-रेख करने से मनुष्य शरीर पर अधिकार प्राप्त कर लेता है और फिर उस अधिकार से वह अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। मनुष्य शरीर पर अधिकार से लक्ष्य प्राप्ति यही हो सकती है कि परमात्मा द्वारा प्रस्तुत की गई सामर्थ्य का प्रयोग किया जा सके।

प्रथम अर्थ जो हमने दिये हैं, उससे दूसरे अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों के अर्थ लेने से एक के दूसरे की सामर्थ्य के प्रयोग करने से दोनों के सहयोग का अभिप्राय है।

श्री स्वामी शंकराचार्य और अन्य भाष्यकार भी सूत्र संख्या २४ और २५ के विलक्षण अर्थ करते हैं, जिसका सूत्र से किसी प्रकार का सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता।

स्वामी शंकराचार्य ब्र० सू० १-३-२४ का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(प्रमितः) 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो' इस प्रमितवाक्य प्रतिपाद्य पुरुष परमात्मा ही है (शब्दादेव) क्योंकि इशानो 'भूतभव्यस्य'। इस श्रुति में ईशान शब्द है।

यहाँ प्रमितः के अर्थ अंगुष्ठमात्र माने हैं। वास्तव में प्रमित के अर्थ हैं, वह जिसकी लम्बाई-चौड़ाई नाप ली गई है। इसके अर्थ सीमित भी हो सकते हैं, परन्तु वह अंगुष्ठ समान है, यह सिद्ध नहीं होता।

प्रमितः का अर्थ यह भी है कि जो प्रमाणित होता है अर्थात् जिसका नाप-तौल कर परीक्षण हो चुका हो। इसी को प्रमाणित हुआ माना जाता है।

अतः सूत्र 'शब्दादेव प्रमितः' का अर्थ हमने किया है—(शब्दात्) शब्द प्रमाण से (एव) भी (प्रमितः) सिद्ध होता है।

जब इस सूत्र में अंगुष्ठ प्रमाण का कहीं उल्लेख नहीं है तो अगले सूत्र में भी इसका उल्लेख नहीं मानना चाहिए।

श्री स्वामी ब्रह्म मुनिजी सत्य को पा गये प्रतीत होते हैं। वह इस सूत्र के अर्थ इस प्रकार करते हैं।

शब्दादेव प्रमितः—(प्रमितः—शब्दात्—एव) हृदय देश से प्रमित अर्थात् मान को प्राप्त हुआ—लक्षित हुआ, सम्यक् जाना हुआ परमात्मा शब्द प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

श्री स्वामी ब्रह्म मुनिजी ने प्रमितः के अर्थ तो ठीक कर दिये। इसमें अंगुष्ठ शब्द को नहीं लाये। इस पर भी व्यर्थ में हृदय गुहा के प्रमाण को ले आये हैं। शब्द प्रमाण से केवल यह ही नहीं सिद्ध होता कि परमात्मा इस गुहा मे है, वरन् यह भी सिद्ध होता है कि वह आकाश के अन्त तक है। इस कारण इस सूत्र में हमारा मत ही ठीक प्रतीत होता है। वह यह है—

शब्द प्रमाण से भी प्रमाणित है। उक्त सब सूत्र प्रमाणित हैं।

इसी के अनुरूप ही अगले सूत्र का अर्थ लेना चाहिए। उसमें अंगुष्ठ समान लाने की आवश्यकता नहीं। यह तो स्पष्ट ही है कि हृदय-स्थल में अंगुष्ठ बराबर कोई रिक्त स्थान नहीं है। जब रिक्त स्थान नहीं तो उसे गुहा किस प्रकार कहा जाएगा? दहर के अर्थ भी अंगुष्ठ समान नहीं। इसका अर्थ सूक्ष्म, अति सूक्ष्म है। अतः प्रस्तुत सूत्र (ब्र०सू० १-३-२५) का अर्थ वही ठीक है जो हमने ऊपर किया है। अंगुष्ठ इत्यादि का उल्लेख इसमें नहीं। मनुष्य (शरीर, मन और आत्मा) पर अधिकार प्राप्त होने से परमात्मा इसमें सामर्थ्य प्रदान करता है और जीवात्मा इस सामर्थ्य को दिशा देता है।

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥२६॥

तदुपरि+अपि+बादरायणः सम्भवात्।

तदुपरि=तत्+उपरि उस ओर जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त (बादरायणः अपि) बादरायण भी कहता है (सम्भवात्) सम्भव होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि बादरायण ऋषि भी यह कहते हैं कि यह असम्भव नहीं। क्या असम्भव नहीं? यह कि जो परमात्मा आकाश के अन्त तक व्यापक है, वही हृदय की गुहा में भी है।

इस सूत्र में विवाद खड़ा कर दिया गया है। तदुपरि (तत् उपरि) वाक्य के अर्थों पर। हमने इस वाक्य का अर्थ किया है कि जो कुछ ऊपर के सूत्रों में युक्तियाँ

तथा प्रमाण दिये हैं, उनसे भी अधिक बादरायण ऋषि कहते हैं कि यह सम्भव हो सकता है; जो सर्वत्र व्यापक है, वही गुहा में भी है।

श्री स्वामी शंकराचार्य जी यह मानते हैं कि पूर्व सूत्र (१-३-२५) में यह माना है कि मनुष्य को शास्त्र समझने के अधिकार से पता चलता है कि हृदय देश में परमात्मा है। हमने इसका अर्थ किया है—मनुष्य के शरीर, मनु, बुद्धि पर अधिकार से गुहा में स्थित परमात्मा से (मनुष्य की) क्रियायें चलती हैं। जीवात्मा तो उन क्रियाओं को दिशा देता है, जीव क्रिया की सामर्थ्य का निर्माणकर्ता नहीं है।

मनुष्य शास्त्र को समझता है अथवा नहीं समझता, इसका प्रश्न नहीं। इसी प्रकार 'तदुपरि' के अर्थ मनुष्य से ऊपर देवतागण नहीं। ऊपर जो कुछ कहा है, उससे अतिरिक्त भी बादरायण ऐसा मानते हैं। कारण यह कि यह सम्भव प्रतीत होता है।

यहाँ बादरायण ऋषि का नाम ऐसे आया है कि जैसे वह ब्रह्मसूत्रों के लिखने वाले से कोई पृथक् व्यक्ति है। यह सम्भव भी है और नहीं भी। दोनों प्रकार से लिखा जा सकता है। लेखक किसी दूसरे को साक्षी रूप से उपस्थिति कर सकता है और वह अपनी किसी बात को बलपूर्वक कहने के लिए अपने नाम का उल्लेख भी कर सकता है। अतः यह विवादास्पद बात नहीं। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि इन सूत्रों के लेखक बादरायण ऋषि हैं अथवा नहीं? इस सूत्र से पक्ष-विपक्ष में कुछ नहीं कहा जा सकता।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी हृदय की गुहा में परमात्मा को अंगुष्ठ समान मानते हैं। इसमें प्रमाण दिये हैं। सूत्र संख्या २४ के भाष्य में श्री स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' इति श्रूयते। तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वै तत्' (कठो० २-१-१३) इति च। तत्र योऽयमङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः श्रूयते, स किं विज्ञानात्मा, किंवा परमात्मेति संशयः।

इसका अर्थ है—अंगुष्ठमात्र पुरुष मध्य आत्मा में ठहरा है। ऐसा सुना जाता है। और अंगुष्ठ मात्र पुरुष ज्योति के समान धूम रहित है। वह भूतभविष्यत का शासक है। वह आज है, वह ही आगे भी रहेगा। (कठो० २-१-१३) वहाँ जो यह अंगुष्ठ मात्र पुरुष सुना जाता है, वह क्या विज्ञानात्मा-जीवात्मा है अथवा परमात्मा है? यह संशय है।

यह संशय है कि हृदय की गुहा में जो अंगुष्ठ मात्र है, वह परमात्मा है अथवा जीवात्मा है? यह संशय तो ठीक है, परन्तु इस संशय से उक्त सूत्र (१-३-२४) का सम्बन्ध क्या है? वहाँ सूत्र में तो है 'शब्दार्थ—इव—प्रमितः'। इस सूत्र का अर्थ हम ऊपर कर आये हैं।

अब तनिक स्वामीजी के मन के संशय के विषय में भी देखना चाहिए कि श्रुति (कठो० २-१-१३) में कहीं संशय के लिए स्थान है क्या ?

कठोपनिषद् २-१-१२ तथा १३ में अंगुष्ठ मात्र शब्द का उल्लेख है। अंगुष्ठ मात्र का अर्थ अँगूठे के समान मात्रा वाला नहीं। इसका अर्थ अंगुष्ठ मात्र में रहने वाला है।

यदि अगुष्ठ मात्र का अर्थ अँगूठे के समान भी समझा जाए तो भी किसके अँगूठे के, इसका कहीं वर्णन नहीं है। अतः हम इसको सूक्ष्म स्वरूप का पर्याय शब्द ही मानते हैं।

कुछ भी हो, इन श्रुतियों में यहाँ जीवात्मा तथा परमात्मा में संशय नहीं किया जा सकता। स्पष्ट शब्दों में यह उक्त उपनिषद् में परमात्मा के लिए ही प्रयोग हुआ है। उक्त दोनों मन्त्रों के अन्त में और इस पूर्ण वल्ली (कठो० २-१-३) के कई मन्त्रों के अन्त में शब्द है एतद्वै तत्—यह ही वह है। अर्थात् यह परमात्मा ही है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि कठोपनिषद् में यह वल्ली परमात्मा-परक ही है और वहाँ उल्लेख है कि शरीर के पूर्ण अंगों में प्रतिष्ठित वह परमात्मा ही है।

जब यह ज्ञात हो जाये कि इन सूत्रों का विषय वह नहीं जो कठोपनिषद् के उक्त उदाहरणों मे है, तो सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाते हैं। यह तो सूत्रों को उपनिषद् वाक्यों में बाँध रखने के कारण ही सूत्रार्थों में भ्रम उत्पन्न हुआ है। उनकी खींचातानी कर उपनिषद् के अनुकूल बनाने का यत्न किया जा रहा है।

अतः इस सूत्र का भाव यह है कि उक्त युक्तियों और प्रमाणों के अतिरिक्त भी महर्षि बादरायण का कहना है कि दहर में वही परमात्मा है, जो आकाशान्त पर्यन्त है। यह विचार असम्भव नहीं है।

यह असम्भव इस कारण नहीं कि परमात्मा सर्वव्यापक है; अतः उसका दहर में विद्यमान होना असम्भव नहीं है।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

विरोधः+कर्मणि+इति+चेत्+न+अनेक+प्रतिपत्तेः+दर्शनात्।

कर्म में विरोध होता है यदि (यह कहो) तो (यह ठीक) नहीं (कारण यह) कि अनेक प्रतिपत्तियाँ दिखायी देती हैं।

भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने इसके कई प्रकार से विलक्षण भाष्य किये हैं। हम अपने पूर्व सूत्रों के भाष्यों के अनुरूप ही इसका भाष्य करते हैं।

वह यह कि प्राणी के शरीर में कर्म करने की शक्ति परमात्मा की ही है, परन्तु प्राणी के कर्मों में विरोध होता है। यदि हम कहें कि इस विरोध से कर्म करने की शक्ति परमात्मा की नही तो सूत्रकार कहता है कि यह कहना ठीक नहीं। कारण यह है कि अनेक हैं, जो कर्मों को दिशा देने वाले हैं। अर्थात् अनेक जीवात्मा कर्मों को दिशा देने वाले हैं। शब्द हैं (अनेक प्रतिपत्तेः दर्शनात्) अभिप्राय है कि अनेक प्रतिपत्तियाँ दिखाई देने से।

प्रतिपत्ति के अर्थ हैं शक्तियों के प्रभाव से। ये शक्तियाँ जीवात्माओं की हैं। साथ ही शरीर में मन एवं बुद्धि के प्रभाव भी विद्यमान हैं।

उदाहरणस्वरूप हाथ खाद्य पदार्थों को उठाकर मुख में डालने के लिए है, परन्तु हाथ कौन-सा पदार्थ उठाकर मुख में डाले अथवा कौन-सा न डाले, यह मन और बुद्धि के प्रभाव से पता चलता है। मन में खाद्य पदार्थों के रूप, रस, गंध के संस्कार रहते हैं। बुद्धि उन दिखायी देने वाले गुणों को परखती है और फिर आत्मा आदेश देती है और तब हाथ खाद्य-पदार्थ को उठाता है अथवा नहीं उठाता।

अतः कर्म में विरोध होने से शरीर में शक्ति रूप परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य को मानने में कारण नहीं। विरोध भिन्न-भिन्न शक्तियों के कारण होता दिखायी देता है।

अब देखें कि स्वामी शंकराचार्य इस विरोध और प्रतिपत्ति के विषय में क्या लिखते हैं! वह इसी सूत्र के भाष्य का इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

स्यादेतत्, यदि विग्रहवत्त्वाद्यभ्युपगमेन देवादीनां विद्यास्वधिकारो वर्ण्येत। विग्रहवत्त्वादृत्विगादिवदिन्द्रादीनामपि स्वरूपसंनिधानेन। कर्माङ्गभावोऽभ्युपगम्येत्। तदा च विरोधः कर्मणि स्यात्। नहीन्द्रादीनां स्वरूपसंनिधानेन यागेऽङ्गभावो दृश्यते। नच संभवति; बहुषु यागेषु युगपदेकस्येन्द्रस्य स्वरूपसंनिधानतानुपपत्तेरिति चेत्, नायमस्ति विरोधः। कस्मात्? अनेकप्रतिपत्तेः।

ऐसा यदि हो तो शरीरधारी स्वीकार कर देवताओं आदि का विद्याओं में अधिकार कहा जाये तो शरीर वाला होने ने ऋत्विक् आदि के समान इन्द्रादि का भी स्वरूप संनिधान के कर्म में अंग भाव स्वीकार करना पड़ेगा। तब तो कर्म में विरोध होगा। कहो कि योग के स्वरूप-सान्निध्य से इन्द्रादि का अंग भाग देखने में नहीं आता और सम्भव भी नहीं है; क्योंकि बहुत योगों में एक ही समय में एक ही इन्द्र की स्वरूप से उपस्थिति अनुपपन्न है। ऐसा यदि कहो तो विरोध नहीं, क्योंकि अनेक प्रतिपत्ति है...।

कहीं किसी सूत्र में स्वामी शंकराचार्यजी यह कह आये हैं कि मनुष्य को शास्त्र में अधिकार है तथा देवता को भी है। अतः अब वह लिख रहे हैं कि देवता का शरीर मान लिया जाये तो अंग भी मानने पड़ेंगे। अंग मानेंगे तो कर्म में विरोध भी होगा। आप आगे कहते हैं कि देवता के अंग नहीं, अतः कर्म में विरोध भी नहीं।

अब पाठक देख लें कि सूत्र के अर्थ और इस व्याख्या में कहाँ मेल है? कर्म में विरोध तो है। यह तो सूत्रकार भी मानता है। देवता और मनुष्य का विवाद नहीं। जिस बात की ओर संकेत है, वह यह है कि ईश्वरीय शक्ति तो एक है; फिर भिन्न-भिन्न काम क्यों हैं?

देवताओं में जो कर्म एक बार चल गया तो फिर चल गया। वही चलता रहता है। उदाहरण के रूप में सूर्योदय लाखों वर्षों से पूर्व से हो रहा है तो होता रहेगा। वह कभी भी पूर्व से पश्चिम् में नहीं हो सकता। अतः देवताओं के कर्म में विरोध नहीं है। चन्द्र तथा अन्य तारागणों एवं नक्षत्रों की गति भी स्थिर है।

अतः सूत्र में कर्म-विरोध की बात देवताओं के सन्दर्भ में नहीं कही। यह प्राणी के हृदय की गुहा में स्थित परमात्मा के प्राणी के शरीरों में निमित्त कर्मों की बात है।

उदाहरण के रूप में एक मनुष्य नित्यप्रातः भ्रमण के लिए जाता है। वह नित्य एक ही ओर जायेगा, ऐसा निश्चय नहीं। वह भ्रमण की दिशा तथा स्थान बदल सकता है। साथ ही एक प्राणी पूर्व को भ्रमण करने जाता है तो दूसरा पश्चिम को जाता है। एक प्राणी प्रातः भ्रमण को जाता है और दूसरा सायं भ्रमण के लिए निकलता है। भ्रमण करने की शक्ति सबमें परमात्मा की है, परन्तु उस शक्ति पर प्रतिपत्ति भिन्न-भिन्न जीवात्माओं की तथा उनकी बुद्धि अथवा मन की है। इस कारण कर्म में भेद दिखायी देता है।

स्वामीजी का पूर्ण भाष्य ही असंगत है।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

शब्द+इति+चेत्+न+अतः+प्रभवात्+प्रत्यक्ष+अनुमानाभ्याम्।

शब्द प्रमाण से यह यदि (मानो) तो नहीं। (अतः) उससे (प्रभवात्) सृष्टि उत्पत्ति से, प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों से (पता चलता है)।

यदि शब्द प्रमाण से यह मानो कि परमात्मा से कर्मों में विरोध है, तो यह बात गलत है। अर्थात् वेदादि शास्त्रों में कहीं नहीं लिखा। इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से सृष्टि उत्पत्ति के सिद्ध हो जाने से।

इस सूत्र के दो भाग हैं। एक में तो यह लिखा है कि उक्त सूत्र (१-३-२७) में जो (विरोधः कर्मणि इति) लिखा है; अर्थात् कर्मों में विरोध है, लिखा है कि ऐसा वेदादि शास्त्रों में भी नहीं है।

सूत्र संख्या २७ में तो बताया है कि जो विरोध दिखाई देता है, वह भिन्न-भिन्न जीवात्माओं और उनके मन और बुद्धि के कर्म पर भिन्न-भिन्न प्रभाव होने

के कारण है। सूत्र संख्या २८ में यह बताया है कि यह विरोध वेदादि शास्त्रों में भी नहीं है।

सूत्र का दूसरा भाग है—'अतः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।' अतः का अभिप्राय है कि पूर्व कथन से यह परिणाम निकलता है कि सृष्टि की उत्पत्ति उससे ही हुई है, प्राणी का शरीर भी उसी से उत्पन्न हुआ है, यह बात प्रत्यक्ष और अनुमान पमाण से सिद्ध होती है। इस (सिद्ध होने) से भी यह परिणाम निकलता है कि ईश्वरीय कर्मों का विरोध नहीं है। जब सबकुछ ईश्वर से बना है तो उसके कर्मों में विरोध नहीं हो सकता। यह कहना कि वेदादि शास्त्रों में विरोध दिखायी देता है, गलत है।

अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र के भाष्य में भी विलक्षणता की है। हमारा उनसे विरोध सूत्र १-३-१५ से ही आरम्भ हुआ है। हमने उस सूत्र का अर्थ किया है कि गति और इन्द्रियों के कर्म परमात्मा के लिंग (चिह्न) के रूप में दिखायी देते हैं।

इस सूत्र में पहले 'दहर' में परमात्मा की विद्यमानता का उल्लेख है। दहर है हृदय में सूक्ष्म स्थान, जहाँ जीवात्मा शरीर में रहता हुआ परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। इस सूत्र के सन्दर्भ में प्राणी के शरीर में ईश्वर के लिंगों का वर्णन आ गया है। इन लिंगों का ही इस (१-३-१५) में वर्णन किया है। शरीर में कार्य-शक्ति परमात्मा की है। इतना बताने के उपरान्त कई प्रकार के संशय उत्पन्न हुए और उन संशयों का निवारण सूत्रकार ने किया है।

एक संशय यह है कि यदि शरीर में कर्म की शक्ति परमात्मा की है तो फिर जीवात्मा क्या करता है?

सूत्रकार ने इसका निवारण सूत्र १-३-१८ में बताया है कि शरीर में कार्य दूसरे के परामर्श से होता है।

इसी प्रकार सूत्र १-३-२० में यह बता दिया है कि यह परामर्श परमात्मा के के लिए अर्थात् उसकी शक्ति को दिशा देने के लिए है।

इसी प्रकार सूत्र संख्या १-३-२५ में यह सूत्र संख्या १५ की गूँज चली आ रही है। हृदय में रहता हुआ परमात्मा एवं जीवात्मा मनुष्य के शरीर मन, और बुद्धि पर अधिकार रखता है।

पुनः सूत्र संख्या १-३-२६ में तदुपरि के अर्थ श्री स्वामीजी ने देवता कर दिया है। देवता चेतन जीवात्मा की भाँति प्राणी नहीं हैं जिनको मनुष्य की भाँति कर्मों को दिशा देने का अधिकार हो। इस सूत्र में देवता मानने से (मनुष्याधिकारत्वात्) अर्थ भी पूर्वापर से विलक्षण करना पड़ेगा।

इस प्रकार एक स्थान पर जीवात्मा के सिद्ध होने के भय से स्वामीजी ने अर्थ विगाड़े तो फिर बिगाड़ते ही चले गये हैं। यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिए

कि सूत्रों का बँटवारा अधिकरणों में करने की प्रथा भी स्वामीजी की है। ब्रह्मसूत्रों के रचयिता की यह योजना नहीं। इसके कारण भी कई सूत्रों के अर्थों में अनर्थ हुए हैं।

सूत्र प्रायः स्वतन्त्र रूप से अर्थ देते हैं। इनका परस्पर भावात्मक सम्बन्ध तो है, परन्तु वह सम्बन्ध उससे भिन्न भी हो सकता है, जो श्री स्वामीजी ने बताया है।

अत एव च नित्यत्वम् ॥२९॥

अतएव+च+नित्यत्वम्।

और इसलिए कि उसमें नित्यता (अनादित्व, अक्षरत्व) है। परमात्मा में नित्यता है; इस कारण उसके कर्मों में विरोध नहीं। ईश्वर का नित्य होना भी कर्मों में विरोध न होने का प्रमाण है। विरोधी कर्म करने वाला नित्य नहीं हो सकता। यही युक्ति कहती है। जीवात्मा के कामों में विरोध उसकी बुद्धि के कारण है। बुद्धि अनित्य है।

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥३०॥

समान+नाम+रूपत्वात्+च+आवृत्तौ+अपि+अविरोधः+दर्शनात्+च+स्मृतेः।

समान नाम तथा रूप वाली, सर्ग सर्ग पर, बार-बार वैसी ही सृष्टि होने से अविरोध ही दिखाई देता है तथा स्मृति में भी ऐसा ही उल्लेख है।

बार-बार सर्ग उत्पत्ति में समान नाम और रूप के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। द्यूलोक का निरीक्षण करने से चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र एवं ग्रहों का ज्ञान प्राप्त करने से यही पता चलता है कि सर्ग सर्ग के पुनः-पुनः आरम्भ होने में समान नाम, रूप के पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अतः परमात्मा की नित्यता सिद्ध होती है और उस नित्य पदार्थ के कर्मों में विरोध नहीं होता।

मनुस्मृति में (मनु० १-२८) यही बात कही गई है।

महाभारत (१२-१३२-२४, २५, २६, और २७ गोरखपुर संस्करण) में भी ऐसा ही लिखा है।

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

मध्वादिषु+असम्भवात्+अनधिकारं+जैमिनिः ।

मध्वादिषु का अभिप्राय है कि मधु छन्दादि वेद द्रष्टा ऋषियों में किसी अनधिकारी का होना असम्भव है, ऐसा जैमिनी का मत है।

इसका अभिप्राय यह है कि वेद के मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों में अनधिकारी नहीं थे।

यह वेद-द्रष्टा कौन थे ? वेदों को सृष्टि पर लाने वाले कौन थे ? ये प्रश्न उपस्थित होते हैं। यह वेदों में ही लिखा है कि अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा ने वेद इस सृष्टि को दिये। ऋषियों ने वेद श्रवण किये और मन्त्रों द्वारा उच्चारित कर दिये। वे ऋषि मन्त्र-द्रष्टा हैं। महर्षि जैमिनिजी का कहना है कि इन मन्त्र-द्रष्टाओं में अनधिकारी नहीं थे।

अनधिकारी कैसे मन्त्रों को सुनने से वंचित किये गये ? सुनते तो होंगे परन्तु समझने से अवश्य वंचित हुए प्रतीत होते हैं।

इस सूत्र में विवाद यह खड़ा किया गया है कि ये अनधिकारी कौन हैं ?

श्री स्वामी शंकराचार्यजी अनधिकारी के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

इह देवादीनामपि ब्रह्मविद्यायामस्त्यधिकार इति यत्प्रतिज्ञातं तत्पर्यावर्त्यते। देवादीनामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते। कस्मात् ? मध्वादिष्वसंभवात्। ब्रह्मविद्यायामधिकाराभ्युपगमे हि विद्यात्वाविशेषान्मध्वादिविद्यास्वप्यधिकारोऽभ्युपगम्येत। न चैवं संभवति। कथम् ? 'असौ वा आदित्यो देवमधु'(छा० ३-१-१) इत्यत्र मनुष्या आदित्यं मध्वध्यासेनोपासीरन्।

इसका अभिप्राय यह है कि यह जो प्रतिज्ञा की गयी है कि यहाँ ब्रह्मविद्या में देवादि का अधिकार है, उस पर आक्षेप करते हैं। जैमिनि आचार्य का मत है कि देवादि का ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है। क्योंकि मधु आदि में उनका अधिकार सम्भव नहीं है। ब्रह्म विद्या में उनका अधिकार स्वीकार करने पर विद्यात्व दोनों में समान होने के कारण मधु आदि विद्या में उनका अधिकार मानना पड़ेगा। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि 'असौ वा आदित्यो' (छा० ३-१-१) इसमें मधु के अभ्यास से आदित्य की मनुष्य उपासना करें…।

हमारा यह दृढ़ मत है कि इस भाष्य का सूत्रार्थ के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है।

सूत्र में तो यह लिखा है कि जैमिनि ऋषि के अनुसार मध्वादि में अनधिकारी का होना सम्भव नहीं।

अनधिकारी देवता ही हैं। यह कहाँ से आ गया ? साथ ही जैमिनि का कथन सूत्रकार बादरायण ऋषि का विरोध करता है, ऐसा कहां लिखा है ?

छा० ३-१-१ भी देखा जाये तो देवताओं के अधिकारी-अनधिकारी होने की बात का पता चल जायेगा।

यह इस प्रकार है—

असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीनव शोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः॥

यह उपनिषद् वाक्य उपासना के विषय में है ही नहीं। सूर्य की किरणें जब तिरछी चलती हैं तो अन्तरिक्ष में मरीचि किरणें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं मरीचि किरणों से भूमि पर मरीचिका (miraj) उत्पन्न होती हैं। इस उपनिषद् के इस खण्ड के अगले मन्त्रों को देखें तो पता चलेगा कि इस उपनिषद् में मधु का अर्थ मध्वादि ऋषि बनता ही नहीं। मधु का अर्थ सुखकारक है।

आदित्य की किरणें सुखकारक, पौष्टिक इत्यादि गुणों से युक्त हैं, परन्तु जब तिरछी चलती हैं तो ये मरीचि किरणों को उत्पन्न करती हैं। अतः भ्रम उत्पन्न कर देती हैं।

इसके आगे (छा० ३-१-२ में) लिखा है कि प्रातः के समय जो किरणें आदित्य से आती हैं, वे मधु नाड़ियाँ हैं। अर्थात् मनुष्य के स्नायुमण्डल (nervous system) को सुख और पुष्टि देती हैं।

हम पहले भी कह चुके हैं कि स्वामी शंकराचार्य दर्शनशास्त्र एवं उपनिषदों को समझे ही नहीं और व्यर्थ में वह पाठकों के लिए बोझा छोड़ गये हैं।

इस सूत्र का निश्चय अर्थ यह है कि जैमिनी ऋषि भी कहते हैं कि वेद का प्रमाण देने में संकोच नहीं, क्योंकि मध्वादि वेद मन्त्रों को समझकर प्रकट करने वालों में अनधिकारियों का हस्तक्षेप नहीं है।

इस सूत्र के और वेद मन्त्रों के विषय में इस आश्वासन की आवश्यकता इस कारण अनुभव हुई कि इससे पहले सूत्र में यह लिखा है कि प्रति सर्ग के आरम्भ में सब पदार्थ और वेद भी वैसे ही प्रकट होते हैं, जैसेकि पहले सर्ग में थे। वेदों की रचना ऋषियों के द्वारा हुई है। सूत्रकार का कहना है कि इस समय जो वेदमन्त्र मध्वादि ने कहे हैं, वे ठीक हैं। क्योंकि उनमें अनधिकारी का हस्तक्षेप नहीं है।

अनधिकारी का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने शूद्र किया है। उनका कहना है कि शूद्रों को वेद विद्या में अधिकार नहीं।

शूद्र यदि गुणवाचक भी मान लिया जाये, जो पढ़ा-लिखा नहीं और जो सेवा कार्य ही करता है, तब भी यह अर्थ मिथ्या है। वेद इसके विरुद्ध है।

वेद में एक मन्त्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः
समृध्यतामुप मादो नमतु। (यजु० २६-२)

इसका भाव है कि जैसे परमात्मा वेद की कल्याणमयी वाणी सब उत्पन्न हुओं को जिनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी सम्मिलित हैं, अपने और पराये सबके लिए देता है; इसी प्रकार विद्वान् को दान-दक्षिणा देने वाला इस लोक में प्रिय हो। सबकी कामनाएँ पूर्ण हों, सब प्रयोजन सबको प्राप्त हों।

इस मन्त्र की विद्यमानता में अनधिकारी से शूद्र का प्रयोजन नहीं है।

सूत्रकार का अर्थ केवल यह है कि सर्ग के आरम्भ में जिन ऋषियों ने देवताओं से लेकर मन्त्र उच्चारण किये, उनमें कोई अनधिकारी अयोग्य नहीं था, सब ऋषि पद के योग्य थे।

ज्योतिषि भावाच्च ॥३२॥

ज्योतिषि+भावात्+च।

और ज्योति में होने से।

ज्योति के अर्थ यजुर्वेद के आठवें अध्याय के ३६वें मन्त्र से लिये जाते हैं। इस मन्त्र से इसके अर्थ क्यों लिये जाते हैं, इसका कोई कारण नहीं बताया। हमारे विचार में यह स्वामी शंकराचार्य की प्रकृति ही है कि सूत्र के किसी शब्द को उपनिषदादि के मन्त्रों में वही शब्द ढूंढ़ा गया और फिर सूत्र के अथवा उपनिषद् के अर्थ को तोड़-मरोड़कर सामञ्जस्य बैठा लिया गया।

सूत्र का अर्थ है कि ज्योति में होने से। भाष्यकारों ने ज्योति के सीधे अर्थ प्रकाश (ज्ञान) न लेकर भाग-दौड़ कर वेद अथवा उपनिषद् में इस शब्द को ढूँढ़ निकाला है और उसमें ज्योति शब्द देखकर अर्थ लगाने आरम्भ कर दिये हैं। यह दर्शनशास्त्र के अभिप्राय जानने का ढंग ठीक नहीं।

स्वामी शंकराचार्यजी ने ज्योति के अर्थ आदित्यादि देवतागण किये हैं और कहा है कि जैमिनि ऋषि का मत है कि देवताओं का वेद विद्या में अधिकार नहीं।

सूत्र तो केवलमात्र इतना है कि ज्योति में होने से। इसके अतिरिक्त पूर्वापर के साथ सम्बन्ध रखते हुए अर्थ लगाने चाहिए। इससे पूर्व सूत्र का अर्थ है मध्वादि में अनधिकार का हस्तक्षेप असम्भव है। ऐसा जैमिनि का मत है।

सूत्र है 'ज्योति में होने से।'

दोनों सूत्रों को एक साथ पढ़ने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि अनधिकारी का मन्त्रों को ग्रहण करने में अधिकार नहीं। (क्योंकि) उनको वेद मन्त्रों का ज्ञान न होने से।

यहाँ ज्योति का अर्थ ज्ञान है। सर्ग के आरम्भ की बात हो रही है। देवता-गण (अग्नि, आदित्य, इन्द्रादि देवता इत्यादि) वेद को इस लोक में भेज रहे थे और

ऋषिगण उनको समझकर उनका उच्चारण कर रहे थे, अनपढ़ मूर्ख लोग वेद समझने वाले ऋषियों में नहीं थे। क्योंकि वेद ज्ञान का भण्डार है और मन्त्रों में ज्योति (ज्ञान) होने से ज्ञानी ही इसे समझ सकते थे।

इस विषय में वेद मन्त्र भी हैं—

ऋग्वेद (१०-१३०-४, ५) में कहा है कि अग्नि, सूर्य, बृहस्पति, इन्द्र, वरुण आदि ने छन्द प्रसारित किये और ऋषियों ने सुनकर स्वयं और मनुष्यों को ज्ञानवान् किया।

अभिप्राय यह है कि परमात्मा का ज्ञान मध्यस्थानी देवताओं द्वारा शक्ति की भाँति तरंगों में चारों ओर बिखेरा जा रहा है और उए देवताओं की वाणी को (पशवः) द्रष्टा लोग, ऋषिगण उसे गाय के दूध की भाँति दोहन कर मनुष्य के कल्याण के लिख देते हैं।

देवताओं की वाणी में ज्ञान-विज्ञान भरा रहता है और उसको ऋषि लोग ही समझ सकते हैं। अनधिकारी अर्थात् अज्ञानी को वह पता नहीं चलती।

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥३३॥

भावं+तु+बादरायणः+अस्ति+हि।

होने को तो बादरायण है। अभिप्राय यह है कि होने को तो बादरायण (मानता) है।

क्या होने को मानता है? ज्ञान में होने को। पूर्व सूत्रानुसार वेद ज्ञानमय है। उसे समझने के लिए अधिकारी (वेदानुसार पशवः अर्थात् द्रष्टा) होना आवश्यक है।

इस सूत्र में 'तु' शब्द से प्रायः भाष्यकार ऐसा मानते हैं कि बादरायण जैमिनि के मत का विरोध कर रहा है। वास्तव में ऐसा नहीं है।

सूत्र संख्या १-३-३२ और १-३-३३ परस्पर विरोधी भाव प्रकट नहीं कर रहे।

स्वामी शंकराचार्यजी इन सूत्रों को देवताओं और मानवों में विरोध बताने वाले मानते हैं। [स्वामी ब्रह्म मुनिजी अनधिकारी का अर्थ शूद्र करते हैं। इस प्रकार इन सूत्रों से भारी भ्रम फैलाया गया है। इस भ्रम का आरम्भ दो स्थानों से हुआ है। एक सूत्र १-३-२६ से दूसरे १-३-३१ से। सूत्र संख्या १-३-२६ में शब्द है 'तदुपर्यपि।' इसके अर्थों में भ्रम उत्पन्न किया गया है। स्वामी शंकराचार्य 'तदुपर्यपि' के अर्थ करते हैं तत्—उपरि—अपि। तत् का अर्थ करते हैं मनुष्य; से उपरि से श्रेष्ठ अर्थात् देवता और अपि का अर्थ भी।

तत् का अर्थ है वह अर्थात् जो पहले वर्णित है। पहले सूत्र में 'मनुष्याधिकारत्वात्' वाक्य आये हैं। स्वामीजी के अनुसार इसका अभिप्राय है मनुष्य अधिकृत। अर्थात् मनुष्य अधिकारी है। यह अर्थ इस पद के बनते नहीं। पूर्ण सूत्र को पढ़ने से अर्थ बनते हैं कि मनुष्य पर अधिकार होने से।

सूत्रार्थ हम ऊपर लिख आये हैं—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ १-३-२५॥

हृदय में रहते हुए अपेक्षा से, अर्थात् मनुष्य पर अधिकार से। अभिप्राय यह है कि हृदय में रहते हुए परमात्मा एवं जीवात्मा मनुष्य के कर्मों पर अधिकार रखते हैं। परमात्मा मनुष्य के अंग-प्रत्यंग में सामर्थ्य प्रदान करता है और जीवात्मा उस सामर्थ्य को स्थान, दिशा तथा काल प्रदान करता है। अभिप्राय यह कि सामर्थ्य कब तथा किस प्रकार से प्रयोग हो, इसका निश्चय जीवात्मा करता है।

मनुष्य को वेद पढ़ने का अधिकार है, ऐसा स्वामी शंकराचार्यजी के भाष्य का अर्थ है। इस अर्थ से अगले सूत्र में 'तदुपर्यपि' के अर्थ कर दिये हैं कि मनुष्य से ऊपर देवताओं का भी वेदों में अधिकार है।

इन सूत्रों में वेद कौन पढ़े अथवा कौन न पढ़े का अभिप्राय नहीं। इसी प्रकार सूत्र संख्या १-३-३१ 'मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः' में है।

शब्द 'अनधिकारं' से देवताओं का प्रसंग जोड़ दिया है कि जैमिनि ऋषि देवताओं को वेद में अनधिकारी मानते हैं।

हमारा उनसे मतभेद है। ये सूत्र (१-३-३१ तथा १-३-३३) परस्पर विरोधी नहीं हैं।

हम अगले दो पृष्ठों पर एक तालिका दे रहे हैं, जिनमें सूत्र १-३-२४ से १-३-३३ तक स्वामी शंकराचार्य के, श्री उदयवीर शास्त्री के तथा अपने अर्थ तुलनात्मक भाव में उपस्थित किये गये हैं। इस तालिका से यह ज्ञान हो सकेगा कि किसके अर्थों में परस्पर सूत्रों में तथा ग्रन्थ के उद्देश्य से सामञ्जस्य बनता है।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥३४॥

शुक्+अस्य+तद्+अनादर+श्रवणात्+तत्+आद्रवणात्+सूच्यते+हि।

तद्=उनसे। अनादर श्रवणात्=अनादर युक्त वाक्य सुनने से। शुक्=शोक। अस्य=इसको। तद्=उसके। आद्रवणात्=दौड़ आने से। हि=निश्चयपूर्वक। सूच्यते=सूचित होता है।

सूत्र	स्वामी शंकराचार्य के अर्थ	श्री उदयवीर के अर्थ	हमारे अर्थ
(२४) शब्दादेव प्रमितः	अंगुष्ठ मात्र शास्त्रानुसार परमात्मा ही है।	शब्द से (शास्त्रानुसार) व्यापक ब्रह्म परिमित रूप में प्रतिपादित है।	शब्द (वेद वाक्य) से भी प्रमाणित है कि दहर में परमात्मा ही है।
(२५) हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्।	शास्त्र में मनुष्य अधिकृत है। हृदय की अपेक्षा मनुष्य में अंगुष्ठ मात्र कहा गया है।	हृदय में अपेक्षा से तो मनुष्य मात्र का अधिकार होने से।	हृदय (दहर) में अपेक्षा रखने से मनुष्य पर अधिकार से।
(२६) तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्।	मनुष्य से श्रेष्ठ देवादि भी। ऐसा बादरायण का मत है।	इससे ऊपर भी बादरायण आचार्य सम्भव समझते हैं।	जो कुछ ऊपर वर्णन किया गया है, उससे ऊपर (अतिरिक्त) बादरायण भी संभव समझते हैं।
(२७) विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्।	इन्द्रादि देवताओं का यदि शरीर माना जाये तो कर्म में विरोध हो जाएगा। ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं। क्योंकि युग-पत् एक को ही अनेक शरीरों की प्राप्ति होती है। ऐसे देखने से।	कर्म में विरोध यदि कहो तो नहीं। अनेक प्रतिपत्ति सिद्ध शक्ति के देखे जाने से।	कर्मों में विरोध होता है। यदि कहो तो नहीं। क्योंकि अनेक प्रतिपत्तियों (हस्तक्षेपों) के दिखाई देने से।
(२८) शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्।	उक्त विरोध वेद वाक्य में होगा। ऐसा यदि कहो तो युक्त नहीं। क्योंकि उत्पत्ति इस बात का प्रत्यक्ष (श्रुति) अनुमान स्मृति-सिद्ध है।	यह (कर्मों में विरोध) यदि वेद में कहो तो नहीं। उससे उत्पन्न होने से प्रत्यक्ष और अनुमान से।	शब्द प्रमाण से यदि (मानो) तो नहीं। अतः प्रभव (सृष्टि की उत्पत्ति) से प्रत्यक्ष और अनुमान से पता चलता है।

(२९) अत एव च नित्यत्वम् ।	वेद के नित्य होने से देवादि समस्त जगत् उत्पन्न होने से ।	इस कारण से और नित्यता । इस कारण से ही वेद की नित्यता है	[illegible]
(३०) समाननामरूपत्वाच्चा — वृत्तावप्यविरोधो दर्श- नात्स्मृतेश्च ।	सृष्टि प्रलय की आवृत्ति होने पर भी शब्द और अर्थ सम्बन्ध में अनित्यता का विरोध नहीं; क्योंकि उत्तर कल्प में नाम रूप पूर्व कल्प के समान है। स्मृति में दिखाई देने से।	समान नाम तथा रूप होने से, आकृति में भी विरोध नहीं, श्रुति और स्मृति से।	[illegible] समान होने से [illegible] दिखाई देता है। स्मृति से भी देखा जाता है।
(३१) मध्वादिष्वसंभवादनधि - कारं जैमिनिः ।	(असौ वा आदित्यो देवमधु) इत्यादि उपासनाओं में (देवादि) का अधिकार असम्भव होने से। जैमिनि आचार्य का मत है।	मधु आदि में सम्भव न होने से अधिकार न होने को जैमिनि आचार्य कहता है।	मधु आदि (वेद द्रष्टा ऋषियों) में अनधिकारी नहीं थे। यह जैमिनी का मत है।
(३२) ज्योतिषि भावाच्च ।	दृश्यमान ज्योति-मण्डल में आदित्य शब्द का प्रयोग। और प्रत्यक्ष होने से (देवादि का) ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं।	ज्योति में होने से भी (ब्रह्म विद्या) में मनुष्य मात्र का अधि- कार प्रतीत नहीं होता।	ज्योति (ज्ञान) में होने से। (अधिकारी अज्ञानी नहीं से।
(३३) भावं तु बादरायणोऽस्ति हि।	बादरायण का (विपरीत) मत है कि (देवताओं का शरीर होने से ब्रह्म विद्या में अधिकार, निश्चय से है)।	होने को तो बादरायण है; क्योंकि बादरायण मनुष्यमात्र मानता है।	होने को तो बादरायण भी मानता है। (वेद के ज्ञानमय होने को और उसमें अनधिकारी के अधिकार न होने को)।

उनसे, अनादर सुनने से, का अभिप्राय है कि अनधिकारियों अर्थात् अज्ञानियों से वेद के विषय तथा ब्रह्म विद्या में अनादर युक्त बात सुनने से उनके (इनके) दौड़ आने से निश्चय शोक सूचित होता है।

इस सबका अभिप्राय यह है कि जब अनधिकारी अर्थात् अज्ञानी वेद तथा ब्रह्म के प्रति अनादर का भाव प्रकट करते हैं तो वेद अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान उनसे भाग जाता है। यह शोक से कहा जाता है।

अज्ञानी ज्ञान की बात का अनादर करें तो ज्ञान उनसे भाग जाता है। यही बात ब्रह्मविद्या के विषय में कही जाती है।

इस सूत्र के अर्थ श्री स्वामी शंकराचार्य इस प्रकार करते हैं। जब ऊपर के सूत्रों में उन्होंने मनुष्य को वेद तथा ब्रह्म विद्या का अधिकारी बताया तो केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए ही बताया है। शूद्र के लिए यहाँ कह दिया है कि यह उनके लिए नहीं।

हम आरम्भ से ही कह रहे हैं कि वेद में अधिकार के विषय में वह मनुष्य देवता, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रियों को व्यर्थ में घसीट कर ले आये हैं। सूत्र के सरल अर्थ तो यह ही हैं कि ब्रह्म-विद्या अज्ञानियों, जो इसका अनादर करते हैं, से भाग जाती है। यह उनकी समझ में आती ही नहीं।

ब्रह्म विद्या क्या है? यह हम कई बार ऊपर भी बता चुके हैं कि ब्रह्म परमात्मा, जीवात्मा और मूल प्रकृति को कहते हैं। इन तीनों के ज्ञान का नाम ब्रह्म विद्या है। ब्रह्मसूत्रों में तीनों के विषय में ज्ञान दिया है। वह ब्रह्म विद्या वेदादि शास्त्रों में है। अतः ब्रह्म विद्या और वेद पर्यायवाचक शब्द हैं।

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

क्षत्रियत्व+गतेः+च+उत्तरत्र=चैत्ररथे+न+लिङ्गात्।

च उत्तरत्र=और आगे यह है कि। क्षत्रियत्व=क्षात्र धर्म में। गतेः= व्यवहार से। चैत्ररथे=सुन्दरता में होने के। लिङ्गात्=लक्षणों से। न=नहीं।

इस सूत्र में उपमा दी है कि क्षत्रिय किसी सुन्दर रथ में होने के चिह्न से नहीं जाना जाता, वरन् क्षात्र धर्म में व्यवहार रखने से जाना जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म विद्या अथवा वेद के जानने से ही कोई ज्ञानी माना जा सकता है; न कि वेद पाठ करने से।

वेद पाठ और सुन्दर रथ में सवारी करने की तुलना की गयी है।

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

संस्कार+परामर्शात्+तद्+अभाव+अभिलापात्+च।

च=और। संस्कारपरामर्शात्=संस्कारों की सम्मति से। अभाव=न होने के। अभिलापात्=कथन करने से।

अज्ञानी क्यों ब्रह्म विद्या के विषय में अनादर युक्त व्यवहार करते हैं? सूत्रकार कहता है कि उनमें अच्छे संस्कारों का अभाव होता है।

ब्रह्म विद्या के प्रति अच्छे व्यवहार के लिए कैसे संस्कार होने चाहिए? वे संस्कार ऐसे होने चाहिए, जिससे कि जिज्ञासा और विवेक की भावना उत्पन्न हो। यह हम ऊपर बता आये हैं कि बिना विवेक के कोई मनुष्य किसी भी सद्ज्ञान में उन्नति नहीं कर सकता। विवेक का अभिप्राय है पूर्वग्रहों से मुक्ति।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

तद्+अभाव+निर्धारणे+च+प्रवृत्तेः।

उस (श्रेष्ठ संस्कारों के) अभाव का निश्चय और प्रवृत्ति अर्थात् स्वभाव से है। यह जाना जा सकता है कि ब्रह्म विद्या में कौन अधिकारी है और कौन अनधिकारी? प्रवृत्ति से अर्थात् स्वभाव से। स्वभाव संस्कारजन्य होते हैं। संस्कारों से जिसके विवेक उत्पन्न हो गया, वह ब्रह्म विद्या के जानने का अधिकारी है।

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥३८॥

श्रवण+अध्ययन+अर्थ+प्रतिषेधात्+स्मृतेः+च।

अभिप्राय यह कि श्रवण और स्मृतिशास्त्र का विरोध करने से अच्छे संस्कार (जिज्ञासा और विवेक) उत्पन्न नहीं हो सकते।

जो व्यक्ति किसी की बात सुनता नहीं, शास्त्राध्ययन नही करता, शास्त्र के यथार्थ अर्थों का विरोध करता है और स्मृतिशास्त्र का विरोध करता है, वह अज्ञानी ही रहता है। वह ब्रह्म विद्या का अधिकारी नही।

भगवद्गीता में तो इस प्रकार लिखा है—

> इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
> न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥
> (भ० गी० १८-६७)

तुम्हें यह ज्ञान तपरहित, भक्तिरहित, सुनने की इच्छा से रहित और परमात्मा की निन्दा करने वाले को नहीं कहना चाहिए।

और सूत्रकार कहता है कि ऐसे व्यक्ति से ज्ञान भाग जाता है अर्थात् उनको ज्ञान हो ही नहीं सकता।

प्राणः कम्पनात् ॥३९॥

कम्पन उत्पन्न करने से (परमात्मा को) प्राण कहा जाता है।

परमात्मा के बिना कम्पन नहीं होता। कम्पन का गति से भेद समझ लेना चाहिए। कम्पन उस गति को कहते हैं, जो कि एक केन्द्र-बिन्दु के चारों ओर होवे और बार-बार होवे। गति तो एक ही दिशा में चलते जाने को कहते हैं। जगत् में और ब्रह्माण्ड में गति नहीं देखी जाती। कंम्पन (vibration) ही देखा जाता है। सब नक्षत्रादि जो एक ही दिशा में चलते हुए प्रतीत होते हैं, वे एक केन्द्र के चारों ओर बार-बार चक्कर काटते हैं। इसी को कम्पन कहते हैं।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥४०॥

ज्योतिः+दर्शनात्।

प्रकाश अथवा ज्ञान के देखने से परमात्मा की सिद्धि होती है।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

आकाश+अर्थान्तरत्व+आदि+व्यपदेशात्।

आकाश जब दूसरे अर्थों में उपदेश (ईक्षणादि में उपदेश) किया जाए, तब परमात्मा का वाचक है।

आकाश पंचभौतिक भी है। अन्य भी कई अर्थों में आकाश आता है। इन अर्थों से भिन्न आकाश जो है, वह केवल परमात्मा का वाचक है।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

सुषुप्ति + उत्क्रान्त्योः + भेदेन ।

सुषुप्ति और उत्क्रान्ति (जागृत) अवस्था में भेद होने से यह (जीवात्मा) वह परमात्मा नहीं, जो प्राण, आकाश एवं ज्योति से स्मरण किया जाता है।

इस सूत्र का अर्थ है कि ऊपर जिसको प्राण, ज्योति और आकाश स्वरूप बताया है, उसमें सुषुप्ति और जागना नहीं होता। जिसमें यह है, वह भिन्न है। वह परमात्मा नहीं।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

पति + आदि + शब्देभ्यः ।

उक्त भेद जो सुषुप्ति और जागृत अवस्था वाले जीवात्मा से परमात्मा में है, उसे शास्त्रों में प्रकट करने के लिए परमात्मा को पति आदि शब्दों से प्रकट किया जाता है।

प्रथम अध्याय के दूसरे और तीसरे पाद में परमात्मा की जीवात्मा और प्रकृति से भिन्नता सिद्ध की गई है।

चतुर्थ पाद

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर-रूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ॥१॥

आनुमानिकम् + अपि + एकेषाम् + इति + चेत् + न = शरीररूपक + विन्यस्तगृहीतेः + दर्शयति ।

आनुमानिकम् = अनुमान के ढंग से । अपि = भी । एकेषाम् = कुछ एक के मत से । इति = यह कार्य जगत् है । (जगत् का मूल कारण जड़ है) चेत् न = यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं । शरीर रूपक = शरीर के उदाहरण में । विन्यस्त = दृष्टान्त से । गृहीतेः = स्वीकार करने से । दर्शयति = प्रतिपादित होता है ।

इसका अभिप्राय है कि कुछ एक नास्तिक जो परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते, वे अनुमान के बल पर यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि यह जगत् अपने स्वभाव से ही बनता-बिगड़ता है। सूत्रकार कहता है कि ऐसा नहीं। शरीर के रूपक में यह दर्शाया जा चुका है कि शरीर स्वयमेव कार्य नहीं करता ।

शरीर से आत्मा के निकल जाने से शरीर हिलता-डुलता नहीं । न ही उसमें भोज्य पदार्थों को खाकर पचाने की शक्ति रहती है ।

कुछ भाष्यकार शरीर रूपक का अर्थ कठोपनिषद् में (आत्मानं रथिनं — कठो० ३-३-४) रथ और आत्मा की ओर संकेत समझते हैं । हमारे विचार में यह भी ठीक नहीं । 'शरीर रूपक विन्यस्त' का अर्थ है शरीर के रूप में प्रकृति के वृत्तान्त का दृष्टान्त लेने से यही (दर्शयति) प्रकट होता है ।

अधिकांश भाष्यकारों का यह स्वभाव हो गया है कि वेदान्त दर्शन का भाष्य करते हुए अकारण उपनिषद् के उद्धरण देने लगते हैं । ऐसा श्री शंकराचार्यजी की परिपाटी का अनुकरण करने के कारण है । दर्शनशास्त्र को समझने के लिए स्वतन्त्र रूप से विचार करना ही ठीक होगा ।

शरीर के रूप का दृष्टान्त हमने ऊपर वर्णन किया है । शरीर में से आत्मा के निकल जाने पर इसकी स्वाभाविक क्रियायें नहीं रहतीं । सबसे आवश्यक क्रिया है अन्न को ग्रहण कर, उसको पचाकर शरीर का अंग बनाना । यह प्राणी के मरने पर शरीर नहीं कर सकता । अतः सूत्रकार कहता है कि प्रकृति बिना चेतन की सहायता के कार्य नहीं कर सकती ।

आनुमानिकम् का अर्थ है अनुमान प्रमाण वाले 'एकेषाम्' कुछ एक, सब नहीं। कुछ अनुमान लगाने वाले। एक अनुमान तो सूत्रकार ने ही ग्रन्थ के आरम्भ (जन्माद्यस्य यतः) में लगाया है। इसी कारण 'एकेषाम्' लिखा है। सर्वेषाम् नहीं लिखा।

जो लोग अनुमान से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जगत् का रचने वाला कोई नहीं, जगत् स्वयमेव स्वभाव से ही बना है, उनके अनुमान में दोष बताने के लिए ही सूत्रकार ने शरीर का उदाहरण दिया है। शरीर स्वतः स्वभाव से ही कार्य नहीं करता। यदि करता होता तो घटनावश मृत्यु होने पर भी वह कार्य करता रहता। यहाँ वृद्धावस्था में मृत्यु होने की बात नहीं। एकाएक किसी घटनावश मृत्यु में तो देखा जाता है कि प्राणान्त होने पर शरीर में कार्य करने का स्वभाव नहीं रहता।

श्री स्वामी शंकराचार्य ने यहाँ व्यर्थ में सांख्यशास्त्र को रगड़ने का यत्न किया है। महर्षि कपिल ने तो सांख्य-दर्शन में स्पष्ट लिखा है 'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता' (सां० द० ३-५६)।

श्री उदयवीरजी आनुमानिकम् के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—सूत्र में 'आनुमानिकम्' पद का अर्थ है, अनुमान द्वारा, विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया तत्त्व। यहाँ अनुमान का अर्थ तर्क, युक्ति अथवा केवल प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य-समूह अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि जहाँ अध्यात्मशास्त्र में उस तत्त्व का प्रतिपादन है, वहाँ पञ्चावयव आदि का कोई निर्देश नहीं—इसलिए अनुमान पद का यहाँ अर्थ है—'ऋषियों द्वारा किया गया स्मरण अथवा मनन।'

हमारा यह कहना है कि उक्त अनुमान की विवेचना अयुक्त है। अनुमान जिसकी व्याख्या सांख्य अथवा न्याय-दर्शन में की गई है, उससे ही यहाँ अभिप्राय है। वितण्डावाद से नहीं।

इस पर भी कुछ लोग अनुमान से यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि जगत् स्वयमेव स्वभाव से बनता-बिगड़ता है। सूत्रकार कहता है कि कीट, पतंगा इत्यादि प्राणी का भी शरीर स्वतः बन नहीं सकता। भला जगत् की बात कैसे कहते हो?

यदि यह कहो कि जगत् स्वतः ही बनता-बिगड़ता है तो यह ठीक नहीं।

स्वामी शंकराचार्य तो शरीर के सूक्ष्म रूप को ही अव्यक्त मानने लगे हैं। यह सब धींगा-मस्ती है। स्वामीजी ने व्यर्थ में व्यक्त-अव्यक्त की बात बीच में ला खड़ी की है। आपने उपनिषद् के वाक्य 'आत्मानं रथिनं'—(कठो० ३-३-५) में शरीर को कल्पित वस्तु बता दिया है। अर्थात् उनके द्वारा शास्त्र के अर्थों का अनर्थ हो गया है।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

सूक्ष्मं+तु+तद्+अर्हत्वात् ॥

वह सूक्ष्म ही है। उसकी योग्यता के कारण से।

जगत् का उपादान कारण सूक्ष्म है। यह उसकी जगत्-रचना में योग्यता से पता चलता है। कार्य जगत् से कारण जगत् सदा सूक्ष्म होगा; यदि यह मानें कि यह कार्य जगत् किसी से बना है तो जिससे बना है वह कार्य जगत् से सूक्ष्म मानना ही पड़ेगा।

प्रथम सूत्र में यह बताया है कि कुछ एक लोग अनुमान लगाते हुए कहते हैं कि कारण प्रकृति स्वतः कार्य-जगत् में निर्माण हुई है, परन्तु यह अनुमान अशुद्ध है; क्योंकि मनुष्य के मरने पर शरीर में क्रिया-शक्ति नहीं रहती। अतः चेतन (परमात्मा) इसका निर्माण करता है।

अब इस सूत्र में बताया है कि शरीर का मूल (प्रकृति) सूक्ष्म है। इस कारण इसमें योग्यता है कि स्थूल निर्माण हो सके।

श्री स्वामी शंकराचार्य सूक्ष्म से अभिप्राय अव्यक्त लेते हैं। आप इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं।'

सूक्ष्मं त्विह कारणात्मना शरीरं विवक्ष्यते; सूक्ष्मस्याव्यक्तशब्दार्हत्वात्। यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृतिशब्दश्च विकारे दृष्टः। यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० स० ९-४६-४) इति।

अर्थात्—यहाँ सूक्ष्म तो कारणात्मा से शरीर विवक्षित है। सूक्ष्म के अव्यक्त शब्द के योग्य से है। यद्यपि यह शरीर स्थूल स्वय अव्यक्त शब्द के योग्य नहीं, तो भी उसका आरम्भ सूक्ष्म शब्द के योग्य है और प्रकृति शब्द विकार प्रतीत होता है यथा 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० ९-४६-४)।

इस सूत्र का भाष्य ठीक करते-करते स्वामीजी ने अपनी ओर से असम्बद्ध बात साथ लिख दी है।

यह तो ठीक है कि सूक्ष्म और अव्यक्त एक हैं। शरीर (कार्य-जगत्) का आरम्भ सूक्ष्म है। यहाँ तक तो ठीक सूत्र के अनुसार ही था, परन्तु प्रकृति विकार ही दिखायी देती है। यह कहाँ से आ गया और ऋग्वेद का प्रमाण दे दिया है, जिसका अर्थ यह नहीं बनता। ऋग्वेद का मन्त्र (९-४६-४) इस प्रकार है:—

आ धावता सुहस्त्यः शुक्रा गृभ्णीत मन्थिना।
गोभिः श्रीणीत मत्सरम् ॥

(आ धावता) आगे बढ़ो (सुहस्त्यः) सिद्धहस्त पुरुषो अर्थात् कुशल लोगो (मन्थिना) मन्थन अर्थात् मर्दन (विरोधियों का) करने के लिए (शुक्रा गृभ्णीत)

बल को ग्रहण करने के लिए (गोभिः) गाय के दूध की (मत्सरम्) भलाई (श्रीणीत) सेवन करो।

यहाँ प्रकृति विकार है, कैसे पता चला ?

पुनः श्री स्वामीजी बृहदारण्यक उपनिषद् का एक उद्धरण देते हैं (१-४-७), परन्तु उससे भी प्रकृति-विकार सिद्ध नहीं होता, वरन् प्रकृति से कार्य जगत् विकार है।

उपनिषद् इस प्रकार है—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामाऽयमिदँ रूप इति। तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामाऽयमिदँ रूप इति।

(बृ० उ० १-४-७)

इसका अर्थ है—

(तत्—इदं) सो यह (कार्य जगत्) 'तर्ह्यव्याकृतम् आसीत्' पहले अव्यक्त था। (तत् नाम रूपाभ्याम् इव) उससे नाम रूप वाला (व्याक्रियत) व्यक्त बना। (तदिदम्) वह यह (अपि तर्हि) अभी भी (नामरूपाभ्याम् इव) नाम रूप ही (व्यक्त) है, अमुक नाम और अमुक रूप वाला है। इस प्रकार—

इस उद्धरण में भी प्रकृति-विकार है, यह नहीं लिखा है। यह लिखा है कि यह कार्य जगत् अव्यक्त से बना है। वर्तमान नाम रूप वाला व्यक्त उसी अव्यक्त से है।

वह अव्यक्त ही कार्य जगत् का उपादान कारण है।

तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥

तद्+अधीनत्वात्+अर्थवत्।

तद=उसके अर्थात् सूक्ष्म (मूल प्रकृति) के। अधीनत्वात्=अधीन होने से। अर्थवत्=अर्थ युक्त (फलयुक्त) है (कार्य जगत्)।

मूल प्रकृति के अधीन का अभिप्राय है आश्रय। अर्थात् मूल प्रकृति से ही बनता है कार्य-जगत् और कार्य-जगत् भोग सामग्री उपस्थित करता है। इसी कारण इसको फलवत् अर्थात् पेड़ के फल की भाँति प्रयोग की वस्तु कहा है।

यहाँ वेदान्त दर्शन में लिखा है कि कार्य-जगत् मूल प्रकृति के आश्रय है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जगत् रचना में ईश्वर का हाथ स्वीकार नहीं किया। मूल प्रकृति उपादान कारण ही है।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥

ज्ञेयत्व+अवचनात्+च ।

च=और भी । ज्ञेयत्व=जानने के योग्य है। अवचनात्=न कहे जाने से भी। अर्थात् इसका स्वरूप नहीं कहा गया।

साधारण रूप में परमात्मा को ज्ञेय (जानने के योग्य) माना है। जैसे गीता (१३-१७) में लिखा है—ज्ञान ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् अर्थात् परमात्मा ज्ञान-स्वरूप है, जानने के योग्य है और जाना जा सकता है।

इसी प्रकार अनेक स्थानों पर परमात्मा को 'ज्ञेय' कहा है। यहाँ सूत्रकार कहता है कि प्रकृति मूल में अज्ञेय है। जब प्रकृति के साथ अज्ञेय शब्द आता है तो इसका अभिप्राय न जानने योग्य नहीं, वरन् इन्द्रियों से न जानी जा सकने योग्य है। (मनु० १-५)

इस सूत्र को श्री स्वामी शंकराचार्य क्या समझे हैं, वह भी जानना उपयुक्त होगा। इस सूत्र के भाष्य में वे लिखते हैं—

ज्ञेयत्वेन च सांख्यैः प्रधानं स्मर्यते गुणपुरुषान्तरज्ञानात्कैवल्यमिति वदद्भिः। न हि गुणस्वरूपमज्ञात्वा गुणेभ्यः पुरुषस्यान्तरं शक्यं ज्ञातुमिति। क्वचिच्च विभूति-विशेषप्राप्तये प्रधानं ज्ञेयमिति स्मरन्ति। न चेदमिहाव्यक्तं ज्ञेयत्वेनोच्यते। पद-मात्रं ह्यव्यक्तशब्दः। नेहाव्यक्तं ज्ञातव्यमुपासितव्यं चेति वाक्यमस्ति। न चानुप-दिष्टपदार्थज्ञानं पुरुषार्थमिति शक्यं प्रतिपत्तुम्। तस्मादपि नाव्यक्तशब्देन प्रधान-मभिधीयते। अस्माकं तु रथरूपकक्लृप्तशरीराद्यनुसरणेन विष्णोरेव परमं पदं दर्शयितुमयमुपन्यास इत्यनवद्यम्।

अर्थात्—ज्ञेयत्व से सांख्य को मानने वाले गुणों (सत्त्वादि) और पुरुष में अन्तर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति की बात कहते हैं। गुणों के स्वरूप को जाने बिना पुरुष और गुणों का अन्तर जाना जा सकता है। क्योंकि विभूति विशेष की प्राप्ति के लिए प्रधान को जानना चाहिए, ऐसा मानते हैं। यह ठीक नहीं। यहाँ इस अव्यक्त को ज्ञेयत्व नहीं कहा जा रहा। अव्यक्त शब्द एक पाद मात्र है। यह अव्यक्त ज्ञातव्य है अथवा उपासना योग्य है। ऐसा कोई वाक्य नहीं। उपदिष्ट पदार्थ का ज्ञान पुरुषार्थ है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। श्रुति में अव्यक्त से प्रधान का अभि-प्राय नहीं। हमारा मत है कि रथ रूप से कल्पित शरीरादि का विष्णु का ही परम पद दिलवाने से यह उपन्यास (कथन) है, यह दोष नहीं।

सांख्य वाले क्या समझते हैं अथवा क्या नहीं समझते, यह प्रश्न नहीं। प्रश्न यह है कि प्रकृति कोई पदार्थ है अथवा नहीं? यदि है तो यह जानने योग्य है। पदार्थ जानने योग्य होता है। उसका ज्ञान मनुष्य को लाभ देगा ही। यहाँ इसे

जानने से मोक्ष प्राप्त होता है अथवा नहीं होता, यह भी विचारणीय नहीं। इसमें यजुर्वेद ४०-१०, ११-१२, १३ और १४ पठनीय हैं।

परन्तु सूत्रार्थ से स्वामीजी का उक्त कथन सर्वथा असम्बद्ध है। सूत्रार्थ तो यह है—और (इसका स्वरूप) न कहे जाने योग्य होने पर भी (यह) जानने योग्य है। कार्य जगत् इन्द्रियों से जाने एवं कहे जाने योग्य है, परन्तु प्रकृति कहे जाने योग्य नहीं। इस पर भी जानने योग्य है।

वदतीत चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥५॥

वदति+इति+चेत्+न+प्राज्ञः+हि+प्रकरणात्।

वदति=कहता है। इति=यह। चेत्=यदि कहो। न=तो नहीं। प्राज्ञः=ज्ञानवान्। हि=क्योंकि। प्रकरणात्=प्रकरण से।

क्योंकि ज्ञानवान् कहता है कि यदि इसे (ज्ञेय) कहो तो यह ठीक नहीं। यह प्रकरण से (स्पष्ट है)।

ज्ञानवान् का अर्थ है ब्रह्म को जानने वाला। वह प्रकृति को प्रकरण से अर्थात् कार्य-जगत् की तुलना में अज्ञेय कहता है। हम अज्ञेय से अभिप्राय लेते हैं इन्द्रियों से न जाना जाने योग्य। कार्य-जगत् इन्द्रियों से जाना जाता है।

एक बात यहाँ स्मरण रखनी चाहिए कि ज्ञान के उल्लेख से ही मुक्ति प्राप्ति का उल्लेख आ गया, ऐसा ठीक नहीं। ब्रह्मसूत्र ज्ञान प्राप्ति के लिए है, परन्तु ज्ञान प्राप्ति से कैवल्यावस्था प्राप्त होगी ही, आवश्यक नहीं। इस कारण ज्ञातव्य तो सब कुछ है—जड़ प्रकृति भी, जीवात्मा भी और परमात्मा भी। मोक्ष किस प्रकार प्राप्त होगा? इसके लिए योग-दर्शन का अध्ययन कर योग का अभ्यास करना होगा।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

त्रयाणाम्+एव+च+एवम्+उपन्यासः+प्रश्नः+च।

च=और। त्रयाणाम्=तीनों का। एव=ही। एवम्=इस प्रकार। उपन्यास=वर्णन है। च प्रश्नः=और प्रश्न। (इसके अनुसार ही बनता है)।

इस प्रकार तीनों का ही वर्णन है और प्रश्न अर्थात् विवेचना इसके अनुसार ही होती है। तीन हैं परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति।

ये तीन क्या हैं? तीन की व्याख्या में विचित्र कल्पना के घोड़े दौड़ाये गए हैं।

पहले स्वामी शंकराचार्यजी की कल्पना की परीक्षा करनी चाहिए। श्री स्वामीजी यहाँ तीन से अग्नि, जीव और परमात्मा को मानते हैं। आप लिखते हैं—

इतश्च न प्रधानस्याऽव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा। यस्मात्त्रयाणामेव पदार्थानामग्निजीवपरमात्मनामस्मिन्ग्रन्थे कठवल्लीषु वर प्रदानसामर्थ्याद्वक्तव्यतयोपन्यासो दृश्यते। तद्विषय एव च प्रश्नः। नातोऽन्यस्य प्रश्न उपन्यासो वाऽस्ति। तत्र तावत् 'स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्धानाय मह्यम्' (कठो० **१-१-१३) इत्यग्निविषयः प्रश्नः।**

इसका अर्थ इस प्रकार है—इस कारण प्रधान अव्यक्त शब्द वाच्य अथवा ज्ञेय नहीं; क्योंकि वर प्रदान सामर्थ्य से कठवल्ली ग्रन्थ में अग्नि, जीव और परमात्मा तीन पदार्थों का ही वर्णन देखा जाता है। उस विषय में ही प्रश्न है। इससे अन्य के विषय में न प्रश्न है न उपन्यास (वर्णन) है। वहाँ इस प्रकार है (कठो० १-१-१३) स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो (तुम स्वर्ग के साधन रूप अग्नि को जानते हो। हे मर्त्य, उसे मुझ श्रद्धालु को कहिए।) यह अग्नि के विषय में उसे बतायें।

पूर्व इसके कि स्वामीजी के वक्तव्य का सूत्र से सम्बन्ध की जाँच-पड़ताल करें, हम उपनिषद् वाक्य (कठो० १-१-१३) के विषय में भी लिख दें तो ठीक होगा। कठो० १-१-१३ इस प्रकार है—

स त्वमग्निँ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वँ श्रद्धानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥

इसका अर्थ है कि हे यमराज! यह तुम स्वर्ग साधक अग्नि को जानते हो। वह तुम, मुझ श्रद्धावान् को बताओ। स्वर्ग के जन, जिस प्रकार आनन्द भोगते हैं, वह भी कहो। वह दूसरे वर से मैं भोगता हूँ।

अब देखिये कि इस उपनिषद् मन्त्र का और श्री स्वामी जी के कथन का सूत्र के साथ क्या सम्बन्ध है?

सूत्र में लिखा है कि तीनों का ही इस प्रकार वर्णन है। यही प्रश्न है।

क्या जहाँ-जहाँ भी जिस किसी पुस्तक में प्रश्न शब्द आयेगा, उसका कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता-यम सम्वाद से अभिप्राय होगा? देखना यह चाहिए कि यह ब्रह्मसूत्र है। इसमें ब्रह्म का वर्णन होगा।

हम बता चुके हैं कि उपनिषद् वाक्य से ही ब्रह्म तीन प्रकार का है। (श्वे० १-९,१२)। निश्चय इस सूत्र में 'त्रयाणां' का अर्थ उन तीनों प्रकार के ब्रह्म से है। अग्नि ब्रह्म नहीं है। कठोपनिषद् में भी अग्नि ब्रह्म तक पहुँचने का साधन वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री स्वामी शंकराचार्यजी का आशय यह है कि कहीं प्रधान (प्रकृति) का नाम इन तीनों में न आ जाये। इस कारण नचिकेता-यम का प्रसंग यहाँ ला खड़ा किया है। अग्नि का कहीं वर्णन यहाँ सूत्रों में नहीं हो रहा।

पूर्व सूत्र में था कि जहाँ प्रकृति को ज्ञेय नहीं लिखा, वहाँ प्रकरण न होने के कारण है। अतः जब सूत्रकार महर्षि ने यह कहा कि तीनों का उल्लेख है तो तीनों अव्यक्तों का वर्णन है प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा।

इसी प्रकार श्री उदयवीर शास्त्रीजी ने भी श्री स्वामी शंकराचार्यजी का ही अनुकरण किया प्रतीत होता है। वह भी कठोपनिषद् का आश्रय ले इस सूत्रकार का अभिप्राय समझने लगे हैं।

यहाँ तीन का उल्लेख है और तीन का आशय सूत्रों के आगे-पीछे का सन्दर्भ बतायेगा। वर्णन आ रहा है प्रकृति का, तो अग्नि कहाँ से आई? हमारा विचारित मत है कि यहाँ 'त्रयाणां' से प्रकृति, जीव और परमात्मा का वर्णन है। कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता के प्रश्नों से, इस सूत्र का सम्बन्ध नहीं। साथ ही नचिकेता ने तीन के विषय में नहीं पूछा। तो उस उद्धरण का सूत्र के साथ सम्बन्ध कैसे बना?

परन्तु 'प्रश्न है' का क्या अभिप्राय है? निःसन्देह इसका अभिप्राय है कि पूर्वोक्त सूत्र में जो कहा है कि (प्रकृति) ज्ञेय नहीं तो प्रश्न यह है कि तीन का वर्णन किसलिए है?

महद्वच्च ॥७॥

महत्+वत्+च।

महत् सूक्ष्म तत्त्व की भाँति प्रकृति का भी सूक्ष्म तत्त्व है। जैसे महत् से कार्य-जगत् बना है, वैसे ही प्रधान से बना कार्य-जगत् है।

सांख्य का सिद्धान्त है कि आदि प्रकृति त्रिगुणात्मक है। अर्थात् प्रकृति का प्रत्येक परमाणु तीन गुण रखता है। वे तीन गुण हैं आकर्षण, विकर्षण व तटस्थता। ये तीनों गुण एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हुए प्रत्येक परमाणु में साम्यावस्था बनाये रखते हैं।

सर्गारम्भ में परमात्मा इन तीनों गुणों की प्रभाव-दिशा बाहर की ओर कर देता है। तब इनके प्रभाव परस्पर सन्तुलित न रहकर पड़ोस के परमाणुओं पर प्रभाव डालने लगते हैं। अतएव परमाणुओं के आकर्षण, विकर्षण प्रभाव परमाणुओं में संयोग उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रक्रिया में प्रारम्भिक अवस्था महत् कहलाती है।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी कहते हैं कि सांख्य-दर्शन में जो महत् प्रकृति के एक रूप के लिए प्रयोग हुआ है, उस महत् का अभिप्राय यहाँ नहीं। उनका कहना है कि महत् शब्द श्रुति में महान् का वाचक है।

हमारा यह कहना है कि महत् महान् का पर्यायवाचक है, परन्तु जब

पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त होता है तो महत् का अर्थ प्रकृति के प्रथम विकार को ही कहते हैं।

प्रश्न यह कि यहाँ महत् महान् अर्थों में है अथवा सांख्य वाले अर्थों में?

क्योंकि प्रकृति का उल्लेख किया जा रहा है, इस कारण महत् प्रकृति के प्रथम विकार के अर्थ में ही है।

स्वामीजी का यह कहना तो ठीक है कि जगत् स्वतः नहीं बनता। इसके बनाने वाला परमात्मा है, परन्तु जिस पदार्थ का यह बना है वह भी अनादि है और उसे प्रधान कहते हैं।

यह उपनिषद् वाक्य से भी सिद्ध है। श्वेताश्वतर १-९, १२ में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

वहाँ लिखा है कि एक ज्ञानवान्, दूसरा अज्ञ और तीसरा भोगार्थ पदार्थ, तीनों अजन्मा हैं। अर्थात् वे अक्षर हैं।

श्वेताश्वतर ४-५ में लिखा है कि लोहित, शुक्ल, कृष्ण (तीन) गुणों वाली प्रकृति अजन्मा है। एक जीवात्मा अजन्मा है। इस प्रकार प्रकृति को अजन्मा लिखा है। जो पैदा नहीं हुई, वह नष्ट भी नहीं होती। अतः प्रकृति अक्षर है। अव्यक्त ही अक्षर हो सकता है।

स्वामीजी असंगत अर्थों वाले उदाहरण देते हैं।

अत: स्वामीजी प्रधान को अक्षर-तत्त्व अस्वीकार कर सूत्रकार के आशय को गलत बता रहे हैं।

सूत्रकार का आशय है कि महत् की भाँति प्रकृति भी कार्य-जगत् का स्रोत है। महत् की उपमा इस कारण दी है; क्योंकि प्रकृति महत् में परिवर्तित हुए बिना कार्य-जगत् में परिवर्तित नहीं हो सकती। महत् का उल्लेख कई उपनिषदों में आया है।

चमसवदविशेषात् ॥८॥

चमस+वत्+अविशेषात्।

चमस—यज्ञ में आहुति डालने वाली कलछी, जो एक ओर से खुली और दूसरी ओर से बन्द होती है। चमस की भाँति सामान्य अर्थों में।

चमस के कहीं विशेष अर्थ भी हो सकते हैं, परन्तु यहाँ इस सूत्र में अविशेष अर्थात् सामान्य अर्थों में ही लिया है।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि जैसे कलछी का एक ओर मुख होता है और दूसरी

ओर से बन्द होती है, वैसे ही महत् की सृष्टि होती है। अर्थात् वह एक ओर से बन्द होती है और दूसरी ओर से खुली।

यह महत् के स्वरूप का वर्णन है। अनन्त ब्रह्माण्ड में सृष्टि रचना के समय ब्रह्माण्ड के एक कोने में प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न होता है और उससे महत् बनता है। वह चमस की भाँति रूप वाला होता है।

ब्रह्मसूत्र के जिन भाष्यकारों को बिना उपनिषद का वाक्य दिये अर्थ समझाने की सामर्थ्य नहीं, उन्होंने 'चमस' शब्द को बृहदारण्यक उपनिषद् (२-२-३) में ढूंढ़ निकाला है। वहाँ वाक्य है—

···अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर···।

अर्थात्—नीचे छिद्र ऊपर मूल वाला पात्र जैसे मनुष्य की खोपड़ी है। यह तो चमस के अर्थ बताये हैं, परन्तु सूत्र में इस चमस का क्या अभिप्राय है, इसको भाष्यकार सर्वथा असंगत प्रमाणों से वर्णन करते हैं।

भाष्यकारों ने (श्वेताश्वतर ४-५) से अर्थ समझाने का यत्न किया है, परन्तु उस मन्त्र के अर्थ की चमस से कैसे संगति बैठती है, कोई नहीं बता सका।

हमारा यह मत है कि सूत्रार्थ स्पष्ट करने के लिए उपनिषद् ठीक साधन नहीं हैं। सूत्रकार ने सूत्र उपनिषद् वाक्यों को समझाने के लिए नहीं लिखे। ये सूत्र तो कुछ सत्य बातों को स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं। उपनिषद में वह है अथवा नहीं, यह गौण बात है।

हमारा यह भी मत है कि सूत्रों को सरल भाषा में ज्यों-के-त्यों स्वीकार करने से पूर्ण ग्रन्थ अर्थयुक्त समझ में आने लगेगा।

अतः सामान्य अर्थों में चमस की भाँति महत् का रूप है, यह है इस सूत्र का अर्थ।

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥९॥

ज्योतिः+उपक्रमा+तु+तथा हि+अधीयते+एके।

तु=निश्चय ही। ज्योतिः उपक्रमा=ज्योति ही आरम्भ है। तथाहि=जैसे कि। अधीयत=पढ़ते हैं (समझते हैं)। एके=कई एक।

अर्थ स्पष्ट ही हैं। जगत्-रचना का आरम्भ तेज से हुआ है। उस तेज ने ही परमाणु की साम्यावस्था भंग की है। उससे महत् बना है। इसमें वेद प्रमाण है। ऋ० १-१६३-१, २, ३ में कहा है कि सबसे पहले शोर मचाता हुआ अर्वाः उत्पन्न हुआ। वह परमाणु पर लगाम बन अधिष्ठित हो गया। पहले उस पर इन्द्र

अधिष्ठित था। अब अर्वाः हो गया। इससे परमाणु की साम्यावस्था भंग हुई और उससे तीन प्रकार के संयोग बने। ये आपः हैं। इनसे पूर्ण जगत् बना।

इस सूत्र में ज्योति का अर्थ परमात्मा का तेज है। मंत्र (ऋ० १०-१२६-२) में यह आनीत अवातम् कहा है और ऋ० १०-१२६-३ में इसे तेज के नाम से स्मरण किया गया है।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१०॥

कल्पनोपदेशात्+च+मध्वादिवत्+अविरोधः।

ज्योति उपक्रम में थी, यह (ब्र० सू० १-४-९ में) कहा है। यह कैसे पता चला? और अब वह अग्नि कहाँ गयी? ये प्रश्न स्वाभाविक थे। सूत्रकार इसका उत्तर देता है कि हमको यह बात कल्पना करने से पता चली है। जैसे मधु आदि की कल्पना कर ली जाती है।

कल्पना का आधार होता है। किसी न किसी प्रकार की समानता देखकर ही कल्पना की जाती है। महत् में बीज डालने पर सहस्रों सूर्यों के समान ज्योतिः तो हिरण्यगर्भ (nebulac) में देखने में आती है। उस ज्योतिः की कल्पना है। जैसे वाणी में मिठास को मधु कह दिया जाता है। वाणी को धेनु कह दिया जाता है।

इसी प्रकार ज्योतिः की कल्पना की गई है। जैसे मिठास से मधु की कल्पना की जाती है। ऐसी कल्पना करने में विरोध नहीं।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११॥

न+संख्योपसंग्रहात्+अपि+नानाभावात्+अतिरेकात्+च।

गिनती अधिक होने से भी नहीं और अनेक भावों से भी नहीं और अतिरेक—अतिरिक्त से भी नहीं। क्योंकि प्रकृति (जिससे ये अनेकानेक रूप नाम वाली वस्तु बनी है) वह एक ही है। प्रकृति अनेक नहीं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (४-५, ६, ७) में इसे बहुत स्पष्टतता वर्णन किया है। अधिकांश भाष्यकारों ने, श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने भी उक्त सूत्रों के भाष्य में इस मन्त्र का उल्लेख किया है, परन्तु क्योंकि स्वामीजी प्रकृति को अनादि और अक्षर नहीं मानते, इस कारण उन्होंने इस उपनिषद् को और उक्त सूत्रों को भी विकृत करने का यत्न किया है।

एक बात तो हम ऊपर लिख आये हैं कि श्वेताश्वतर (४-५) के लोहित शुक्ल कृष्ण को छांदोग्य० ६-४-१ के रोहित शुक्ल कृष्ण से संगति मिलाने का यत्न किया

है। वहाँ रोहित, शुक्ल, कृष्ण, अग्नि से उत्पन्न हुए बताये हैं। यहाँ ऐसा नहीं।
श्वेताश्वतर में इस प्रकार वर्णन है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

(श्वे० ४-५, ६, ७)

यहाँ लिखा है कि अजा ही लोहित शुक्ल कृष्ण है। अर्थात् वह त्रिगुणात्मक है। यहाँ इनका अग्नि से उत्पन्न होना नहीं लिखा। अतः बृहदारण्यक (६-४-१) में रोहित शुक्ल कृष्ण और श्वेताश्वतर (४-५) का लोहित, शुक्ल, कृष्ण पर्याय-वाचक नहीं। नामों में समानता तो इसी कारण है; जैसे कारण से रजस् प्रधान अहंकार को तेजस् अहंकार माना है, सात्त्विक प्रधान अहंकार को सात्त्विक (वैकारी) अहंकार माना है और तमस् प्रधान अहंकार को तामसी (भूतादि) अहंकार माना है।

प्रकृति के साथ ही 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र का कहा जाना और 'समानं वृक्षे' इत्यादि वाला मन्त्र यही प्रकट करना है कि प्रकृति और उसमें के सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों का वर्णन है, अहंकारों का नहीं।

यही भाव इस सूत्र में लिखा है कि गिनती अधिक होने से और उनके अनेक व्यवहार होने पर भी वह अनेक नहीं, एक ही है।

इस सूत्र में 'न' शब्द किसके लिए आया है, इसको जानने से सूत्रार्थ सिद्ध होता है। हमने यह लिखा है कि कार्य-जगत् के नाना व्यवहार से और अनेक संख्या में होने पर भी यह नहीं। अर्थात् प्रकृति अनेक नहीं।

श्री स्वामी शंकराचार्यजी अर्थ करते हैं कि प्रकृति है ही नहीं। आप लिखते हैं—

एवं परिहृतेऽप्यजामन्त्रे पुनरन्यस्मान्मन्त्रात्सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते। 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्' (बृ० ४-४-१७) इति।

इसका अर्थ यह है—इस प्रकार अजा मन्त्र में सांख्याभिमत प्रधानादि परिहार होने पर भी अन्य मन्त्र के आधार पर सांख्य पुनः पूर्व पक्ष करता है। उत्तर पक्ष (स्वामीजी के मत से बृहदारण्यक उपनिषद् ४-४-१७) उपस्थित करता है। इसमें आत्मा को ही अमृत ब्रह्म माना है।

इसका अभिप्राय यह है कि श्वेताश्वर (४-५) में जो लिखा है कि प्रकृति एक

है और उसकी अनेक प्रजायें हैं, यह पूर्व पक्ष है और एक दूसरे मन्त्र में इससे विपरीत लिखा है।

वह दूसरा पक्ष (बृ० ४-४-१७) इस प्रकार है—

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥

(बृ० ४-४-१७)

इसका अर्थ है—जिसमें पच्चीस गण और आकाश प्रतिष्ठित हैं, उसको आत्मा मानता हूँ और मैं अमृत-आत्मा उसे अमृत-ब्रह्म जानता हूँ।

इसमें यह नहीं लिखा कि पच्चीस गण अमृत-आत्मा से उत्पन्न हुए हैं। एक सर्वव्यापक अमृत-आत्मा में पच्चीस गण स्थापित हैं और जानने वाला भी अमृत-आत्मा है।

पच्चीस गणों का स्रोत यहाँ नहीं लिखा। यह भी नहीं लिखा कि वे स्रोत नहीं। न ही यह लिखा है कि जिसमें पच्चीस प्रतिष्ठित हैं, वे ही पच्चीस हैं। वास्तविक बात सांख्य-दर्शन में लिखी है कि पच्चीस गण हैं। प्रकृति से उत्पन्न चौबीस गण और पच्चीसवाँ जीवात्मा; ये सब परमात्मा में प्रतिष्ठित हैं और परमात्मा तथा देखने वाला जीवात्मा दोनों ही ब्रह्म अमृत हैं। अनादि अव्यक्त होने से जीवात्मा भी ब्रह्म ही है। (देखें सांख्य १-६१)।

अतएव स्वामीजी ने अपनी भ्रान्त मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए उपनिषद् ग्रन्थों के अर्थों को बहुत विकृत किया है। एतदर्थ ब्रह्मसूत्रों के भी मनमाने अर्थ लगाये हैं।

हमारा विचारित मत है कि इस सूत्र का अर्थ वही है जो हमने लिखा है। अर्थात् अनेक नाम, रूप वाले और व्यवहार वाले पदार्थ होने पर भी प्रकृति जिससे वे बने हैं; एक है, अनेक नहीं।

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१२॥

प्राणादयः+वाक्यशेषात्।

प्राणादि (समझ लो) शेष वाक्य से। अभिप्राय यह है कि उक्त सूत्र में जो शब्द 'अतिरेकात्' है उसका अर्थ है 'अतिरिक्त'।

नाना व्यवहार वाले और नाना नाम रूप वाले से और अतिरिक्त से। अर्थात प्राणशक्ति से भी यही पता चलता है कि प्रकृति एक है। प्राण से प्रकृति के अनेक रूप एवं नाम बने हैं। प्राण परमात्मा की शक्ति है। इस (१-४-११) सूत्र में अति-

रिक्त से अभिप्राय है कि प्राणादि से निर्मित रूपादि। सूत्र में अतिरिक्त से प्राणादि समझ लो।

प्राण है शक्ति, जिससे प्राणी की इन्द्रियाँ और शरीर काम करते हैं। हमने यह ऊपर भलीभाँति सिद्ध किया है कि इन इन्द्रियों में और शरीर के अन्य अंगों में शक्ति परमात्मा की ही है। वही प्राण है। इसी प्रकार द्यूलोक में गतिमान पदार्थों की गति परमात्मा की शक्ति से होती है। यही प्राण है।

अतः जब कार्य-जगत् के नाना पदार्थ और उनके नाना प्रकार के व्यवहारों का वर्णन किया तो अतिरिक्त शब्द से क्या अभिप्राय है? यह इस सूत्र में बताया है कि प्राणादि है।

अर्थात् शक्ति भी भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट होती है, परन्तु प्रकृति एक ही है।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

ज्योतिषा+एकेषाम्+असति+अन्ने।

ज्योतिषा=ज्योति से ही। असति=होने पर। अन्ने=अन्न में। एकेषाम् =कई एक के मत से।

इसका अर्थ है कि कई एक के मत से अन्न में भी ज्योति अर्थात् शक्ति (परमात्मा की शक्ति) द्वारा होती है।

क्या होती है? प्राण की शक्ति अर्थात् निर्माण की शक्ति।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि ब्रह्मसूत्र (१-४-११) में जो यह लिखा है कि अनेक रूप होने से भी नहीं। अर्थात् वह अनेक नहीं। इसमें हमने 'प्रकृति' क्यों लिया है, परमात्मा क्यों नहीं लिया?

अनेक नाम रूप वाले पदार्थ होने से भी वह अनेक नहीं। यहाँ प्रकृति लेने में कारण यह है कि पूर्ण पाद ही प्रकृति के विषय में चल रहा है। इस पाद में यह हम ऊपर कह आये हैं—

(१) अनुमान से कुछ लोग कहते हैं कि वह (कार्य-जगत्) स्वयं ही है। यह गलत है; क्योंकि शरीर उदाहरण से (प्रकृति) स्वयं नहीं है।

(२) प्रकृति सूक्ष्म है। इस कारण वह व्यक्त मानी जाती है।

(३) इस (प्रकृति) के अधीनता में होने से वह (कार्य-जगत्) अर्थवत् है। अर्थ का अभिप्राय है भोग के योग्य।

(४) प्रकृति ज्ञेय नहीं अर्थात् इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती।

(५) ज्ञेय प्राज्ञः है और अज्ञेय अचेतन है, ऐसा नहीं।

अर्थात् प्रकृति अज्ञेय इस कारण है कि यह इन्द्रियों से नहीं जानी जा सकती। इसमें चेतन, अचेतन के कारण नहीं। यह प्रकरण से कह रहे हैं।

(६) तीन का ही वर्णन है और प्रश्न है। जड़, प्रकृति, जीवात्मा और अधिष्ठाता परमात्मा। परमात्मा और जीवात्मा दो चेतन हैं। तीन का वर्णन है।

(७) कार्य-जगत् बनता है महत् की भाँति।

(८) ब्रह्माण्ड में महत् बनता है तो यह चमस की भाँति एक ओर से बन्द और एक ओर से खुला होता है।

(९) उपक्रम में (कार्य-जगत् के आरम्भ में) ज्योति होती है।

(१०) हिरण्यगर्भ (nebulae) देखे गये हैं और उनसे कल्पना की गई है कि अपने जगत् का आरम्भ भी वैसा ही ज्योतिर्मय रहा है।

(११) कार्य-जगत् में पदार्थों की अनेकता पर भी (प्रकृति) अनेक नहीं। सब सूत्र एक साथ पढ़ने से यहाँ अनेक नहीं का अर्थ प्रकृति ही है।

(१२) परन्तु 'अतिरेकात् च' और दूसरे में भी यही है। अर्थात् प्राण के कारण विविधता होने पर भी प्रकृति एक ही है।

यहाँ एक होने की तुलना करने के लिए परमात्मा और प्राण का उदाहरण दिया है।

(१३) इसमें लिखा है कि परमात्मा की शक्ति ही अन्न में है। अन्न खाने से प्राणी में शक्ति (प्राण) प्रकट होती है। यहाँ भी यह परमात्मा की देन ही है।

वैसे तो प्रकृति के सब रूप परमात्मा ही बनाता है।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१४॥

कारणत्वेन=च+आकाशादिषु+यथा+व्यपदिष्टोक्ते।

कारणत्वेन=कारण होने से। च=और। आकाशादिषु=आकाशादि के विषय में। यथा=जैसे। व्यपदिष्टो=कहे गये के अनुसार। उक्तेः=कहा जाने से।

प्रकृति कार्य-जगत् का कारण है। इस विचार से यह भी आकाशादि (पंच महाभूत) के जगत् के नाना पदार्थों का कारण होने की भाँति जैसे कहा गया, वैसा ही यहाँ कहा गया है। अर्थात् प्रकृति आकाशादि का कारण कहा गया है। सूत्रकार कहता है कि वैसा ही वह भी कह रहे हैं कि प्रकृति इन सब का कारण है।

आकाशादि (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) पंच महाभूत जगत् के अनेकानेक पदार्थों का कारण (स्रोत) हैं। इसी प्रकार प्रकृति पूर्ण कार्य-जगत् का कारण है।

यहाँ स्वामी शंकराचार्य का मत लिख दें तो ठीक रहेगा। यह मानते हैं कि आकाशादि पंच महाभूत परमात्मा द्वारा बनाये गए हैं। इसी प्रकार पूर्ण कार्य-जगत् भी परमात्मा द्वारा बनाया गया है।

स्वामीजी की इस बात से मतभेद नहीं। मतभेद तो यह है कि कुम्हार घड़े को बनाता है तो मिट्टी से बनाता है। यह नहीं देखा जाता कि वह मिट्टी भी बनाता है। इसी प्रकार किसी वस्तु के बनने में दो कारण होते हैं और दोनों स्वतन्त्र रूप मे रहते हुए पदार्थ का निर्माण करते हैं। एक निमित्त कारण कहलाता है और एक उपादान कारण। यही बात हम जगत् के उत्पादन में मानते हैं। जब घड़े के बनाने में कुम्हार का उल्लेख आता है तो मिट्टी के होने का विरोध नहीं होता। फिर जब उपनिषद् में (श्वेताश्वतर १-९, १२ तथा ४-५, ३) प्रकृति को अजन्मा (अनादि) कहा गया है तो उसको अस्वीकार करने में कोई कारण नहीं।

यहाँ एक बात और समझने की है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी पंच महाभूतों वाला आकाश वह नहीं, जो परमात्मा का प्रतीक माना जाता है।

ब्रह्मसूत्र (१-१-२२) में लिखा है कि उस (परमात्मा) का लिंग आकाश है। उस सूत्र की विवेचना में हमने भलीभाँति बताया है कि वहाँ आकाश का अभिप्राय अवकाश (space) से है। अवकाश अनन्त, असीम है और उसमें व्यापक परमात्मा भी असीम है। अतः वह आकाश जो पंच-भौतिक है, परमात्मा का लिंग आकाश नहीं।

वेद भाषा में यौगिक अर्थ वाले शब्द होने के कारण अनेक शब्द ऐसे हैं जो अनेकार्थवाचक हैं। आकाश भी वैसा ही शब्द है।

समाकर्षात् ॥१५॥

सम + आकर्षात्।

समान आकर्षण से।

समान आकर्षण से होता है जगत् का विघटन। प्रकृति के प्रत्येक कण में तीन गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) साम्यावस्था में रहते हैं। इन गुणों में आकर्षण, विकर्षण पाया जाता है। अतः जब ये गुण साम्यावस्था (balanced state) में होते हैं, तब प्रशान्त अविज्ञेय प्रकृति होती है।

सांख्य का कथन है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति।

प्रकृति में गुणों का समाकर्षण होता है। जगत्-रचना के समय यह समाकर्षण

भंग होता है तो प्रथम स्थिति ऐसी उत्पन्न होती है। जब प्रकृति के एक परमाणु में गुणों का आकर्षण सम नहीं रहता।

यह कैसे असमता को प्राप्त होता है? यह इस प्रकार है कि प्रलय अवस्था में परमाणु के भीतर के गुण परस्पर विरोधी होने से भीतर ही एक-दूसरे को विलीन कर रहे होते हैं, परन्तु सर्ग-रचना के समय ईश्वर की यदृच्छा से गुणों का आकर्षण एक-दूसरे पर न रहकर बाह्याभिमुख हो जाता है और वे परस्पर भीतर ही एक-दूसरे को विलीन करने की अपेक्षा पड़ोस के परमाणुओं के विरोधी गुणों पर प्रभाव डालने लगते हैं।

परिणाम यह होता है कि दो-दो और अधिक परमाणु परस्पर आकर्षित होने से उनमें संयोग एवं समन्वय होने लगता है।

इससे प्रथम विकार जो उत्पन्न होता है, वह महत् कहलाता है। द्वयणुक, त्रय-णुक इत्यादि बनते हैं। इन संयोगों में कुछ संयोग सत्त्व प्रधान हो जाते हैं। कुछ रजस् प्रधान और कुछ तमस् प्रधान होते हैं। सत्त्व प्रधान संयोग सात्त्विक (वैकारी) अहंकार कहाते हैं। रजोगुण प्रधान संयोग को रजस् (तेजस्) अहंकार कहते हैं और तमस् गुण प्रधान संयोग को तमस् (भूतादि) अहंकार कहते हैं। यह स्थिति अहंकार कहलाती है।

अहंकारों के फिर परस्पर संयोग होते हैं। वैकारी अहंकार और तेजस् अहंकार के संयोग से मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं और तेजस् तथा भूतादि अहंकार के संयोग से पंच महाभूत बनते हैं।

अहंकारों से तन्मात्रायें भी उत्पन्न होती हैं। ये तरंगों की भाँति हैं। ये सूक्ष्म महाभूतों से स्थूल महाभूत बनाती हैं और कुछ अन्य कार्य भी करती हैं।

जो सृष्टि के इस क्रम को जानता है, वह इस सूत्र का अर्थ लगा सकता है। इस सूत्र का अर्थ है कि प्रकृति की मूल अवस्था 'समाकर्षात्' होती है।

इसी को प्रशान्त, अतीन्द्रिय एवं अविज्ञेय कहा है।

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

जगत् + वाचित्वात्।

जगत् का वाचक होने से।

इसका अभिप्राय है कि गतिशील अर्थ है जगत् का। गतिशील होने से ही यह कार्य-प्रपंच जगत् कहलाता है।

समाकर्षात् से तो प्रकृति का स्वरूप प्रशान्त होता है और जब आकर्षण-विकर्षण परमाणु के भीतर ही परस्पर विलीन न रहकर बाहर के परमाणुओं में

विरोधी गुणों का आकर्षण करने लगते हैं तो गति उत्पन्न होती है। इन गतियों का नाम ही जगत् है।

पूर्ण जगत् में गति ही हो रही है। जिस क्षण यह गति रुकेगी, जगत् विनष्ट हो जायेगा और प्रलय का समय आ जायेगा। गति का आरम्भ दो अथवा अधिक परमाणुओं के विपरात गुणों के परस्पर आकर्षण-विकर्षण से होता है। परमाणुओं से अणु और अणुओं से द्वयणुक बनते हैं। तब द्वयणुकों से और अधिक अणु आकर्षित होते हैं। इससे गति उत्पन्न होती है।

ऐसा भी कई एक का मत है कि इसी आकर्षण-विकर्षण से 'रसायनिक ऐटम' की सृष्टि होती है। इसमें भी धन विद्युत् वाले प्रोटोन के चारों ओर ऋण विद्युत् वाले इलैक्ट्रोन परस्पर आकर्षण से ही घूमते हैं। एक रसायनिक ऐटम में न्यूट्रोन भी होते हैं। यही भूतादि अहंकार हैं। भूतादि अहंकार तो परमाणु का भार बनाते हैं और इलैक्ट्रोन, प्रोटोन ऐटमों के संयोग पैदा कर पंच महाभूत की सृष्टि करते हैं। तन्मात्रा अहंकारों से अर्थात् वैकारी, तेजस् और भूतादि अहंकारों से उत्पन्न होती हैं और उनसे निम्न पाँच प्रकार के कार्य होते हैं। 'ऐटम' का दार्शनिक नाम परिमण्डल है।

(१) 'ऐटम' अन्तर्गत आकर्षण जिससे 'ऐटम' संगठित रहता है।

(२) रसायनिक शक्ति जिससे संयुक्त पदार्थ बनते हैं तथा जिससे दो अथवा अधिक ऐटम मिलकर एक 'मॉलिक्यूल' बनता है।

(३) संशक्ति (adhesion) जिससे किसी पदार्थ के छोटे-मोटे टुकडे जुड़कर बड़े बनते हैं। इसका वैज्ञानिक नाम molecular dynamics है इसे आण्विक विकम्पन भी कहते हैं।

(४) चुम्बकीय आकर्षण (magnetic power)।

(५) भू-आकर्षण (gravity)।

जगत् की सब गतियाँ इन्हीं तन्मात्राओं से उत्पन्न होती हैं। इन गतियों से ही जगत् शब्द सार्थक होता है।

क्योंकि प्रथम प्रकृति के परमाणुओं में गुणों के समाकर्षण को हटाकर गुणों का मुख बाहर को कर दूसरे परमाणुओं के विपरीत गुणों में आकर्षण उत्पन्न करने से ही यह गति उत्पन्न हुई है और यह परमात्मा की यदृच्छा से होता है। इस कारण परमात्मा को ही सृष्टि का रचने वाला मानना चाहिए।

जीवमुख्यप्राणलिंगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

जीवमुख्यप्राणलिंगात्+न+इति+चेत्+तत्+व्याख्यातम्।

मुख्य प्राण के लिंग (लक्षण) से प्राणी नहीं है। क्या नहीं है? उक्त समाकर्षण को भंग करने वाला और गति उत्पन्न कर जगत् की सृष्टि करने वाला। यदि

कहो कि ऐसा है तो इसका वर्णन ऊपर (ब्र० सू० १-१-३१ में) किया जा चुका है।

अर्थात् प्राणी की करनी से जगत् की रचना नहीं। यद्यपि प्राण (हिलन-डोलन की शक्ति) तो उसमें भी है।

इसके लिए सूत्र १-१-३१ की विवेचना पढ़ लीजिए।

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

अन्यार्थम्+तु+जैमिनिः+प्रश्न+व्याख्यानाभ्याम्+अपि+च | एवम् +एके।

जैमिनि आचार्य और कई अन्य के वचन से प्रश्न और व्याख्यान से। यह किसी दूसरे के लिए है। ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।

अभिप्राय यह है कि जैमिनि और कुछ एक अन्य आचार्य यह कहते हैं कि (प्रश्न और व्याख्यान से) विचार विनिमय से यह प्रकट होता है कि उक्त सूत्र में और सूत्र १-१-३१ में वर्णित प्राणी का मुख्य प्राण-लिंग किसी अन्य के लिए है। अर्थात् जीवात्मा के लिए है।

किस दूसरे के लिए हैं ? जीवात्मा के लिए। अभिप्राय यह कि प्राण-लिंग है परमात्मा का। लिंग का अर्थ है संकेत। प्राणी में प्राण परमात्मा का ही संकेत करता है।

अभिप्राय यह है कि प्रकृति से जगत् की रचना में अर्थात् प्रकृति के परमाणुओं में गति उत्पन्न करने में तो ईश्वर की शक्ति का संकेत मिलता ही है। इसी प्रकार प्राणी के मुख्य लिंग प्राण में भी परमात्मा का संकेत है। यह दूसरे अर्थात् जीवात्मा के लिए है। प्राण का अर्थ गति अथवा प्रयत्न करने वाली शक्ति है।

जगत् में तो परमात्मा की शक्ति किसी विशेष के लिए नहीं, परन्तु प्राणी में यह जीवात्मा के लिए है। यह जैमिनि और कई एक ऋषियों का मत है।

वाक्यान्वयात् ॥१९॥

वाक्य+अन्वयात्।

वाक्य का अभिप्राय है वेद वाक्य। अन्वयात् का अर्थ है सामञ्जस्य। अभिप्राय है उचित अर्थ लगाने से।

वेद-वाक्यों के अनुशीलन से क्या पता चलता है ? यह पता चलता है कि जगत् में गति और प्राणी में गति परमात्मा का लिंग है।

वेद-वाक्य उस परमात्मा का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः ।
महत्तद्वृष्णो असुरस्य नामाऽऽविश्वरूपो अमृतानि तस्थौ ॥

(ऋ० ३-३८-४)

(आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषन्) विश्व में विराजमान होने से भूषित करती है; (श्रिय: वसानः चरति स्वरोचिः) जैसे सूर्य की किरणें चलती हुईं; (महत् तत् वृष्णः असुरस्य नाम) उस महान् (परमात्मा) (असुर) विघ्न-बाधाओं को झुकाने के लिए (विश्वरूपः) विश्व के रूपों को अर्थात् विश्व के नक्षत्रादि को; (अमृतानि तस्थौ) अमृत में ठहराता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सूर्य की किरणें पूर्ण विश्व में फैलकर चलती हुई प्रकाश करती हैं, वैसे ही परमात्मा की शक्ति विश्व की सब वस्तुओं में विरोधी शक्तियों का दमन करती है ।

और भी कहा है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

(श्वे० ६-८)

उस परमात्मा के कार्य और साधन कार्य करने के लिए नहीं। इस पर भी उसके कार्य हो रहे हैं। उसके समान अथवा उससे अधिक कोई बल वाला दिखाई नहीं देता और न ही सुना जाता है। उससे अधिक विविध प्रकार एवं अधिक स्वाभाविक शक्ति और ज्ञान किसी अन्य का नहीं है। कार्य करने के लिए नहीं का अभिप्राय यह है कि परमात्मा के अपने निमित्त कोई कार्य नहीं होता है, दूसरे के हित के लिए ही होता है।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

प्रतिज्ञासिद्धेः+लिङ्गम्+आश्मरथ्यः ।

प्रतिज्ञा की सिद्धि में चिह्न है। ऐसा आश्मरथ्य ऋषि का कहना है। प्रतिज्ञा के अभिप्राय में ही यहाँ मतभेद हो गया है।

प्रतिज्ञा के अर्थ हैं कोई काम करने अथवा किसी बात के जानने में निश्चय करना।

श्री आप्टे अपने शब्द कोष में इसके अर्थ लिखते हैं—

admission, acknowledgement, a vow, solemn declaration, इत्यादि।

यहां प्रतिज्ञा का अर्थ किसी बात को स्वीकार करने अथवा निश्चय करने से है। भिन्न-भिन्न आचार्यों ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ लिये हैं।

उदाहरण के रूप में श्री स्वामी शंकर ने इसके अर्थ किये हैं—

'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' यह प्रतिज्ञा है। अपने ज्ञान से इस सब (जगत्) का ज्ञान हो जाता है। यह प्रतिज्ञा है अर्थात् स्वीकारोक्ति है।

प्रतिज्ञा के यह अर्थ करने से सूत्र का अर्थ बनता है कि इस बात के सिद्ध होने से चिह्न है अर्थात् संकेत है कि जीवात्मा भी परमात्मा ही है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इसका इस सूत्र के पूर्वापर से सम्बन्ध बैठता है अथवा नहीं?

ऊपर यह लिखा जा चुका है कि मनुष्य में मुख्य प्राण चिह्न है परमात्मा का और अगले सूत्र में लिखा है कि यह परमात्मा शक्ति किसी दूसरे (जीवात्मा) के लिए है। इन सूत्रों के प्रकाश में प्रतिज्ञा यह नहीं हो सकती कि अपने ज्ञान से सब जगत् का ज्ञान हो जाता है; वरन् निश्चय बात यह हो जाती है कि जीवात्मा परमात्मा से अन्य है और इस बात को भली-भाँति सिद्ध कर लेने से ही परमात्मा की भी सिद्धि का संकेत मिलता है। यह इस प्रकार कि जीवात्मा का प्राण उसका अपना नहीं है। यह किसी दूसरे (परमात्मा) का दिया हुआ है।

श्री आचार्य उदयवीर शास्त्री इस प्रतिज्ञा का अभिप्राय इस प्रकार समझते हैं। वे लिखते हैं—

"(प्रतिज्ञासिद्धं) प्रतिज्ञा सिद्धि का (लिङ्गम्) चिह्न है।..."

आश्मरथ्य आचार्य का विचार है कि उस प्रसंग में जीव विषय का कथन प्रतिज्ञा सिद्धि का लक्षण है।

आगे चलकर आप लिखते हैं—

'गत सूत्र की व्याख्या में सूत्रकार के आशय के अनुसार इसका समाधान किया कि जीवात्मा का शरीर प्रवेश स्वतन्त्रता से ईक्षणपूर्वक नहीं होता। यह जीवों के कर्मानुरूप परब्रह्म की व्यवस्थानुसार होता है। यह परमात्मा का औपचारिक प्रवेश उसकी व्यवस्थानुसार जीवात्मा प्रवेश का द्योतक है। इसलिए यहाँ शरीरान्तः (शरीर में) प्रवेश को जीवात्मा का लिंग मानने की आवश्यकता नहीं।'

बात तो ठीक है, परन्तु यह पूर्व के सूत्र अथवा वर्तमान सूत्रों में कहीं नहीं कहा गया। यह असंगत भाव उपनिषद् के प्रमाणों के अनुसार हो तो हो, परन्तु सूत्रों से इस सिद्धान्त का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है।

स्वामी ब्रह्ममुनिजी प्रतिज्ञा का अभिप्राय इस प्रकार सिद्ध करते हैं—

(प्रतिज्ञा सिद्धेः—लिङ्गम्) 'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः' इस वचन में परमात्मा का लिंग-द्योतन है प्रतिज्ञा की सिद्धि से, वहाँ यह प्रतिज्ञा है 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्' (बृहद्० ४-५-६) अर्थात् आत्मा के श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात् कर लेने पर यह सब जगत् जाना जाता है।

इस प्रकार मुनिजी कहते हैं कि परमात्मा को जान लेने से पूर्ण जगत् जाना जा सकता है। यह प्रतिज्ञा है।

हमारा यही कहना है कि इनका पूर्व के सूत्रों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं।

सूत्र १-४-१६ में तो यह कहा है कि उक्त (१-४-१७, १८) में कही बात वेद-वाक्यों में भी है। अतः इस सूत्र में प्रतिज्ञा वही है जो (१-४-१७, १८) में वर्णन की गई है।

इन सूत्रों में यह कहा है—

मनुष्य में मुख्य प्राण के संकेत से यह पता चलता है कि वह प्राण भी परमात्मा की शक्ति का ही लिंग है। यदि ऐसा नहीं मानते तो सूत्र १-१-३१ में देख लो। वहाँ वर्णन किया है।

इससे अगले सूत्र में लिखा है कि यह (प्राण) जो परमात्मा का लिंग है, यह दूसरे (जीवात्मा) के लिए है। ऐसा जैमिनि और अन्य भी कई एक मानते हैं।

अतः इस सूत्र में यही विचार उपस्थित है कि ईश्वर की शक्ति किसी दूसरे के लिए है। इसीसे यह सिद्ध होता है कि यह शक्ति (प्राण) परमात्मा की है। ऐसा आश्मरथ्य आचार्य का मत है कि परमात्मा की शक्ति जीवात्मा के लिए है। यह ही निश्चय है, यही प्रतिज्ञा है।

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

उत्क्रमिष्यतः+एवम्+भावात्+इति+औडुलोमिः।

इति औडुलोमिः=यह औडुलोमि ऋषि का मत है। उत्क्रमिष्यतः=ऊपर उठता हुआ है। एवम् भावात्=ऐसा होने से।

ऊपर उठते हुए अर्थात् जीवात्मा के मोक्ष की ओर जाने की प्रक्रिया में ऐसा होने से। कैसा होने से क्या? ईश्वरीय प्राण के सहायक होने से ही मोक्ष की सिद्धि है।

इसमें ईश्वरीय प्राण किसी दूसरे के लिए है, इसकी व्याख्या की है। यह जीवात्मा की क्या सहायता करता है? लिखा है कि जीवात्मा की, मोक्ष-प्राप्ति में सहायता करता है।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि शरीर में दी गई ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग कर जीवात्मा मोक्ष की सिद्धि कर सकता है।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥२२॥

अवस्थितेः+इति+काशकृत्सनः ।

'इति काशकृत्सनः'—यह काश कृत्स्न ऋषि का कहना है कि उत्क्रमण करने में जीव परमात्मा के प्राण से सहायता लेता है। यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि अवस्थितेः—ईश्वर में अवस्थित होने से। पूर्ण संसार परमात्मा में स्थित है। इस कारण जीवात्मायें भी उसी परमात्मा में स्थित हैं। अतः जीवात्मा उत्क्रमण करते समय परमात्मा की प्राण शक्ति से सहायता पाता है। निकृष्ट योनियों से उत्कृष्ट योनियों में जाते समय मोक्ष तक पहुँचने में ईश्वर ही सहायक है।

इस स्थान पर विचारणीय बात यह है कि सब जीव ही क्या उत्क्रमण करते हैं? ऐसा नहीं है। जो ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग उत्क्रमण के लिए करते हैं, वे ही उत्क्रमण करते हैं। कुछ लोग उच्च योनियों से नीचे की योनियों में जाने के लिए भी संलग्न हैं। इस कारण ईश्वर की शक्ति के प्रयोग की दिशा, तो जीवात्मा के ईक्षण पर है। इसी में उसकी स्वतन्त्रता है।

एक प्रश्न यहाँ और उत्पन्न होता है कि मनुष्य में मन तथा बुद्धि तो कर्म से मिलते हैं। बिना मन और बुद्धि के मनुष्य उत्क्रमण अथवा अपक्रमण नहीं कर सकता। कारण यह कि ईश्वरीय शक्ति का प्रयोग इन्हीं से सम्पन्न होता है तो जीवात्मा की स्वतन्त्रता किस प्रकार सिद्ध की जा सकती है? जीव तो मन और बुद्धि के अधीन ही होता है।

यदि यह मानें कि जीवात्मा मन और बुद्धि के बिना मनन एवं निश्चय कर ही नहीं सकता तो सत्य ही जीवात्मा को स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता। परन्तु ऐसा माना है कि मन और बुद्धि तो केवल करण हैं और इन करणों को प्रयोग करने वाला जीव ही है।

यह कहा है कि—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षारआत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ (प्रश्न० ४-९)

यह (जीव) ही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, रस लेने वाला, मनन करने वाला, निश्चय करने वाला और कार्य करने वाला है। इन्द्रियाँ नहीं। यह विज्ञानात्मा आत्मा है। वह परम अक्षर परमात्मा में प्रतिष्ठित अर्थात् स्थित है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने इत्यादि की शक्ति रखता है। अतः यह मन और इन्द्रियाँ नहीं, वरंच आत्मा ही है जो कार्य करता है। वह ईश्वरीय शक्ति (प्राण) का उपयोग अथवा दुरुपयोग करता हुआ उत्क्रमण करता है अथवा अपक्रमण करता है।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

प्रकृतिः+च+प्रतिज्ञादृष्टान्त+अनुपरोधात्।

और प्रकृति (बाँधती है अर्थात् उत्क्रमण करने नहीं देती) प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्त अर्थात् शास्त्र ज्ञान की बाधा न होने से।

प्रतिज्ञा उत्क्रमण करने का निश्चय अर्थात् संकल्प और ज्ञान प्रकृति के बाँधने के कर्म में बाधक होते हैं। बाधा न हो तो प्रकृति मनुष्य को भोगों में लिप्त रखती है।

जीवात्मा संकल्प और ज्ञान के आश्रय संसार से अलिप्त हो उत्क्रमण करता है, अन्यथा अपक्रमण करता है।

अतः सूत्रार्थ यह है कि संकल्प एवं ज्ञान के विरोध न करने पर जीव संसार में बँधा रहता है और उत्क्रमण नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, जीव के उत्क्रमण (ऊपर उठने) के लिए दृढ़ संकल्प और ज्ञान आवश्यक है।

हमारा मत है कि इस सूत्र का आशय है, "प्रकृति अपने गुणों से मनुष्य को बाँधती है।" जैसा कि गीता में लिखा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(भ० गी० १३-२१)

अर्थात्—जीवात्मा प्रकृति में स्थित प्रकृति से उत्पन्न गुणों के कारण पदार्थों को भोगता है और गुणों का संग ही इस जीवात्मा का अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है।

और इस बन्धन से मुक्ति कब होती है? वह भी गीता में लिखा है—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

(भ० गी० १३-२३)

जो इस प्रकार पुरुष (जीवात्मा) को और प्रकृति को गुणों सहित जानता है, वह वर्तमान में विचरता हुआ भी पुनः जन्म नहीं पाता।

अर्थात् प्रकृति अपने गुणों से जीवात्मा को बाँधती है और जो शास्त्रज्ञान से दिशा प्राप्त कर यत्न करता है, वह उत्क्रमण करता है।

इस पूर्ण बात को सूत्रकार ने ऊपर संक्षेप में कहा है कि यत्न से तथा शास्त्र-ज्ञान से मनुष्य प्रकृति से नहीं बँधता।

परन्तु विस्मय इस बात का है कि उक्त सबकुछ जानकर भी श्री शंकराचार्य सूत्रार्थ में हेर-फेर कर गये हैं।

वह उक्त परिणामों से उलट परिणाम निकालने का यत्न कर गये है। वह इस

सूत्र के भाष्य में पहले पूर्व पक्ष लिखते हैं। पूर्व पक्ष में वह लिखते हैं कि जगत्-रचना में दो कारण हैं। प्रकृति उपादान कारण और परमात्मा निमित्त कारण। स्वामीजी का पूर्व पक्ष हमने नहीं लिखा। कारण यह कि हमारा भी पक्ष यही है। देखना यह है कि स्वामीजी इस पूर्व पक्ष का खण्डन किस प्रकार करते हैं।

आप लिखते हैं—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव। कस्मात्? प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। एवं प्रतिज्ञादृष्टान्तौ श्रौतौ नोपरुध्येते। प्रतिज्ञातावत्—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्।' (छा० ६-१-२) **इति।**

इसका अर्थ है—ऐसा (पूर्व पक्ष) प्राप्त होने पर हम कहते हैं। प्रकृति उपादान कारण और उसके ऊपर ब्रह्म निमित्त कारण मानना चाहिए। केवल निमित्त कारण ही नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अनुपरोध है। दोनों प्रकार का कारण ब्रह्म को मानने से श्रुति प्रतिपादित प्रतिज्ञा और दृष्टान्त बाधित नहीं होते। इस प्रकार प्रतिज्ञा है—'क्या तूने गुरु से यह उपदेश पूछा है? जिससे अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मंत हो जाता है और अविज्ञात ज्ञात हो जाता है।'

(छा० ६-१-२)

इसके आगे आप युक्ति करते हैं—

तत्र चैकेन विज्ञातेन सर्वमन्यदविज्ञातमपि विज्ञातं भवतीति प्रतीयते। तच्चोपादानकारणविज्ञाने सर्वविज्ञानं संभवत्युपादानकारणाव्यतिरेकात्कार्यस्य। निमित्तकारणाव्यतिरेकस्तु कार्यस्य नास्ति; लोके तक्ष्णः प्रासादव्यतिरेकदर्शनात्। दृष्टान्तोऽपि—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इत्युपादनकारणगोचर एवाम्नायते। तथा 'एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्' (छा० ६-१-४, ५, ६) **इति च।**

अर्थात्—उसमें ऐसा दिखाई देता है कि एक के विज्ञात होने से अन्य सब अविज्ञात् भी विज्ञात हो जाते हैं। इससे उपादान कारण के विशेष ज्ञान से सब विशेष ज्ञान सम्भव है; क्योंकि कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है और निमित्त कारण से कार्य अभिन्न नहीं होता। लोक में भी बढ़ई भवन से भिन्न दिखाई देखने में आता है, परन्तु दृष्टान्त है—छा० ६-१-४, ५ और ६।

इसकी हम आगे व्याख्या करेंगे।

स्वामीजी के उक्त सूत्र के भाष्य में से इतना बड़ा उद्धरण देने का प्रयोजन यह है कि दिखाया जाये कि स्वामीजी ने अपने सिद्धान्त की पूर्ण भित्ति को जिस आधार पर खड़ा किया है, वह कितना थोथा है!

देखिये, स्वामीजी ने पहले पूर्व पक्ष में यह लिखा है कि जगत् का निमित्त कारण परमात्मा है और उपादान कारण प्रकृति है। अब वह इसका उत्तर इस

प्रकार देते हैं कि परमात्मा को उपादान कारण को भी निमित्त कारण माना जाये। वह प्रकृति का भी निमित्त कारण है। ब्रह्म को दोनों मान लेना चाहिए।

इसमें वह छान्दो० ६-१-२ का उद्धरण देते हैं।

इसलिए ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों मान लेना चाहिए, क्योंकि छान्दो० ६-१-२ में लिखा है।

आइये, देखें ६-१-२ में क्या लिखा है? इसके साथ ही हम छान्दो० ६-१-३, ४, ५ और ६) भी लिख रहे हैं। एक तो उक्त उद्धरण श्री स्वामीजी अपनी थोथी युक्ति में देते हैं और दूसरे उपनिषद् के पूर्ण प्रसंग को जाने बिना अर्थ लगा रहे हैं।

उपनिषद् मन्त्र इस प्रकार है—

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्वि ँ्शतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानीस्तब्ध एयाय। त ँ् ह पितोवाच—श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥२॥

येनाश्रुत ँ् श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति,
कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥३॥
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञात ँ् स्यात्,
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥४॥
यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञात ँ् स्यात्,
वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥५॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञात ँ् स्यात्-वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यम्। एव ँ् सोम्य स आदेशो भवतीति ॥६॥

अब इस उपनिषद् का अर्थ देखिये।

वह श्वेतकेतु बारह वर्ष गुरु के पास रहकर जब चौबीस वर्ष का हुआ तो सारे वेद पढ़कर, बड़ा मनस्वी, अपने-आपको वेदज्ञ मानने वाला और हठी बनकर अपने पिता के पास आया। उसको उसके पिता ने कहा—

'क्या तूने अपने आचार्य से यह पूछा था कि किससे न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, न जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है और अमत मत हो जाता है?'

लड़के ने कहा, 'भगवन्! वह आदेश क्या होता है?'

'हे सौम्य! जैसे एक मिट्टी के ढेले को जान लेने से सब मिट्टी के पदार्थ जान लिए जाते हैं। जैसे एक सुवर्ण पिण्ड के समझ लेने से सभी सुवर्ण से बने पदार्थों में सुवर्ण का ज्ञान हो जाता है। इनमें विकार केवल कहने मात्र का है। इसी प्रकार यह है।'

श्वेतकेतु ने कहा, 'यह मैंने नहीं सुना। मेरे पढ़ाने वाले ने निश्चय ही यह नहीं बताया। (छान्दो० ६-१-२, ३, ४, ५, ६, ७)।

तब आरुणि ने कहा, 'यह जगत् पहले सत् ही था। केवल अकेला सत्। कुछ एक का मत है कि अभाव से भाव हो गया। यह कैसे हो सकता है ? अभाव से भाव नहीं हो सकता। इस कारण जगत्-रचना से पूर्व भाव था। कुछ था। वह एक था।' (छान्दो० ६-२-१)।

इसका अर्थ यह है कि स्वर्ण को जान लेने से स्वर्णकार उससे भाँति-भाँति के भूषण बना लेता है। कुम्हार मिट्टी को जानकर उससे अनेक प्रकार के मिट्टी के बर्तन बना लेता है। यही सोने की भाँति जगत् का पूर्व सत् था। उससे ही सब जगत् के पदार्थ बने हैं।

इसी प्रकार यह पूर्ण जगत् बनाने वाले ने एक पदार्थ से सब भिन्न-भिन्न नाम रूप वाले पदार्थ बनाये हैं।

इतने वाक्य से तो यह सिद्ध नहीं होता कि जगत् का उपादान कारण नहीं है। केवल यह पता चलता है कि जगत् के सब पदार्थों का एक ही उपादान कारण है। आगे के मन्त्रों में लिखा है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते।

(छान्दो० ६-२-३)

ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते।

(छान्दो० ६-२-४)

इसका अर्थ इस प्रकार बनता है—

(तत् ऐक्षत् बहुःस्याम् प्रजायेयेति) उस समय परमात्मा ने ईक्षण किया कि मैं बहुत प्रजा उत्पन्न करूँ। तब उसने अन्न का सृजन किया। अतः जहाँ कहीं वर्षा होती है, बहुत अन्न होता है। जल से ही अन्न होता है।

इन मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार करने से तो यह सिद्ध होता है कि उपादान कारण जो ऊपर बताया है कि पूर्ण जगत् का कारण एक ही है, उसने बहुत प्रजायें उत्पन्न करने के लिए ईक्षण किया।

इन्हीं मन्त्रों का यह भी अर्थ किया जाता है कि वह मूल प्रधान ने ही ईक्षण किया और वह ही परमात्मा का रूप है, परन्तु वह अन्य उपनिषद् वाक्यों के विपरीत जाता है। ईक्षण करने वाला तो चेतन तत्त्व ही है और अपां तेज अन्न इत्यादि जिनके ईक्षण करने की बात आरुणि ने कही कि वे जड़ पदार्थ कैसे ईक्षण करने वाले माने जा सकते हैं ? अभिप्राय स्पष्ट है कि उस जगत्-रचना से मूल भाव से परमात्मा ने सृष्टि रचना का ईक्षण किया।

परन्तु हमारी मुख्य आपत्ति शंकर भाष्य पर यह है कि उनकी इस सब

व्याख्या में सूत्र की व्याख्या कहाँ है ? उससे इसकी कहाँ संगत बैठती है ? सूत्र में तो शब्द स्पष्ट है—

प्रकृतिः च—और प्रकृति (बाँधती है।)

प्रतिज्ञा दृष्टान्त अनुपरोधात्—जब संकल्प और शास्त्र ज्ञान-बाधक नहीं होते।

इनका उक्त सब दृष्टान्तों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं।

अभिध्योपदेशाच्च ।।२४।।

अभिध्या+उपदेशात्+च।

अभिध्या=संकल्प। उपदेशात्=उपदेश से। और प्रश्न उत्पन्न होता है कि संकल्प किसका ?

हमारा मत यह है कि उसका, जो सूत्र १-४-२१ के अनुसार उत्क्रमिष्यत अर्थात् ऊँची योनियों को जाता है। इस प्रकार यहाँ उसके संकल्प से अभिप्राय है। सूत्र (१-४-२३) के अनुसार प्रकृति के बन्धन से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से छूटता है।

अर्थात् यहाँ भी अभिध्या—संकल्प जीवात्मा का ही है। उपदेश से अर्थात् शास्त्र ज्ञान से यह संकल्प बनता है। उत्क्रमण का संकल्प वेदान्त के उपदेश से निर्माण होता है।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ।।२५।।

साक्षात्+च+उभय+आम्नानात्।

और साक्षात् अर्थात् दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष से आम्नान (पठन-पाठन) से।

पूर्व सूत्र (१-४-२४) में लिखा है कि उपदेश से संकल्प उत्क्रमण का बनता है। यहाँ लिखा है—और साक्षात् से भी अर्थात् दोनों के साथ-साथ ज्ञान से संकल्प सुदृढ़ होता है।

साक्षात् के दो अर्थ लिए जा सकते हैं। इतर योनियों में प्राणी के कष्ट देखने से जीवात्मा संकल्प करता है उत्क्रमण करने का। कुत्ते, बिल्ली इत्यादि का विवशता का जीवन देखकर मनुष्य अपक्रमण करने से डरता है। यह एक प्रकार का साक्षात् है। दूसरे प्रकार का साक्षात् है स्वाध्याय तथा योग, ध्यान, धारणा, समाधि द्वारा।

दोनों के साक्षात् का अभिप्राय यह भी है कि हृदय की गुहा में जीवात्मा और परमात्मा का साक्षात् होने से भी उत्क्रमण होता है।

आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६॥

आत्म+कृतेः+परिणामात्।

आत्म=आत्मा। कृतेः=कर्मों के। परिणामात्—परिणाम से।

यह उत्क्रमण अथवा अपक्रमण जीवात्मा के कर्मों के परिणाम अर्थात् कर्मफल से होता है।

योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

योनि=उद्गम स्थान। च=और। हि=क्योंकि। गीयते=वर्णन किया गया है।

और क्योंकि परमात्मा इस (जगत्) का योनि स्थान कहा गया है; इस कारण 'जन्माद्यस्य यतः' सिद्ध होता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि योनि कहने से वहाँ पर बनने वाला पदार्थ और उस पदार्थ का मूल स्रोत योनि से पृथक् होता है। योनि उद्गम स्थान है। उद्गम होने वाला पदार्थ भिन्न तत्त्वों से बनता है। यह बात स्पष्ट है कि योनि केवल मात्र स्थान का प्रतीक है। बनने वाले पदार्थ का मूल योनि से भिन्न है। इसी प्रकार बनाने की शक्ति भी स्थान से भिन्न है।

जगत्-रचना में योनि स्थान तो आकाश है। मूल पदार्थ प्रकृति अर्थात् प्रधान है और रचना की शक्ति रखने वाला परमात्मा है।

ऊपर आकाश को परमात्मा का लक्षण लिखा जा चुका है। यह इस कारण कि आकाश (space) परमात्मा से व्याप्त है। अतः जहाँ-जहाँ आकाश है, वहाँ परमात्मा का होना भी निश्चय है।

जैसे अग्नि का लक्षण धुआँ है। जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि को भी मानना होता है। इसी प्रकार परमात्मा और आकाश पर्यायवाचक हो गये हैं।

आम्नान् के अर्थ हैं पठन-पाठन द्वारा स्मरण रखना। विलियम मोनियर इसके अर्थ इस प्रकार लिखते हैं। आम्नान्—to utter, mention, to cite, to commit to memory, handed down in sacred text.

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥२८॥

एतेन + सर्वे + व्याख्याता + व्याख्याताः।

इससे सब ही व्याख्या सहित व्याख्या किये गए (समझना चाहिए)। व्याख्या से व्याख्या किये गए का अर्थ है वेदादि शास्त्रों में व्याख्या सहित वर्णन किये गए समझ लो।

यहाँ सूत्रवत् वर्णन किया गया है। व्याख्या वेदादि शास्त्रों में मिलती है। यह वैसा ही कथन है जैसाकि ब्र० सू० १-१-१५ में भी आया है। (मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते) अर्थात् वेदमन्त्र के पदों में ऐसा कहा गया है।

सर्वे का अर्थ है सब प्रामाणिक शास्त्रों में।

यहाँ ब्रह्मसूत्रों के प्रथम अध्याय की समाप्ति होती है। अतः हम अपना मत पुनः लिख देना चाहते हैं।

(१) ब्रह्म शब्द का प्रयोग केवल परमेश्वर के लिए ही नहीं किया गया। इन सूत्रों में जहाँ-जहाँ ब्रह्म का प्रयोग हुआ है; विशेषतः ग्रन्थ के नाम में, वहाँ जगत् के तीन मूल पदार्थों से अभिप्राय है। परमात्मा, प्रधान और जीवात्मा गण। अन्य शास्त्रों में भी इस शब्द का प्रयोग तीनों मूल पदार्थों, दोनों अथवा किसी एक के लिए भी हुआ है। अतः अर्थ करने में सावधानी बरतनी चाहिए।

'सत्' इस ग्रन्थ में अथवा वेदादि शास्त्रों में भी केवल 'होने' के अर्थों में आया है। अर्थात् जो अनादि है और जो अक्षर है, वह 'सत्' है।

चित् से अभिप्राय चेतन है। चेतन पदार्थ का गुण ईक्षण करना है। ईक्षण से अभिप्राय कार्य का काल, स्थान और विधि निश्चय करना है। जो ऐसा करने की सामर्थ्य रखता है, वह ईक्षण करने योग्य माना जाता है और वह चेतन है।

परमात्मा और जीवात्मा सत् भी हैं और चेतन भी हैं। परमात्मा सत् एवं चित् के अतिरिक्त आनन्दस्वरूप भी है। इसी कारण परमात्मा को सच्चिदानन्द भी कहते हैं।

जीवात्मा आनन्दमय नहीं, परन्तु यह आनन्द की खोज में रहता है। विशेष प्रयत्न और परिस्थितियों में यह भी आनन्द का उपभोग करने के योग्य हो जाता है।

प्रकृति, जिसे प्रधान भी कहा है, भी सत् है अर्थात् अनादि और अनन्त है। परन्तु यह न तो चित् है और न ही आनन्दमय है। इसमें ईक्षण नहीं है। यह किसी भी अवस्था में आनन्दमय नहीं हो सकती। कारण यह कि इसमें चैतन्यता न होने से इसके लिए आनन्द तथा आनन्दमय अवस्थाएँ समान हैं। यह परिणामी है।

अर्थात् इसमें विकार उत्पन्न होते हैं और वे विकार विनष्ट होते हैं। इस पर भी मूल पदार्थ अनादि और अक्षर है।

अतएव हमारा मत है कि ब्रह्मसूत्र-ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों का ज्ञान कराने वाला है। केवल परमात्मा का नहीं।

हम यह मानते हैं कि ब्रह्मसूत्रों में जिस सत्य का निरूपण किया गया है, वह वेदादि शास्त्रों में भी मिलता है। परन्तु उसी सत्य की सिद्धि ब्रह्मसूत्रों में युक्ति का आश्रय लेकर की गयी है। इसी कारण इसे मीमांसा (philosophy) का ग्रन्थ कहा गया है।

हम युक्ति को वर्जित (taboo) नहीं करते, परन्तु युक्ति बुद्धि का विषय है और बुद्धि एक करणमात्र है। इस करण को जितना निर्मल, सजग और तीव्र बनाया जाता है, उतनी ही अधिक स्पष्टता से सत्य के दर्शन होते हैं।

इस बुद्धि को निर्मल करने के लिए ही कुछ पूर्व-कर्म स्वीकार किये गए हैं। ये हैं यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और विवेक।

ये वे साधन चतुष्टय नहीं, जिनकी आवश्यकता ब्रह्म में लीन होने के लिए आवश्यक समझी गयी है। इनमें कम-से-कम मुमुक्षत्व सम्मिलित नहीं। मुमुक्षत्व तो ज्ञान के उपरान्त उत्पन्न होता है। ज्ञान प्राप्ति के लिए वे सब साधन चाहिए, जिनसे बुद्धि निर्मल हो। शेष ज्ञान प्राप्त होने के उपरान्त होता है।

□

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय में वर्णित विषय का संक्षेप

सूत्रकार यह बताने के लिए कि उसका मत वैदिक शास्त्रों का ही मत है, एक विशेष बात का स्पष्टीकरण करता है। वह यह कि यदि किसी शास्त्र में किसी विषय का वर्णन न हो तो इसका यह अर्थ नही हो सकता कि वह शास्त्र उस विषय का विरोध करता है। 'अनवकाश' अर्थात् किसी विषय अथवा पदार्थ का उल्लेख न होने से यह अर्थ नहीं निकलता कि वह शास्त्र उस विषय का विरोध कर रहा है अथवा उस पदार्थ के अस्तित्व को नहीं मानता।

इस प्रकार सूत्रकार ने उन शास्त्रों की सफाई प्रस्तुत कर दी जिनमें जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख नहीं है। जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख कई उपनिषदों में नहीं है।

योग क्रियाओं में कैवल्यावस्था प्राप्त करने के लिए मनुष्य द्वारा किये जाने वाले प्रयास का वर्णन है। इसमें परमात्मा के सहयोग का वर्णन नहीं। इस कारण यह कहना ठीक नहीं कि योग की सिद्धि में परमात्मा का कुछ हाथ है ही नहीं। विषयान्तर होने से ऐसा वहाँ नहीं लिखा।

प्रकृति के जो गुण सांख्य-दर्शन में वर्णन किये हैं, वे कार्य-जगत् में भी उपस्थित हैं। इससे कार्य-जगत् का कारण प्रकृति को मानना ही होगा। कार्य-जगत् मे प्रकृति जैसे गुण होने से ऐसा समझ में आता है।

कार्य-जगत् में भिन्न-भिन्न पदार्थों की गतियाँ कुछ ऐसी प्रतीत होती हैं जैसेकि नाट्यकार रंगमंच पर नाटक करते हैं; परन्तु कराने वाला सूत्रधार भी होना चाहिए। वह परमात्मा है।

प्रश्न उत्पन्न हुआ है कि जगत्, जिसमें के पदार्थ नाटक करते प्रतीत होते हैं, यह प्रलयकाल में कहाँ होता है? उस समय तो कुछ भी दिखाई नहीं देता। शास्त्र में भी लिखा है कि अन्धकार शून्य-समान ही सबकुछ होता है। यदि वह प्रकृति है तो कार्य-जगत् वैसा न होने से प्रकृति से नहीं बना।

सूत्रकार इस प्रश्न का उत्तर देता है कि अव्यक्त से व्यक्त बनने में अयुक्तिसंगत बात नहीं। यदि अव्यक्त से व्यक्त होने को अयुक्तिसंगत मानते हो तो शून्य से जगत्

का भाव कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ? अर्थात् नास्तिक जो अभाव से भाव मानते हैं, वे यह नहीं बता सकते कि अव्यक्त से व्यक्त कैसे हो गया ?

अब सूत्रकार उक्त आधाररहित युक्ति करने वालों को एक सिद्धान्त की बात बताता है। वह कहता है कि युक्ति निराधार नहीं हो सकती। अर्थात् जब युक्ति करनी होती है तब वैसी अनुभव में आयी बात की ओर संकेत करना होता है। यदि संकेत की हुई बात ठीक है तो युक्ति भी सत्य होगी।[1]

हम नित्य देखते हैं कि जो पैदा होता है वह मरता भी है। अतः पैदा हुए प्राणी को देख उसके मरने की युक्ति करना सत्य है। कोई कहे कि देवदत्त का पुत्र मरा था तो यह असत्य नहीं हो सकता। यह सत्य है। प्रतिष्ठित युक्ति को अनुमान कहते हैं। यह सत्य की खोज में एक प्रमाण माना जाता है।

इस सूत्र का उल्लेख करने का कारण यह है कि शंका करने वाले ने निराधार युक्ति उपस्थित की थी। उसकी अपनी युक्ति से उसका अपना मन ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है। अव्यक्त से व्यक्त, शून्य से जगत् की रचना की अपेक्षा अधिक सत्य है। अतः विद्वत् जनों से अस्वीकृत बातें अस्वीकृत ही होनी चाहिए। विद्वान् लोग ठीक प्रकार से युक्ति कर अनुमान लगाते हैं।

जो परमात्मा को नहीं मानते और जड़ जगत् को ही सबकुछ मानते हैं, वे यह युक्ति करते हैं कि अन्न जड़ है। अन्न खाने से शरीर बनता है। वह चेतन है, तो यह सिद्ध हो गया है कि चेतन शरीर भी जड़ है। कारण यह कि शरीर अचेतन अन्न से बना है। सूत्रकार इसमें लौकिक उदाहरण देता है। एक भवन का स्वामी भवन की मरम्मत करता है। मरम्मत में पदार्थ अचेतन लगते हैं। भवन मरम्मत हो जाने से स्वामी को सुख मिलता है, परन्तु बनता भवन है। यही बात शरीर की है। अन्न से शरीर बनता है, परन्तु शरीर का स्वामी सुख भोगता है। अतः जैसे भवन का स्वामी भवन में लगने वाले चूने, सीमेंट से भिन्न है, वैसे ही जीवात्मा शरीर-निर्माण करने वाले अन्न से भिन्न है।

कारण से ही कार्य होता है और मूल गुण, कारण के, कार्य में देखे जाते हैं। उक्त सब युक्तियों से यह सिद्ध किया गया है कि प्रकृति के मूल गुणों को रखने वाला जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। उसे प्रकृति अथवा प्रधान का नाम दिया है। वह कारण सदा उपस्थित रहने वाला होना चाहिए। अतः प्रकृति का एक गुण है कि यह 'सत्' है, अनादि है और अक्षर है। इसे अजन्मा कहा जाता है।

जगत् सत् नहीं। जहाँ कहीं इसे सत् कहा जाता है वहाँ केवल तुलनात्मक भाव में ही कहा जा सकता है। जगत् का एक धर्म है कि यह व्यक्त है। यह बना है। जो बनता है वह बिगड़ता भी है। अतः जगत् बनता और बिगड़ता है। इससे इसके

---

१. ब्रह्मसूत्र २-१-११

मूल कारण 'प्रकृति' में व्यक्त होने का गुण नहीं। यह अव्यक्त है। बनती नहीं। अनादि है।

यह जगत् ऐसे ही बना है जैसेकि सूत से कपड़ा बनता है। सूत के मूल गुण कपड़े में रहते हैं। प्रकृति के परमाणुओं से जगत् के अनेकानेक पदार्थ बनते हैं।

प्राणी का शरीर भी प्रकृति का बना है। इसमें इन्द्रियाँ इत्यादि ऐसे ही गुँथी हुई हैं जैसे कि सूत कपड़े में होता है। इन्द्रियाँ भी तो प्रकृति के परमाणुओं से बनी होती हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि प्रकृति के अतिरिक्त चेतना इस जगत् में कार्य कर रही है। वह एक ही है जो भिन्न-भिन्न कार्य करती है। सूत्रकार का कहना है कि चेतना एक प्रकार की नहीं है। वह दो प्रकार की है। यदि प्राणियों में चेतन तत्त्व भी वही मान लेंगे जो जगत् में है, तो दोष यह होगा कि प्राणी तो अच्छे-बुरे कर्म सब करता है। तो वह चेतन तत्त्व जो पूर्ण जगत् का निर्माता, भर्ता और प्रलयकर्ता है, वह बुरे कर्म करने वाला भी मानना पड़ेगा। इस कारण, सूत्रकार का कहना है कि प्राणी में चेतन तत्त्व भिन्न है। यह वह नहीं जो जगत् का संचालन करता है। अर्थात् जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है।

पत्थर इत्यादि जड़ हैं। इनमें गति चेतन के करने से होती है, परन्तु इनकी गति और प्राणी की गति में अन्तर है। यह एक दिशा में गति और कभी विपरीत गति भी करता है। अर्थात् जीवात्मा प्राणी में गति करने वाला जगत् में गति करने वाले परमात्मा से भिन्न है।

जीवात्मा बिना साधनों के कार्य नहीं कर सकता। इसे उपकरण चाहिए। जैसे कुम्हार को बर्तन बनाने के लिए चक्का, डण्डा इत्यादि चाहिए। परन्तु परमात्मा को जगत् बनाने के लिए उपकरण दिखायी नहीं देते। चन्द्र, सूर्य, पृथिवी बनाने के लिए उपकरण नहीं हैं। अतः परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर है।

जो जगत् का उपादान कारण परमात्मा को मानते हैं उनसे सूत्रकार पूछता है कि पूर्ण परमात्मा ही जगत् में परिवर्तित हो जाता है अथवा केवल कुछ भाग? यदि तो मानो कि पूर्ण परमात्मा जगत् में बदल जाता है तो परमात्मा के गुणों वाली वस्तु ब्रह्माण्ड में नहीं रहेगी और यदि कहो कि कुछ परिवर्तित होता है और कुछ नहीं होता तो परिवर्तित होने वाले और न परिवर्तित होने वाले में सीमा बन जाएगी। एक के दो भाग हो गये। अर्थात् परमात्मा सावयव हो जायेगा। अतः सूत्रकार का मत है कि जगत् का उपादान कारण परमात्मा नहीं। यह प्रकृति है।

परमात्मा जड़ प्रकृति से जगत् की रचना करता है। वह विचित्र प्रकार की शक्तियों का स्वामी है।

परमात्मा सर्वव्यापक होने से बिना करणों के रचना करता है। इसका सम्पर्क प्रकृति के प्रत्येक परमाणु से होने के कारण वह बिना करणों के रचना कर सकत·

है और वह सब कुछ देखता है और जानता है।

परमात्मा की शक्ति से इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। जगत् की रचना भी वही करता है। यह सबकुछ विशेष प्रयोजन से हो रहा है, परन्तु जगत् रचना लीलावत् होती है। स्वाभाविक रूप में ही हो रही है। परमात्मा का सम्बन्ध प्रकृति और जीवात्माओं से स्वाभाविक है। इसीसे यह रचना होती है।

जीवात्माओं के भोग के लिए जगत् रचना होती है। परमात्मा का जीवात्माओं से सम्बन्ध के कारण ही रचना होती है। परमात्मा भोग नहीं करता, अतः यह भोग-सामग्री जीवों के लिए है, परमात्मा के लिए नहीं।

कार्य-जगत् जो प्रत्यक्ष है उसमें तीनों मूल पदार्थों के गुणों के उपस्थित होने से तीनों की सिद्धि है।

लोग मूल प्रकृति से ही जगत् की रचना हुई मानते हैं। इसमें किसी चेतन के सहयोग को नहीं मानते। सूत्रकार कहता है कि यह युक्ति से भी सिद्ध नहीं होता तथा न प्रकृति के गुणों से और न ही प्रकृति की प्रवृत्ति अर्थात् स्वभाव से जगत्-रचना होती देखी जाती है।

प्रकृति का एक गुण है कि यह जड़ है और जड़ पदार्थ न तो स्वयं हिल सकते है और यदि हिल रहे होते हैं तो स्वयं ठहर नहीं सकते। प्रकृति का कोई भी कण खड़ा है तो खड़ा ही रहता है, चल रहा है तो उसी गति और दिशा में चलता रह सकता है, जिसमें यह चल रहा है; जब तक इस पर किसी दूसरे का प्रभाव न पड़े। (यह गतियों में न्यूटन का प्रथम नियम है।) अतः केवल प्रकृति से जगत् की रचना नहीं मानी जा सकती। विना किसी के हिलाये एक तिनका भी नहीं हिलता।

साथ ही विना किसी प्रयोजन के कुछ होता नहीं। इस कारण प्रकृति स्वयं जगत्-रचना नहीं कर सकती। कोई चेतन-शक्ति रचना करने वाली होनी चाहिए और किसी अन्य चेतन के लिए रचना होनी चाहिए।

कभी अन्धा और लँगड़ा सहयोग से चल सकते हैं और चुम्बक से जड़ पदार्थ हिल पड़ते हैं, परन्तु सूत्रकार का कहना है कि जगत्-रचना ऐसे नहीं हो सकती। उक्त दोनों उदाहरणों में भी चेतन तत्त्व के विना कार्य नहीं हो सकता। अन्धे और लँगड़े के सहयोग में भी चेतना तो है ही। चुम्बक में भी चेतन का सहयोग रहता है। विना चेतन के प्रयत्न के लोह-कण चुम्बक के क्षेत्र में आ ही नहीं सकता, साथ ही दिशा में परिवर्तन नहीं हो सकता।

जगत्-रचना होती है प्रकृति के परमाणुओं से। परमाणुओं में गुण रहते हैं। ये परमाणु के धर्म हैं। धर्म इन धर्मों के हेर-फेर से सृष्टि-रचना होती है। यह हेर-फेर करने वाली कोई ज्ञानवान् चेतन शक्ति है। यह परमात्मा है।

परन्तु परमात्मा सृष्टि का उपादान कारण नहीं। प्रकृति के मूल गुण तो सृष्टि

में हैं, परन्तु परमात्मा के मुल गुण—ज्ञानवान् होना, शक्तिमान् होना इत्यादि सृष्टि में नहीं हैं।

परमाणुओं में सत्त्व, रजस् और तमस् के आकर्षण-विकर्षण से ह्रस्व-दीर्घ परिमण्डल बनते हैं, परन्तु प्राणी की रचना इतने मात्र में नहीं होती।

प्राणी अर्थात् चेतन शरीर की रचना, जब परिमण्डल एक ओर से तथा जीवात्मा दूसरी ओर से आकर सम्पर्क में आते हैं, तो होती है।

पांचभौतिक प्रकृति से जीवात्मा का सम्पर्क होने पर प्राणी की रचना होती है।

पांचभौतिक पदार्थ बनते हैं परिमण्डलों के संयोग-वियोग से। इस संयोग-वियोग में परिमण्डलों का कुछ भी हेतु नहीं। हेतु है जीवात्मा के लिए भोग प्राप्त कराना।

जब परिमण्डलों के संयोग-वियोग से पदार्थ बनते हैं, तो कुछ विनष्ट होते हैं, कुछ बनते हैं। विनष्ट होने वालों से ही दूसरे बनते हैं। विनष्ट होने वाले में दोष उत्पन्न होता है तो दूसरा बनता है।

यह कार्य-जगत् अभाव से नहीं बना। इसका कारण जड़ प्रकृति है और उससे जगत् बना है। बनाने वाला चेतन इसका निमित्त कारण है।

सूत्रकार ने जगत् को स्वप्नादिवत् नहीं माना। इसमें वह युक्ति देता है कि कार्य-जगत् में वैधर्म्य होने से। अनेक प्रकार के धर्म हैं कार्य जगत् के। स्वप्न में पदार्थों के वैधर्म्य नहीं होते।

जड़ जगत् में कार्य परमात्मा से होता है। जगत् में कार्य होता देखकर परमात्मा की उपलब्धि होती है। अर्थात् परमात्मा की सिद्धि होती है। जगत् क्षणिक है। अर्थात् अल्पकाल में बनता-बिगड़ता है। यहां अल्पकाल ब्रह्माण्ड के अनादि काल की तुलना में कहा गया है। वास्तव में ब्रह्म दिन और रात्रि सौर-वर्ष की तुलना में बहुत बड़ा है। यह दिन अथवा रात प्रत्येक ४,६४,००,००,००० (चार अरब चौंसठ करोड़) वर्ष का है।

कार्य-जगत् एक ही तत्त्व से नहीं बना। इसमें तीन तत्त्वों का संयोग है। परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। यदि यह मानें कि कार्य-जगत् एक ही तत्त्व से बना है तो उस तत्त्व की सम्पूर्णता सिद्ध हो जायेगी।

जगत् विकारयुक्त है अर्थात् परिणामी है। परिणाम में अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनती हैं। इसपर भी उनके बनने में विरोध नहीं। उन सबमें प्रकृति के एक मूल गुण की समानता है। वह गुण है जड़त्व का।

परन्तु परमात्मा को ही जगत् में परिवर्तित मानने से परमात्मा के दो रूप मानने पड़ेंगे। एक नित्य और दूसरा अनित्य। जगत् के पदार्थ अनित्य हैं।

परमात्मा जगत् का पति भी नहीं। इसका जगत् से पति-पत्नी का सम्बन्ध भी नहीं।

भोक्ता का सम्बन्ध भी नहीं है। परमात्मा जगत् का भोग नहीं करता। जगत् परमात्मा का निवास-स्थान भी नहीं। परमात्मा की इन्द्रियाँ भी नहीं। परमात्मा अन्त वाला और असर्वज्ञ भी नहीं। यह अनादि, अनन्त है और सर्वज्ञ है। परमात्मा की उत्पत्ति भी असम्भव है। यह अयुक्तियुक्त है।

परमात्मा बिना साधनों के जगत् की रचना करता है। विशेष ज्ञान एवं सर्व-व्यापकता होने से इसको करणों की आवश्यकता नहीं।

इस प्रकार कई प्रकार की युक्तियों से सूत्रकार ने परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन किया है।

इतना वर्णन कर सूत्रकार इस अध्याय में वर्णित सिद्धान्त में दोष निकालने वालों का उत्तर देता है।

सबसे पहले आकाश के विषय में ही लिखा है। किसी ने आपत्ति की है कि वेदों में आकाश का कथन नहीं। सूत्रकार कहता है कि है।

इसपर आक्षेप करने वाला कहता है कि वह वर्णन गौण है। वहाँ परमात्मा को आकाश कहा है।

सूत्रकार का कहना है कि गौण नहीं है। आकाश और परमात्मा का कथन साथ-साथ आने से दोनों में कोई भी गौण नहीं। दोनों का कथन है। इस कारण इस प्रतिज्ञा की कि वेदों में आकाश शब्द का कथन है, हानि नहीं हुई। आकाश का परमात्मा के साथ सम्बन्ध वर्णन किया है। यह परमात्मा के लक्षण के रूप में है। लक्षण भी तो कुछ होता है। वह न होने के समान नहीं।

कई स्थानों पर आकाश की उत्पत्ति लिखी है। वहाँ उस आकाश से अभिप्राय नहीं, जो परमात्मा का लिंग है। उत्पत्ति उस आकाश की है जो पाँचभौतिक है।

पाँचभौतिक आकाश अहंकारों से बनता है। पंच महाभूतों में यह सबसे पहले बनता है। तदनन्तर इससे मातरिश्वा बनता है। मातरिश्वा उस वायु को कहते हैं जिससे पाँचभौतिक अग्नि उत्पन्न होती है और पाँचभौतिक अग्नि से पाँचभौतिक जल और जल से पृथ्वी बनती है।

ये सब प्रकृति के परिणाम हैं और प्रकृति की सत्ता है। अर्थात् शून्य से ही इस जगत् की उत्पत्ति नहीं होती। कारण यह कि शून्य से कुछ अस्तित्व वाली वस्तु बन नहीं सकती।

इस प्रकार सृष्टि क्रम है→प्रकृति→महत्→अहंकार→पंच महाभूत→प्राणी। और विपर्यय (विपरीत कार्य) अर्थात् प्रलय कार्य इससे उलट क्रम पर चलता है। प्राणी→पंच महाभूत→अहंकार→महत्→प्रकृति।

रचना और प्रलय दोनों के क्रम से इसके करने वाले निमित्त कारण का ज्ञान होता है। उक्त सृष्टि-क्रम में पंच महाभूतों से प्राणी की सृष्टि लिखी है। यह सृष्टि पंच महाभूतों के क्रम में नहीं। यह मन और बुद्धि के पंच भूतों के संयोग से होती

है। मन और बुद्धि महत् का अंश है और ये अविशेष कहलाते हैं।

प्राणी जगत् में पंच महाभूत, मन और बुद्धि से शरीर-निर्माण होता है, परन्तु यह शरीर प्राणी में गौण है। मुख्य है जीवात्मा, जो शरीर के जन्म-मरण से पृथक् रहता है। जन्म और मरण शरीर का होता है। जीवात्मा का अविनाशी होना शास्त्र से भी प्रमाणित है। आत्मा चेतन है। चेतन के मुख्य लक्षण—कार्य का ढंग, दिशा और काल निश्चय करना—जीवात्मा में पाये जाते हैं।

मरण-जन्म से शरीर में से जीवात्मा का जाना और आना ही प्रकट होता है। यह आना और जाना दो प्रकार का है—उत्क्रमण और निम्नक्रमण। अर्थात् निम्न योनियों से उच्च योनियों में जाना अथवा उच्च योनियों से निम्न योनियों में जाना आत्मा के उत्क्रमण और निम्नक्रमण के साथ ही सम्बन्ध रखता है। शरीर तो मरण के समय विनष्ट हो जाता है।

उत्क्रमण अथवा निम्नक्रमण का सम्बन्ध जीवात्मा से है। यह न तो शरीर से सम्बन्ध रखता है और न ही परमात्मा से। जीवात्मा अणु मात्र है और परमात्मा विभु अर्थात् सर्वव्यापक है। इस कारण भी गति-अगति का सम्बन्ध जीवात्मा से ही है। जीवात्मा का अणु मात्र होना शास्त्र में लिखा है। साथ ही यह चेतन है।

यह अणु मात्र होने पर भी पूर्ण शरीर में कार्य करता है। जैसे चन्दन की गन्ध उस पूर्ण आगार में फैल जाती है, जिसके एक कोने में चन्दन की लकड़ी रखी हो। इसी प्रकार इसकी शक्ति का प्रसार उस पूर्ण शरीर में होता है, जिसमें यह उपस्थित हो।

जीवात्मा हृदय की गुहा में स्थित है और इसकी शक्ति का प्रसार शरीर में इन्द्रियों द्वारा होता है। ऐसे ही जैसे लोक में राजा अपने कर्मचारियों द्वारा राज्य करता है।

जीवात्मा और परमात्मा में समानता चेतना की है। इस पर भी दोनों में भेद है। प्रथम भेद तो यह है कि एक अणु मात्र है और दूसरा विभु है। एक को अपने से बाहर कार्य करने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता रहती है और दूसरे को इनकी आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वतः ही सर्वत्र व्यापक है।

शरीर में रहते हुए ही जीवात्मा के अस्तित्व का पता चलता है। जीवात्मा सदा शरीर सहित रहता है। केवल ब्रह्मरात्रि के समय इसका सम्बन्ध स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से छूटता है। तब यह सक्रिय नहीं रहता। तब इसकी सुषुप्ति अवस्था कही जाती है।

मोक्षावस्था में इन्द्रियाँ और शरीर न रहने पर भी यह चेतन रहता है। इसकी कार्य करने में स्वतन्त्रता रहती है। ब्रह्मरात्रि की अवस्था में भी इसका चेतन गुण साथ रहता है; यद्यपि वह प्रकट नहीं होता।

यह ऐसे ही है जैसेकि पुरुषत्व तो बालक और वृद्ध में भी रहता है; यद्यपि इसका प्रकटीकरण नहीं हो सकता।

इस प्रकार जीवात्मा में अनुभव करने की सामर्थ्य तो रहती है; यद्यपि इसकी अभिव्यक्ति (प्रकट होना) विशेष अवस्था में ही होती है। साथ ही जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इसको मिले करण इसकी इच्छानुसार कार्य करते हैं। शरीर में इसके करण हैं इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ)। ये करण जीवात्मा की इच्छा के अनुसार ही कार्य करते हैं, परन्तु इसके कर्मों का फल इसकी इच्छा के अधीन नहीं। कर्म से फल की उपलब्धियों में इच्छा का नियम नहीं चलता।

कभी जीवात्मा के कार्य अधूरे रह जाते हैं; यद्यपि उसकी इच्छा इनको पूर्ण करने की होती है। इसके करणों (बाह्य एवं आभ्यन्तरिक इन्द्रियों) की सामर्थ्य सीमित है। कभी इच्छायें सामर्थ्य से अधिक हो जाती हैं। साथ ही कर्म की उपलब्धि (कर्मफल) जीवात्मा के अधीन नहीं।

समाधि के अभाव के कारण भी इच्छाएँ पूर्ण नहीं होतीं। समाधि से अभिप्राय है बुद्धि को लक्षित विषय पर केन्द्रित करना। जब बुद्धि को विषय पर केन्द्रित न किया जा सके तो सफलता नहीं मिलती।

करण सामर्थ्यवान् होते हुए भी कभी जीवात्मा काम नहीं भी करता। जैसे बढ़ई के हथियार सब ठीक होने पर काम करे अथवा न करे, यह बढ़ई के अधीन है।

कर्म करने में स्वतन्त्र होते हुए भी वह कर्म की शक्ति के लिए परमात्मा के आश्रय है। प्राण परमात्मा की देन है और उनसे ही जीवात्मा कार्य करता है। इसी प्रकार परमात्मा जीवात्मा के सब कार्यों पर देख-रेख रखता है और उनका फल देता है।

कुछ एक आचार्य जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं। सूत्रकार कहता है कि 'दाशकित्वादि' जैसा सम्बन्ध है। अर्थात् माता-पिता का पुत्र के साथ जैसा सम्बन्ध है।

जीवात्मा परमात्मा का ऐसा ही अंश है जैसे मन्त्र में वर्ण का।

दोनों सम्बन्ध जिनका सूत्रकार ने वर्णन किया है, बाह्य सम्बन्ध ही हैं। माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध शरीर का है, जीवात्मा का नहीं। इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध है।

मन्त्र और वर्ण में भी केवल मन्त्र के आकार-विस्तार का सम्बन्ध है, मन्त्र के भाव का नहीं। अतः जीवात्मा परमात्मा का वास्तविक अंश नहीं। केवल बाहरी शरीर और जगत् के पदार्थों का ही सम्बन्ध है।

जीवात्मा परमात्मा का ऐसा अंश नहीं जैसे कि गुड़ का टुकड़ा, गुड़ की भेली का अंश होता है। यह ऐसा ही अंश है जैसेकि पुत्र, माता-पिता का अंश होता है।

परमात्मा प्रकाशादि की भाँति नहीं। प्रकाशादि का अभिप्राय अग्नि आदि पंच महाभूत है। ये निर्मित पदार्थ हैं। परमात्मा निर्मित नहीं। साथ ही प्रकाश दूसरों को प्रकाशित करता है और परमात्मा सर्वव्यापक होने से स्वयं ही सबके सम्पर्क में है। अतः यह प्रकाश की भाँति नहीं। जीवात्मा का शरीर से सम्बन्ध तो एक ज्योति की भाँति हो सकता है, परमात्मा का नहीं।

जीवात्मा में ऐसे वृद्धि नहीं होती जैसी कि देह से देहों की वृद्धि होती है। इस कारण एक जीवात्मा के कर्म फल का उत्तराधिकारी कोई अन्य जीवधारी नहीं हो सकता।

जीवात्मा आभास मात्र ही नहीं। आभास में तो एक का दोष सब प्रतिबिम्बों में दिखायी देना चाहिए। जीवात्मा में सांकर्य (अदला-बदली) भी नहीं हो सकता।

जीवात्मा के कर्म-फलों में भी सांकर्य नहीं होता। जिसके कर्म हैं उसको ही फल मिलता है। यह नहीं कि करे कोई और भरे कोई दूसरा।

राग-द्वेषादि में भी जीवात्मा का परमात्मा से भेद है। यह परमात्मा का अंश नहीं है। यदि यह कहें कि राग-द्वेषादि शरीर (चित्त) के कारण हैं तो यह ठीक नहीं। कारण यह कि चित्त (मन, बुद्धि और अहंकार) जड़ होने से भीतर रहने वाले जीवात्मा से कार्य करते हैं। बिना जीवात्मा के ये कार्य नहीं कर सकते।

शरीर कार्य करता है प्राण से। प्राण गौण नहीं। अर्थात् यह प्रकृति (शरीर) अथवा जीवात्मा का गौण अंग नहीं। यह इनसे उत्पन्न नहीं होता। वेद में वर्णन किया गया है कि जगत्-रचना से पूर्व भी यह उपस्थित था। अतः यह गौण नहीं। प्राण से ही वाकादि इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। शरीर की सात गतियों में यह कार्य करता है। इस गति विशेष के कारण प्राण सात माने गये हैं। मूलतः प्राण एक ही है। कार्य विशेष से इसको सात माना है।

इन सात प्राणों में वह शक्ति सम्मिलित नहीं जिससे कि हाथ-पाँव और शरीर के अन्य अंग संगठित हैं। उदाहरण के रूप में शरीर की पेशियों का माँस भी तो किसी शक्ति से गठित है। प्राण वह शक्ति नहीं।

प्राण अति सूक्ष्म होते हैं। सात प्राणों में एक श्रेष्ठ अथवा मुख्य प्राण कहलाता है। यह रक्त संचालन यन्त्र को और अन्य अनैच्छिक गति करने वाले अंगों को गति प्रदान करता है।

वायु भी शरीर का भीतर से नियमन करने के लिए है, परन्तु वह प्राण नहीं। शरीर की पेशियाँ वायु से नियमन होती हैं। प्राण उससे भिन्न है। प्राण मुख और चक्षु आदि इन्द्रियों में कार्य करते हैं।

श्रेष्ठ प्राण तो ऐसे हैं कि उनके बिना शरीर नहीं रह सकता, परन्तु अन्य छः प्राणों के न रहने से भी शरीर रह सकता है। छः प्राणों में पाँच तो ज्ञानेन्द्रियों में

कार्य करते हैं। इनका कार्य मन की भाँति होता है। ये सब प्राण अणुवत् हैं अर्थात् अति सूक्ष्म हैं। इनके टिकने के स्थान स्थूल इन्द्रियाँ हैं।

वेद में प्राण का स्वामी परमात्मा माना है। शरीर में इन्द्रियाँ इससे काम करती हैं। परमात्मा नित्य है, अतः प्राण भी नित्य हैं।

इन्द्रियों वाला प्राण और श्रेष्ठ प्राण भिन्न-भिन्न हैं। इनमें भेद है। श्रेष्ठ प्राणों की विलक्षणता यह है कि इसका विषय (भोग) कुछ नहीं। इसीसे यह थकता नहीं। यह चलता रहता है।

शरीर में प्राण अन्न से बनते हैं। अन्न से शरीर भी बनता है। अतः प्राण भी विशेषों में कहलाते हैं।

संक्षेप में मुख्य रूप में प्राणी का वर्णन इस अध्याय में किया गया है। शरीर, जीवात्मा, प्राण एवं वायु, सब इस अध्याय के अन्तर्गत आ गये हैं।

प्रथम पाद

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोप्रसङ्गात् ॥१॥

स्मृति+अनवकाश + दोषप्रसङ्गः+इति+चेत्+न+अन्य+स्मृति+अनवकाश+दोष+प्रसङ्गात् ।

अवकाश का अर्थ है दिखाई देना अथवा प्रकट होना। अतः अनवकाश का अर्थ है कि न प्रकट होना अथवा न दिखाई देना।

इस प्रकार स्मृतियों में किसी बात के न दिखायी देने के दोष का प्रसंग है। यदि यह कहो तो (सूत्रकार कहता है) कि यह दोष नहीं। (कारण यह) कि दूसरी स्मृतियों में (दूसरी बात के) दिखायी न देने के दोष से।

स्मृति ग्रन्थ श्रुति ग्रन्थों से भिन्न हैं। वास्तव में श्रुति वेद (जो अपौरुषेय हैं) का नाम है और स्मृति ग्रन्थ उनको कहते हैं जो मनुष्यों ने लिखे हैं और लोगों को स्मरण कराने के लिए जिनको ग्रन्थों का आकार दिया गया है।

सूत्रकार कहता है कि मनुष्य-कृत ग्रन्थों में कहीं-कहीं किसी विषय के दिखायी न देने से ग्रन्थ में दोष प्रतीत होने लगता है। वास्तव में यह दोष नहीं है। कारण यह है कि किसी स्मृति में पहली स्मृति के विषय का उल्लेख नहीं होता। इससे यह दोष नहीं, वरन् अपने-अपने विषय का उनमें प्रतिपादन किया गया है और दूसरे का वर्णन वहाँ नहीं है।

सूत्रकार ने यह बात सामान्य रूप में लिखी है। जब किसी पुस्तक में किसी विषय का वर्णन न हो तो यह मत समझो कि वह ग्रन्थ दोषपूर्ण है। किसी दूसरे ग्रन्थ में पहले ग्रन्थ का विषय न होने से।

अर्थात् किसी ग्रन्थ में किसी वस्तु पर कोई कथन न होने से यह नहीं माना जा सकता कि वह ग्रन्थ उस वस्तु को स्वीकार ही नहीं करता।

कुछ उपनिषदादि ग्रन्थों में परमात्मा का उल्लेख है और लिखा है कि सब जगत् का कर्ता परमात्मा है। वहाँ प्रकृति एवं जीवात्मा का उल्लेख नहीं। अतः यह मान लेना भूल होगी कि उपनिषद् में जीवात्मा और प्रकृति का खण्डन किया गया है और न ही यह कहा जा सकता है कि वह स्मृति दोषपूर्ण है।

सूत्रकार ने किसी ग्रन्थ विशेष को दोषपूर्ण नहीं लिखा। एक सामान्य कथन ही दिया है, परन्तु स्वामी शंकराचार्य तथा कुछ अन्य ग्रन्थकारों ने कपिल मुनि का उल्लेख कर दिया है। कपिल के सांख्य दर्शन में तो अनवकाश दोष है नहीं। वहाँ प्रकृति और पुरुष का उल्लेख है। सांख्य जीवात्मा को भी मानता है और परमात्मा को भी। हाँ, कई उपनिषदों में यह 'कथित' दोष आता है।

उदाहरण के रूप में माण्डूक्य उपनिषद् है। वहाँ लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिदँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥१॥

यह जो अक्षर है, यह सब ओ३म् है। उसका ही व्याख्यान किया है। भूत, वर्तमान और भविष्य सब ओंकार ही है जो कुछ अन्य, तीनों कालों से ऊपर है, वह भी ओंकार ही है।

इस उपनिषद् में केवल परमात्मा का ही वर्णन है। इसपर भी यह दोषयुक्त नहीं। अन्य स्थानों पर परमात्मा का उल्लेख नहीं भी आता।

परन्तु शंकराचार्य इस सूत्र का अर्थ अन्य प्रकार से करते हैं। वह कहते हैं—

स्मृति (ग्रन्थों) में किसी विषय का प्रसंग न होने से दोष है। दोष यह कि उस विषय का अन्य ग्रन्थों में होना दोष हो जायेगा। सूत्रकार कहता है कि यह ठीक नहीं। अर्थ तो वही हैं जो हमने किये हैं।

इस प्रकार शंकराचार्यजी इस सूत्र का अर्थ करते हैं। अर्थात् वह इस सूत्र में एक पूर्व पक्ष उपस्थित कर सूत्रकार की ओर से उसे गलत बता रहे हैं। इसी प्रसंग में वह कपिल मुनि की आलोचना भी कर रहे हैं।

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए आप लिखते हैं—

कपिलप्रभृतीनां चार्षं ज्ञानमप्रतिहतं स्मर्यते। श्रुतिश्च भवति—'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्' (श्वे० ५-२) इति। तस्मान्नैषां मतमयथार्थं शक्यं संभावयितुम्। तर्कावष्टम्भेन चैतेऽर्थं प्रतिष्ठापयन्ति। तस्मादपि स्मृतिबलेन वेदान्ता व्याख्येया इति पुनराक्षेपः।

अर्थात्—कपिलादि का ज्ञान आर्ष और अप्रतिहत है। ऐसा स्मरण किया जाता है। श्रुति है—ऋषि प्रसूतं—(श्वे० ५-२) ऐसा है। इसलिए उनके मत को अयथार्थ कहना सम्भव नहीं हो सकता। वह तर्क के बल से अर्थ का स्थापन करते हैं। इस पर भी स्मृति के बल से वेदान्तों (उपनिषदों) की व्याख्या करनी चाहिए। इस पर आक्षेप (आपत्ति) है।

किसको आपत्ति है? शंकराचार्य का मत है कि सूत्रकार को आपत्ति है।

वास्तव में यह उक्त वाक्य अयथार्थ है। प्रथम तो कपिल मुनि के वचन में अनवकाश नहीं। वह पूर्ण है। द्वितीय यह कि ब्रह्मसूत्र के सूत्रकार ने अनवकाश पर आपत्ति नहीं की। अनवकाश को दोष कहने पर आपत्ति की है।

इसी कारण हमने सूत्रार्थ इस प्रकार किये हैं कि अनवकाश होने का दोष कहो तो नहीं। अन्य स्मृतियों में भी अनवकाश होना दोष का प्रसंग हो जायेगा। अर्थात् दोष मानना पड़ेगा।

यदि यह मान भी लिया जाये कि कपिल मुनि के सांख्यदर्शन में परमात्मा के वर्णन का अनवकाश है तो भी यह दोष नहीं; क्योंकि ऐसा अन्य स्मृति में दूसरे विषय पर पाया जायेगा।

अब देखेंगे कि स्वामी शंकराचार्य ने उक्त पूर्व पक्ष का क्या उत्तर दिया है। शंकराचार्यजी का कहना है कि यह सूत्र में है। कपिल के ग्रन्थ में अनवकाश है। शंकराचार्यजी ने अपने मन से उठाये इस संशय का इस प्रकार समाधान किया है—

तस्य समाधिः—नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गादिति। यदि स्मृत्यनवकाश-दोषप्रसङ्गेनेश्वरकारणवाद आक्षिप्येत, एवमप्यन्या ईश्वरकारणवादिन्यः स्मृतयोऽनवकाशाः प्रसज्येरन्।

दूसरी स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसंग हो जायेगा। यदि स्मृति में अनवकाश से ईश्वर के कारण होने पर ही आक्षेप किया जाये तो 'ईश्वर को कारण मानने वाली स्मृतियों में अनवकाश दोष प्रसक्त हो जायेगा।

बात यह है कि कथित पूर्व पक्ष में कपिल मुनि के सांख्यदर्शन में परमात्मा का उल्लेख न होने पर उसे अनवकाश दोष से युक्त माना गया था। इसीसे स्वामीजी ने उक्त लँगड़ी युक्ति उपस्थित कर दी है। कपिल को वह क्षमा नहीं कर सकते। कारण यह कि कपिल मुनि ने प्रकृति को उपादान कारण स्वीकार किया है। इस कारण सूत्र के अर्थ बिगाड़कर कपिल मुनि की उन्होंने आलोचना की है।

देखिये, कहाँ लँगड़ी युक्ति की है।

सूत्र में लिखा है कि यदि किसी स्मृति में अनवकाश हो। अनवकाश का अर्थ हम ऊपर लिख आये हैं।

अवकाश का अर्थ मोनियर अपने कोष में इस प्रकार लिखता है—

to be visable, be menifest.

अतः अनवकाश का अर्थ है दिखायी न देना। इसका अर्थ विरोध होना नहीं है, परन्तु स्वामीजी कहते हैं कि जब अनवकाश से ईश्वर के कारणत्व का विरोध होने लगे तो अनवकाश दोषपूर्ण है।

हमारा यह कहना है कि जहाँ किसी बात का विरोध हो तो वह अनवकाश में लिया ही नहीं जा सकता।

क्योंकि कपिल की आलोचना करनी थी, इस कारण सूत्र के अनवकाश का अर्थ ही विकृत कर दिया है। इसका अर्थ विरोध कर दिया है।

यह बात प्रसिद्ध है कि कपिल मुनि ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं।

कपिल सांख्यदर्शन में लिखते हैं—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥ (सां० ३-५६)

यह भी—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । (सां० ३-५७)

इन सूत्रों की उपस्थिति में कपिल को ईश्वर न मानने वाला कहना अज्ञानता का सूचक ही है। साथ ही सांख्यदर्शन में अनवकाश नहीं।

यह तो मानना पड़ेगा कि जहाँ दो ग्रन्थों में परस्पर विरोध कथन हो तो दोनों ठीक नहीं हो सकते, परन्तु अनवकाश का अर्थ विरोध नहीं।

हमने माण्डूक्योपनिषद् के पूर्वोक्त मन्त्र का उल्लेख किया है, परन्तु वहां विरोध नहीं है। उसी उपनिषद् में प्रकृति का भी उल्लेख है।

माण्डूक्योपनिषद् में अनवकाश तो है, परन्तु यह दोष नहीं। कारण यह कि इसमें परमात्मा के विषय पर ही लिखा है। प्रधान (प्रकृति) और जीवात्मा का वहां पृथक् उल्लेख नहीं। किसी अध्यात्म की पुस्तक में गणित की बात न होनी स्वाभाविक ही है।

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥२॥

इतरेषाम्+च+अनुपलब्धेः।

और अन्यों के उपलब्ध न होने से।

वही उदाहरण जो हमने माण्डूक्योपनिषद् के प्रथम सूत्र के भाष्य में दिया है, यहाँ पर लिया जा सकता है। उसमें हमने लिखा है कि परमात्मा का स्मरण ओंकार शब्द से कहा है। उसमें ब्रह्म का उल्लेख है।

उसमें जीवात्मा तथा प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख नहीं, अर्थात् यहां अनवकाश है।

यही बात इस सूत्र में लिखी है कि परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का जगत्-रचना में उपलब्ध (सहयोग) न लिखे होने से अनवकाश है, परन्तु दोष नहीं। कारण यह कि जीवात्मा का विरोध नहीं।

शंकराचार्यजी ने यहाँ भी अपनी अयुक्त अप्रमाणित बात लिख दी है। आप इस सूत्र के भाष्य में भी सांख्य की रट लगा रहे हैं।

आप लिखते हैं—

प्रधानादितराणि यानि प्रधानपरिणामत्वेन स्मृतौ कल्पितानि महदादीनि न तानि वेदे लोके वोपलभ्यन्ते । भूतेन्द्रियाणि तावल्लोकवेदप्रसिद्धत्वाच्छक्यन्ते स्मर्तुम् । अलोकवेदप्रसिद्धत्वात्तु महदादीनां षष्ठस्येवेन्द्रियार्थस्य न स्मृतिरवकल्पते।

यदपि क्वचित्तत्परमिव श्रवणमवभासते, तदप्यतत्परं व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० १-४-१) इत्यत्र।

अर्थ है—

प्रधान से अन्य अर्थात् प्रधान के परिणाम रूप से, स्मृतियों (सांख्य) में कल्पित किये महदादि, लोकशास्त्रों तथा वेद में उपलब्ध नहीं होते। भूत और इन्द्रियाँ स्मृतियों में प्रसिद्ध (प्रतिपादित) हो सकती हैं। लोकशास्त्रों और वेद में अप्रसिद्ध (न प्रतिपादित) होने से महदादि प्रधान के परिणाम छठवें इन्द्रिय के विषयों के समान सम्भव नहीं। यद्यपि कहीं-कहीं (परम् इव) महत् भी (श्रवणाभवमासते) श्रवण अर्थात् श्रुति में दिखायी देते हैं। उसका भी सूत्र (नानुमानक) (ब्र० सू०—१-४-१) के अनुसार व्याख्या करने से ऐसा नहीं।

इसका अभिप्राय यह है कि सांख्य में प्रधान और उसके परिणाम महदादि लिखे हैं। वे वेदों में और लोकशास्त्रों में नहीं लिखे। इस कारण उनकी कल्पना करनी ठीक नहीं।

साथ ही यह भी लिख दिया है कि कुछ एक स्मृतियों में महद् का आभास होता है, परन्तु ब्रह्मसूत्र नानुमानक (१-४-१) के अनुसार यह नहीं।

इस पूर्ण कथन में दोष यह है कि सांख्य में वर्णित प्रधान और उसके परिणाम महदादि वेद तथा अन्य शास्त्रों से प्रतिपादित हैं।

देखिए, महद् का उल्लेख भगवद्गीता में आया है। वहाँ पर लिखा है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

(भ० गी० १४-३)

इसका अर्थ यह है कि महान् (महत्) को योनि बनाकर उसमें परमात्मा गर्भ धारण करता है। उससे सब भूत उत्पन्न होते हैं।

यह महत् प्रकृति का प्रथम रूप ही है। उसी से भूत और इन्द्रियाँ बनती हैं। यही बात सांख्य में लिखी है और इसका उल्लेख गीता में वैसा ही दिया है।

महत् का उल्लेख महाभारत में भी है। वहाँ लिखा है—

अव्यक्तमाहुः प्रकृतिं परां प्रकृतिवादिनः।
तस्मान्महत् समुत्पन्नं द्वितीयं राजसत्तम॥
अहङ्कारस्तु महतस्तृतीयमिति नः श्रुतम्।
पञ्चभूतान्यहंकारादाहुः सांख्यात्मदर्शिनः॥
एताः प्रकृतयश्चाष्टौ विकाराश्चापि षोडश।
पञ्च चैव विशेषा वै तथा पञ्चेन्द्रियाणि च॥

(महा भा० शा० ३. ६-२७, २८, २९)

प्रकृतिवादी अर्थात् प्रकृति का ज्ञान रखने वाले प्रकृति को अव्यक्त कहते हैं।

उससे महत् उत्पन्न होता है। यह दूसरा तत्त्व है। महत् से अहंकार तीसरा तत्त्व उत्पन्न हुआ। उनसे पंच महाभूत उत्पन्न हुए और पांच तन्मात्रा उत्पन्न हुईं। यह आठ तत्त्व प्रकृति के हैं। इनके सोलह विकार हैं। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ तत्त्व विशेष हैं।

महत् का आपः के नाम से मनुस्मृति में भी उल्लेख है। वहाँ पर लिखा है—

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।

अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत्॥ (मनु० १-८)

परमात्मा ने अपने शरीर से विविध प्रकार की प्रजायें उत्पन्न करने के लिए ध्यान लगाकर पहले आपः का सृजन किया।

शरीर का अभिप्राय प्रकृति से है अन्यथा परमात्मा और उसके शरीर को एक कैसे मान लेंगे?

वेदों में महत् शब्द अनेक स्थानों पर आता है। उदाहरण के रूप में एक मन्त्र है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोतीतीदं विश्वं भुवनं समेति।

यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥

(ऋ० १०-१७-१)

अर्थ है—(त्वष्टा) सर्वशक्तिमान् परमात्मा (दुहित्रे) प्रकृति में (वहतुं कृणोति) धारण करता है (विश्वं भुवनं समेति) बनाता है विश्व के भुवनों (नक्षत्रों तथा ग्रहों) को। (यमस्य महो माता) जिससे महत् माता (पर्युह्यमाना) सब प्रकार से धारण की हुई (जाया) जन्म देने वाली (विवस्वतो ननाश) सूर्यों को निर्माण करती है।

अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें प्रकृति और उसके परिणामी पदार्थों के उत्पन्न होने का वृत्तान्त लोकशास्त्रों में और वेदों में मिलता है।

शंकराचार्य ने कैसे कह दिया कि सांख्य का प्रकृतिवाद वेदों में तथा लोकशास्त्रों में नहीं है? यह कहना ही पड़ेगा कि स्वामीजी न तो सांख्य के ज्ञाता थे और न ही वेदों के। अन्यथा इतनी बड़ी मिथ्या बात न कह सकते।

अतः इस सूत्र का अर्थ है—

परमात्मा के अतिरिक्त अन्यों के किसी शास्त्र में दिखाई न देने से अर्थात् अनवकाश होने से दोष नहीं। अन्य का अभिप्राय जीवात्मा और प्रकृति दोनों से है।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥३॥

एतेन+योगः+प्रत्युक्तः ।

इससे योग के विषय में उत्तर हो गया।

इससे का अभिप्राय है कि जो कुछ ऊपर के सूत्र में कहा गया है वह योग में समझो। ऊपर के सूत्र में कहा गया है कि कुछ अन्य के उपलब्ध न होने से। हमने इसका अभिप्राय यह बताया है कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ अन्य भी है और जहाँ उनका वर्णन उपलब्ध नहीं, वह अनवकाश है और यह दोष नहीं।

इसके कहे जाने से योग विषयक का उत्तर मिल जाता है। योग का क्या अभिप्राय है? स्वामी शंकराचार्य तथा आचार्य उदयवीर शास्त्री योग. से योग दर्शन का अभिप्राय लेते हैं। आचार्य ब्रह्म मुनि योगः से योग-क्रिया का अर्थ लेते हैं।

हमारे विचार में यहाँ अभिप्राय योगदर्शन से नहीं है। पूर्व सूत्र में सांख्यदर्शन का उल्लेख नहीं। वहाँ स्वामी शंकराचार्य ने अपने पूर्वग्रहों से प्रेरित कपिल मुनि की निन्दा करने के लिए सांख्यदर्शन को ला खड़ा किया है। हमने बताया है कि जो दोष स्वामी शंकराचार्य ने सांख्य में वर्णन किया है, वह दोष उसमें है ही नहीं। साख्य में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया। अतः सांख्य में ईश्वर के विषय में अनवकाश नहीं और दोष-गुण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या योगदर्शन में परमात्मा की बात का अनवकाश है? योगदर्शन के पढ़ने वाले जानते हैं कि नहीं है। योग दर्शन का प्रवक्ता परमात्मा के अस्तित्व को मानता है। स्वामी शंकराचार्य का यह कहना कि—

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्येत्यतिदिशति। तत्रापि श्रुतिविरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याण्यलोकवेदप्रसिद्धानि कल्प्यन्ते।

इसका अर्थ है—इससे सांख्यस्मृति का खण्डन करने से योगस्मृति का भी खण्डन हो गया है। द्रष्टव्य स्पष्ट दिखायी देता है। श्रुति के विरोध में प्रधान को स्वतन्त्र कारण माना है और महदादि कार्यों का लोकशास्त्रों में और वेदशास्त्रों में अप्रसिद्ध करने की कल्पना की गयी है।

सांख्य के विषय में हमारा प्रत्युत्तर ऊपर दिया जा चुका है। वही उत्तर योग दर्शन के विषय में है। इस विषय में ब्रह्ममुनिजी के ब्रह्मसूत्र भाष्य से उद्धरण दे दिया जाये तो अधिक ठीक होगा। श्री ब्रह्ममुनिजी इसी सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'इस सूत्र पर शंकर भाष्य असंगत है; क्योंकि उन्होंने इस सूत्र पर योगदर्शन का खण्डन किया है कि योगदर्शन में जगत् का कारण प्रकृति मानने का भी प्रत्युत्तर अर्थात् खण्डन या निषेध जानना चाहिए। परन्तु योगदर्शन में कहीं भी ऐसा सूत्र

नहीं जिसमें जगत् का कारण प्रकृति प्रतिपादित हो। तब योग प्रतिपादित प्रकृति का जगत् कारण होना खण्डित या निराकृत हो गया। इसका अवसर ही नहीं है। और भी शंकर भाष्य से सूत्र की व्यर्थता का दोष भी आता है। जबकि 'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग·····।' पूर्वोक्त इस सूत्र में प्रकृति नाम अव्यक्त का जगत् कारण होना प्रतिषिद्ध कर दिया, तब उसका सांख्य प्रतिपादित प्रकृति हो या योग प्रतिपादित प्रकृति हो, वह सब ही प्रतिपादित हो गया। पुनः पृथक्-पृथक् सूत्र की रचना की आवश्यकता नहीं है।'

योग-दर्शन में सृष्टि-रचना का प्रसंग तो है नहीं, वहाँ योग से सिद्धि प्राप्त करने के ढंग का वर्णन है और उस ढंग में परमात्मा का वर्णन आया है। जैसे वहाँ पर सूत्र है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ (योग० १-२३)

अर्थात्—ईश्वर में ध्यान लगाने से भी समाधि की सिद्धि हो सकती है। और भी कहा है—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (योग० २-१)

योग की क्रिया में तप, स्वाध्याय और ईश्वर में विश्वास आवश्यक है। इस कारण योग-दर्शन में परमात्मा का अनवकाश नहीं। अतः दोष का प्रश्न ही नहीं उठता है।

अतः इस सूत्र में योगः से योग सूत्रों का अभिप्राय नहीं। हमारा यह मत है कि यहाँ योगः से योग-क्रियाओं का उल्लेख है। जहाँ पहले सूत्र (२-१-१, २) में पुस्तक अथवा प्रकरण का अभिप्राय है, वहाँ इस (२-१-३) में योग-क्रिया का उल्लेख है। योग-क्रियाओं को कैवल्यावस्था प्राप्त करने का साधन माना जाता है। अतः यदि कोई कहे कि योग-क्रिया के उल्लेख में परमात्मा का अनवकाश है तो इसका उत्तर भी उक्त सूत्र में हो गया है, ऐसा समझना चाहिए। अभिप्राय यह कि वह अनवकाश किसी दोष का सूचक नहीं। कारण यह कि वहाँ परमात्मा का खण्डन नहीं।

पतञ्जलि के योगसूत्र में तो ईश्वर प्रणिधान को योग का विशेष अंग माना है। इस कारण यह सूत्र योग-दर्शन के विषय में नहीं। यहाँ भी परमात्मा पर विश्वास का खण्डन नहीं।

जगत्-रचना में जीवात्मा और प्रकृति का उल्लेख सूत्रकार प्रथम अध्याय में कर चुका है। इस द्वितीय अध्याय के प्रथम तीन सूत्रों में सूत्रकार का कहना है कि किसी ग्रन्थ अथवा क्रिया में यदि प्रकृति अथवा जीवात्मा का उल्लेख न हो अर्थात् उनका उल्लेख दिखायी न दे तो यह दोष नहीं। कारण यह कि दूसरी स्मृतियों में जहाँ उनका उल्लेख है और परमात्मा का उल्लेख नहीं तो वहाँ भी अनवकाश दोष नहीं मानना चाहिए।

अब आगे प्रकृति और जीवात्मा का स्पष्ट वर्णन आ गया है।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।।४।।

न+विलक्षणत्वात्+अस्य+तथात्वं+च+शब्दात् ।

न विलक्षण होने से इसका वैसा ही होना है और शास्त्र (प्रमाण) से (भी सिद्ध है)।

ऊपर जो सूत्र (२-१-२) में 'इतरेषां' लिखा है अर्थात् कुछ अन्यों की बात लिखी है, वे अन्य हैं। कारण यह कि उनसे विलक्षण गुण इस (जगत्) में नहीं हैं, अर्थात् समान गुण हैं। इतर पदार्थों के समान गुण इस जगत् में होने से वे इस जगत् का कारण भी हैं, ऐसा शब्द प्रमाण से भी स्पष्ट होता है।

युक्ति यह है कि कार्य में कारण के गुण होते हैं। प्रकृति जड़ है और जगत् के पदार्थ भी जड़ हैं। जड़त्व में समानता है। जड़त्व का अर्थ है अविचलता। यह अविचलता कार्य-जगत् के पदार्थों में देखी जाती है। इस जड़त्व अर्थात् अविचलता को वैज्ञानिक भाषा में स्थायित्व (inertia) कहते हैं। यह अपना स्थान तथा रूप स्वयं बदल नहीं सकता। इसको बदलने के लिए किसी चेतन शक्ति की आवश्यकता होती है।

आचार्य उदयवीरजी ने इस सूत्र को पूर्व पक्ष का कथन समझा है। हम ऐसा नहीं मानते। इसमें स्पष्ट बात लिखी है कि प्रकृति के गुण कार्य-जगत् में मिलते हैं, इस कारण प्रकृति कारण है और जगत् कार्य है। शब्द प्रमाण से भी ऐसा ही प्रकट होता है।

इस सूत्र का एक दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया जाता है। इस अर्थ में 'न' को विलक्षणत्वात् के साथ लगाने के स्थान 'अस्य' के साथ लगा दिया है।

इसका अन्वय इस प्रकार बन जाता है—

विलक्षणत्वात् न अस्य तथात्वं ।

अर्थात्—विलक्षण होने से जगत् का वैसा होना नहीं।

अर्थात्—जगत् जड़ है और यह परमात्मा से, जो चेतन है, विलक्षण है। अतः इसका उपादान कारण परमात्मा नहीं।

यह अर्थ श्री स्वामी शंकराचार्य ने किये हैं, परन्तु उन्होंने अपने पास से यह अर्थ लगा दिया है कि इस (जगत्) का उपादान और निमित्त कारण दोनों ब्रह्म हैं। यह बात सूत्र में न तो लिखी है और न ही इसका कहीं संकेत मिलता है।

स्वामीजी लिखते हैं—

यदुक्तं चेतनं ब्रह्म जगतः कारणं प्रकृतिरिति तन्नोपपद्यते; कस्मात् ? विलक्षणत्वादस्य विकारस्य प्रकृत्याः। इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते ।

अर्थात्—जो यह कहा गया है कि चेतन ब्रह्म जगत् का कारण—प्रकृति है,

यह उपपद्य (सिद्ध) नही होता (युक्ति से सिद्ध नहीं होता)। क्योंकि यह प्रकृति से विलक्षण है। यह जगत् ब्रह्म कार्य रूप से माना हुआ ब्रह्म से विलक्षण, अचेत और अशुद्ध देखा जाता है।

स्वामीजी की मिथ्या दृष्टि को दर्शाने से लिए इतना उद्धरण ही पर्याप्त है।

इसमें मिथ्यात्व यह है कि इस जगत् को चेतन माना है। लिखा है—'चेतनं ब्रह्म जगतः' यह ब्रह्म जगत् चेतन है। जगत् चेतन नहीं। चेतन के लक्षण ऊपर ईक्षण करना कह आये हैं (सूत्र १-१-५)।

ईक्षण करना चेतना के लक्षण हैं। ईक्षण के शाब्दिक अर्थ हैं किसी की देख-भाल करना, परन्तु किसी क्रिया (जगत्-रचना) की देख-भाल का अर्थ है क्रिया को आरम्भ करने वाला, उसके स्थान तथा दिशा का निश्चय करने वाला। अतः हमने ईक्षण से चेतन के उस गुण को माना है जिससे चेतन यह निश्चय करता है कि कोई कर्म कब, कहाँ और कैसे आरम्भ हो, चले अथवा अन्त हो। किसी क्रिया के आरम्भ, चलन और अन्त में काल, दिशा और स्थान निश्चय करने का गुण ईक्षण कहलाता है। इस विषय को हमने अधिक व्याख्या से सूत्र १-१-५ के भाष्य में लिखा है।

अब देखना यह है कि जगत् में ईक्षण करने की शक्ति है क्या? क्या जगत् स्वयं में अपने बनने का काल, स्थान और दिशा निश्चय करता है। जगत्, किस प्रकार चले, यह क्या स्वयं निश्चय करता है? यह अनुभव की बात है और शास्त्र भी इसमें प्रमाण है कि यह गुण जगत् में नहीं है। अतः 'चेतनं ब्रह्म जगतः' का वाक्य मिथ्या दृष्टि का सूचक है।

इसमें अयुक्तता यह है कि ब्रह्म के गुणों से विलक्षण गुण जगत् में पाये जाते हैं। इस कारण जगत् का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता।

स्वामीजी गुणों के विलक्षण होने को, उपादान कारण होने में युक्ति मानते हैं।

अर्थात् सोने से बनने वाले भूषण में सोने से विलक्षण गुण हो सकते हैं। घड़े के गुण मिट्टी से विलक्षण हो सकते हैं। जगत् में ऐसा दिखायी नहीं देता।

भगवान् जाने किस बात से शंकर के अनुयायी शंकर को मीमांसक (logician) मानते हैं। इस सूत्र के भाष्य में स्वामीजी ने अपने को युक्ति करने के अयोग्य होने का ही प्रमाण दिया है।

यथापूर्व इस सूत्र में भी कपिल और सांख्य की निन्दा अकारण कर दी है।

इस सूत्र का स्पष्ट अर्थ है—(न विलक्षणत्वात्) विलक्षण न होने से (अस्य) इस जगत् का (तथात्वं) वैसे होना (सिद्ध है)।

प्रकृति से जगत् के गुण विलक्षण नहीं, इस कारण जगत् का उपादान कारण प्रकृति है। यही इस सूत्र के अर्थ बनते हैं।

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥

अभिमानिव्यपदेशः+तु+विशेषानुगतिभ्याम् ।

अभिमानिव्यपदेशः=अभिनय अलंकार के रूप में कहे जाने से । तु=परन्तु । विशेषानुगतिभ्याम्=विशेष अनुगतियों से ।

इस सूत्र में प्रथम समझने योग्य शब्द है—अभिमानी । अभिनय के रूप में कार्य करने से किसी भी पदार्थ में उसकी अभिमानी शक्ति कही जाती है । यह शक्ति तो परमात्मा की ही है । कार्य-जगत् में प्रत्येक पदार्थ परमात्मा रूपी प्राण से ही कार्य करता है । प्राण से अभिप्राय यह है कि ईश्वरीय शक्ति तो एक ही है, परन्तु प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न ढंग से वह शक्ति कार्य करती है । अतः प्रत्येक पदार्थ में सब स्थान वाली शक्ति उस अंग के अनुरूप कार्य करती है ।

अभिनय नाटक करने को भी कहते हैं । एक ही मनुष्य भिन्न-भिन्न वेशों में मंच पर आता है तो अपने रूप के अनुकूल अभिनय करता है । यही अभिनय अलंकार है । ईश्वर की शक्ति भिन्न-भिन्न कार्य-जगत् के पदार्थों में कार्य करती है और उस पदार्थ के अनुरूप हो उसका कार्य होता है । सामान्य भाषा में कहा जाता है कि उस पदार्थ में उसका अभिमानी देवता कार्य करता है । वास्तव में ईश्वरीय शक्ति ही काम करती है, परन्तु अभिनय करने वाले की भाँति पदार्थ के अनुरूप कार्य करती है; इस कारण वह अभिमानी कहलाती है ।

यह अभिमानी शक्ति प्रत्येक पदार्थ में विशेष रूप में कार्य करती है उसकी अनुगतियों के अनुसार । अभिप्राय यह कि सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथिवी और पृथिवी पर के अनेकानेक पदार्थ ईश्वरीय शक्ति से नियन्त्रित अपने-अपने ढंग से कार्य करते हैं ।

अतः सूत्र का अर्थ बनता है—अभिनय अलंकार के रूप में कार्य-जगत् के पदार्थ, जो एक ही प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं और एक ही शक्ति से संचालित हैं, अपने-अपने कार्यानुसार भिन्न-भिन्न (विशेष) गतियों में चलते हैं ।

दृश्यते तु ॥६॥

दृश्यते+तु ।

देखे जाने से (भी) ।

'तु' शब्द पहले सूत्र २-१-५ में भी आया है । अतः यह सूत्र भी २-१-४ से व्यावृत्ति भेद (विपरीत भाव) दिखाने के लिए है । कार्य-जगत् प्रकृति से विलक्षण न होने से वैसा ही है, अर्थात् जड़ है और इन दोनों सूत्रों में प्रकृति और जड़ कार्य-जगत् में समानता होने पर भी भिन्नता का वर्णन किया गया है ।

सूत्र २-१-५ में विलक्षणता यह बतायी है कि जड़ प्रकृति के पदार्थ नाटकमंच पर अभिनय की भाँति भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। इस जगत्-नाटक का सूत्रधार एक ही है और उसी के सूत्रों में बँधे हुए जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। सूत्र २-१-६ में यह कहा है कि देखने में भी जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखायी देते हैं।

जैसे जगत् के पदार्थ भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं, परन्तु वे तो नाटक मात्र हैं। उनसे अभिनय कराने वाला एक परमात्मा है। वे देखने में अनेक रूप और नाम वाले हैं, परन्तु वे एक ही अव्यक्त पदार्थ (प्रधान) से बने हुए हैं।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥७॥

असत्+इति+चेत्+न+प्रतिषेधमात्रत्वात्।

इति=यह। असत्=शून्य (से है)। चेत्=यदि कहो तो। न=नहीं। प्रतिषेधमात्र से (ऐसा कहा जाता है)।

यह जगत् शून्य से उत्पन्न हुआ है। यह कहना ठीक नहीं। प्रतिषेध मात्र से ऐसा कहा जाता है।

प्रतिषेध का अर्थ है कि भेद बताने के विचार से। यह जगत् तो इन्द्रियों से अनुभव किया जाता है और इसका कारण मूल प्रकृति इतनी सूक्ष्म है कि उसे असत् (शून्य) कहा जाये तो यह दोनों में बहुत बड़ा अन्तर बताने के लिए ही है। वास्तव में जगत् का मूल कारण शून्य नहीं है।

इस अन्तर का अनुमान लगाना हो तो सूर्य से पृथिवी और पृथिवी से उस भवन का अन्तर, जिसमें मनुष्य रहता है और मनुष्य से अन्न के एक दाने की तुलना तथा एक अन्न के दाने की तुलना उसमें के अणु और उसके अन्तर्गत इलैक्ट्रोन, प्रोटोन से करके अनुमान लगायें तो सूर्य और प्रकृति के परमाणु में अन्तर का विचार करते हुए बुद्धि चकराने लगती है।

सूर्य हमारे सौर-जगत् में सबसे बड़ी वस्तु है, परन्तु ब्रह्माण्ड में तो सूर्य से भी बहुत बड़ी-बड़ी वस्तुएँ हैं।

इस कारण कभी कोई लेखक कार्य-जगत् के पदार्थों से प्रकृति की सूक्ष्मता को प्रकट करने के लिए प्रतिषेध मात्र के लिए मूल को असत् कह दे तो कह दे। वास्तव में मूल असत् नहीं है। यह ठीक नहीं कि जगत् का मूल कारण असत् है। असत् से सत् कैसे हो गया?

इससे सूत्रकार यह सिद्ध करना चाहता है कि कार्य-जगत् जड़ होने से, परमात्मा नहीं है। कार्य-जगत् जड़ है। जगत् जड़ प्रकृति से ही बना है। यह भी

सूत्रकार ने कहा है कि यह शून्य से भी उत्पन्न नहीं हुआ। कारण असत् से सत् नहीं हो सकता।

जहाँ कहीं कहा भी जाता है कि यह शून्य से उत्पन्न हो गया है, वहाँ इसे प्रतिषेध मात्र मानना चाहिए। तुलना करने के विचार से समझना चाहिए।

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥८॥

अपीतौ+तत्+प्रसङ्गात्+असमञ्जसम्।

अपीतौ=प्रलय काल में। तत् वत्=उसकी भाँति। प्रसङ्गात्=प्रसंग से। असमञ्जसम्=अनियमित अथवा अयुक्तिसंगत (है)।

यह पूर्व पक्ष है। प्रयलकाल में यह जगत् नहीं रहता और यह कहा जाता है कि अव्यक्त प्रकृति कारण रूप में रह जाती है। उसके अव्यक्त, अदृश्य, अनीन्द्रिय होने से कार्य-जगत् से भिन्नता है। अर्थात् कार्य-जगत् के लक्षण मूल प्रकृति में नहीं होते। इससे अव्यक्त प्रकृति कार्य-जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकती।

सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि प्रलय-काल में कहीं नहीं दिखायी देते। इस कारण प्रकृति इनका मूल कारण नहीं है। कर्म के लक्षण मूल पदार्थ में होने ही चाहिए।

यह संशय प्रायः कुछ विचारक उपस्थित करते हैं।

अतः पूर्व पक्ष इस प्रकार है। प्रलय काल में (प्रकृति) उसकी (कार्य-जगत् की) सी ही होनी चाहिए। यह ही कार्य-कारण का सम्बन्ध है। यह है नहीं। इस कारण प्रकृति जगत् का मूल कारण नहीं हो सकती।

इस संशय का समाधान सूत्रकार अगले सूत्र में करता है।

न तु दृष्टान्तभावात् ॥९॥

न+तु+दृष्टान्त+भावात्।

पूर्व सूत्र के 'असमंजस' की पुनरावृत्ति इस सूत्र में लेनी चाहिए। कारण यह कि यहाँ उक्त सूत्र के संशय का समाधान है।

संशय यह था कि प्रलय काल में (प्रकृति) ऐसी (कार्य-जगत् सी) नहीं होती; इस कारण प्रकृति इस जगत् का कारण नहीं हो सकती। इस असम्भव होने अर्थात् अयुक्तिसंगत होने के लिए 'असमंजस' शब्द का प्रयोग किया है।

इस सूत्र में लिखा है कि यह असमंजस (अयुक्तिसंगत बात) नहीं है। कारण यह है कि ऐसे दृष्टान्त हैं जिनमें हम देखते हैं कि कार्य के लक्षण कारण में दिखायी नहीं देते।

बीज से वृक्ष बनता है। यदि कोई व्यक्ति बीज में वृक्ष देखना चाहे तो दिखाई नहीं देता। यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि बीज से वृक्ष बना है। अंडे से मुर्गी उत्पन्न हुई है। दोनों के रंग-रूप में अन्तर है। इसी प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यह कार्य और कारण में अन्तर उनके दृष्टिगत रूप में होता है। उस पदार्थ के मौलिक गुणों में नहीं, जो कारण में भी होते हैं और कार्य में भी होते हैं।

बीज और वृक्ष में मौलिक पदार्थ है जीवित कोषिका। यह बीज में भी है और वृक्ष में भी है। अण्डे में भी है और मुर्गी में भी है। अन्तर है बाहरी रूप में।

इसी प्रकार प्रलयकाल की प्रकृति त्रिगुणात्मक परमाणुओं से बनी है। कार्य-जगत् का प्रत्येक पदार्थ भी त्रिगुणात्मक परमाणुओं से बना है। अतः कार्य-कारण का सम्बन्ध तो है; परन्तु वह सम्बन्ध रूप का नहीं, उसमें मूल पदार्थ का है। कारण से कार्य बनता है तो कारण पदार्थ ज्यों-का-त्यों रहता हुआ भी रूपों में अन्तर पड़ जाता है।

सूत्रकार इस विषय पर आगे भी लिखता है।

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

स्वपक्ष+दोषात्+च।

और अपने पक्ष में भी दोष होने से।

अपना पक्ष। किसका पक्ष? जिसने संशय उपस्थित किया है। यह संशय उनकी ओर से उपस्थित किया जाता है जो शून्य (असत्) से भाव (सत्) की उत्पत्ति मानते हैं। वे कहते हैं कि कार्य-कारण का सम्बन्ध 'असमंजस' है।

इनके अपने पक्ष में दोष यह है कि शून्य और कार्य-जगत् में भी तो असमंजस है। शून्य और भाव भी तो परस्पर नहीं मिलते।

शंकराचार्य प्रकृति के अस्तित्व को मानते नहीं और इस (द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद) के १ से १० सूत्रों में प्रकृति का ही उल्लेख आया है। इस कारण स्वामी शंकराचार्यजी ने सूत्रार्थों में बहुत अधिक गड़बड़ी की है और प्रकृति को सर्वथा बीच में से निकाल देने का यत्न किया है।

पहले तो स्वामी शंकराचार्य ने सांख्यदर्शन के प्रणेता कपिल मुनि की निन्दा कर पाठकों को भ्रम में डालने का यत्न किया है।

कपिल तो सांख्य में परमात्मा के अस्तित्व को मानता है। परमात्मा को जगत् का रचने वाला और इसका पालन-पोषण करने वाला मानता है। अतः सांख्य और कपिल को बीच में ला खड़ा करना ठीक नहीं था।

अब सातवें से दसवें सूत्रों के सर्वथा विलक्षण अर्थ किये हैं। उदाहरण के रूप में सातवें सूत्र का अर्थ तो ठीक किया कि यह कहना ठीक नहीं कि जगत् असत् से बना है। असत् से सत् नहीं होता, परन्तु वह सत् क्या था जो जगत् के पहले था? उसे शंकराचार्य अपनी सम्मति से ब्रह्म (परमात्मा) मानते हैं।

आप इसी ब्रह्मसूत्र (२-१-७ के) भाष्य में लिखते हैं।

यदि चेतनं शुद्धं शब्दादिहीनं च ब्रह्म तद्विपरीतस्याचेतनस्याशुद्धस्य शब्दादिमतश्च कार्यस्य कारणमिष्येत, असत्तर्हि कार्यं प्रागुत्पत्तेरिति प्रसज्येत। अनिष्टं चैतत्सत्कार्यवादिनस्तवेति चेत्—नैष दोषः, प्रतिषेधमात्रत्वात्।

अर्थात्—यदि चेतन, शुद्ध, शब्दादि से रहित ब्रह्म अपने से विपरीत, अचेतन, अशुद्ध शब्दादि युक्त जगत् समान कार्य का कारण माना जाये तो उत्पत्ति के पूर्व यह कार्य असत् प्रसक्त होगा। इस प्रकार सत्कार्यवादी के लिए यह अनिष्ट होगा। ऐसा कहो तो यह दोष नहीं है; क्योंकि प्रतिषेध मात्र है।

हमने इस सूत्र के अर्थ किये हैं कि मूल कारण को असत् केवल प्रतिषेध भाव से कहा जाता है। अर्थात् प्रकृति अति सूक्ष्म, अदृश्य और तमोभूत होने से वर्तमान कार्य-जगत् से सर्वथा विलक्षण दिखाई देती है। इस कारण अभाव (शून्य) कह दी जाती है। यह तुलना मात्र से ही कहा है। हमने प्रतिषेध का अर्थ तुलना किया है।

इस सूत्र में असत् के स्थान पर क्या था, इसका उल्लेख नहीं। स्वामी जी ने इसे ब्रह्म (परमात्मा) माना है और कहा है कि यदि ब्रह्म को कारण नहीं मानेंगे तो सत्कार्य करने वालों का अनिष्ट हो जायेगा। अर्थात् वे मुक्त होकर कहाँ जायेंगे?

कितनी निकृष्ट युक्ति की है, यह प्रकट करने के लिए कि यदि असत् के स्थान पर ब्रह्म (परमात्मा) न माना तो अनिष्ट हो जायेगा।

वास्तव में इस अध्याय का आरम्भ ही ऐसा किया गया है जिससे जगत् का मूल कारण प्रकृति जैसे लक्षण वाला पदार्थ सिद्ध होता है। प्रथम सूत्र में लिखा है कि यदि किसी मनुष्य-कृत ग्रन्थ में किसी विषय का अनवकाश हो तो वह ग्रन्थ का दोष नहीं। इस ग्रन्थ की बात किसी दूसरे ग्रन्थ में अनवकाश हो सकती है।

स्पष्ट संकेत कुछ उपनिषद् ग्रन्थों की ओर है। वहाँ परमात्मा का वर्णन करते-करते प्रकृति जीवात्मा का वर्णन नहीं किया गया।

दूसरे सूत्र में लिखा है कि अनेक अनवकाश वाले ग्रन्थों में इतर पदार्थों का उल्लेख नहीं। फिर तीसरे सूत्र में लिखा है कि ऐसे ही योग में (योग प्रक्रिया में) भी इसका उल्लेख नहीं। चतुर्थ सूत्र में लिखा है कि कार्य-जगत् और प्रकृति में विलक्षणता नहीं। अतः कारण-कार्य का सम्बन्ध है।

पाँचवें सूत्र में कहा है कि प्राकृतिक पदार्थों में कार्य ऐसे ही होता है जैसे कि मंच पर नाट्यकार कार्य करता है। सबमें कर्म करने वाला सूत्रधार परमात्मा है, परन्तु

कार्य अभिनय की भाँति है। छठा सूत्र है कि ये पदार्थ अभिनय करते हुए दिखाई भी देते हैं।

इस प्रकार इस पाद का आरम्भ ही ऐसा किया गया है कि प्रकृति की ओर संकेत स्पष्ट है। अन्यथा 'इतरेषां' दूसरे सूत्र में बहुवचन न होता।

इसी प्रकार सूत्र संख्या ७ में भी असत् तो केवल प्रतिषेध मात्र (तुलना के विचार से) माना है, परन्तु असत् के मूल में प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा थे। अर्थात् ब्रह्म था। ब्रह्म से केवल परमात्मा की ओर संकेत नहीं। यदि यह कहा जाय कि यहाँ सत् से अभिप्राय केवल प्रकृति से है तो वह भी ठीक है; क्योंकि कार्य-जगत् का एक मूलस्रोत वह भी है।

इस पर असत् मानने वाले आपत्ति करते हैं कि कार्य-जगत् का रूपादि कारण प्रकृति में दिखाई नहीं देता; इस कारण यह कारण नहीं है।

सूत्रकार समाधान करता है कि यह कोई युक्ति नहीं। यह इसलिए कि यह कारण-कार्य का सम्बन्ध रूपादि में नहीं होता, वरन् पदार्थ के मूल गुणों में होता है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ कारण और कार्य में रूपादि का सम्बन्ध नहीं। जैसे बीज और वृक्ष।

संशय करने वाले स्वयं इस आपत्ति का उत्तर नहीं दे सकते कि जब शून्य से चराचर जगत् बन सकता है तो एक प्रकृति से अनेक रूप-रंग की वस्तुएँ क्यों नहीं बन सकतीं ?

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

तर्क+अप्रतिष्ठानात्+अपि+अन्यथा+अनुमेयम्+इति। चेत्+एवम् +अपि+अविमोक्षप्रसङ्गः।

तर्क=युक्ति। अप्रतिष्ठानात्=अप्रतिष्ठित होने से। अपि=भी। अन्यथा =अन्य प्रकार से। अनुमेयं=अनुमान से सिद्ध की जाने वाली बात। चेत् इति= यदि यह कहो। एवम् अपि=ऐसा होने पर भी। अविमोक्ष प्रसङ्गः=मोक्ष न होने का प्रसंग आ जाएगा।

युक्ति के अप्रतिष्ठित होने से, अर्थात् युक्ति के निराधार होने से दूसरे ढंग से भी (युक्ति) हो सकती है। यदि यह है तो अनुमेय की विनिर्मुक्ति अर्थात् अनुमेय की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी।

युक्ति अर्थात् अनुमान प्रमाण की शर्त यह है कि वह भली-भाँति आधार युक्त हो। अनुमान सदा किसी आधार पर होता है। जैसे धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान

लगाया जाता है। इसमें आधार यह है कि इस युक्ति करने से पहले अग्नि और धुएँ का सम्बन्ध सिद्ध हो चुका है। धुआँ अग्नि से होता है। कोई कहे कि धुआँ देखकर वृक्षों का अनुमान होता है तो यह अप्रतिष्ठित युक्ति होगी। इसी प्रकार कोई कहे कि राम का पुत्र अनन्त काल तक जीवित रहेगा तो यह भी अप्रतिष्ठित युक्ति होगी। पुत्र तो जन्म से होता है और जन्म लेने वाली वस्तु मर्त्य होती है। अतः राम का पुत्र अनन्त काल तक जीवित रहा, अप्रतिष्ठित युक्ति है। अप्रतिष्ठित का अभिप्राय है जिसकी किसी पूर्व अनुभव से प्रतिष्ठा न हुई हो। वृक्षों से धुआँ होता नहीं देखा जाता। जब तक वृक्ष काटकर सुखा कर जलाया न जाये, धुआँ नहीं होता। इसी प्रकार सूत्रकार कहता है कि अप्रतिष्ठित तर्क से तो दूसरे प्रकार से भी युक्ति की जा सकती है। यदि ऐसा करोगे तो जो सिद्ध होने योग्य बात है, वह भी अनिर्मुक्त अर्थात् असिद्ध ही रह जायेगी।

आधाररहित युक्ति को कल्पना कहते हैं। आधारयुक्त युक्ति को अनुमान प्रमाण कहते हैं। हम अनुमान के लक्षण 'जन्माद्यस्त यतः' (१-१-२) के भाष्य में दे आये हैं। अतः हम आधारयुक्त युक्ति को अनुमान प्रमाण मानते हैं। निराधार तर्क को वितण्डा कहते हैं।

निराधार युक्ति यदि करोगे तो कोई दूसरा वैसी ही निराधार युक्ति कर देगा। अतः निराधार युक्ति नहीं करनी चाहिए। यदि ऐसा करेंगे तो सिद्ध होने वाली बात भी अनिर्मुक्त अर्थात् असिद्ध रह जायेगी।

अन्य भाष्यकारों ने इस सूत्र के अर्थ कुछ भिन्न किये हैं। उदाहरण के रूप में श्री शंकराचार्य इस प्रकार लिखते हैं—

इतश्च नागमगम्येऽर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यम्। यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनास्तर्का अप्रतिष्ठिता भवन्ति, उत्प्रेक्षाया निरंकुशत्वात्। तथा हि कैश्चिदभियुक्तैर्यत्नेनोत्प्रेक्षितास्तर्का अभियुक्ततरैरन्यैराभास्यमाना दृश्यन्ते। तैरप्युत्प्रेक्षिताः सन्तस्ततोऽन्यैराभास्यन्त इति न प्रतिष्ठितत्वं तर्काणां शक्यमाश्रयितुम्, पुरुषमतिवैरूप्यात्। अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य वान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव, प्रसिद्धमाहात्म्याभिमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्। अथोच्येतान्यथा वयमनुमास्यामहे यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति। नहि प्रतिष्ठितस्तर्क एव नास्तीति शक्यते वक्तुम्।

अर्थात्—इसलिए आगम गम्य (व्यावहारिक शास्त्र) के अर्थ करने में केवल तर्क से प्रत्यावस्था (विरोध) करना ठीक नहीं। क्योंकि आगम (व्यवहार शास्त्र) और केवल पुरुष कल्पनामूलक तर्क प्रतिष्ठित नहीं होते। कल्पना निरंकुश होती है। जैसे कुछ से यत्नपूर्वक कल्पित तर्क दूसरों से आभासमात्र दिखाये जाते हैं। उनसे भी कल्पित तर्क दूसरों से आभास सिद्ध हो जाते हैं। अतएव तर्क का आश्रय

ग्रहण नहीं करना चाहिए। कारण यह कि पुरुषों की बुद्धियाँ विलक्षण होती हैं। यदि किसी प्रसिद्ध कपिल महात्मा द्वारा अथवा किसी अन्य महात्मा द्वारा प्रतिष्ठित बात है तो वह पूर्वोक्त दोष से अप्रतिष्ठित ही है। इस पर भी प्रतिष्ठित अनुमान भी कपिल कणाद इत्यादि जैसे शास्त्र-प्रणेता में भी परस्पर विरोध दिखाई देता है। यह कहा जाये कि हम दूसरे ढंग से अनुमान करें जिससे अप्रतिष्ठित दोष न आये तो प्रतिष्ठित तर्क हो ही नहीं सकता।

इस लम्बे उद्धरण को देने के दो कारण हैं। एक यह कि श्री स्वामीजी और उनका अन्धानुकरण करने वाले अन्य भाष्यकारों ने कल्पना, युक्ति और अनुमान के अर्थों को गलत-मलत कर दिया है।

हम युक्ति को एक सामान्य बात समझते हैं। जब युक्ति आधारसहित हो तो उसे अनुमान कहते हैं। कल्पना युक्तियुक्त भी हो सकती है और युक्तिरहित भी।

हमारा यह मत है कि भारतवर्ष में एक समय शंकराचार्य जैसे भ्रान्त मस्तिष्क वालों का बोलबाला रहा है और उन्होंने केवल युक्ति को प्रमाण मान उसका खण्डन किया था। उसी समय से भारतवर्ष की उन्नति अवरुद्ध हुई है। युक्ति आधारयुक्त हो, तब ही प्रमाण होती है।

महाभारत काल में भारत की धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठा सार्वभौमिक थी। तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान में भारत सर्वोत्कृष्ट था। पीछे भर्तृहरि जैसे व्यक्ति तार्किक माने गए और तर्क करना दूषित माना गया।

भर्तृहरि ने ही यह प्रसिद्ध वाक्य कहा है—

"यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥"

अर्थात्—कुशल अनुमाता लोग बड़े प्रयत्न से जिस अर्थ को तर्क से सिद्ध करते हैं, उसी अर्थ को अन्य अनुमाता तार्किक अपने अनुमान तर्कों द्वारा अन्यथा ही सिद्ध कर देते हैं।

भर्तृहरि का काल महाभारत युद्ध से चार-पाँच सौ वर्ष उपरान्त माना जाता है और यह कहा जा सकता है कि उस समय उक्त तर्कहीन बात देश के विद्वानों को ठीक प्रतीत होने लगी थी और तब से देश का ह्रास आरम्भ हुआ।

तदुपरान्त वाम-मार्ग, बौद्ध, जैन, वैष्णव और अद्वैतवाद पनपे और वह समय आया कि पूर्ण समाज तर्कहीन अर्थात् बुद्धिविहीन हो गया।

बाबर के काल में यहाँ तोपें आयीं और अकबर तथा औरंगजेब के काल तक राजपूत राजा तोपें नहीं बनवा सके।

आज यूरोपियन विज्ञान की उन्नति का आधार ही दो बातें हैं प्रत्यक्ष और युक्ति। वर्तमान युग की पूर्ण वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति प्रत्यक्ष और अनुमान

प्रमाण के आधार पर हो रही है। हिन्दू समाज में अभी भी कोल्हू के बैल हैं जो बुद्धि के प्रयोग को दूषित घोषित करते हैं।

यह एक (उक्त वर्णित) कारण है, जिससे हमने स्वामी शंकराचार्य का उक्त उद्धरण दिया है और दूसरा कारण यह है कि स्वामी शंकराचार्य ने कपिल मुनि और कणाद को परस्पर विरोधी बताया है। हम बता चुके हैं कि छहों वैदिक दर्शन-शास्त्र परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे अपने-अपने विषय का वर्णन करते हुए एक ही ध्येय पर पहुँचते हैं। वह ध्येय है मूल कारण का ज्ञान। ये तीन हैं। परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा। ये तीनों सत् हैं, अव्यक्त हैं और अक्षर हैं। इनमें परमात्मा निमित्त कारण है, प्रकृति उपादान कारण है और जीवात्मा भोक्ता है।

इस भाष्य का विषय सांख्य और वैशेषिक की व्याख्या नहीं। हम वेदान्त दर्शन का वर्णन कर रहे हैं। अतः इसमें भी तीनों मूल तत्त्वों का प्रतिपादन सिद्ध होता है। दूसरी बात जो वैदिक दर्शनशास्त्रों में सिद्ध है, वह है कार्य-जगत् का ज्ञान। इसे दूषित नहीं माना गया। जगत् में रहने को भी वर्जित नहीं किया गया। हम यही बात वेदान्त दर्शन में भी देखते हैं।

स्वामी शंकराचार्य और अन्य तर्कविहीन, आँखें मूँदकर उनका अनुकरण करने वाले भाष्यकार वेदान्त वाक्यों का विकृत अर्थ कर भटक रहे प्रतीत होते हैं।

अब देखें कि स्वामीजी के भाष्य में अयुक्तिसंगत बात क्या है? स्वामीजी कहते हैं कि जब एक बात युक्ति से कहते हैं तो दूसरा उसको युक्ति से गलत कह देता है।

हमारा कहना है कि वह युक्ति ही नहीं जो न्याय और सांख्य के अनुसार व्याप्ति सम्बन्ध न रखती हो अथवा जो पूर्व परिचित सम्बन्ध के आधार पर न हो। आज विज्ञान इसी आधार पर प्रगति कर रहा है। परीक्षण किए जाते हैं और परीक्षणों के परिणाम विचारकर निकाले जाते हैं। जब कई बार वैसे ही परिणाम प्रकट होते देखे जाते हैं तो परीक्षण सिद्ध मान लिये जाते हैं।

यह प्रक्रिया भौतिक और आध्यात्मिक दोनों दिशाओं में चलती है।

स्वामी शंकराचार्य यह भी नहीं मानते कि लोक-व्यवहार में भी तर्क प्रतिष्ठित हो सकता है।

प्रतिष्ठित तर्क वह है जिसे हेतु और साध्य के अविचल सम्बन्ध पर आधारित किया गया है। इसके विपरीत अप्रतिष्ठित तर्क करने से दूसरे तर्क आते हैं और ऐसा करने से अनुमान से सिद्ध होने वाले विचार सिद्ध नहीं हो सकेंगे। यही सूत्र में लिखा है।

अभिप्राय यह कि 'अनुमान प्रमाण' आधारयुक्त तर्क ही होता है। यह अमान्य नहीं है।

सूत्रकार अनुमान को वर्जित नहीं मानता। वह अप्रतिष्ठित तर्क को अमान्य

करता है। अप्रतिष्ठित तर्क पर ही विपरीत तर्क, जिसे वितण्डा भी कहते हैं, किया जा सकता है। प्रतिष्ठित तर्क, जिसे अनुमान प्रमाण भी कहा जा सकता है, विरोधी तर्क के लिए स्थान नहीं छोड़ता।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥१२॥

एतेन+शिष्ट+अपरिग्रहाः+अपि+व्याख्याताः।

एतेन=इससे। शिष्टापरिग्रहा=शिष्ट जनों से अस्वीकार किये गए। अपि =भी। व्याख्याताः=वर्णन किये गए हैं।

अभिप्राय यह है कि पूर्व सूत्र में बताए अनुसार वे सब कार्यों तथा मतों के विषय में भी समझ लें जो शिष्टजनों ने स्वीकार नहीं किए।

पूर्व सूत्र में यह कहा गया है कि अप्रतिष्ठित तर्क नहीं करना चाहिए।

इस सूत्र में कहा है कि शिष्टजनों से अस्वीकार बात को भी ऐसे ही समझ लो जैसे अप्रतिष्ठित तर्क।

शिष्टजन कौन हैं? जो सत्यवक्ता, विवेकयुक्त एवं धर्म तथा न्याययुक्त व्यवहार रखने वाले हों। ऐसे लोगों से अस्वीकृत मत भी अप्रतिष्ठित तर्क की भाँति त्याज्य हैं।

एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। आज यूरोप और अमेरिका में यह कहा जा रहा है कि स्त्री-पुरुष में अबाध यौन सम्बन्ध वासनाओं को कम कर देगा।

यह बात शिष्टजनों से स्वीकार नहीं की जा रही, अतः यह त्याज्य है।

एक अन्य उदाहरण लें। चार्वाकीय दार्शनिक कहते हैं—

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भाण्ड धूर्त्त निशाचराः।

तीनों वेदों के लिखने वाले भांड, धूर्त और निशाचर थे।

यह बात शिष्टजनों को स्वीकार नहीं; इस कारण मानी नहीं जाती।

इस प्रकार के कथनों में तर्क नहीं है। न प्रतिष्ठित और न ही अप्रतिष्ठित। इसमें कथन है और वह कथन वेदादि शास्त्रों को जानने वाले स्वीकार नहीं करते। अतः वे ग्रहण करने योग्य नहीं।

शिष्ट से अभिप्राय सभ्य नहीं। शिष्ट के लक्षण हमने ऊपर कर दिए हैं। मनुस्मृति में शिष्ट शब्द के अर्थ इस प्रकार किये गए हैं—

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

(मनु० १२-१०९)

जिन्होंने विधिपूर्वक अङ्ग, उपाङ्ग सहित वेदाध्ययन किया हो और जिन्होंने श्रुति का प्रत्यक्ष दर्शन किया हो, ऐसे विद्वान् शिष्ट कहलाते हैं।

ऐसे व्यक्ति से अस्वीकार किया मत वैसे ही त्याज्य है, जैसे कि अप्रतिष्ठित तर्क।

शंकरवादियों ने इस सूत्र में भी गड़बड़ कर दी है। शंकराचार्यजी की परिपाटी पर भाष्य करने वाले एक श्री हरिकृष्णदास गोयन्दका इस सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं—

'पाँचवें सूत्र से ग्यारहवें सूत्र तक जो सांख्य मतावलम्बियों द्वारा उपस्थित की हुई शंकाओं का निराकरण करके वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, इससे दूसरे मत-मतान्तरों का भी, जो वेदानुकूल न होने के कारण शिष्ट पुरुषों को मान्य नहीं है, निराकरण हो गया।'

ये महानुभाव भी शंकर मत के हैं और सांख्य को वेद-विरुद्ध समझते हैं। यद्यपि उक्त कथित सूत्रों में कपिल तथा सांख्य का शब्द नहीं आया, परन्तु क्योंकि शंकराचार्यजी ने कपिल के विरुद्ध लिखा है; इस कारण इन भाष्यकार को भी सांख्य को हीन बताये बिना शान्ति नहीं मिली।

स्वामी शंकराचार्यजी इस प्रकार लिखते हैं—

एतेन प्रकृतेन प्रधानकारणवादनिराकरणकारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशेनापरिगृहीता येऽण्वादिकारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः, तुल्यत्वान्निराकरणकारणस्य, नात्र पुनराशङ्कितव्यं किंचिदस्ति।

इस उपस्थित प्रधान कारणवाद के निराकरण करने के लिए शिष्ट मनु, व्यास आदि ने कुछ अंश में भी ग्रहण नहीं किया। अतः अणु आदि कारणवाद भी परिषेध रूप से कारणवाद की भाँति अस्वीकार होना चाहिए।

अभिप्राय यह कि शिष्टजन जिसे स्वीकार नहीं करते, वह अस्वीकार होना चाहिए। इतना तो ठीक है, परन्तु मनु, व्यास इत्यादि ने कारणवाद नहीं माना अथवा अणुवाद नहीं माना, यह सत्य नहीं। न तो सूत्र में अण्वादि के विषय में किसी प्रकार का संकेत है और न ही कारणवाद के विषय में।

कारणवाद है कारण से कार्य का होना। क्या कार्य-जगत् बिना किसी के बनाये बन गया है? यदि इसके बनाने वाला है तो कारण तो है, परन्तु जिस बात को शंकर कहना चाहते हैं और वह कह नहीं पा रहे, वह यह है कि कारणवाद में एक नियम है। कारण के मूल गुण कार्य में विद्यमान होते हैं। स्वामीजी जगत् का मूल कारण परमात्मा मानते हैं और परमात्मा के मूल गुण कार्य-जगत् में दिखायी नहीं देते। इस कारण जगत् का कारण मानते हुए भी कारण कार्य के सम्बन्ध को स्वीकार करना नहीं चाहते।

मनु और व्यास कारणवाद को मानते हैं। जो सृष्टि की उत्पत्ति परमात्मा से मानता है, वह कारणवाद से बच नहीं सकता।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥१३॥

भोक्त्रापत्तेः+अविभागः+चेत्+स्यात्+लोकवत्।

भोक्त्रापत्तेः=भोक्ता होने से। अविभागः=विभाग नहीं रहेगा। इति चेत्=यदि यह कहो तो। लोकवत्=जैसे लोक में। स्यात्=है।

इस सूत्र में संशय और समाधान दोनों हैं। संशय में यह कहा गया है कि जब जीव वृक्ष के फल खाता है तो खाने वाला जीवात्मा भोग (प्रकृति) से पृथक् नहीं रहेगा। वह वैसा ही हो जायेगा। सूत्रकार का उत्तर है—यदि यह है तो यह लोकवत् संसार की रीति के अनुसार है।

जब मनुष्य अन्न खाता है तो अन्न मनुष्य का भाग बन जाता है। इस कारण संशयकर्ता कहता है कि जीवात्मा जब प्रकृति का भोग करता है तो प्रकृति-जीवात्मा मे भेद नही रह जायेगा। अतः जीवात्मा और प्रकृति एक ही हैं।

सूत्रकार कहता है कि यह कहो तो लोक में, जो कुछ हो रहा है, उसे देख लो।

लोकवत् —लोक में जो हो रहा है। क्या हो रहा है ? मनुष्य जब अन्न खाता है तो क्या हो जाता है ? अन्न शरीर का भाग बन जाता है, परन्तु क्या शरीर अन्न खाता है ? अन्न का स्वाद और तृप्ति क्या शरीर को होती है ? स्वाद और तृप्ति शरीर को नहीं होती। शरीर केवल साधनमात्र है। तृप्ति मन और बुद्धि द्वारा जीवात्मा को होती है। जीवात्मा ही अन्न को खाता है। वह ही भूख अनुभव करता है और उसे ही अन्न खाकर तृप्ति होती है।

यदि शरीर को भूख लगती और शरीर ही अन्न खाता और उसे ही तृप्ति होती तो मृत शरीर भी भूख अनुभव करता और वह भी अन्न को खाता और फिर उससे तृप्ति अनुभव करता। ऐसा नहीं है।

अतः सांसारिक उदाहरण गलत दिया गया है। जीवात्मा शरीर में अभाव अनुभव करता है। इसका नाम भूख है। अनुभव जीवात्मा को होता है। यह शरीर को नहीं होता; यद्यपि अभाव शरीर में होता है।

जैसे किसी भवन में फर्श टूट जाये तो अनुभव भवन को नही होता वरन् भवन के स्वामी को होता है। स्वामी फर्श की मरम्मत के लिए सीमेण्ट, रेत इत्यादि लाकर उसकी मरम्मत करवाता है। मरम्मत भवन की होती है और सीमेण्ट इत्यादि भवन का भाग बन जाते हैं, परन्तु तृप्ति भवन के स्वामी को होती है।

यही बात मनुष्य के अन्न खाने की है। शरीर में अभाव हो जाता है, वह भूख है। जीवात्मा भूख को अनुभव करता है। वह अन्नमय शरीर के अभाव को अन्न से पूर्ण करता है और उससे हुई तृप्ति को अनुभव करता है।

जैसे सीमेण्ट और रेत तो भवन को लगते हैं, परन्तु उससे सुख भवन का स्वामी अनुभव करता है। जैसे दुकानदार कहता है कि अमुक भवन के स्वामी ने सीमेण्ट

खरीदा है, इसी प्रकार अन्न के विषय में कहा जाता है कि अन्न जीवात्मा ने खाया है।

ये हैं लोकवत् के अर्थ। जीवात्मा प्रकृति (कार्य-जगत्) का भोग करता है। प्रकृति प्रकृति में वैसे ही मिल जाती है, जैसे कि सीमेण्ट भवन को लगता है। प्रकृति प्रकृति में भेद नहीं; परन्तु उस अन्न से अभाव का अनुभव जीवात्मा कर रहा था और अन्न खाने पर तृप्ति भी जीवात्मा को ही होती है। यद्यपि अन्न जीवात्मा का भोग नहीं बनता।

इस सूत्र में शंका करने वाले ने जीवात्मा और प्रकृति को एक सिद्ध करने का यत्न किया है, परन्तु लोक-व्यवहार को देखकर पता चलता है कि दोनों एक नहीं हैं।

स्वामी शंकराचार्य तो सूत्र का अर्थ ही विपरीत कर रहे हैं।

हमारे और श्री स्वामीजी के सूत्रार्थ करने में ही अन्तर है। स्वामीजी कहते हैं कि भोक्तृ और भोग्य होने से अन्तर नहीं होता। लोक-व्यवहार में भी देखा जाता है।

हमने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है कि भोक्तृ और भोग्य में अन्तर नहीं होना चाहिए। यह शंका है और सूत्रकार का मत है कि अन्तर है और यह लोक-व्यवहार में दिखाई देता है।

प्रश्न यह है कि कौनसा अर्थ ठीक है? दोनों अर्थों में लोक-व्यवहार निश्चय कर देगा। दोनों अर्थों में साक्षी लोक-व्यवहार माना गया है।

हम स्वामी शंकराचार्य के अर्थों को अशुद्ध मानते हैं। वह उदाहरण ही अशुद्ध दे रहे हैं। वह कहते हैं कि नहाने के जल या फेन अथवा बुदबुदे में अन्तर नहीं होता। जैसे फेन अथवा बुदबुदे का भोग नहीं। यह अन्न और शरीर की भाँति भोग और भोक्तृ नहीं।

यह अशुद्ध उदाहरण ही प्रकट करता है कि अर्थ अशुद्ध किये जा रहे हैं।

हमने उदाहरण दिया है मकान की मरम्मत और मकान मालिक का। मकान में सीमेण्ट मकान मालिक से भिन्न है। भोक्ता मकान मालिक है। सीमेण्ट इत्यादि भोग हैं।

लोक-व्यवहार मकान में सीमेण्ट वाला ठीक है। जल पर फेन अथवा बुदबुदा जल का भोग नहीं वह तो जल का पहले ही अविभाज्य अंग है।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

तत्+अनन्यत्वम्+आरम्भणशब्दादिभ्यः।

उससे अनन्यत्व अर्थात् अभिन्न होना। आरम्भ होने की क्रिया से (सिद्ध नहीं होता) यह अयुक्त हो जायेगी।

तत् से अभिप्राय प्रकृति है। जीवात्मा से इसका अन्य भाव न होने से आरम्भ की क्रिया अयुक्त हो जायेगी।

आरम्भ की क्रिया का अभिप्राय सर्ग आरम्भ की क्रिया से है। सर्ग आरम्भ में जीवात्मा और प्रकृति सब परमात्मा में मिले-जुले होते हैं। यदि यह माना जाये कि दोनों में अनन्य (अभिन्न) भाव है तो फिर दोनों के पृथक् होने में कोई कारण नहीं प्रतीत होता। जड़ एवं कार्य-जगत् में भिन्नता न आती। जब सर्गारम्भ में एक ही वस्तु थी तो कार्य-जगत् के आरम्भ होने के समय पृथक्-पृथक् होने में कोई कारण नहीं।

अद्वैत मतानुसार जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा एक ही पदार्थ हैं तो सर्ग आरम्भ के समय कार्य-जगत् में चेतन और जड़ तथा कार्य करता हुआ जगत् और कार्य न करने वाले जगत् में भिन्नता प्रकट होने में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

मनुष्य और इतर जीव-जन्तु सुख-दुःख में लिप्त रहते हैं। परमात्मा ज्ञानस्वरूप है तो यह क्या कारण है जिससे एक अंश तो जड़ बन जाता है, दूसरा सुख भोगता है और तीसरा दुःख भोगता है?

सब-कुछ अकारण ही हो रहा प्रतीत होगा। अतः सूत्रकार का कहना है कि—

यदि भोग्य पदार्थ भोक्ता से पृथक् नहीं मानेंगे तो सर्ग आरम्भ में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

सर्ग का आरम्भ है। सूत्रकार मानता है कि आरम्भ से पूर्व यदि सबकुछ एक ही था तो क्या प्रयोजन था कार्य-जगत् तथा भूत-ग्राम के बनने का? इसमें कोई युक्ति नहीं है कि ये बनें। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रकृति और जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ करते हैं—शब्द से जाने जाते हैं कि सर्ग आरम्भ में अभिन्न थे (प्रकृति, जीवात्मा तथा परमात्मा)।

स्वामी शंकराचार्य अर्थ करते हैं—सृष्टि के आरम्भ में कार्य-जगत् और ब्रह्म एक ही थे।

हमारा मत यह है कि यदि यह कहा जाय कि वे अभिन्न थे तो आरम्भण (सृष्टि का आरम्भ होना) अयुक्त हो जायेगा।

जगत् के आरम्भ में जीवात्मा और प्रकृति ब्रह्म में आश्रित होने के कारण मिले-जुले रहते हैं। यदि ये अभिन्न होते तो सर्ग के बनने पर उनमें भेद आने में कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता।

हम यह भिन्नता और अभिन्नता प्रकृति और जीवात्मा के विषय में कह रहे हैं। इसमें कारण यह है कि इस पाद (ब्र० सू० २-१) के आरम्भ से ही प्रकृति और जीवात्मा का प्रसंग चल रहा है।

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

भावे+च+उपलब्धेः।

च=और। भावे=होने पर। उपलब्धेः=उपलब्धि से (मिलते हैं)।

कारण होने पर कार्य की उपलब्धि होती है। इसका अभिप्राय यह है कि कारण और कार्य के मूल गुणों में समानता होती है। अतः कार्य और कारण का सम्बन्ध अटूट है। बिना कारण कार्य नहीं होता।

जहाँ यह बताया है कि ब्रह्मांड में परमात्मा के अतिरिक्त भी अक्षर पदार्थ हैं, वहाँ ही इस भू-लोक के कार्य-जगत् का कारण होता है, ऐसा बता दिया है। साथ ही कारण और कार्य के मूल गुणों में समानता होती है।

यह भी ऊपर बता चुके हैं कि सर्ग पूर्व के अक्षर पदार्थों में भेद है। यदि पूर्व के अक्षर पदार्थों में अभिन्नता मानें तो पीछे भिन्न होने में प्रयोजन नहीं रह जाता।

इसके अनुरूप ही यह सूत्र है कि कारण-कार्य में समानता होती है।

अर्थात् चेतन पदार्थों से ही चेतन तत्त्व की उपलब्धि माननी होगी। इसी प्रकार जड़ कार्य-जगत् में जड़ कारण तत्त्व की उपस्थिति माननी होती है।

मिट्टी से ही घड़ा बनता है। कुम्हार घड़ा नहीं हो जाता।

स्वामी शंकराचार्य यह मानते हैं, परन्तु अपने वाग्जाल से यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इस प्रत्यक्ष उपलब्धि (भाव होने अर्थात् कारण होने से कार्य) में लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप कारण हैं। तदनन्तर केवल वायु और आकाश का अस्तित्व है, ऐसा अनुमान करना चाहिए। उसके अनन्तर केवल अद्वितीय परब्रह्म ही शेष रह जाता है। उसमें ही सब प्रमाणों का पर्यवसान उन्होंने माना है।

यह निष्कर्ष न तो सूत्र से निकलता है और न ही किसी प्रकार की युक्ति से। कारण-कार्य के सम्बन्धों पर विचार करते हुए किसी वेदान्त वाक्य से भी यह सिद्ध नहीं किया गया।

स्वामीजी लिखते हैं कि किसी कपड़े में तन्तु ही होते हैं। तन्तु (ताना-बाना) न रहे तो पट ही नही रह जाता। तन्तुओं में उनके अवयव और उन अवयवों में उनके अवयव उपलब्ध होते हैं। इस प्रत्यक्ष का कारण लोहित, शुक्ल और कृष्ण ये तीन रूप हैं। ऐसा स्वामीजी ने लिखा है।

'तदनन्तर केवल वायु और आकाश मात्र हैं।' बस यहीं स्वामीजी ने युक्ति और प्रमाण की टाँग तोडी है। लोहित, शुक्ल और कृष्ण क्या हैं? यह स्वामीजी नही जानते। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके ज्ञान की यही सीमा है।

लोहित, शुक्ल और कृष्ण प्रधान के तीन गुण हैं और इनके अनन्तर प्रधान हैं, जिसे स्वामीजी मानते ही नहीं।

उपनिषद् में यह स्पष्ट वर्णित है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

(श्वे० ४-५)

एक अक्षर है जिसके तीन गुणों सत्त्व, रजस् और तमस् के कारण अनेक उसी के रूप वाले पदार्थ बनते हैं। यह अक्षर प्रकृति अनादि और जड़ समान है।

यह जीवात्मा और परमात्मा नहीं। इसी मन्त्र के दूसरे भाग में लिखा है—

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

(श्वे० ४-५)

एक दूसरा (जीवात्मा) अक्षर है; वह (भोग्य का) सेवन करता हुआ भोग करता है और एक अन्य (परमात्मा) अक्षर है जो उस भुक्त भोग्या को छोड़ देता है।

इनके अनन्तर क्या है, वह तो लिखा नहीं। स्वामीजी ने लिख दिया है कि वह परब्रह्म है।

परब्रह्म तो है, परन्तु इस शब्द से तो तीनों (प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा) को स्मरण किया गया है। (इसी उपनिषद् के १-६, ७ को देखो।) वह वायु और आकाश नहीं है।

सूत्र का अर्थ स्पष्ट है कि कारण से कार्य होता है, अतः कारण के मूल गुण कार्य में भी रहते हैं।

सत्त्वाच्चावरस्य ॥१६॥

सत्त्वात्+च+अवरस्य।

सत्त्वात्=सत् होने से। अवरस्य=कार्य की (उत्पत्ति होती है) च=और। सत् से अभिप्राय है प्रकृति का मूल रूप। वैसे सत् तो जीवात्मा भी है और

परमात्मा भी है, परन्तु यहाँ मूल प्रकृति से ही अभिप्राय है। कारण यह कि इससे कार्य (जगत्) की उत्पत्ति होती है।

अद्वैतवादी तो प्रकृति की उत्पत्ति भी परमात्मा से मानते हैं, परन्तु इसका खण्डन हम पूर्व के सूत्रों में कर आये हैं।

इससे पूर्व (भावे चोपलब्धेः) ब्रह्मसूत्र २-१-१५ में बताया गया है कि कारण से कार्य होता है और दोनों मे मूल गुण समान होने चाहिए। देखना यह है कि परमात्मा के मूल गुण क्या हैं और क्या वे गुण कार्य-जगत् में मिलते हैं ? परमात्मा का एक गुण है चित् = चैतन्यता। इसका लक्षण है ईक्षण करना। अर्थात् कार्य का देश, काल और दिशा का निश्चय करना। यह कार्य-जगत् नहीं कर सकता। अतः ब्रह्म का सबसे महान् गुण — चित् (ज्ञानवान् होना) कार्य-जगत् में नहीं है। इस कारण इस सूत्र में सत् का अर्थ चेतनायुक्त परमात्मा नहीं हो सकता।

इसी प्रकार परमात्मा का एक गुण है आनन्दमय होना। कार्य-जगत् आनन्द-मय नही होता। कोई पदार्थ आनन्दमय नहीं है। इस कारण इस सूत्र में सत् का अर्थ परमात्मा नहीं।

सूत्रार्थ है सत् (मूल प्रकृति) से अवर की (कार्य-जगत् की) उत्पत्ति होती है।

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥

असत्+व्यपदेशात्+न+इति+चेत्+न+धर्मान्तरेण+वाक्यशेषात्।

असत् के कथन से नहीं। ऐसा कहो तो नहीं। दूसरे धर्म वाक्य-शेष से।

इसका अभिप्राय यह है कि कार्य-जगत् असत् से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। यह ऐसा नहीं, अर्थात् इसका यह अभिप्राय नहीं। जहाँ यह कहा जाता है कि असत् से यह कार्य-जगत् हुआ है, वहाँ दूसरे धर्म से बात कही गयी है। धर्म का अभिप्राय है कि सत्-असत् धर्म से नहीं, वरन् व्यक्त तथा अव्यक्त धर्म से।

कार्य-जगत् का धर्म है कि वह इन्द्रियगोचर है। जगत् का मूल कारण इन्द्रियगोचर नहीं। इन्द्रिय का वह विषय नहीं है। इसलिए उसे असत् कहा जा सकता है, परन्तु वाक्य में एक दूसरे रूप में (धर्म से) वह उपस्थित है। अभाव से यह कार्य-जगत् नहीं हुआ।

पूर्व (ब्र० सू० २-१-१५) में अद्वैतवादियों का खण्डन किया गया है, अर्थात् कारण-कार्य का सम्बन्ध है। इस कारण परमात्मा से कार्य-जगत् नहीं बन सकता। दोनों के गुणों में अन्तर है। इस सूत्र (२-१-१७) में नास्तिकों के मत का खण्डन किया गया है। यहाँ बताया गया है कि अभाव से भाव नहीं होता। जहाँ कहीं ऐसा

कहा गया हो तो इसको दूसरे धर्म से (व्यक्ताव्यक्त भाव से) बताने का अभिप्राय होता है।

'शेष' शब्द से अभिप्राय है कि अभी और आगे भी कुछ वक्तव्य है।

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥१८॥

युक्तेः+च+शब्दान्तरात्।

दूसरे शब्दों से और युक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है।

प्रत्येक बात को कहने के कई ढंग होते हैं। पिछले सूत्र (२-१-१७) में यह कहा है कि ऐसा कहा जाता है कि जो कुछ दिखाई देता है वह पहले नहीं था। यह 'असत्' था। इसी बात को दूसरे शब्दों में भी कहा जा सकता है कि अभाव नहीं हो सकता। प्रश्न है कि कुछ नहीं से कुछ कहाँ से आ सकता है?

श्री उदयवीर शास्त्री युक्तेः का अर्थ योजना से करते हैं और वह कहते हैं कि जगत् रचने की योजना बनती ही नहीं, यदि रचना से पूर्व केवल एक ही होता। कोई दूसरा जबतक न हो तबतक सृष्टि रचने की योजना का कुछ अर्थ नहीं रह जाता। जगत् क्यों बना? यह अर्थहीन हो जाता। यह युक्त है।

कुम्हार, मिट्टी और घड़ा प्रयोग करने वाला ग्राहक (भोक्ता) न हो तो घड़ा बने ही क्यों?

अतः निमित्त कारण, उपादान कारण और भोक्ता तीनों ही होने चाहिए, अन्यथा जगत्-रचना की योजना अर्थहीन हो जायेगी। युक्ति से कहें अथवा योजना से कहें, सूत्रार्थ में अन्तर नहीं पड़ता।

पटवच्च ॥१९॥

पटवत्+च।

और पट की भाँति।

पट का अर्थ है कपड़ा। कपड़े की भाँति। कपड़ा सूत से बनता है। जब बन जाता है तो सूत्र के गुण उसमें उपस्थित रहते हैं। सूत में रुई के गुण होते हैं। इसी प्रकार मूल प्रकृति के गुण कार्य-जगत् में रहते हैं।

मूल प्रकृति के गुण हैं—(१) वह अचेतन है। (२) वह त्रिगुणात्मक है। प्रकृति कणदार है। इसका प्रत्येक परमाणु अर्थात् इसका प्रत्येक कण अपने से छोटे कणों में विभक्त नहीं हो सकता। प्रकृति परिणामी है। इसका कारण यह है कि यह परमाणुवत् है।

प्रत्येक परमाणु में तीन गुण रहते हैं। यह गुण प्रत्येक परमाणु में भीतर ऐसे स्थित हैं कि ये परस्पर दूसरे के गुणों को प्रभावहीन (neutralize) करते रहते हैं।

यदि अलंकार रूप में वर्णन करें तो ऐसा कहा जायेगा कि प्रकृति के एक कण में तीन (पक्ष) भाव रहते हैं। इसका चित्र कुछ इस प्रकार का हो सकता है—
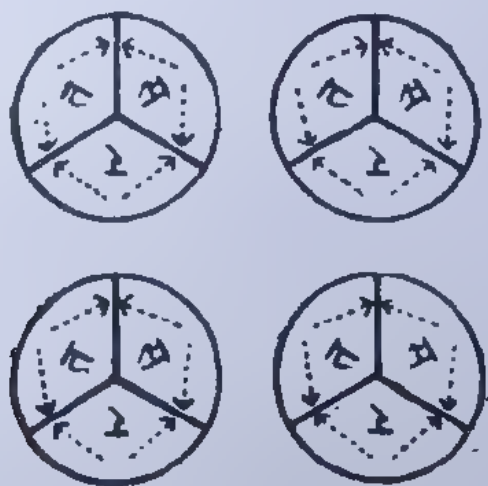
यह है साम्यावस्था। अर्थात् गुणों की साम्यावस्था परमात्मा के ईक्षण करने पर टूटती है। गुण जो परस्पर प्रभावहीन (neutralize) हो रहे थे, ऐसी स्थिति में हो जाते हैं कि वे असम अवस्था में हो जाते हैं। यदि चित्र से प्रकट करें तो वह कुछ इस प्रकार होगा—
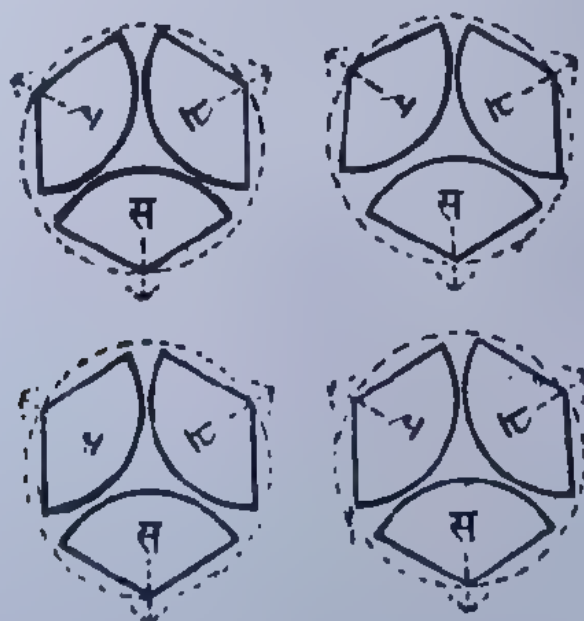
इस स्थिति में तीनों गुणों के आकर्षण-विकर्षण परमाणु से बाहर हो जाते हैं। तब इनका आकर्षण-विकर्षण दूसरे परमाणुओं पर होने लगता है। तब चित्र कुछ इस प्रकार का हो जायेगा—
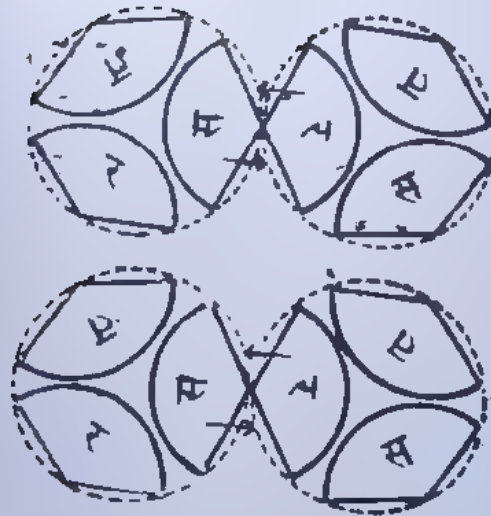
तीरों के संकेत आकर्षण प्रकट करने के लिए हैं। इससे दो-तीन अथवा अधिक परमाणु एकत्रित होने लगते हैं। ये द्वयणुक अथवा त्र्यणुक कहलाते हैं। इनसे कार्य-जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ बन जाते हैं।

जब कई-कई परमाणु मिल जाते हैं तो जो शेष गुण उन परमाणु समूहों में मिलते हैं, वह मुख्य गुण उस परमाणु समूहों का होता है। छान्दो० ६-१६-१ में इसी का वर्णन किया है।

जैसे पट में सूत्र के गुण रहते हैं और सूत्र में कपास के तन्तुओं के गुण रहते हैं, वैसे ही कार्य-जगत् के पदार्थों में मूल प्रकृति के तीनों गुण उपस्थित रहते हैं। इसपर भी यदि कभी कोई गुण भीतरी आकर्षण-विकर्षण से प्रभावहीन नहीं होता तो वह उस पदार्थ का मुख्य गुण बना रहता है।

यही इस सूत्र का अभिप्राय है।

यथा च प्राणादि ॥२०॥

यथा+च+प्राणादि।

और जैसे प्राणादि हैं।

प्राणादि का अभिप्राय प्राण, इन्द्रियाँ और पाँच भौतिक शरीर, मन, बुद्धि एवं अहंकार है। ये शरीर में पृथक्-पृथक् दिखायी देते हैं, परन्तु ये सब कुछ मूल प्रकृति के रूप ही हैं।

हमने पिछले सूत्र के भाष्य में बताया है कि मूल प्रकृति में गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) से किस प्रकार द्वयणुक इत्यादि बनने लगते हैं। इन परमाणुओं के संयोग-वियोग से ही जगत् की रचना आरम्भ होती है। यह संयोग-वियोग भिन्न-

भिन्न गुणों के परस्पर आकर्षण-विकर्षण से होते हैं। इन संयोग-वियोग से क्या पदार्थ बनते हैं, उसका वृत्तान्त इस प्रकार है—

मूल प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था होती है। यह अवस्था हमने चित्र खींचकर पूर्व सूत्र के भाष्य में दिखायी है, तदनन्तर ये गुण परस्पर अर्थात् एक ही परमाणु में आकर्षण-विकर्षण त्यागकर पड़ोस के परमाणुओं के विपरीत गुणों से आकर्षण-विकर्षण में लग जाते हैं। जब एक परमाणु के गुण परस्पर आकर्षण-विकर्षण छोड़ बाह्याभिमुख हो जाते हैं, तब प्रकृति की उस अवस्था को महत् कहा है। उससे उपरान्त की अवस्था को आपः कहा है।

इस आपः अवस्था में भिन्न-भिन्न परमाणुओं के गुणों में आकर्षणादि होने पर द्व्यणुक अथवा त्र्यणुक अणु बनते हैं। इन संयोगों में कुछ ऐसे संयोग होते हैं जिनमें सत्त्व और तमस् गुण प्रभावहीन होकर तेजस् गुण शेष रह जाता है। कुछ ऐसे संयोग होते हैं, जिनमे सत्त्व और रजस् परस्पर आकर्षण से प्रभावहीन हो जाते हैं और तमस् गुण शेष रह जाता है और कुछ ऐसे संयोग होते हैं जिनमें सत्त्व गुण शेष रह जाता है। जो गुण प्रभावहीन होते हैं, वे रहते तो हैं। प्रत्येक परमाणु में तीनों गुण रहते हैं। जब किसी पड़ौसी परमाणु से गुणों में आकर्षण अथवा विकर्षण होता है और एक गुण प्रभावयुक्त रह जाता है तो परमाणुओं के संयोग अहंकार कहलाते हैं। ये अहंकार तीन प्रकार के हैं—

(१) वैकारी अहंकार—यह परमाणुओं का वह संयोग है जिसमें सत्त्व गुण प्रभावी रह जाता है।

(२) तेजस् अहंकार —यह परमाणुओं का वह संयोग होता है, जिसमें रजस् गुण शेष रह जाता है और अन्य दो परस्पर प्रभाव से निःशेष हो चुके होते हैं।

(३) भूतादि अहंकार—परमाणुओं का वह संयोग है, जिसमें तमस् गुण शेष होता है।

इस प्रकार मूल प्रकृति से महत् और महत् से तीन प्रकार के अहंकार उत्पन्न हो जाते हैं। अब इन अहंकारों के परस्पर संयोग होते हैं।

(१) वैकारी अहंकार और राजसी अहंकार के संयोग से मन और दस इन्द्रियाँ बनती हैं।

(२) तेजस् और भूतादि अहंकार से पंच महाभूत बनते हैं।

(३) अहंकारों से तरंगों की भाँति पंच तन्मात्राएँ निकलती हैं। इन तन्मात्राओं से, जो शक्ति रूप ही होते हैं, सूक्ष्म भूत और स्थूल भूत बन जाते हैं।

(४) ऐसा प्रतीत होता है कि तेजस् और भूतादि अहंकारों के संयोग एक प्रकार की तन्मात्राओं से सात्त्विक अहंकार की लपेट में आ जाते हैं। इस प्रकार जो संयोग बनते हैं, वे स्थूल भूत बनाने में योगदान देते हैं और उससे रासायनिक अणु (atom))-परिमण्डल बन जाता है।

(५) इन रासायनिक अणुओं में एक अन्य प्रकार की तन्मात्रा से रासायनिक संयोग (chemical compounds) बन जाते हैं और रासायनिक तत्त्वों (elements) के ढेले स्थूल बन जाते हैं।

(६) इनसे शरीर बनता है और शरीर में मन तथा इन्द्रियों के आने पर जीवन आता है और साथ ही इनमें आत्मा के प्रवेश से प्राणी बन जाता है।

इस पूर्ण प्रक्रिया को इस प्रकार चित्र में दिखाया जा सकता है।
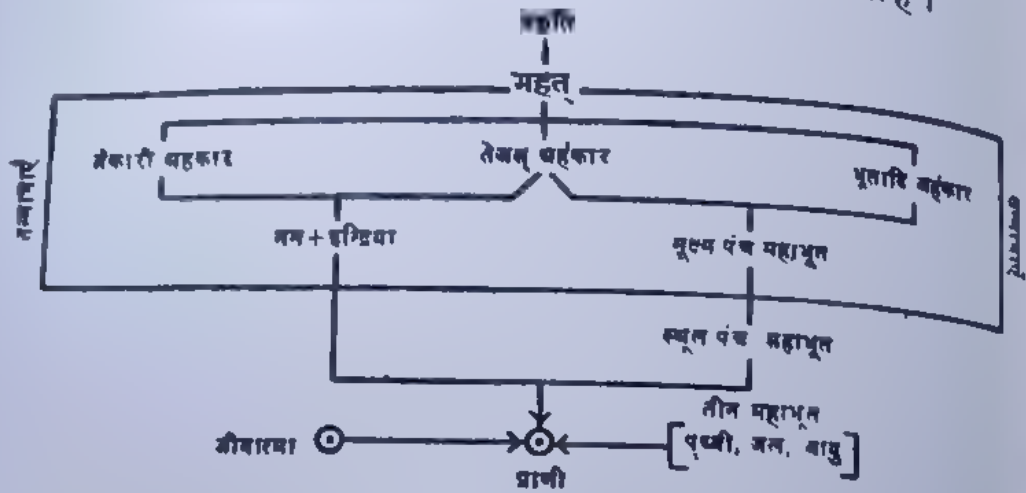
चौथी और पाँचवीं तन्मात्रा स्थूल भूतों में भू-आकर्षण (gravity) और चुम्बकीय शक्ति (magnetic attraction) उत्पन्न करती है।

यह है सूत्र का अभिप्राय। प्राणादि से भी यही सिद्ध होता है कि जगत् का उपादान कारण प्रकृति है।

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२१॥

इतर+व्यपदेशात्+हिताकरण+आदि+दोष प्रसक्तिः।

इतर=दूसरे (परमात्मा से अन्य)। व्यपदेशात्=उपदेश अर्थात् कथन से। (कि वे भी परमात्मा हैं)। हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः=हित इत्यादि के न करने का दोष प्रसक्त होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि उत्पत्ति में उपादान कारण (प्रकृति) और जीवात्मा भी परमात्मा ही है, अर्थात् परमात्मा से जो अन्य हैं, उनको भी परमात्मा कहकर ही उपदेश करना एक दोष प्रकट करता है। वह दोष यह है कि जगत् में जो अहित हो रहा है, वह भी परमात्मा से किया जाता ही माना जाएगा।

संसार में हिरण्यकशिपु, तैमूर, हलाकू, नैपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन इत्यादि अनेक विनाश करने वाले प्राणी उत्पन्न हुए हैं। यदि ऐसा मान लें कि सबकुछ परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है, तब सब अहितकर कर्म करने का दोष परमात्मा पर आ जायेगा।

अतः जगत् का उपादान कारण प्रधान तथा भोक्ता जीवात्मा, परमात्मा से पृथक् हैं।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि यदि जगत्-रचना में केवल परमात्मा ही कारण मान लिया जाये तो इससे दोष उत्पन्न होता है। वह दोष भी बता दिया गया है कि संसार में हो रहा हित-अहित का कारण भी परमात्मा ही माना जायेगा।

इस सूत्र को कुछ भाष्यकारों ने संशय के रूप में समझा है। हमने इसको संशय रूप में न लेकर एक सिद्धान्त का निरूपण बताया है। इस सूत्र से कठिनाई शंकराचार्य के लिए उपस्थित हुई प्रतीत होती है। वह इसे एक आक्षेप बताकर उसका उत्तर देते हैं। उनका कहना है कि उत्तर अगले सूत्र में है। अगला सूत्र इस प्रकार है—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२२॥

शंकराचार्य इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

(तु) शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। (अधिकम्) जीव से भिन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म-जगत् का स्रष्टा है। इसलिए उसमें हित अकरणादि दोष नहीं। (भेदनिर्देशात्) कल्पित भेद का निर्देश है।

यह अर्थ सर्वथा असंगत है। पहले स्वामीजी की युक्ति और प्रमाण देखें तो ठीक होगा। स्वामीजी लिखते हैं—

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। यत्सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन्हिताकरणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते।

इसका अर्थ है—तु शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति करता है। जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त स्वभाव ब्रह्म शरीरी से अधिक माना जाता है, उसे हम जगत् का स्रष्टा कहते हैं। उसमें हित के अकरणादि दोष नहीं प्रसक्त होते।

अर्थात्—परमात्मा जगत् का स्रष्टा होने से दोषरहित है। जीवात्मा तो जगत् का स्रष्टा नहीं (इसी कारण इसमें दोष हो सकता है)।

प्रश्न तो यह था कि जीवात्मा से परमात्मा पृथक् है अथवा नहीं ? यदि एक स्रष्टा है और दूसरा नहीं तो भेद तो हो गया। तब आपने सिद्ध क्या किया ? पूर्व पक्ष को ही सिद्ध कर दिया है।

आप आगे लिखते हैं—

शारीरस्त्वनेवंविध.। तस्मिन्प्रसज्यन्ते हिताकरणादयो दोषाः; नतु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुतः एतत् ? भेदनिर्देशात्। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ०२-४-५) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८-७-१), 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६-८-१), "शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ः" (बृ० ४-३-३५) इत्येवंजातीयकः कर्तृ-कर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति।

अर्थ है— परन्तु जीव तो ऐसा (परमात्मा जैसा) नहीं है। उसमें हित करना आदि दोष प्रसक्त होते हैं। परन्तु हम उसको जगत्-स्रष्टा नहीं मानते। वह क्यों ? श्रुति में भेद का निर्देश है (जैसे बृ० २-४-५, छा० ८-६-१ और छा० ६-३-३५ में)। इस प्रकार जाना जाता है कि कर्ता कर्मादि के भेद से जीव से परमात्मा अधिक दिखाया है।

स्वामीजी की युक्ति यह है कि परमात्मा जगत् का स्रष्टा है और जीवात्मा नहीं है। दोनों में भेद है। इस कारण पहला हित-अहित का दोषी नहीं और दूसरा है।

भला जगत् का कर्ता होने से निर्दोष और कर्ता न होने से दोषी ? यह क्या युक्ति है ?

एक बात आप मान गये हैं कि जीव और परमात्मा में भेद दिखायी देता है। यह भेद कल्पित है। यह आपने अपने पास से लगा दिया है। सूत्र में कल्पित शब्द नहीं है।

स्वामीजी सूत्र का अर्थ करते हैं—

'तु' शब्द पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। जीव से अधिक (सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, परमात्मा) जगत् का स्रष्टा है; इस कारण उसमें हित अकरणादि दोष नहीं। क्योंकि भेद कल्पित दिखायी देता है।

स्वामीजी ने अपने सिद्धान्त 'जीव ब्रह्मैव नापरा' को बचाने के लिए 'कल्पित शब्द अपने पास से लगा दिया है।

वास्तव में इन दोनों सूत्रों (ब्र० सू० २-१-२१, २२) के अर्थ इस प्रकार बनते हैं—

इतर को (परमात्मा के अतिरिक्त को) भी परमात्मा मान लेने से हित न करने का दोष (परमात्मा में) आ जाता है। (सू० २१)।

अधिक=महान्। तु=तो है। भेद निर्देशात्=दोनों में भेद दिखाये जाने

तो परमात्मा और जीवात्मा में भेद दिखाई देता है और परमात्मा बड़ा है—शक्ति में, व्यापकता में, ज्ञान में और सूक्ष्मता में। (सू० २२)।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२३॥

अश्मादिवत्+च+तत्+अनुपपत्तिः।

च=और। अश्मादिवत्=पत्थरादि की भाँति। तत्=जीवात्मा की। अनुपपत्तिः=(ब्रह्म होना) असिद्ध है।

इस अध्याय के प्रथम पाद में मुख्य विषय जीवात्मा ही है। वह परमात्मा नहीं है, यह सिद्ध किया जा रहा है।

इतर में प्रकृति और जीवात्मा दोनों को लिया है।

सूत्र (ब्र० सू० २-१-२२) 'अधिक' से परमात्मा के अर्थ लिए हैं, अतः अधिक से कम कार्य-जगत् में जड़ पदार्थ और जीवात्मा है।

अतः जीवात्मा को परमात्मा से कम बताने के लिए अश्मवत् कहा है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जीवात्मा अश्मवत् जड़ है। इसका अर्थ यह है कि जीवात्मा परमात्मा से ही ऐसे तुच्छ है जैसे कि कोई भी जड़ पदार्थ है। यों तो जीवात्मा और अश्म में अन्तर है। यद्यपि परमात्मा से दोनों तुच्छ हैं।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

उपसंहार+दर्शनात्+न+इति+चेत्+न+क्षीरवत्+हि।

उपसंहार=उपसाधन संग्रह। दर्शनात्=देखे जाने से। न इति=ऐसा नहीं। चेत्=यदि कहो। न=नहीं। क्षीरवत्=क्षीर की भाँति।। ही=निश्चय से।

जगत् में मनुष्य जब कोई वस्तु बनाने लगता है तो उसे साधनों की आवश्यकता होती है। जैसे कुम्हार को चक्का और डण्डा इत्यादि। परमात्मा जब जगत् बनाता है तो उसे साधनों की आवश्यकता नहीं रहती। यदि कहो कि परमात्मा ने कौन-से चक्के पर जगत् निर्माण किया तो सूत्रकार कहता है कि यह प्रश्न ठीक नहीं। जैसे दूध से दही स्वयमेव बन जाती है अथवा माँ के स्तन से दूध स्वयं उतरने लगता है वैसे ही प्रकृति से रचना होने लगती है।

माँ के स्तन से दूध प्रेरणामात्र से टपकने लगता है। माँ जब अपने बच्चे को देखती है तो उसके स्तनों में दूध उमड़ पड़ता है। यही बात प्रकृति से जगत् के

बनने की है ।[1]

यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि माँ के स्तनों से दूध स्रवित होता है तो इस कारण कि माँ में चेतन तत्त्व जीवात्मा है । बच्चे को देखने से जीवात्मा प्रेरणा करता है । इसे संवेदना भी कहते हैं ।

इसी प्रकार प्रकृति में से रचना आरम्भ होती है क्योंकि परमब्रह्म मे चेतन तत्त्व परमात्मा भी है । उसकी प्रेरणा से रचना आरम्भ होती है ।

देवादिवदपि लोके ।।२५।।

देव+आदि+वत्+अपि+लोके ।

लोक में देवादि की भाँति भी (परमात्मा की प्रेरणा से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध है)।

देवादि से अभिप्राय है लोक में दिव्य शक्ति सम्पन्न व्यक्ति । कुछ लोग जो योगी कहे जाते हैं, वे ऐसी शक्ति के स्वामी माने जाते हैं । वे मात्र कल्पना मे कई कार्य सम्पन्न कर सकते हैं ।

महाभारत में कृष्ण द्वारा कई ऐसे चमत्कार किए गये बताए जाते हैं । जैसे वर्तमान युग में 'मैस्मेरिज़्म' करने वाले भी इसी श्रेणी में गिनाये जा सकते हैं। वे अपने सामने बैठे व्यक्ति से अपनी इच्छानुसार कार्य कराने की क्षमता रखते हैं।

अतः, सूत्रकार कहता है कि दिव्यगुण सम्पन्न व्यक्तियों से अथवा (मैस्मेरिज़्म जैसा अभ्यास किये) योगियों की भाँति परमात्मा भी बिना उपरकण अर्थात् साधनों के कार्य सम्पन्न करता है । परमात्मा महान् गुण सम्पन्न होने से ऐसा कर सकता है ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ।।२६।।

कृत्स्नप्रसक्तिः+निरवयवत्व+शब्दकोपः+वा ।

कृत्स्न प्रसक्तिः=पूर्ण का जगत् में परिवर्तित हो जाना । वा=अथवा । निरवयवत्व=निरवयव होना । शब्दकोपः=शास्त्र का विरोध । (होगा) ।

यह उन मत वालों पर आक्षेप है जो यह मानते हैं कि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है । कहा है कि या तो यह मानो कि सम्पूर्ण ब्रह्म कार्य-जगत् में

---

1. सां० द० ३-५९ में भी ऐसा ही कहा है ।

प्रसक्त हो जाता है अथवा यह मानो कि वह निरवयव है। पहली बात का विरोध होगा अथवा शास्त्र को दूसरी बात का विरोध होगा। शास्त्र में परमात्मा को निरवयव माना है।

शंकराचार्य इस प्रकार मानते हैं कि जगत् का उपादान कारण भी परमात्मा ही है। उक्त आक्षेप उनपर ही है। जगत् सीमित है। परमात्मा आकाशवत् असीम है। अतः जब परमात्मा उपादान कारण एतदर्थ जगत् में परिवर्तित होता है, तो वह सब स्थान पर परिवर्तित नहीं हो जाता। ऐसा मानने से परिवर्तित परमात्मा और अपरिवर्तित परमात्मा में सीमा बन जायेगी और परमात्मा अवयवी हो जायेगा। इससे शास्त्र का विरोध होगा। कारण यह कि शास्त्र में परमात्मा को निरवयव माना है।

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥

श्रुतेः+तु+शब्दमूलत्वात्।

तु=किन्तु। श्रुतेः=श्रुति ग्रन्थ के। शब्द मूलत्वात्=वेद मूल ग्रन्थ होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि श्रुतियों में, अर्थात् उन सब शास्त्रों में जिनको श्रुतिनाम से स्मरण किया जाता है, मूल ग्रन्थ तो वेद हैं और वेदों में पढ़कर देखें तो उक्त संशय नहीं रह जायेगा।

श्रुति ग्रन्थ तो ब्राह्मण और उपनिषद भी माने जाते हैं। सूत्रकार का मत है कि श्रुतियों में कुछ भी लिखा हो, ऐसा वेद में नहीं लिखा। कैसा नहीं लिखा? यह कि जगत् का उपादान कारण भी परमात्मा ही है।

हम परमात्मा और ब्रह्म को पृथक्-पृथक् अर्थों में लिख रहे हैं। ब्रह्म से हमारा अभिप्राय परमात्मा, जीवात्मा-समूह और प्रकृति, तीनों अजन्मा एवं अक्षरों के समूह से है जिसमे भ्रम न हो सके। हम परमात्मा के लिए ब्रह्म शब्द का अथवा प्रकृति और जीवात्मा के लिए ब्रह्म शब्द का प्रयोग नहीं कर रहे। उपनिषदादि ग्रन्थों में ब्रह्म इन तीनों में से एक के लिए, दो के लिए अथवा तीनों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

अतः किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न हो, हमने यह शैली स्वीकार की है। ब्रह्म तीनों के लिए प्रयुक्त होता है। इसका प्रमाण हम श्वेताश्वर (१-६, ७ तथा १-९) के उद्धरणों से दे चुके हैं।

इसी प्रकार श्रुति और वेद शब्दों में भी भ्रम उत्पन्न हो रहा है। श्रुति उन ग्रन्थों को कहा जाता है जो किसी ने कहे और किसी दूसरे ने सुने। वेदों के विषय

में भी यह परम्परा है कि अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा ऋषियों ने कहे और मनुष्यों ने सुनकर समझे। इस कारण इनको श्रुति कहते हैं। इसी प्रकार उपनिषद् ग्रन्थ भी कहने वाले के द्वारा कहलाये गये हैं और सुनने वाले ने सुने हैं। अतः ये भी श्रुति हैं। परन्तु वैदिक परम्परा यह है कि ईश्वरीय ज्ञान तो वेद ही है, उपनिषद् नहीं।

अतः आक्षेप करने वाले ने जब कहा कि या तो श्रुति असत्य सिद्ध हो जायेगी अथवा परमात्मा से ही सबकुछ उत्पन्न हुआ मानने वाले झूठे हो जायेंगे।

सूत्रकार ने इसका यह उत्तर दिया है कि जब आक्षेप करने वाले ने श्रुति का नाम लिया है तो उसको मानना होगा कि श्रुति ज्ञान का मूल वेद है। अतः यदि श्रुतियों में कुछ ऐसा कहा है जो वेद में नहीं, तो वेद माननीय हैं, श्रुति नहीं।

और वेदों में उक्त आक्षेप का समाधान है।

क्या समाधान है? वह यह कि जगत् में कारण तीन हैं। केवल परमात्मा नहीं। इसका प्रमाण सहित हम पूर्व उल्लेख कर चुके हैं। प्रकृति परिवर्तनशील अर्थात् परिणामी है। जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रकृति से बनते हैं।

प्रकृति अवयवी तो है, परन्तु यह सर्वत्र है। यह विभु नहीं है अर्थात् वह कणदार है। इसके परमाणु हैं। यह सर्वत्र तो है, परन्तु सर्वव्यापक नहीं है। इस कारण वह दोष जो परमात्मा को जगत् का कारण मानने पर दिखायी देता है, वह प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानने से नहीं है।

प्रायः भाष्यकारों ने इन दोनों सूत्रों का अर्थ अशुद्ध किया है।

शंकराचार्य लिखते हैं—

तुशब्देनाक्षेपं परिहरति। न खल्वस्मत्पक्षे कश्चिदपि दोषोऽस्ति। न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति। कुतः? श्रुतेः। यथैव हि ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिः श्रूयत, एवं विकारव्यतिरेकेणापि ब्रह्मणोऽवस्थानं श्रूयते, प्रकृतिविकारयोर्भेदेन व्यपदेशात्, 'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरणवाणि'। (छा० ६-३-२)

इसका अर्थ इस प्रकार है—तु शब्द से आक्षेप का परिहार करते हैं। हमारे सम्पूर्ण पक्ष में कोई भी दोष नहीं। उस जगत्-रचना में सम्पूर्ण ब्रह्म की प्रसक्ति नहीं, क्योंकि ऐसी श्रुति है। जिस प्रकार ब्रह्म से जगत्-उत्पत्ति सुनी जाती है, उसी प्रकार कार्य से भिन्न ब्रह्म की अवस्थिति सुनी जाती है। क्योंकि (छान्दो० ६-३-२ में) लिखा है—इत्यादि।

अभिप्राय यह कि श्री स्वामी शंकराचार्यजी ने आक्षेप को मान लिया है, परन्तु उसका उत्तर दिया है कि ऐसा श्रुति में लिखा है कि ब्रह्म जगत् में परिवर्तित भी होता है और परिवर्तित नहीं भी होता। अर्थात् परमात्मा का एक भाग जगत् में प्रसक्त होता है और एक भाग प्रसक्त नहीं होता।

यह उक्त आक्षेप का उत्तर नहीं। किसी भी ग्रन्थ को जो श्रुति है प्रमाण नहीं कहा जा सकता। प्रमाण वेद है।

आक्षेप करने वालों तथा जगत् का उपादान कारण परमात्मा को मानने वालों को सूत्रकार यह कहता है कि जगत् सीमित है। यदि परमात्मा ही बदलकर जगत् बना है तो असीम परमात्मा दो भागों मे बँट गया मानना होगा। दोनों भागों के बीच सीमा बन जाने से परमात्मा अवयवी हो जायेगा। यह शास्त्र विरुद्ध है। वहाँ परमात्मा को निरवयव कहा है। शास्त्र का अर्थ वेद है।

सूत्रकार ने ही कहा है कि मूल शब्द प्रमाण वेद है। उसमें ऐसा नहीं कहा कि जगत् का उपादान कारण परमात्मा है। उपादान कारण प्रकृति है जो परमाणुओं में है। अतः इसमें परिवर्तित होने से इसका अवयवी बन जाना दोष होगा।

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

आत्मनि + च + एवम् + विचित्राः + च + हि।

च = और। आत्मनि = परमात्मा में। एवं = ऐसी। विचित्राः = विचित्र अथवा विविध प्रकार की। च = और। हि = क्योंकि।

इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा में तो अनेक प्रकार की विचित्र शक्तियाँ हैं। वह जड़ प्रकृति से जगत् की रचना कर सकता है।

सूत्रार्थ तो है कि परमात्मा की शक्तियाँ अनेक प्रकार की हैं और वह रचने की सामर्थ्य रखता है। प्रकृति से रचने की समर्थ तो है ही; क्योंकि अपने को बदल-कर जगत् रचने में कुछ प्रयोजन भी नहीं। प्रकृति में परिवर्तन कर जगत् की रचना की जाती है जीवात्माओं के भोग के लिए। जीवात्मा को संसार का भोग करते हुए मोक्ष-मार्ग-निर्माण करना होता है।

स्वपक्षदोषाच्च ॥२९॥

च + स्वपक्ष + दोषात्।

और अपने पक्ष में दोष होने से।

अपने पक्ष का अभिप्राय है कि आक्षेप करने वाले का पक्ष।

आक्षेप करने वाले का पक्ष है कि परमात्मा ही जगत् है, जो दिखाई देता है। इसमें दोष यह है कि जब परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई हो ही नहीं तो दिखाई किसको देता है ? परमात्मा को भी भ्रम होता है क्या ? यह दोष है।

वस्तुस्थिति यह है कि परमात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं है।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥३०॥

सर्व+उपेता+च+तत्+दर्शनात्।

सर्वोपेता=सबसे उपेत (युक्त) है। च=और। तद्दर्शनात्=ऐसा देखे जाने से।

सर्वोपेता का अर्थ सबसे जुड़ा हुआ है। प्रकृति के प्रत्येक परमाणु से यह (परमात्मा) युक्त (व्याप्त) है और ऐसा देखा जाता है। कैसा देखा जाता है? कुछ लोग कहते हैं कि शास्त्र में लिखा देखा जाता है।

यह ठीक है कि शास्त्र में ऐसा लिखा है, परन्तु हमारा मत यह है कि हम जड़ जगत् में प्रत्येक कार्य को देखकर अनुमान लगाते हैं कि जगत् का रचने वाला प्रत्येक परमाणु से युक्त (व्याप्त) है। ऐसा मानना ही पड़ेगा, अन्यथा सृष्टि की रचना की कल्पना की ही नहीं जा सकती।

सांख्य मत है कि प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में तीन गुण हैं जो एक-दूसरे को सन्तुलित करते रहते हैं। इस अवस्था को गुणों की साम्यावस्था कहते हैं। गुणों में सन्तुलन टूटता है। गुणों के परस्पर सन्तुलन का प्रभाव बदलकर बाहर के परमाणुओं पर केन्द्रित हो जाता है। यह परमात्मा करता है। यह तब ही हो सकता है जबकि परमात्मा प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त हो। यदि परमात्मा को परमाणुओं से युक्त न मानें तो परमाणुओं में गुणों को संतुलन को भंग करने के लिए किसी करण (tool) की आवश्यकता होगी। ऐसा नहीं है।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥३१॥

विकरणत्वात्+न+इति+चेत्+तत्+उक्तम्।

विकरणत्वात्=करणों के बिगड़ जाने से। न=नहीं। इति चेत्=यदि यह कहो तो। तत्=वह। उक्तम्=कहा जा चुका है।

संशय करने वाला यह कहता है कि परमात्मा इन्द्रियों में कार्य करता कहा जाता है और वे बिगड़ जाती हैं। इस कारण परमात्मा नहीं है। सूत्रकार उत्तर देता है कि यदि यह कहो तो यह ऐसा नहीं। इसका कथन पहले हो चुका है।

क्या कहा जा चुका है? यही कि इन्द्रियों में वायु कार्य करता है। वायु (शक्ति) परमात्मा का लक्षण है, परमात्मा नहीं। जैसे अग्नि का लक्षण धुंआं है। धुआं अग्नि नहीं है। इस प्रकार इन्द्रियों में परमात्मा की शक्ति कार्य करती है। जब इन्द्रियां बिगड़ जाती हैं तो यह वायु कार्य नहीं कर रहा होता अथवा न्यून कार्य करने लगता है। इसका परमात्मा के होने-न-होने से सम्बन्ध नहीं। यह पहले बताया जा चुका है कि न तो इन्द्रियां परमात्मा हैं और न ही शक्ति परमात्मा है।

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥३२॥

न=नहीं। प्रयोजनवत्त्वात्=प्रयोजन वाला होने से (परमात्मा के)। न प्रयोजन वाला होने से (वह जगत्-रचना करने वाला नहीं हो सकता)।

परमात्मा को किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं। इस कारण इसका कोई उद्देश्य नहीं। अतः यह जगत् परमात्मा ने नहीं बनाया। यह अपने आप बना है। यह शंका है।

इसी सूत्र का एक अन्य अर्थ भी हो सकता है। प्र के अर्थ होते हैं प्रकर्षण (प्रकर्ष से) बलपूर्वक। योजनवत्त्वात्—योजनाबद्ध होने से। यह जगत् भली प्रकार विचारकर यत्न से परमात्मा क्यों सृजन करेगा? इस कारण जगत् परमात्मा ने नहीं बनाया।

दोनो अर्थों में भाव एक ही है। न तो परमात्मा का कोई सिद्ध योग्य कार्य था, जिसमें वह जगत् बनाता, न ही किसी प्रकार की योजना बनायी गयी होगी। कारण, योजना में कोई उद्देश्य होना चाहिए। यह पूर्व पक्ष का कथन है।

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥३३॥

लोकवत्+तु+लीला+कैवल्यम्।

लोक में माना जाने के समान, लीला मात्र कहा जा सकता है।

सामान्य भाषा में जगत्-रचना को लीला मात्र कहा जाता है। लीला का अर्थ मनोरंजनार्थ किया कार्य भी है और लीला का अर्थ अनायास किया काम भी है।

मनोरंजनार्थ माना जाये अथवा बिना प्रयोजन के माना जाये; यह पूर्व सूत्र (२-१-३२) के समर्थन में अर्थात् यह भी पूर्व पक्ष में है। परमात्मा को निरर्थक कहा जा रहा है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥३४॥

वैषम्य+नैर्घृण्ये+न+सापेक्षत्वात्+तथा+हि+दर्शयति।

वैषम्य=विषमता अर्थात् किसी के साथ एक प्रकार का और दूसरे के साथ दूसरी प्रकार का व्यवहार। नैर्घृण्ये=निर्दयता का। न=नहीं। सापेक्षत्वात्=अपेक्षा सहित होने से। तथा=और। हि=निश्चय से। दर्शयति=दिखाया गया है।

इस सूत्र में विशेष शब्द है सापेक्षत्वात्; अर्थात् अपेक्षा सहित होने से। अपेक्षा का अर्थ है क्रियाओं में अथवा वस्तुओं में रहने वाला स्वाभाविक सम्बन्ध।

परमात्मा में जहाँ विषमता नहीं, निर्दयता नहीं, वहाँ सापेक्षत्व भी नहीं है। रचित सृष्टि में किसी के साथ भेद-भाव बिना निर्दयता के बिना, स्वाभाविक सम्बन्धों को रखने वाला परमात्मा माना जाता है।

यह कहा है कि ऐसे परमात्मा की आवश्यकता ही क्या है? यह सूत्र भी पूर्व पक्ष में है।

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥३५॥

न + कर्म + अविभागात् + इति + चेत् + न + अनादित्वात्।

(शंका है) न कर्माविभागात् = नहीं, कर्म में अविभाग होने से। अर्थात् परमात्मा (जगत् रचने वाला) नहीं है। क्योंकि (रचना से पूर्व) कर्मों में (जीवों का परमात्मा से) अभेद था। अतः अर्थ बनते हैं कि सर्ग से पूर्व परमात्मा और जीवों में कर्मभेद नहीं था।

चेत् = यदि यह कहो तो। न = यह ठीक नहीं। (कारण यह कि) अनादि होने से।

यह आपत्ति की गयी है कि परमात्मा एक सार रहता है। यदि यह कहो तो नहीं। परमात्मा नहीं है। अनादि होने से।

यह सूत्र भी पूर्व पक्ष में कहा गया है। शंका यह की गयी है कि वह अनादि है। वह एक सार रहता है। ऐसे परमात्मा की आवश्यकता ही क्या है?

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥३६॥

उपपद्यते + च + अपि + उपलभ्यते + च।

उपपद्यते = युक्ति से सिद्ध। और उपलभ्यते = उपलब्ध होने अर्थात् प्रत्यक्ष देखने से। अपि = भी। च = और।

सूत्र के अन्त में 'च' का अभिप्राय है कि सूत्रकार अपनी पूर्व में (पूर्ण पाद में दी गयी) युक्तियों के समर्थन में कह रहा है।

वह पूर्व की सब शंकाओं के अन्त में कह रहा है कि युक्ति से और जैसे कि वस्तुस्थिति से स्पष्ट होता है, ये सब शंकायें निराधार हैं।

पूर्व में सूत्र संख्या ३२, ३३, ३४, ३५ में पूर्व पक्ष की ओर से शंकाएँ की गयी हैं। वे शंकाएँ इस प्रकार हैं—

(१) इस जगत् रचना में परमात्मा का कुछ भी अपना प्रयोजन नहीं।

(२) लोक मे कहा जाता है कि उसने यह जगत् मनोरंजन के लिए लीला-मात्र रचा है।

(३) परमात्मा निष्पक्ष माना जाता है। ऐसे परमात्मा की आवश्यकता कुछ नहीं।

(४) परमात्मा को एक सार माना जाता है। अनादि काल से ऐसा रहने का कुछ भी प्रयोजन नहीं।

इन सबका उत्तर सूत्रकार ने यह दिया है कि युक्ति से और वस्तु स्थिति मे परमात्मा का कार्य चलता है, जो पूर्ण पाद में वर्णित है। सूत्रकार कहता है कि —

(१) जगत् रचना का प्रयोजन है, जीवात्माओं को मोक्ष प्राप्ति का अवसर देना।

(२) जगत् रचना लीलावत् नहीं। यह प्रयोजन से है।

(३) ऋतों का पालन करने वाले की परमात्मा का प्रपच सहायता करता है। यह निष्पक्ष नहीं है।

(४) परमात्मा रचना करता है और फिर नियम से रचना विघटित होती है। वह एक सार है परन्तु कर्म एक सार नहीं।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥३७॥

सर्वधर्म+उपपत्तेः+च।

च—और। सर्वधर्मोपपत्तेः=सब धर्मों की उपस्थिति से।

सब पदार्थों के धर्मों की उपस्थिति से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि ब्रह्माण्ड में परमात्मा के अतिरिक्त अन्य भी हैं और प्रत्येक अपने-अपने धर्मों से पहचाना जाता है।

हमने पहले यह बताया है कि पदार्थ के धर्म व गुण होते हैं, जिनसे वह पदार्थ कर्म करता है। कुछ गुण ऐसे भी होते हैं जो कर्म करने में सक्षम नहीं होते। अतः वे गुण मात्र कहलाते हैं। जो गुण पदार्थ के कर्म में प्रकट होते हैं, वे धर्म कहलाते हैं।

अतः जगत् में सब उपस्थित पदार्थों को पहचाना जाता है, उनके धर्मों से।

परमात्मा का गुण=रचयिता उसका धर्म है। जीवात्मा का गुण भोक्ता उसका धर्म है। प्रकृति का जड़त्व इसका धर्म है।

इस सूत्र को इसी पाद के चतुर्थ सूत्र के साथ-साथ पढ़ें तो पूर्ण पाद का भावार्थ समझ में आ जायेगा।

द्वितीय पाद

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥१॥

रचना+अनुपपत्तेः+च+न+अनुमानम् ।

रचना=जगत् की रचना। अनुपपत्तेः=न उपपन्न हो सकने से। अर्थात् असिद्ध होने से। च=भी। न=नहीं। अनुमानम्=अनुमान से।

जगत् की रचना नहीं की जा सकती (प्रधान से)। अनुमान से भी नहीं (सिद्ध हो सकती)।

पूर्व के पादों में परमात्मा (चेतन) से जगत्-रचना की प्रक्रिया वर्णन की है। यहाँ प्रकृति से आरम्भ किया है। प्रकृति का गुण ईक्षण नहीं। यह जड़ है। जड़ उस पदार्थ को कहते हैं जिसमें अक्रियता (inertia) हो।

यह कहा गया है कि मूल प्रकृति (प्रधान) द्वारा जगत्-रचना की जानी असिद्ध है। यह अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध नहीं हो सकती।

जिसमें जड़त्व है अर्थात् जो अक्रिय है, उस द्वारा जगत् की उत्पत्ति असम्भव है। कहीं किसी अक्रिय पदार्थ को कुछ करते नहीं देखा गया। यदि प्रधान को हम जड़ मानें तो यह सृष्टि रचने वाला नहीं हो सकता।

अन्+उपपत्तेः=न उपपन्न होने से अर्थात् जगत् का रचने वाला प्रधान माना नहीं जा सकता। यह देखने में नहीं आता।

अनुमान प्रमाण से भी प्रधान जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकता। यहाँ हमने सूत्र का अर्थ करते हुए 'प्रधान' शब्द लगाया है। साथ ही अनुमान प्रमाण में 'निमित्त कारण' की बात लिख दी है। ये दोनों शब्द इस कारण हैं कि प्रधान को उपादान कारण हम इसी अध्याय के प्रथम पाद में सिद्ध कर चुके हैं। अतः यहाँ असिद्धि का अर्थ निमित्त कारण से ही है।

यह सूत्र नास्तिकों को चुनौती है। जो परमात्मा को जगत्-रचयिता नहीं मानते, उनके लिए ही यह लिखा है कि प्रकृति स्वतः रचना नहीं कर सकती।

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

प्रवृत्तेः+च (न)।

और प्रवृत्ति से भी (नहीं)।

'नहीं' पूर्व के सूत्र से लिया है। 'च' शब्द से इस सूत्र का उससे ही सम्बन्ध सिद्ध होता है।

किसी कार्य में प्रवृत्त होने को ही प्रवृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति किसी कार्य विशेष के लिए की जाने वाली विशिष्ट क्रिया का नाम है। यह जड़ पदार्थ में नहीं हो सकती। इसी कारण कहा है कि प्रवृत्ति के विचार से भी जगत्-रचना प्रकृति से नही है।

लोक में कोई ऐसा दृष्टान्त उपलब्ध नहीं, जहाँ जड़त्व में स्वतः क्रिया होती देखी गयी हो।

त्रैतवादी अर्थात् जो यह मानते हैं कि मूल पदार्थ तीन हैं, उनके लिए 'प्रवृत्ति जगत्-रचना में कारण नहीं' पद से, किसी प्रकार से संशय उत्पन्न नहीं होता। कारण यह कि वे निमित्त कारण और उपादान कारण में भेद मानते हैं, परन्तु जो प्रकृति को मूल तत्त्व मानते ही नहीं, उनके लिए इन दो सूत्रों के अर्थ लगाने में भारी कठिनाई अनुभव होगी। कारण यह कि इन सूत्रों से यह पता चलता है कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है, जिसके विषय में कहा जा रहा है कि वह जगत् का कारण नहीं है। यह मान लिया गया है कि वह है। तो वह क्या है, क्यों है और क्या करता है? इत्यादि प्रश्न उत्पन्न होने लगते हैं।

स्वामी शंकराचार्य परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ मानते नहीं। इस कारण इस सूत्र पर उनका भाष्य पढ़ने में अवश्य रुचिकर होना चाहिए। हम उसके कुछ अंश देते हैं। आप लिखते हैं—

आस्तां तावदियं रचना। तत्सिद्ध्यर्था या प्रवृत्तिः साम्यावस्थानात्प्रच्युतिः सत्त्वरजस्तमसामङ्गाङ्गिभावरूपापत्तिर्विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तिता, सापि नाचेतनस्य प्रधानस्य स्वतन्त्रस्योपपद्यते, मृदादिष्वदर्शनाद्रथादिषु च। नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः।

अर्थ है—इस विचित्र रचना को रहने दो। इसकी सिद्धि के लिए जो प्रधान की साम्यावस्था से प्रच्युति रूप प्रवृत्ति अर्थात् सत्त्व, रजः और तमः इन तीनों गुणों के अंगांगी भाव की आपत्ति (प्राप्ति रूप) विशेष कार्य के सम्पादन के लिए जो प्रचलित हैं, वह भी स्वतन्त्र अचेतन प्रधान की नहीं हो सकती; क्योंकि मृत्तिका आदि और रथ आदि में स्वतन्त्र प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। मृत्तिका आदि अथवा रथ आदि स्वयं अचेतन होते हुए चेतन कुलाल आदि अथवा अश्वादि से अनधिष्ठित

होकर विशिष्ट कार्य के अभिमुख प्रवृत्ति वाले नहीं देखे जाते और दृष्ट से अदृष्ट की सिद्धि होती है।

इसमें भाव यह है कि जड़ में प्रवृत्ति नहीं होती। इसका संसर्ग जब चेतन से होता है तो चेतन की प्रवृत्ति इसमें प्रकट होती है।

मिट्टी से घड़ा बनने में कुलाल की सहायता की आवश्यकता रहती है अथवा रथ में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए घोड़ों की आवश्यकता रहती है, यह स्वामीजी ने ठीक ही कहा है।

प्रधान में प्रवृत्ति नहीं है। इसमें प्रवृत्ति चेतन के कारण ही होती है और तब इससे रचना होती है।

इतना कहकर स्वामीजी को यह अनुभव हो गया प्रतीत होता है कि उन्होंने कुछ अपने ही विरुद्ध कह दिया है। अतः वहाँ एक भ्रमयुक्त पूर्व पक्ष उपस्थित कर भ्रमयुक्त ही उत्तर दे दिया। न तो पूर्व पक्ष में किसी प्रकार की युक्ति है और न ही उसके उत्तर में जो कुछ स्वामीजी ने लिखा, उसमें किसी प्रकार का तथ्य प्रतीत होता है।

आइये, देखें कि स्वामीजी पूर्व पक्ष क्या प्रस्तुत करते हैं और उसका उत्तर क्या देते हैं? पूर्व पक्ष यह है—

केवलाचेतनरथादिविलक्षण्यं जीवद्देहस्य दृष्टमिति। अत एव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनाद्देहस्यैव चैतन्यमपीति लोकायतिकाः प्रतिपन्नाः। तस्मादचेतनस्यैव प्रवृत्तिरिति।

परन्तु केवल अचेतन रथादि से जीव की देह में विलक्षणता देखे जाने से (रथ में प्रवृत्ति देखी जाती है) अतएव देह के प्रत्यक्ष होने पर चैतन्य दिखायी देता है और देह के प्रत्यक्ष न होने पर चैतन्य दिखाई नहीं देता। अतः देह ही चेतन है, यह लोकायतिक (नास्तिक) मानते हैं। अतः अचेतन की ही प्रवृत्ति है।

भाव यह है कि घोड़ा अथवा कुलाल भी जड़ है और इनकी देह में चेतनता आयी है। इस कारण जड़ ही चेतन है। बिना देह के चेतनता प्रकट नहीं होती।

यह लंगड़ी युक्ति है; परन्तु देखें कि स्वामीजी इसका क्या उत्तर देते हैं? स्वामीजी लिखते हैं कि चेतन देह में भी प्रवृत्ति तो उसमें उपस्थित जीवात्मा की है जो चेतन है, परन्तु इतना कहकर स्वामीजी अपने मत को भंग होते देख कहते हैं—

ननु तव देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत्—न, अयस्कान्तवद्रूपादिवच्च प्रवृत्तिरहितस्यापि प्रवर्तकत्वोपपत्तेः।

अर्थात्—ऐसा यदि कहो कि तुम्हारे मत में देहादि से संयुक्त भी आत्मा के विज्ञान स्वरूप मात्र से अतिरिक्त प्रवृत्ति की अनुपपत्ति होने से प्रवर्तकत्व अनुपपन्न है तो यह युक्ति नहीं; क्योंकि अयस्कान्तमणि (लोह चुम्बक) की प्रवृत्ति रहित और

रूपादि के समान वस्तु में भी प्रवर्तकत्व हो सकता है।

स्वामीजी के अपने ही मन में अपनी ही युक्ति से यह भय उत्पन्न हो गया है। वह स्वयं जीवात्मा को तो मानते नहीं। वह विज्ञान (बुद्धि) में परमात्मा के संयोग से चेतनता उत्पन्न हो जाती है, ऐसा मानते हैं। तो फिर घोड़े और कुलाल की अचेतनता मे चेतनता आ गयी, क्यों नहीं मानते ? स्वामीजी वही चुम्बक वाली बात करते हैं।

परन्तु वह यह नहीं समझे कि चुम्बक में ईक्षण नहीं आता। न ही चुम्बक लौह में ईक्षण उत्पन्न कर सकता है। हम बता चुके हैं कि ईक्षण का अर्थ है कि कर्म की दिशा, काल और निश्चय करने की सामर्थ्य।

कुलाल का उदाहरण लें। मिट्टी भी है, कुम्हार भी है। परन्तु उसमें घड़ा बनाने की इच्छा नही होती अथवा घड़े के अतिरिक्त सुराही बनाने की इच्छा होती है। यह तो कुम्हार निश्चय करता है। इस ईक्षण से ही घड़ा बनता है अथवा सुराही बनती है। यह बात चुम्बक में नहीं होती और न ही चुम्बक से लोहे में आती है।

चुम्बक में एक ही कार्य करने की शक्ति है। यह लौह कण को खींच लेता है। बस, और यह भी नहीं कि लौह कण खींचकर किसी दूसरी ओर जाने की बात बन जाये। निश्चित दिशा में ही जाने की बात होती है। यह चुम्बक का उदाहरण कुलाल अथवा घोड़े के कार्य का वर्णन नहीं कर सकता।

अतः जहाँ नास्तिक की युक्ति को तो स्वामीजी ने त्रैतवाद का आश्रय ले खण्डन कर दिया है, वहाँ अपने पक्ष को कि जीवात्मा नहीं है, असिद्ध कर दिया।

अतः सूत्रार्थ यह है कि जैसे प्रधान बिना चेतन (परमात्मा) के जगत्-रचना नहीं कर सकता, इसी प्रकार प्रधान में अपनी प्रवृत्ति से भी लोकरचना नहीं हो सकती।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥३॥

पयः + अम्बुवत् + चेत् + तत्र + अपि + (न)।

चेत् = यदि कहो। पयः = दूध। अम्बुवत् = जल की भाँति। तत्र + अपि = वहाँ भी (नहीं)।

पूर्व सूत्रवत् यहाँ भी न (नहीं) पूर्व के सूत्रों की पुनरावृत्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि माता के स्तनों से दूध बच्चे को देख स्वतः बहने लगता है। अथवा नदी, नालों में जल स्वतः बहता रहता है। इसी प्रकार प्रधान से स्वतः जगत् की रचना होती है।

ऐसा जड़वादी कहते हैं, परन्तु इनमें भी चेतन का सहयोग है। बिना माता में

जीवात्मा (चेतन तत्त्व) के विद्यमान हुए स्तनों से दूध नहीं स्रवित हो सकता। इसी प्रकार जगत्-रचना भी प्रधान से स्वतः नहीं हो सकती बिना चेतन (परमात्मा) के सहयोग से।

कैसे चेतन से जल का बहना और माँ के स्तन से दूध का बहना सम्भव होता है ? यह इस तरह कि माँ चेतन होती है और बच्चे के समीप होने अथवा बच्चे के दूध के लिए रोने का अनुभव माँ को होता है। तभी माँ के स्तनों से दूध स्रवित होने लगता है। स्त्री के शव के स्तनों से दूध नहीं बहता। न ही जल समतल स्थान पर बहता है। यह ऊँचाई से नीचे की ओर ही जाता है और जल ऊँचाई पर ले जाने के लिए ईश्वरीय शक्ति, जो सूर्य में है, की आवश्यकता पड़ती है। बिना ऊँचाई पर गये जल नीचे को बह नहीं सकता।

इसी कारण सूत्र में कहा है 'तत्रापि' (न) वहाँ भी यह प्रधान का कार्य नहीं। चेतन का सहयोग होता है।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

व्यतिरेक+अनवस्थितेः+च+अनपेक्षत्वाद्।

व्यतिरेक+अन्अवस्थितेः=उलट धर्म की न अवस्थिति में। अनपेक्षत्वात्= अन् अपेक्षा की स्थिति होने से। अर्थात् किसी चेतन के सहायता के बिना प्रधान कारण नहीं हो सकता।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रधान जड़ है और जड़ पदार्थों में हम देखते हैं कि वे एक अवस्था में ही रहते हैं। अर्थात् खड़े हैं तो खड़े ही रहते हैं। चलते हैं तो चलते ही रहते हैं, जब तक विपरीत शक्ति का प्रयोग न हो और शक्ति चेतन का प्रतीक है।

इसी सिद्धान्त का निरूपण सूत्रकार के सहस्रों वर्ष उपरान्त सर आइज़क न्यूटन ने सन् १६८७ में ('गति के नियमों' में) प्रकाशित किया था। गति का प्रथम नियम (1st-Law of Motion) इस प्रकार है—

"Every particle of matter continues in a state of rest or motion with constant speed in a straight line unless compelled by a force to change that state."

इसका अर्थ है कि प्रकृति का प्रत्येक कण स्थिर स्थिति में पड़ा रहता है अथवा एक ही गति से तथा एक ही दिशा में चलता रहता है, जब तक वह किसी विपरीत शक्ति से स्थिति बदलने के लिए विवश न हो जाये।

सूत्रकार भी यही बात कहता है कि विपरीत प्रवृत्ति में नहीं हो सकता जब

तक कि चेतन की अपेक्षा न हो।

नास्तिक कहते हैं कि प्रवृत्ति से रचना हुई है। तो इसके विपरीत कार्य (प्रलय) नहीं हो सकती जब तक किसी चेतन की अपेक्षा (प्रभाव) न मान लिया जाये।

प्रकृति एक ही दिशा में गतिमान अथवा अचल अवस्था में रह सकती है। यदि यह कार्य-जगत् का निर्माण करती है तो फिर विघटन नहीं कर सकती।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

अन्यत्र+अभावात्+च+न+तृण+आदिवत्।

अन्यत्र=दूसरे स्थान पर। अभावात्=अभाव मे। च=और। तृणादिवत् =तिनकों इत्यादि की भाँति। न=नहीं हो सकता।

घास से गाय में दूध बनता है। इसी प्रकार अभाव से कार्य-जगत् क्यों न माना जाये? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। तृणादि भी बिना चेतन (गाय) की सहायता के दूध में परिवर्तित नहीं हो सकते।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

अभ्युपगमे+अपि+अर्थ+अभावात्।

अभ्युपगमे=स्वीकार करने पर। अपि=भी। अर्थ अभावात्=प्रयोजन के अभाव से (प्रकृति जगत्-रचना का कारण नहीं हो सकती)।

अभिप्राय यह है कि प्रकृति जड़ होने से किसी प्रकार का प्रयोजन अपने कर्म में नहीं रख सकती। प्रयोजन चेतना के होने से ही बनता है। अतः यदि यह मानें कि अचेतन प्रधान जगत् की रचना करता है तो प्रश्न होगा कि क्यों? जब किसी कार्य में प्रयोजन नहीं तो वह कार्य भी नहीं होता।

ऊपर की युक्तियों से यह सिद्ध किया जा चुका था कि प्रधान सृष्टि-रचना नहीं कर सकता। अब यह कहा है कि यदि नास्तिकों का यह कहा मान भी लें तब भी प्रकृति में जगत्-निर्माण के लिए कोई प्रयोजन न होने से (जगत्-रचना) नहीं मानी जा सकती।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ।।७।।

पुरुष+अश्मवत्+इति+चेत्+तथा+अपि।

इति चेत्=यदि यह कहो। पुरुष+अश्मवत्=पुरुष भी चुम्बक लोहे की भाँति (है) तथापि=तो भी। यह (प्रधान) जगत् का बनाने वाला नहीं है।

पुरुष एक-दूसरे का आश्रय ले अपने किसी अभाव की पूर्ति कर लेते हैं। जैसे अंधा और लंगड़ा एक दूसरे का आश्रय लेकर यात्रा कर लेते हैं। लंगड़ा अंधे के कन्धे पर चढ़कर अंधे को मार्ग दिखाता हुआ यात्रा कर सकता है। इसी प्रकार प्रधान का एक अंग अपने अभाव की पूर्ति दूसरे का आश्रय लेकर कर लेता है और जगत्-रचना में सफल हो जाता है। सूत्रकार कहता है कि इसपर भी बिना किसी चेतन के सहयोग के न देखने वाला देख सकता है और न चलने वाला चल सकता है।

इसी प्रकार चुम्बक और लोह की बात है। चुम्बक आकर्षण तो करता है, परन्तु यह एक ही दिशा में करता है और फिर काल तथा विधि का निर्णय नहीं कर सकता। इसके लिए भी चुम्बक को लाने, उसे दिशा विशेष में रखने और लाने क. समय निश्चय करने में चेतन ही सक्षम है। चुम्बक स्वयं नहीं।

अतः, सूत्रकार कहता है कि यह युक्ति और उदाहरण भी प्रधान की रचना में कारण होने में सहायक नहीं।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ।।८।।

च+अङ्गित्व+अनुपपत्तेः।

और अङ्गित्व भाव के न सिद्ध होने से।

यह माना जाता है कि प्रकृति के परमाणुओं के तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रधान है। इनकी साम्यावस्था भंग होने से जगत् की रचना होती है। यह भंग स्वयं होना सिद्ध नहीं। इस कारण प्रधान जगत् का निमित्त कारण नहीं।

प्रश्न यह है कि परमाणुओं में तीनों गुणों की साम्यावस्था भंग कैसे होती है? क्या गुण न्यूनाधिक हो जाते हैं? यह हो नहीं सकता। अतः प्रकृति के विषय में कहा जा सकता है कि प्रधान जगत् की रचना कर नहीं सकता।

स्वामी शंकराचार्य ने सूत्र के अर्थ तो ठीक किये हैं, परन्तु सूत्र की विवेचना अशुद्ध है। यह सांख्य का ठीक ज्ञान न होने से ऐसा कहा गया है। प्रधान परमाणुमय है। प्रत्येक परमाणु में तीनों गुण परस्पर साम्यावस्था में होने से एक-दूसरे के प्रभाव को विलीन करते रहते हैं।

साम्यावस्था भंग होने के समय ये न्यूनाधिक नहीं होते, वरन् उन गुणों का प्रभाव परस्पर न रहकर पूर्व निर्दिष्ट (सू० २-१-१९ के भाष्य) के अनुसार बाहर की ओर हो जाता है। यह प्रभाव की दिशा बदलने से परमाणु में गुणों की साम्यावस्था भंग होती है।

साम्यावस्था भंग होती है, गुण भंग नहीं होते। गुण तो उसी मात्रा में रहते हैं। उनका आकर्षण-विकर्षण (attraction and repulsion) का प्रभाव परस्पर न रहकर बाहर दूसरे परमाणुओं के विपरीत गुणों पर होने लगता है; अतः द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि बनने लगते हैं।

सूत्र का भाव यह है कि यह 'अङ्गत्व' अर्थात् परमाणु के गुणों के प्रभाव में पृथकता होने से जगत् बनता अवश्य है, परन्तु इस प्रभाव को पृथक् करने वाला चेतन है। यह परमाणु स्वयं नहीं हो सकता।

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

अन्यथा+अनुमितौ+च+ज्ञशक्तिवियोगात्।

अन्यथा=अन्य प्रकार से। अनुमितौ=अनुमान करने पर। च=भी। ज्ञशक्तिवियोगात्=ज्ञान शक्ति के वियोग अर्थात् अभाव से।

पूर्व सूत्र में यह बताया गया है कि परमाणु के अंगों (गुणों) में साम्यावस्था भंग होने से सृष्टि आरम्भ होती है और उसे भंग करने वाली कोई चेतन शक्ति होनी चाहिए। वह चेतन शक्ति परमात्मा ही है।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि एक अन्य प्रकार से भी उसी परिणाम पर पहुँचा जा सकता है। अनीश्वरवादी अर्थात् जड़वादी यह मानते हैं कि प्रधान से सृष्टि की रचना हुई है और वे अनुमानों से इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि परमाणुओं में सत्त्व, रज, तम गुणों की साम्यावस्था भंग होने से रचना होती है। परन्तु यह रचना एक प्रकार से सुव्यवस्थित और हितकर काम कर रही है। अतः यह रचना किसी अज्ञानी द्वारा नहीं हो सकती। जब हम रचना किसी ज्ञानवान् के आश्रय से मानते हैं तो यह प्रधान, जो जड़ है, नहीं मान सकते। अतः ज्ञानवान् शक्ति के द्वारा इस जड़ प्रकृति में क्रिया होने से यह कार्य-जगत् बना है।

यह अनुमान कि प्रधान ही इस जगत् का निमित्त कारण है, असिद्ध है। क्योंकि वर्तमान जगत् का निर्माण ऐसी कुशलता से हुआ है कि बिना किसी ज्ञानवान् शक्ति के यह सम्भव नहीं होता।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है। उक्त युक्तियों के अतिरिक्त भी (प्रकृति में) ज्ञान का अभाव होने से (प्रकृति जगत्-रचना में कारण नहीं)।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

विप्रतिषेधात्+च+असमञ्जसम्।

विप्रतिषेधात्=परस्पर विरोध के होने से। च=भी। असमञ्जसम्=अयुक्तिसंगत है।

और परस्पर विरोध होने से असमञ्जस है।

असमञ्जस का अर्थ है अयुक्तिसंगत। परस्पर विरोध, किनमें ? परमात्मा में और कार्य-जगत् में। यह विरोध (मानने से) परमात्मा को जगत् का उपादान कारण मानने में असमंजस है। अर्थात् युक्तियुक्त नहीं। अथवा रचना और प्रलय में विरोध है। अतः प्रधान को रचना करने वाला मानें तो असमंजस होगा।

साथ ही यदि परमात्मा को सृष्टि का उपादान कारण मानें तो यह भी अयुक्तिसंगत होगा। परस्पर विरोध से (गुणों में विरोध से)।

इस प्रकार प्रधान से स्वतः सृष्टि-रचना मानें तो असमंजस है। प्रधान के जड़ होने से। इस प्रकार यह जगत् न तो प्रधान से स्वतः बना है और न ही परमात्मा इसका उपादान कारण है।

अतः यह मानना पड़ेगा कि जगत् का उपादान कारण विशिष्ट (मूल) गुणों में कार्य-जगत् के समान होना चाहिए। अतः प्रकृति कार्य-जगत् का उपादान कारण है; दोनों जड़ होने से समान हैं।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

महत्+दीर्घवत्+वा+ह्रस्व+परिमण्डलाभ्याम्।

महत् से दीर्घ की भाँति अथवा ह्रस्वमय परिमण्डलों से।

इससे क्या ? सृष्टि-रचना होती है।

महत् से दीर्घ बनते हैं, जब परमाणु के गुणों की दिशा बदलती है। जब ये परस्पर निःशेष करने के स्थान बहिर्मुख हो जाते हैं, तब परमाणु परस्पर आकर्षण करते हैं और निबन्धन बन जाते हैं। पहले तीन प्रकार के निबन्धन बनते हैं। तदनन्तर इन निबन्धनों से जिन्हें आपः कहते हैं परिमण्डल बन जाते हैं। यही यहाँ कहा है कि गुणों के बहिर्मुख होने पर आकर्षण से बृहत् वृहत परमाणु इकट्ठे हो जाते । इनको आपः कहते हैं (ऋ० १-१६८-३) वैसे ही ह्रस्व—छोटे-छोटे निबन्धनों से परिमण्डल (atom) बन जाते हैं।*

महत् से दीर्घ की भाँति अथवा ह्रस्व आदि से।

---

* विस्तृत विवेचना के लिए पढ़ें लेखक का सांख्य दर्शन सरल सुबोध भाषा-भाष्य.

इसका अभिप्राय यह है कि जैसे ह्रस्व महत् से दीर्घ परमाणुओं के निबन्धन बनते हैं, वैसे ही ह्रस्व निबन्धनों से परिमण्डल बनते हैं।

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

उभयथा+अपि+न+कर्म+अतः+तत्+अभावः।

उभयथा=दोनों प्रकार से। अपि=भी। न=नहीं। कर्म=क्रिया। अतः =इसलिए। तत् अभावः=उसका अभाव।

अभिप्राय यह है कि दोनों प्रकार से अर्थात् महत् से दीर्घ तक और ह्रस्वों से परिमण्डलों तक परिवर्तन होने में भी कर्म नहीं हो सकता। अतः उस (कर्म) का अभाव है।

यहाँ कर्म से अभिप्रायः सृष्टि-रचना तथा प्राणी की रचना से है।

सूत्रकार का अभिप्राय है द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि बनने से और ह्रस्व के परिमण्डल बनने से भी कर्म नहीं होता। अर्थात् सृष्टि की रचना नहीं होती और प्राणी नहीं बनते।

यदि आजकल की वैज्ञानिक भाषा में लिखें तो उक्त सूत्र का अर्थ बनता है—आदि प्रकृति (primordial matter) से परिमण्डल (atoms) के बनने तक कर्म नहीं होता और (प्राणी) सृष्टि नहीं होती।

प्राणी सृष्टि कब होती है? सूत्रकार अगले सूत्र में वर्णन करता है।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

समवाय+अभि+उपगमात्+च+साम्यात्+अनवस्थितेः।

समवाय=सम्पर्क। अभ्युपगमात्=समीप आ जाने से। च=और। साम्यात्=समान होने से। अनवस्थितेः=अव्यवस्थित हो जाने से।

समवाय का अभिप्राय है सम्पर्क हो जाने से। कैसे सम्पर्क होता है? अभ्युपगमात् का अर्थ है समीप आ जाने से।

किनके समीप आ जाने से और किनका सम्पर्क हो जाने से? साम्यात् का अर्थ है समान होने से। अर्थात् दो समान स्थिति के पदार्थों के सम्पर्क में आने से उनमें अव्यवस्था अर्थात् अवस्था में भेद आ जाता है। अव्यवस्था का अभिप्राय है पूर्व अवस्था भंग हो जाना। आशय यह है कि वह प्रक्रिया जो प्रकृति से परिमण्डलों

तक हुई थी, वह समाप्त हुई और नयी प्रक्रिया आरम्भ हुई। वह यह कि समान पदार्थ समवाय (सम्पर्क) में आये जिनकी ओर पूर्व सूत्र में संकेत किया गया है।

पूर्व सूत्र में यह लिखा था कि महत् से दीर्घों के बनने पर भी और ह्रस्वों से परिमण्डल बनने पर भी कर्म अर्थात् सृष्टि-रचना नहीं होती। अब इस सूत्र में लिखा है कि सृष्टि-रचना तब होती है जब दो समान स्थिति के पदार्थ सम्पर्क में आते हैं।

दो समान स्थिति के पदार्थ हैं जीवात्मा और प्रकृति। दोनों को परमात्मा से हेय वर्णन किया है। यद्यपि दोनों परस्पर समान नहीं, इस पर भी परमात्मा से गुणों में दोनों निम्न हैं। जीवात्मा और प्रकृति जब सम्पर्क में आते हैं तो सृष्टि की रचना होने लगती है।

इस सूत्र का यह भी अर्थ बनता है कि महत् से परिमण्डल तक बनने में सृष्टि रचना नहीं होती। रचना तो परिमण्डल (atom) बनने के उपरान्त ही आरम्भ होती है।

वर्तमान विज्ञान भी यह मानता है कि ऐटम ही वे इकाइयां हैं जिनसे सृष्टि के सब पदार्थ बनते हैं। परिमण्डल से ऐटम का ही अभिप्राय: है। ऐटम में परि-मण्डलीय गति देखी जाती है।

इस सूत्र में 'च' पूर्व के सूत्र से सम्बन्ध बताने के लिए है। इन दोनों सूत्रों से यह अभिप्राय प्रकट होता है कि प्रकृति के परिवर्तनों से प्राणी की सृष्टि नहीं होती। यह सृष्टि तब होती है जब इस परिवर्तित हो रही प्रकृति से जीवात्मा सम्पर्क में आते हैं।

स्वामी शंकराचार्य कर्म का अर्थ मानते हैं। परमाणुओं का संयोग-वियोग और वह समझते हैं कि यह संयोग-वियोग नहीं हो सकता जब तक कि परमाणुओं की समीप आकर सम्पर्क बनाने की स्थिति न हो।

यह भी ठीक है, परन्तु कर्म में यदि परमाणुओं का संयोग-वियोग ही लें तो वह तो महत् से दीर्घ बनने के समय भी होते हैं। परन्तु उसे कर्म नहीं माना। अतएव कर्म से अभिप्राय सृष्टि-उत्पत्ति में एक से अधिक का सम्पर्क में आना होता है।

नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

नित्यम्+एव+च+भावात्।

नित्यम्=सदा। एव=ही। च=और। भावात्=होने से।

पूर्व सूत्र में लिखा है कि सृष्टि की रचना होती है (अव्यवस्थितेः) अव्यवस्था की स्थिति होने से।

हम पहले कह आये हैं कि रचना से पूर्व की स्थिति से दूसरी स्थिति होने का नाम अव्यवस्था है। ऐसा क्यों होता है? यह इस सूत्र में लिखा है कि सदा रहने वाली स्थिति में होने से कर्म नहीं होता। यदि जीवात्मा और प्रकृति जिन्हें परस्पर सम्पर्क में आना है, अपनी नित्य की अर्थात् स्वाभाविक स्थिति में रहें तो कर्म (सृष्टि-रचना) के होने की सम्भावना नहीं होती। तब तो जैसा (कारण रूप) था, वैसा ही रहेगा। अतः सम्पर्क होने से और स्थिति बदलने से सृष्टि होती है।

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

रूपादिमत्त्वात्+च+विपर्ययः+दर्शनात्।

रूपादि गुणों वाला होने से और उल्टे व्यवहार के दिखायी देने से।

सृष्टि में सम्पर्क न बनने से रचना नहीं होती। स्थिति में परिवर्तन होता है। स्थिति को नित्य नहीं माना जा सकता। स्थिति क्यों नित्य नहीं? उसका कारण इस सूत्र में बताया है।

रूपादि वाले सब पदार्थ उलटते अर्थात् बनते और विगड़ते दिखायी देते हैं। सृष्टि अव्यक्त से नहीं हुई। यह तब हुई जब परिमण्डल बन गये और परिमण्डल रूपादि गुणों वाले होते हैं। इससे उलट परिवर्तन भी होते हैं। रूपादि बने हैं और बनी स्थिति उलट अर्थात् विनष्ट भी होती है। फलतः स्थिति बदलती रहती है। इसी से सृष्टि सम्भव है।

यहाँ भी सृष्टि से प्राणियों की रचना का ही अभिप्राय है। परन्तु स्वामी शंकराचार्य यहाँ भी अपने पूर्वग्रहों में फँसे हुए वैशेषिक-दर्शन की निन्दा करने से नहीं चूके। वास्तव में कणाद के वैशेषिक-दर्शन की मूल बात को न स्वीकार कर उस पर टीका-टिप्पणी करने का यह एक मिथ्या प्रयास है। इस पर भी स्वामीजी ऐसा करते हैं।

वैशेषिक-दर्शन सृष्टि क्रम में उस भाग की विवेचना करता है जो विशेषों से सम्बद्ध है। परमाणु तो प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को कहते हैं। वैशेषिक में वर्णित विशेषों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण को परमाणु नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि सृष्टि-रचना की जिस अवस्था से वैशेषिक का आचार्य आरम्भ करता है, वह परिमण्डल की स्थिति है।

यह नहीं कि वह परिमण्डल से पूर्व की स्थिति मानता ही नहीं। वह मानता है, परन्तु उसका सामान्य रूप में वर्णन कर वह विशेषों का ही वर्णन करता है।

देखिये, स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र के भाष्य में क्या लिखते हैं—

सावयवानां द्रव्याणामवयवशो विभज्यमानानां यतः परो विभागो न संभवति ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव। यतो रूपादिमत्त्वात्परमाणुनामणुत्वनित्यत्वविपर्ययः प्रसज्येत।

(क्रम से) विभज्यमान सावयव द्रव्यों का जहाँ से आगे विभाग नहीं हो सकता, वे चार प्रकार के रूपादि युक्त परमाणु रूपादि विशिष्ट चार प्रकार के भूत और भौतिक के आरम्भक हैं और नित्य हैं, ऐसा वैशेषिक स्वीकार करते हैं। उनका ऐसा स्वीकार करना निरालम्बन व निराधार है; क्योंकि रूपादि विशिष्ट होने से परमाणुओं को अणुत्व और नित्यत्व के विपर्यय (स्थूलत्व) और अनित्यत्व) की प्रसक्ति होगी।

जहाँ तक इस बात का सम्बन्ध है कि रूपादि वाले पदार्थ नित्य नहीं होते, ठीक है, परन्तु परमाणु रूप वाले हैं और चार रूपों वाले हैं, यह बात स्वामीजी ने कहाँ से लाकर यहाँ डाल दी है, कहा नहीं जा सकता।

जो आपने उक्त भाष्य के प्रमाण में उद्धरण दिये, उनसे यह अर्थ नहीं निकलते। आपने वैशेषिक सूत्र (४-१-१, ५, १४) का प्रमाण दिया है। हम इन प्रमाणों को तथा इस अध्याय के पूर्ण आह्निक (४-१) को ही यहाँ लिख देना चाहते हैं जिससे सर्वथा स्पष्ट हो जाए कि महर्षि कणाद ने वह कुछ नहीं लिखा, जिसे स्वामीजी उनके नाम से प्रसिद्ध कर रहे हैं।

देखिए वैशेषिक सूत्र चतुर्थ अध्याय प्रथम आह्निक इस प्रकार आरम्भ होता है—

सदकारणवन्नित्यम् ॥ (वै० द० ४-१-१)

सत्+अकारणवत्+नित्यम्।

सत् (प्रकृति) अकारण पदार्थों की भाँति नित्य है। अकारण पदार्थ तीन हैं—परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। सत् (प्रकृति) भी अन्य दोनों की तरह नित्य है।

वास्तव में स्वामी शंकराचार्य का इसमें मतभेद हैं, परन्तु अपने पूर्ण वेदान्त भाष्य में वह इसके विपरीत कुछ भी प्रमाण नहीं दे सके और अपनी असिद्ध स्थिति को सिद्ध करने के लिए वह जो कुछ लिख रहे हैं, उसका अस्तित्व ही नहीं।

इस सूत्र में प्रकृति को लिखा है कि वह सत् है और परमात्मा जीवात्मा की भाँति नित्य है। ऐसा अन्य शास्त्रों में भी लिखा गया है। श्वेताश्वतर (१-६, १० १२) और (४-५) में भी लिखा है।

दूसरा सूत्र है—

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥ (वै० द० ४-१-२)

सत् प्रकृति का लिङ्ग कार्य-जगत् है।

'असत् से सत् नहीं होता' यह उपनिषद् वाक्य है, अर्थात् जगत् का अस्तित्व है। अतः इसका कारण भी सत् है।

सत् का लिंग (लक्षण) है कार्य-जगत्। लिंग का अभिप्राय हम बता चुके हैं। जैसे धुआँ अग्नि का लिंग है; इसी प्रकार कार्य-जगत् प्रकृति का लिंग है। कार्य-जगत् को देखकर हम प्रकृति के होने का अनुमान लगाते हैं।

इसमें भी परमाणु चार रूप वाले हैं, कहीं नहीं लिखा।

अगला सूत्र है—

कारणाभावात् कार्याभावः ॥ (वै० द० ४-१-३)

कारण के न होने से कार्य भी नहीं हो सकता।

कारण का अभाव मानोगे तो कार्य का भी अभाव होगा, अर्थात् कार्य है तो कारण भी है। यह बात उपनिषद् में भी लिखी है कि 'असत् से सत् नहीं हो सकता।' इसमें भी परमाणु चार रूप वाले हैं, नहीं लिखा।

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ (वै० द० ४-१-४)

अनित्य + इति + विशेषतः + प्रतिशेधभावः।

अनित्य = अनित्य होने से। इति = यह। विशेषतः = विशेष रूप से। प्रति-षेधभावः = खण्डन हो गया।

जगत् को हम अनित्य (टूट-फूट जाने वाला) देखते हैं। इससे जगत् का नित्य होना असिद्ध होगा।

प्रकृति → महत् → अहंकार → [इन्द्रियाँ और मन; सूक्ष्मभूत तन्मात्राएँ } स्थूलभूत]

स्थूलभूत, इन्द्रियाँ } शरीर; शरीर, जीवात्मा } प्राणी

प्रकृति, महत् और अहंकार तो अविशेष कहलाते हैं। सृष्टि-रचना में इसके उपरान्त विशेष कहलाते हैं, अर्थात् मन, इन्द्रियाँ, पंच महाभूत और प्राणी विशेष हैं। ये विशेष अनित्य हैं।

यहाँ भी परमाणु चार प्रकार के वर्णित नहीं हैं। अगला सूत्र है—

अविद्या ॥ (वै० द० ४-१-५)

जो अनित्य है वह अविद्या है। अविद्या का अर्थ है जो सदा विद्यमान नहीं रहता।

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः ॥ (वै० द० ४-१-६)

महति + अनेक + द्रव्यत्वात् + रूपात् + च + उपलब्धिः।

और महत् से अनेक द्रव्यों के रूपों की उपलब्धि होती है।

अभिप्राय यह कि महत् से जो अनेक द्रव्य उत्पन्न होते हैं, उनमें द्रव्यत्व आने पर रूप भी उत्पन्न हो जाता है।

स्पष्ट है कि रूपादि गुण विशेषों में उत्पन्न होते हैं, महदादि में नहीं। परमाणुओं से रूप उत्पन्न नहीं होते।

इनकी पुष्टि निम्न सूत्र में कर दी गयी है—

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥

(वै० द० ४-१-७)

सति + अपि + द्रव्यत्वे + महत्त्वे + रूपसंस्कार + अभावात् + वायोः + अनुपलब्धिः।

महत्त्वे = महत् में से उत्पन्न परिणाम स्वरूप। सति = होने वाला। द्रव्यत्व = द्रव्यपन। अपि = भी। रूप संस्कार अभावात् = रूप और संस्कार न रखने से। वायोः + अनुपलब्धिः = वायु की अनुपलब्धि (अनुपस्थिति) प्रकट करती है।

इसका अर्थ है कि महत् में से होने वाले द्रव्यत्व में वायु न होने से रूप संस्कार नहीं होते।

अर्थात्—महत् से उत्पन्न होने वाले हैं अहंकार। अहंकार का भी रूप और संस्कार नहीं होता। संस्कार का अभिप्राय है पदार्थ के व्यक्त होने की स्थिति। यह इस कारण कि इनमें वायु का अभाव होता है। वायु वह शक्ति है जिससे गति उत्पन्न होती है। अहंकार में गति न होने से द्रव्यत्व में रूप और संस्कार (इन्द्रियों के विषय) नहीं होते।

वायु कब आता है? जब अहंकार परस्पर के आकर्षण-विकर्षण से परिमण्डल के रूप में आते हैं तब वैकारी और भूतादि अहंकारों के चारों ओर तेजस् अहंकार चक्कर काटने लगते हैं। यह इनमें वायु के संचार से होता है और गति के कारण रूप, रंग उत्पन्न होने लगते हैं।

अगले सूत्र में लिखा है—

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥

(वै० द० ४-१-८)

अनेक + द्रव्य + समवायात् + रूपविशेषाच्च + रूपोपलब्धिः।

अनेक द्रव्यों के संयोग (सम्पर्क) से रूप-विशेष होते हैं और उनका ज्ञान होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि महत् से अनेक द्रव्य उत्पन्न होते हैं। अविशेषों में वायु के अभाव से रूप उत्पन्न नहीं होता। रूप उत्पन्न तब होता है जब वायु के कारण उनमें गति होने लगती है और उनमें संयोग होता है। रूप से ही वे विशेष कहलाते हैं।

अगला सूत्र है—

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥　(वै० द० ४-१-९)

तेन—उससे अर्थात् वायु और गति से, रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान होने लगता है, ऐसा व्याख्यान किया (कहा) गया है।

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ (वै० द० ४-१-१०)

तस्य+अभावात्+अव्यभिचारः।

उसके अभाव से (अव्यभिचारः) दोष नहीं।

अभिप्राय यह है कि उस वायु एवं गति के अभाव में दोष नहीं। क्या दोष नहीं? अभिप्राय यह कि पदार्थ बनेंगे ही नहीं। परिमण्डल बनते ही नहीं। रूप एवं संस्कार उत्पन्न नहीं होते।

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागोपरत्वापरत्वे कर्म च रूप द्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ॥ (वै० द० ४-१-११)

संख्या+परिमाणानि+पृथक्त्वं+संयोगविभागौ+परत्वापरत्वे+कर्म+च+रूप+द्रव्यसमवायात्+चाक्षुषाणि।

संख्या और परिणाम, संयोग और विभाग (पृथक्-पृथक् होना), दूर होना अथवा समीप होना और कर्म (व्यवहार) और रूप का द्रव्य में संयोग नेत्रों को दिखायी देने लगता है।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥ (वै० द० ४-१-१२)

अरूपिषु+अचाक्षुषाणि।

जिनका रूप नहीं होता, वे इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। और यह इस आह्निक का अन्तिम सूत्र है।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ (वै० द० ४-१-१३)

एतेन+गुणत्वे+च+भावे+सर्वेन्द्रियम्+ज्ञानम्+व्याख्यातम्।

इससे गुणत्व और भाव में सब इन्द्रियों से ज्ञान होना कहा गया है।

वैशेषिक सूत्रों के इस पूर्ण आह्निक को देने का अभिप्राय यह है कि यह दिखाया जाये कि वैशेषिक दर्शन के इस प्रसंग में परमाणु को रूप इत्यादि वाला कहीं भी नहीं कहा गया।

रूपादि उत्पन्न तब होता है जब महत् से अनेक परिणाम बनकर, वायु से उनमें गति उत्पन्न होकर परिमण्डल बन जाते हैं। इससे पूर्व नहीं। परिमण्डलों की संख्या और संयोग-वियोग से रूप, रस और गन्ध इत्यादि इन्द्रिय के विषय उत्पन्न होते हैं।

परन्तु परमाणु जो मूल प्रकृति के अंश हैं, वे तो रूपादि से पृथक् होते हैं, गति हीन होते हैं और इन्द्रिय-गोचर नहीं होते। उन्हें अव्यक्त कहते हैं।

स्वामीजी अपने भाष्य में लिखते हैं कि वैशेषिक सूत्रों में कणाद का मत है—

...ते चतुर्विधा रूपादिमन्तः परमाणवश्चतुर्विधस्य रूपादिमतो भूतभौतिकस्यारम्भका नित्याश्चेति यद्वैशेषिका अभ्युपगच्छन्ति स तेषामभ्युपगमो निरालम्बन एव।

(अर्थ हमने ऊपर दे दिए हैं) भावार्थ यह है कि वे जिनका आगे विभाजन नहीं हो सकता, ऐसे परमाणु रूपादि के विचार से चार प्रकार के वैशेषिक वाले मानते हैं। यह कथन निराधार है।

हमारा कहना है कि यह बात वैशेषिक-दर्शन में मानी ही नहीं गयी।

किसी ने अपने को वैशेषिक का विद्वान् मान कुछ ऐसा लिखा हो तो हम नहीं जानते। हम तो कणाद ऋषि के वैशेषिक-दर्शन की बात ही कह रहे हैं। स्वामीजी भी कणाद ऋषि के वैशेषिक सूत्र का ही प्रमाण देते हैं।

हमने वैशेषिक-दर्शन के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक का अर्थ और भाव बता दिया है। वहाँ कहीं भी परमाणु को रूप वाला नहीं बताया और न ही चार प्रकार के परमाणु बताये गये हैं।

अतः हमारा यह मत है कि वेदान्त-दर्शन २-२-१५ का अर्थ इस प्रकार ही बनता है—

रूपादि वाले सब द्रव्य बनते और विगड़ते दिखायी देते हैं। यह 'विशेषों' के विषय में ही लिखा है।

उभयथा च दोषात् ॥१६॥

उभयथा+च+दोषात्।

च=और। उभयथा=दोनों प्रकार के कार्य अर्थात् संयोग और वियोग। दोषात्=दोष से (उत्पन्न होते हैं)।

दोष क्या है? द्रव्यों के सत्त्व, रजस् और तमस् के अविशिष्ट अंश के रह जाने से जो आकर्षण-विकर्षण होता है, वे ही संयोग-वियोग में कारण होते हैं। यही सब हलचल उत्पन्न करते हैं। अतः इनको ही दोष कहा जाता है।

यहाँ हम इस सूत्र पर श्री उदयवीर शास्त्री का भाष्य उद्धृत कर दें तो ठीक रहेगा। आप इस सूत्र का अर्थ और भाष्य इस प्रकार करते हैं—

उभयथा=दोनों प्रकार। च=और। दोषात्=दोष से। तथा दोनों प्रकार दोष से परमाणु नित्य नहीं हैं।

इसी भाष्य में शास्त्रीजी आगे चलकर लिखते हैं—

"तात्पर्य यह कि चार गुणों वाला पृथ्वी परमाणु न्यून गुण वाला जलादि परमाणुओं से स्थूल होना चाहिए। तीन गुण वाला जल का परमाणु उससे सूक्ष्म,

दो गुण वाला तेजस् परमाणु सूक्ष्मतर और एक गुण वाला वायवीय परमाणु सूक्ष्मतम होना चाहिए। परमाणुओं की ऐसी ही अवस्था उनकी नित्यता में बाधक है।"

'पृथिवी' के सूक्ष्मतम कण को परमाणु नहीं, अणु कहते हैं। इसी प्रकार जल, अग्नि आदि की बात है। शास्त्रीजी ने स्वयं अपने सांख्य सिद्धान्त में स्वीकार किया है कि मूल प्रकृति के त्रिगुणात्मक संयोग वाले परमाणु हैं। कारण यह कि उससे अधिक सूक्ष्म टुकड़ा हो नहीं सकता।

वैशेषिक में जहाँ कहीं पृथिवी आदि के सूक्ष्मतम कणों का उल्लेख है वहाँ परिमण्डल से ही अभिप्राय है। हमने वै० द० चतुर्थ अध्याय के पूर्ण प्रथम आह्निक का अर्थ बताया है। यह इसी कारण है कि वहाँ रूप, रस और गन्ध वाले द्रव्यों के परमाणु नहीं माने गये।

श्री शास्त्रीजी को बताना चाहिए था कि वह सांख्य परमाणु के विषय में नहीं लिख रहे और वह परमाणु किस प्रमाण से और किस रूप में मानते हैं। अंग्रेजी भाषा के 'ऐटम' को भी अब परमाणु नहीं लिखा जाता। उसे या तो अणु लिखते हैं अथवा रासायनिक परमाणु लिखते हैं। शास्त्रीजी का भाव कदाचित् पृथिवी, जल इत्यादि के सूक्ष्मतम कणों से है। परन्तु यह भेद आपने प्रकट नहीं किया। यही बात स्वामी शंकराचार्य कर रहे हैं और इसी कारण स्वामीजी वैशेषिक सूत्रों को न समझते हुए कणाद महर्षि की हँसी उड़ा रहे हैं।

यहाँ हम बता देना चाहते हैं कि वैशेषिक दर्शन में पृथिवी, जल, अग्नि इत्यादि के परमाणुओं का उल्लेख कहीं नहीं। यदि यह कहा जाये तो और भी ठीक होगा कि पूर्ण वैशेषिक दर्शन में परमाणु शब्द आया ही नहीं। अणु शब्द अवश्य कई स्थानों पर आया है।

श्रीस्वामी शंकराचार्य और उनकी परिपाटी के विद्वान् पृथिवी आदि के परमाणु शब्द का प्रयोग अपने मन से कर रहे हैं।

हमारा यह निश्चित मत है कि न तो सांख्य में और न ही वैशेषिक में पृथिवी आदि के परमाणुओं का उल्लेख है। इनके परमाणु नहीं होते। परमाणु तो प्रकृति के ही होते हैं और प्रत्येक परमाणु त्रिगुणात्मक है।

आश्चर्य इस बात का है कि विद्वद्वर श्री उदयवीर शास्त्री ने परमाणुओं की अनित्यता कैसे मान ली है?

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

अपरिग्रहात्+च+अत्यन्तम्+अनपेक्षा।

च=और। अपरिग्रहात्=अस्वीकार करने से। अत्यन्तम्=अत्यन्त। अनपेक्षा=अपेक्षा नहीं।

न स्वीकार करने से। क्या न स्वीकार करने से ? यही इस सूत्र की कुंजी है। कुछ ऊपर कहा गया है, उसे स्वीकार न करने से यही सिद्ध होता है। ऊपर क्या कहा गया है ? ऊपर कहा गया है कि रूपादि वाले पदार्थ बनते-बिगड़ते हैं और रूपादि न रखने वाले पदार्थ अव्यक्त हैं। वे बनते-बिगड़ते नहीं।

और इस बात को जो महानुभाव स्वीकार नहीं करते, वे अत्यन्त अनपेक्षित हैं; अर्थात् उनसे यह आशा नहीं की जानी चाहिए। अतः स्वीकरणीय नहीं है।

इस सूत्र को कुछ भाष्यकारों ने सिद्धान्त पक्ष बताया है और पूर्व के कुछ एक सूत्रों को पूर्व पक्ष मान लिया है। इसका कोई संकेत नहीं और ऐसा मानने मे कोई कारण नहीं। सूत्रों का अशुद्ध अर्थ लगाकर उनको पूर्व पक्ष में धकेल देना युक्तिसंगत नहीं।

समुदाये उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

समुदाये+उभय+हेतुके+अपि+तत्+अप्राप्ति।

उभय=दो प्रकार से। समुदाये=समागम और वियोग (जैसा कि ब्रह्मसूत्र २-२-१६ में वर्णन किया है) हेतुके=हेतु में। तत्=उसकी। अप्राप्ति=प्राप्ति सिद्ध नहीं होती।

परिमण्डलों में संयोग और वियोग दोनों में हेतु की सिद्धि नहीं होती। इनमें क्या हेतु है ? इनका हेतु नहीं हो सकता। कारण यह है कि परिमण्डल संयुक्त होते हैं अथवा उन संयोगों में विभाग होते हैं। इनमें उनका किसी प्रकार का हेतु नहीं होता। वे जड़ होने से हेतुरहित हैं।

वर्तमान सूत्र का भाष्य इस प्रकार है—

परिमण्डलों के समुदायों में दो प्रकार के व्यवहार (संयोग तथा वियोग के) किसी भी हेतु से नहीं हैं। हेतु सिद्ध नहीं होता।

हेतु परिमण्डलों (atoms) में नहीं। हेतु है उन जीवात्माओं को भोग प्राप्त कराना जिनके लिए यह प्रकृति है।

···ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता। (श्वेता० १-६)

अर्थात् एक (प्रकृति) ही है जो भोक्ता (जीवात्मा) के भोग के योग्य है। प्रकृति का अपना कुछ भी हेतु नहीं है।

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

इतर + इतर + प्रत्ययत्वात् + इति + चेत् + न + उत्पत्तिमात्र+ निमित्तत्वात् ।

इतरेतरप्रत्ययत्वात्=एक दूसरे का कारण होने से । इति चेत्=यदि यह है । न=तो नहीं । उत्पत्ति मात्र निमित्तत्वात्=केवल उत्पत्ति प्रयोजन होने से ।

इस सूत्र का अभिप्राय है कि परिमण्डल समुदाय में संयोग-वियोग में एक-दूसरे का कारण नहीं । यह नहीं कहा जा सकता कि संयोग हुआ था, इस कारण वियोग हुआ; अथवा वियोग हुआ था, इस कारण संयोग हुआ है । ये एक-दूसरे के कारण नहीं । ये दोनों व्यवहार किसी अन्य प्रयोजन से हो रहे हैं और वह प्रयोजन है सृष्टि-रचना ।

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

उत्तर+उत्पादे+च+पूर्व+निरोधात् ।

और अगले की उत्पत्ति में पहले का विनाश होने से (एक-दूसरे का कारण नहीं) ।

ऊपर (२-२-१९ में) बताया है कि संयोग-वियोग में एक क्रिया दूसरे का कारण नहीं होती । इस सूत्र (२-२-२०) में युक्ति दी है कि जब अगला व्यवहार बनता है तो पहला विनष्ट हो चुका होता है । इससे विनष्ट होने वाले और बनने वाले में कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं । कारण, कार्य में विद्यमान रहता है ।

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

असति+प्रतिज्ञा+उपरोधः+यौगपद्यम्+अन्यथा ।

असति=न होने पर । प्रतिज्ञा+उपरोधः=प्रतिज्ञा की बाधा है । यौगपद्यम् एक साथ होना होगा । अन्यथा=नहीं तो ।

इसका अभिप्राय यह है कि ऊपर कही बात पर यह आपत्ति हो सकती है कि अगली क्रिया उत्पन्न होने पर पहली विनष्ट नहीं भी हो सकती । सूत्रकार कहता है कि ऐसा मानने से जो प्रतिज्ञा स्वीकार की है, वह विरोधी बन जायेगी । क्या प्रतिज्ञा की है ? पहले का विनष्ट होना दूसरे का निर्माण करता है । जब दूसरे के बनने पर पहले का विनाश ही नहीं होना तो प्रतिज्ञा अर्थात् जो शर्त स्वीकार की

है, वह रहेगी ही नहीं। तो वह प्रतिज्ञा छोड़कर यह कहना पड़ेगा कि पहले के रहते-रहते दूसरा बनता है। यह अशुद्ध है।

वास्तव में आपत्ति अथवा शंका करने वाले यह भूल करते प्रतीत होते हैं कि इस स्थान पर मूल (अक्षर) पदार्थ के विनष्ट और निर्माण की बात हो रही है। यहां परिमण्डलों के समुदाय में संयोग-वियोग की बात की जा रही है। यह संयोग और वियोग कारण-कार्य के स्तर पर नहीं हैं। उस संयोग और वियोग में मूल (अक्षर) पदार्थ तो सदा बना रहता है जब भिन्न-भिन्न संयोग-वियोग होते हैं।

इस तथ्य को हम रसायनशास्त्र के एक उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं। रसायनशास्त्र का उदाहरण इस कारण ले रहे हैं कि उसमें परिमण्डलों के संयोग-वियोग टूटते तथा बनते हैं।

उदाहरण इस प्रकार है—

तूतिया (जिसका रासायनिक नाम कॉपर सल्फेट है) के जल के घोल में सोडे के जल का घोल डालें तो श्वेत रंग की वस्तु अवक्षेप (prescipitate) के रूप में नीचे बैठ जाती है। यह तब बनती है जब तूतिया और सोडे के अणु विनष्ट हो जाते हैं और सोडा सल्फेट तथा तांबे का कार्बोनेट बन जाते हैं। इस क्रिया को रसायनवेत्ता इस प्रकार लिखते हैं—

$$CuSO_4 + Na_2CO_3 = CuSO_3 + Na_2SO_4$$
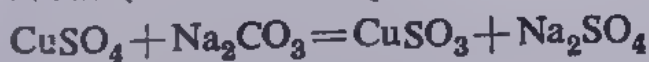
तांबे का कार्बोनेट है श्वेत रंग का अवक्षेप।

तूतिया (कॉपर सल्फेट) विनष्ट होता है तब श्वेत अवक्षेप बनता है और यह मानना होगा कि इस श्वेत अवक्षेप में तूतिया नहीं है और न ही तूतिया इसका कारण है। एक के विनष्ट होने पर दूसरा बना है।

इस पर भी श्वेत अवक्षेप में तांबा है, सोडे में विद्यमान कार्बन और आक्सीजन भी है; परन्तु तूतिया नहीं और न ही सोडा है।

उपर्युक्त सूत्र का अभिप्राय यह है कि यहां संयोग और वियोगों की चर्चा हो रही है। वियोग हुआ तूतिया में जो नहीं रहा। श्वेत अवक्षेप जिसे कापर कार्बोनेट कहा है, बन गया, तूतिया में विघटन हो गया।

यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि इन सूत्रों में विशेषों अर्थात् परिमण्डलों के उपरान्त संयोग और वियोगों की बात हो रही है। अतः इस सूत्र में इससे पूर्व सूत्र के कथन की युक्ति दी है कि जब एक द्रव्य के विघटित होने पर दूसरा द्रव्य बनता है तो पहला दूसरे का कारण नहीं माना जा सकता। कारण यह कि दूसरे में पहला विद्यमान नहीं है।

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२२॥

प्रतिसंख्या+अप्रतिसंख्या+निरोध+अप्राप्तिः+अविच्छेदात्।

प्रतिसंख्या=विरोधी संख्या। अप्रतिसंख्या=अविरोधी संख्या। (संख्या का सामान्य अर्थ है—गिनती)। निरोध=विनाश। अप्राप्ति=उत्पन्न न होना। अविच्छेदात्=विच्छेद न होने से अर्थात् विखण्डित न होने से।

सूत्र का अर्थ है कि जब परिमण्डलों के एक समूह में से दूसरे समूह के परिमण्डलों से आदान-प्रदान होता है तो परिमण्डलों का विनाश नहीं होता, परिमण्डलों के विखण्डित न होने से।

एक बात यहाँ स्मरण रखनी चाहिए। वह यह है कि कुछ भाष्यकार इस दर्शन शास्त्र के प्रत्येक सूत्र में से परमात्मा का भाव निकालने का यत्न करते हैं। यहाँ प्रकृति का विशद् वर्णन हो रहा है, अतः संख्या का अर्थ बुद्धि अथवा ज्ञान लगाना सर्वथा असंगत है। संख्या का अर्थ है, संख्या, गिनती (number)।

दूसरी बात स्मरण रखने वाली यह है कि इससे पूर्व परिमण्डलों का उल्लेख आया है। परिमण्डल उस अहंकार-समूह को कहते हैं जिसमें वे एक दूसरे के चारों ओर चक्कर काट रहे होते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में उसका ऐटम (atom) ही नाम है।

तीसरी बात यह है कि परिमण्डलों के समूह (द्रव्य) बनते और बिगड़ते हैं। परिमण्डलों के समूहों को वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में संयुक्त पदार्थ के अणु (molecules) कहते हैं। प्रत्येक संयुक्त पदार्थ का एक कण मौलिक्यूल कहलाता है।

चौथी बात यह है कि प्रत्येक परिमण्डल-समूह (molecule) में कई परिमण्डल होते हैं और प्रत्येक परिमण्डल में तीन-तीन अहंकार (वैकारी अहंकार, भूतादि अहंकार और तैजस अहंकार) होते हैं और प्रत्येक अहंकार प्रकृति के अनेक परमाणुओं का समूह होता है।

वर्तमान सूत्र में यह कहा गया है कि परिमण्डल के समूहों (molecules) में परिमण्डलों (atoms) का आदान-प्रदान होता है और इस आदान-प्रदान में किसी समूह (molecule) में परिमण्डलों की संख्या कम होती है और किसी में संख्या बढ़ जाती है, परन्तु सामूहिक रूप में (collectively) परिमण्डल कम अधिक नहीं होते, क्योंकि परिमण्डलों में विभाग (division) नहीं होता।

रसायनशास्त्र के जानने वाले उक्त कथन को स्वीकार करेंगे। यह हमारा विचारित मत है कि ब्रह्मसूत्र के इस पाद में रसायनशास्त्र का मूल आधार वर्णन किया गया है।

एक रासायनिक क्रिया का उदाहरण हमने ऊपर (सू० २-२-२१ में) दिया है।

यही बात एक अन्य उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं ।

नमक के घोल में चाँदी के नाइट्रेट के घोल को मिलाएँ तो एक श्वेत रंग का अवक्षेप (prescipitate) पृथक् होता है । इस क्रिया में जो कुछ होता है, वह इस प्रकार प्रकट किया जाता है—

$NaCl + AgNO_3 = NaNO_3 + AgCl$

Na को सोडियम कहते हैं । Cl क्लोरीन कहा जाता है । दोनों के संयोग को सोडियम क्लोराइड (नमक) कहते हैं ।

इससे चाँदी के नाइट्रेट की रासायनिक क्रिया होती है । Ag चाँदी का नाम है । NO_2 नाइट्रेट का संयोग है । इसे नाइट्रेट रेडिकल कहते है ।

इन रासायनिक द्रव्यों के मिलने पर नमक के परिमण्डल समूह (NaCl) में से क्लोरीन (Cl) परिमण्डल निकलकर समीप उपस्थित चाँदी के नाइट्रेट $AgNO_3$ परिमण्डल समूह में चला जाता है और चाँदी से संयुक्त हो जाता है। चाँदी और क्लोरीन परिमण्डल परस्पर मिलते हैं । इसी प्रकार नमक परिमण्डल समूह में से सोडियम निकलकर चाँदी नाइट्रेट के नाइट्रेट संयोग ($AgNO_3$) से मिल जाते हैं।

परन्तु सूत्रकार का कहना है कि परिमण्डलों की कुल संख्या घटती-बढ़ती नहीं । सूत्रकर कहता है कि —

संख्या में अदल-बदल से परिमण्डलों के विनाश की प्राप्ति नहीं होती । इसका कारण है कि परिमण्डलों में टूट-फूट (विच्छेद) नहीं होती ।

हमारा यह सुनिश्चित मत है कि इस वेदान्त दर्शन के सूत्र (२-२-२२) का यही अर्थ है ।

यहाँ स्वामी शंकराचार्य बौद्धों के क्षणभंगुरवाद पर उक्त सूत्र का अर्थ लगाते हैं । हमारा मत है कि इसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं ।

स्वामीजी तथा उनके मतवादी इन सूत्रों का अर्थ नहीं समझ सके । इसमें कारण यह है कि उन्होंने वैशेषिक दर्शन को नास्तिकों का दर्शन मान, उसका भली-भाँति अध्ययन नहीं किया ।

जब प्रकृति के त्रिगुणात्मक परमाणुओं के गुण बहिर्मुखी होते हैं तो पहले महत (आपः) की सृष्टि होती है । इसमें परमाणुओं के गुण दूसरे परमाणुओं को आकर्षित कर समूह बनने लगते हैं । ये समूह तीन प्रकार के होते हैं— वैकारी, भूतादि और तेजस् अहंकार । तब ये अहंकार आकर्षण-विकर्षण के कारण एक-दूसरे के चारों ओर घूमने लगते हैं और इनकी संज्ञा परिमण्डल हो जाती है । तत्पश्चात् परिमण्डलों के समूह बनते हैं । वे आजकल की वैज्ञानिक भाषा में अणु (Molecules) कहलाते हैं । इन समूहों में अणुओं की संख्या में अदला-बदली होने लगती है । इसको रासायनिक क्रिया (chemical action) कहते हैं । इस आदान-प्रदान में परिमण्डलों (atoms) की संख्या घटती-बढ़ती नहीं । कोई परिमण्डल नष्ट नहीं होता।

कारण यह कि इन क्रियाओं में परिमण्डल (atoms) में विच्छेद (fission) नहीं होता।

उभयथा च दोषात् ॥२३॥

उभयथा+च+दोषात्।

च=और। उभयथा=दोनों प्रकार से। दोषात्=दोष से।

अर्थात् उक्त परिमण्डलों के समूहों में अदला-बदली—एक समूह से परिमण्डल निकलकर दूसरे समूह में जाना अथवा दूसरे से पहले में आना—दोष के कारण है।

यह दोष क्या है? परिमण्डलों के समूहों (molecules) में अदला-बदली के समय समूह में परिमण्डलों का संगठन ढीला हो गया है। यह दोष कहलाता है। ढीला होने पर पूर्वोक्त सत्त्व, रजस् इत्यादि समूह में प्रकट होने लगता है।

ढीलापन कैसे आता है? इसमें उक्त उदाहरण ही लेंगे। जब जल में नमक का घोल बनाया जाता है तो सोडियम और क्लोरीन के परिमण्डलों का परस्पर सम्बन्ध ढीला पड़ जाता है। इसे वर्तमान युग की रासायनिक भाषा में आयोनाईजेशन (Ionization) कहते हैं। इस घोल में चाँदी के नाइट्रेट का घोल मिलाते हैं। इसमें चाँदी और नाइट्रेट संयोग के आयन (ions) भी पृथक्-पृथक् होते हैं। वह पृथकता ही दोष है और इससे रासायनिक क्रिया होती है।

$Na^{\cdot}$ मिलता है $NO_3{}'$ के साथ।

और $Ag^{\cdot}$ मिलता है Cl' के साथ। (·) बिन्दु और (') चिह्न धन और ऋण विद्युत् प्रकट करने के लिए हैं। इसे दार्शनिक भाषा में सत्त्व और रजस् स्वीकार किया गया है।

एक अघुलनशील पदार्थ है और वह अवक्षेप के रूप में पृथक् हो जाता है। अत: अधिक और अधिक परिमण्डल समूह (molecules) बनते चले जाते हैं।

यही अभिप्राय है दोषों से। जब घोल बनता है तो आयन (ions) बनने के कारण परिमण्डल समूहों में दोष आ जाता है।

अत: सूत्रार्थ है कि दोनों प्रकार से; अर्थात् परिमण्डलों के आदान-प्रदान दोषों (ionization) के कारण होता है।

सूत्र २-२-१६ भी सर्वथा यही है; अर्थात् सूत्र २-२-२३ के समान ही है। सूत्र २-२-१६ है 'उभयथा च दोषात्'। हमने सूत्रार्थ भी समान ही किये हैं। वहाँ भी हमने यही अर्थ लिखे हैं; अर्थात् 'और दोनों प्रकार के कार्य दोष से उत्पन्न होते हैं।' दोनों में दोष का एक ही अर्थ है। सूत्रसंख्या (२-२-१६) में दोष है। द्रव्यों में

सत्त्व, रजस् एव तमस् के अवशिष्ट अंश का रह जाना दोष है और उसी से आकर्षण-विकर्षण उत्पन्न होते हैं। यहाँ वर्तमान सूत्र (२-२-२३) में भी सत्त्व, रजस् इत्यादि का दोष प्रकट होने लगता है। इसे वैज्ञानिक भाषा में आयन का चार्ज (electric charge on ions) कहा जाता है। इससे परिमण्डलों में अदला-बदली होती है। यही अभिप्राय है दोष का।

आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

आकाशे+च+अविशेषात्।

और आकाश में अविशेष होने से।

यहाँ अविशेष का अर्थ समझना चाहिए। हमने ऊपर बताया है कि प्रकृति से जब परिणाम निकलने लगते हैं तो उत्तरोत्तर एक के उपरान्त दूसरे परिणाम बनते चले जाते हैं।

प्रकृति → महत् → अहंकार → [**पंचमहाभूत / दस इन्द्रियाँ और मन**]

अहंकार तक परिवर्तनों के परिणाम को अविशेष कहते हैं और अहंकारों के उपरान्त पंच महाभूतों को विशेष कहते हैं; वैशेषिक दर्शन में भी इन पंच महाभूतों के विषय में लिखा है।

पंच महाभूत हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। ये पाँचों विशेष हैं।

वर्तमान विज्ञान की भाषा में आकाश ईथर (ether) कहलाता है। वैज्ञानिक ईथर के विषय में कुछ नहीं जानते। अतः उनको इसके होने में भी सन्देह है। वैशेषिक दर्शन वाले इसको (आकाश को) एक पदार्थ मानते हैं। यह अति सूक्ष्म अहंकारों का एक संयोग है।

पंच महाभूतों में वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का अभिप्राय इस प्रकार है—

वायु का अर्थ गैसीय (gaseous) पदार्थ है। रासायनिक पदार्थों में आक्सीजन (oxygen), हाईड्रोजन (hydrogen), नाईट्रोजन (nitrogen) इत्यादि।

अग्नि का अर्थ है—आग्नेय पदार्थ। अर्थात् ऐसे पदार्थ जिनमें से तेजस अहंकार सहज ही निकलने लगते हैं। उदाहरण के रूप में रेडियम, युरेनियम इत्यादि।

जल का अर्थ है जलीय (liquids) पदार्थ। इनके उदाहरण हैं पारा (mercury), पीने का जल (water) इत्यादि।

पृथिवी ठोस पदार्थों को कहते हैं जिनमें रूप का परिवर्तन सहज नहीं होता। जैसे लोहा, ताँबा इत्यादि।

आकाश पाँचवाँ महाभूत है। इन पाँच विशेषों में आकाश अविशेष है। अर्थात् चार प्रकार के (वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) पदार्थ विशेष हैं। इनमें परिमण्डल (atoms) होते हैं।

आकाश मे अहकारों का संयोग तो होता है, परन्तु उनमें परिमण्डल नही बनते। इसी कारण आकाश को अविशेष कहा है, अर्थात् उसकी स्थिति परिमण्डलीय नही होती।

अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

अनुस्मृतेः । च ।

च = और। अनुस्मृतेः का अर्थ है पूर्व के स्मरण रहने से। क्या स्मरण रहने से?

समुदायों में परिमण्डलों के गुण और धर्म नवीन समुदायों में आने पर बने रहते है। परिमण्डल अपने गुण और धर्म को धारण किये रखते है अर्थात् उनको छोड़ते नही। इसको सूत्रकार ने स्मरण रखना कहा है।

'च' से सम्बन्ध बनता है पूर्व कथनों के साथ। पूर्व सूत्रों में कहा है कि परिमण्डल समूहों में परिमण्डलों के आदान-प्रदान से परिमण्डल विनष्ट नही होते। इस सूत्र मे कहा है उनके अपने गुण और धर्म भी बने रहते हैं।

अन्य भाष्यकार इस सूत्र और पूर्व के सूत्रों के अर्थ ऐसे कर रहे है जिनकी संगति नहीं बैठती। उदाहरण के रूप में इस सूत्र का अभिप्राय स्वामी शंकराचार्य इस प्रकार लगाते हैं—

अपि च वैनाशिकः सर्वस्य वस्तुनः क्षणिकतामभ्युपयन्नुपलब्धुरपि क्षणिकतामभ्युपेयात् । न च सा संभवति, अनुस्मृते ।

अर्थात्—इसके अतिरिक्त वैनाशिक सब वस्तु की क्षणिकता स्वीकार करते हुए उपलब्धि की भी क्षणिकता स्वीकार करें। यह नहीं हो सकता; क्योंकि अनुस्मृति है।

यह मनुष्य मे किसी चेतन (आत्मा अथवा परमात्मा) के विनाश न होने की बात कही गयी है।

यहाँ इसका प्रकरण नही। अतः यह भावार्थ असंगत है।

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२६॥

न + असतः + अदृष्टत्वात् ।

न = नहीं । असतः = अभाव से (कार्य की उत्पत्ति) । अदृष्टत्वात् –न देखे जाने से ।

यहाँ पुनः सूत्रकार इस कार्य-जगत् के उपादान कारण प्रधान का उल्लेख करता है । कार्य-कारण में मूल गुणों का समान होना पहले बता चुके हैं । यह पहले (ब्रह्मसूत्र २-२-४ में) बताया गया है कि कार्य-जगत् जड़ है और उसमें बिना अपेक्षा के विपरीत प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।

अतः कार्य-जगत् का कारण भी जड़ ही होना चाहिए । उसे ही सांख्य ने प्रकृति अथवा प्रधान माना है ।

सूत्रार्थ है –**अदृष्ट होने पर भी कारण का अभाव नहीं ।**

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

उदासीनानाम् + अपि + च + एवम् + सिद्धिः ।

उदासीनानाम् = उदासीन अर्थात् कर्मविहीनों की । अपि = भी । च = और । एवं = इसी प्रकार । सिद्धि = सफलता है ।

प्रकृति उदासीन है । जड़ होने के कारण यह अविचल है और इसमें जड़त्व होने पर भी कार्य-जगत् बनता है । यह क्यों ? इसमें निमित्त कारण की क्रिया होने से । वह निमित्त कारण परमात्मा है । परमात्मा चेतन है, ईक्षण करता है ।

प्रकृति के सब परिणामों का उल्लेख कर कह दिया है कि यह जड़ है । इस पर भी इसमें परिवर्तन होने है । यह परमात्मा के कारण है ।

नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

न + अभावः + उपलब्धेः ।

अभाव से कुछ प्राप्त नहीं होता । शून्य से कुछ बनता नहीं ।

यह (सूत्र २-२-२८) सूत्र २६ की पूर्ति में ही है ।

सूत्र २६ में कहा गया है कि यह दिखाई नहीं देता कि अभाव से कुछ उपलब्ध हो । अतः सूत्र २७ में कह दिया गया है कि प्रकृति उदासीन (अविचल) होने पर भी परिणामी है; कारण यह कि जगत् का निमित्त कारण परमात्मा विद्यमान है ।

अब इस सूत्र में पहली बात की पुष्टि ही की गयी है। असत् और अभाव में कुछ थोड़ा-सा अन्तर है। सत् का अर्थ है अक्षर। सूत्रार्थ है किसी न अक्षर अर्थात् क्षर से सृष्टि नहीं होती। अभाव का अर्थ है शून्य। शून्य से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। भावार्थ एक ही हो जाता है।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

वैधर्म्यात्+च+न+स्वप्न+आदिवत्।

वैधर्म्यात्=(कार्य-जगत् में) वैधर्म्य होने से। न=नहीं। च=और। स्वप्न+आदिवत्=स्वप्न इत्यादि जैसा।

और यह कार्य-जगत् स्वप्नवत् नहीं। इसमें विभिन्न धर्मों के होने से। स्वप्न में धर्म दिखाई नहीं देते। धर्म का अर्थ है कर्म करने का गुण। कार्य-जगत् में कर्म करने का गुण होता है। इस कारण यह स्वप्नवत् नहीं।

यहाँ इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि जगत् मिथ्या है। जगत् में अनेक धर्मों की उपस्थिति देखी जाती है। सूर्य में प्रकाश करने का सामर्थ्य है। चन्द्र में शीतलता उत्पन्न करने का सामर्थ्य है। पृथ्वी फल-फूल, अन्न-अनाज इत्यादि उत्पन्न करती है। इस प्रकार धर्मों के होने से यह मिथ्या नहीं।

यह सूत्र स्पष्ट रूप में स्वामी शंकराचार्य के सिद्धान्त के विपरीत है। अतः यह रुचिकर होगा कि स्वामीजी द्वारा इस सूत्र का किया गया भाष्य यहाँ लिख दिया जाये। आप लिखते हैं—

अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः।

अर्थात्—इसमें कहते हैं कि जाग्रत ज्ञान स्वप्नादि ज्ञान के समान नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों में वैधर्म्य है।

आगे आप लिखते हैं कि यह वैधर्म्य क्या है?

बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते।

अर्थात्—हम कहते हैं कि यह बाध और अबाध है; क्योंकि स्वप्नावस्था में उपलब्ध वस्तु जाग्रत पुरुष को बाधित होती है कि मुझे जो महाजन समागम उपलब्ध हुआ था, वह मिथ्या है। मुझे महाजन समागम हुआ नहीं। मेरा मन निद्रा ग्लानियुक्त हुआ, जिससे यह भ्रान्ति हुई। इस प्रकार मायादि में भी यथायोग

बाध होता है. परन्तु जाग्रत अवस्था में उपलब्ध स्तम्भादि वस्तु किसी भी अवस्था में बाधित नहीं होती।

स्वामीजी ने जाग्रत अवस्था और स्वप्नावस्था की तुलना करनी आरम्भ कर दी है। आप कहते हैं कि जाग्रत अवस्था और स्वप्न-अवस्था मे अन्तर है। वह यह अन्तर बताते हैं कि एक मे पुरुष बाधित होता है और दूसरे में बाधित नही होता।

बाधित से स्वामीजी का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि एक का अनुभव सत्य है और दूसरे का असत्य। यही वैधर्म्य मे आप प्रकट करते हैं।

इतना कुछ तो स्वामीजी ने ठीक ही कहा है कि जाग्रत अवस्था में अनुभव सत्य होते हैं और स्वप्नावस्था मे असत्य। परन्तु स्वामीजी और हमारे अर्थों में इतना अन्तर है कि हम वैधर्म्य जाग्रत और स्वप्नावस्था मे नही कह रहे, वरन् जगत् के पदार्थों में के अनेकानेक धर्मों के अर्थ में ले रहे हैं। हमारा अभिप्राय यह है कि जगत् में अनेक प्रकार के (विभिन्न) धर्मों के देखने से जगत् स्वप्नवत् नही है। यह सत्य है।

वास्तविक बात यह है कि सूत्रकार इस जगत् को (न स्वप्नादिवत्) स्वप्नवत् नहीं, अर्थात् मिथ्या नहीं है, ऐसा मानता है।

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

न + भावः + अनुपलब्धेः।

न = नहीं। भावः = होना। अनुपलब्धेः = अनुपलब्ध, न प्राप्त होने से।

जो प्राप्त नहीं होता, वह नहीं।

अर्थात् जगत् प्राप्त होता है; इस कारण यह है।

सूत्र २८ में लिखा है कि अभाव से जगत् की उपलब्धि नहीं, अर्थात् शून्य से जगत् नही बना।

तदनन्तर सूत्र २६ में कहा है कि जगत् के पदार्थों मे अनेक धर्मों को देखकर यह मानना पड़ता है कि जगत् स्वप्नवत् नहीं; अर्थात् इसकी उपलब्धि है।

अब इस सूत्र में कहा है कि यदि जगत् न होता तो इसकी प्राप्ति भी नही होती।

इस सूत्र का यह भी अर्थ हो सकता है कि भाव नही है। यहाँ भाव का अर्थ अस्तित्व से है। अस्तित्व नहीं है। अस्तित्व है ब्रह्म का। ब्रह्म नही है, ऐसा कहने की अनुपलब्धि है। अर्थात् ब्रह्म है। यह उपलब्ध होता है। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। तदर्थ इसकी उपलब्धि है।

यह अर्थ ठीक हो सकता है परन्तु एक बात ध्यान देनी चाहिए कि प्रकरण जगत् का है, परमात्मा का नही। अतः हम ऊपर के अर्थों को ही ठीक मानते है।

क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥

च+क्षणिकत्वात् ।

और क्षणिक होना।

यहाँ विवेच्य शब्द है क्षणिक होने से। क्षणिक उस पदार्थ को कहते है जो अल्पकाल के लिए हो। क्षणिक का अर्थ एक चुटकी मारने से नही। प्रत्येक काल का अल्प और लम्बा होना तुलनात्मक विचार से होता है। एक सौर दिन मे एक क्षण अल्पकाल ठीक है, परन्तु ब्रह्म दिन में तो एक चतुर्युगी का काल भी अल्प कहा जा सकता है। उसे भी क्षणिक माना जा सकता है और अनादि अनन्त काल की तुलना में तो एक मन्वन्तर एवं ब्रह्म दिन भी एक क्षण के तुल्य माना जा सकता है।

यहाँ किसको क्षणिक कहा है ? इसी के ज्ञान से ही यह समझा जा सकेगा कि वह काल कितना है ?

यह 'क्षणिक' जगत् के सन्दर्भ में आया है। अतः इससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (ब्रह्म दिन और रात्रि) का अभिप्राय है। ४,३२,००,००,००० सौर वर्ष का ब्रह्म दिन और ४,३२,००,००,००० सौर वर्ष की ब्रह्म रात्रि का काल भी क्षणिक ही माना जाना चाहिए। कारण यह कि जब इसकी तुलना अनादि अनन्त काल से की जाती है तो यह एक क्षण में उत्पन्न और विनष्ट माना जाता है।

इस सूत्र का अर्थ है कि **एक क्षण (अल्प काल) में प्रलय होने वाला जगत् है।** अतः सूत्र २-२-३० में लिखी हुई बात भी ठीक है कि जगत् से ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है, क्योंकि टूटने एवं बनने वाली वस्तु का तोड़ने और बनाने वाला होना चाहिए।

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥३२॥

सर्वथा+अनुपपत्तेः+च।

च=और। सर्वथा=सब प्रकार से। अनुपपत्तेः=असिद्ध होने से।

(जगत्) सब प्रकार से असिद्ध है। क्षणिक होने के कारण यह ब्रह्म की श्रेणी में नहीं आ सकता।

जगत् क्षणिक है, अर्थात् अल्पकाल तक रहने वाला है। ब्रह्म (अक्षर) अनादि, अक्षर और व्यक्त है। अतः जगत् किसी प्रकार से भी ब्रह्म नहीं।

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥३३॥

न+एकस्मिन्+असम्भवात्।

न=नहीं। एकस्मिन्=एक में। असम्भवात्=असम्भव होने से।

यह कार्य-जगत् एक में ही है (एक से ही उत्पन्न हुआ है) ऐसा सम्भव नहीं होने से।

एक ही मूल पदार्थ से कार्य-जगत् बना हो, यह सम्भव नहीं। इस जगत् के बनने में दो का योगदान है। निमित्त कारण का और उपादान कारण का।

स्वामी शंकराचार्य इस और कुछ पूर्व के सूत्रों को बौद्ध मत तथा जैन मत के खण्डन में लिखे गये मानते हैं। ऐसी कोई बात नहीं। हमारा यह मत है कि ब्रह्म-सूत्र बौद्ध मत और जैन मत के उत्पन्न होने से पहले के लिखे हुए हैं। अतः इनके स्वतन्त्र अर्थ और भाष्य होने चाहिए। भले ही वे अर्थ किसी मत के अनुकूल हों अथवा विपरीत हों।

यही कारण है कि हमने सूत्रों के अर्थ और भाष्य विषय की संगति के अनुसार किये हैं। यह स्वामी शंकराचार्य की शैली है कि वह सूत्रों में कुछ अनुकूल अथवा विरोधी प्रमाण बलात् ढूंढ़ते हैं और फिर भाष्य उसी सन्दर्भ में करते हैं। यह शैली प्रायः मिथ्या अर्थों की ओर इंगित करती है।

एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम् ॥३४॥

एवम्+च+आत्मा+अकात्स्न्र्यम्।

एवम्=इस प्रकार। च=और। आत्मा=आत्मा की। अकात्स्न्र्यम्=असम्पूर्णता (अव्यापिता) हो जायेगी।

एवम् से अभिप्राय है कि यदि पहले सूत्र में कही बात स्वीकार कर लें, अर्थात् जिसे असम्भव कहा है उसको सम्भव समझ लें तो आत्मा (परमात्मा) की सर्व-व्यापकता असिद्ध हो जायेगी।

परमात्मा सर्वव्यापक है। यदि यह मान लें कि वही जगत् में परिवर्तित हुआ है तो वह सर्वव्यापक नहीं माना जा सकता। जहाँ जगत् बन गया है वहाँ का परमात्मा उस परमात्मा से भिन्न होगा, जहाँ वह परमात्मा कार्य जगत् में परि-वर्तित नहीं हुआ। दोनों में सीमा बन जायेगी और सर्वव्यापक वस्तु असीम होनी चाहिए। अतः जगत् में केवल परमात्मा नहीं।

न च पर्यायावप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥

न+च+पर्यायात्+अपि+अविरोधः+विकारादिभ्यः ।

न=नहीं । च=और । पर्यायात्=पर्याय से । अपि=भी । अविरोधः=विरोध का न होना । विकारादिभ्य=विकारादि से ।

और पर्याय (समान अर्थ अथवा शक्ति वाला) न होने से भी । विकारादि से अविरोध होने से ।

प्रकृति का विकार कार्य-जगत् है । कार्य-जगत् में कई प्रकार के विकार दिखाई देते हैं । वे परस्पर पर्याय नहीं हैं; अर्थात् समान अर्थ वाले एवं रूप-गुण वाले नहीं होते । इसपर भी उनमें अविरोध है । वे परस्पर विरोधी नहीं । उनमें समानता किस विषय में है ? प्रकृति का जड़त्व उन सबमें समान रूप से उपस्थित होता है । यह बात ऊपर (ब्रह्मसूत्र २-२-४ में) वर्णन की जा चुकी है । जड़त्व कार्य-जगत् के प्रत्येक पदार्थ में उपस्थित होता है । अतः सूत्रार्थ यह है कि प्रकृति के विकार अर्थात् कार्य-जगत् के पदार्थ समान गुण, नाम और रूपवाले न होने पर भी परस्पर विरोधी नहीं, अर्थात् इस गुण में समान हैं ।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥३६॥

अन्त्य+अवस्थितेः+च+उभय+नित्यत्वात्+अविशेषः ।

अन्त्य+अवस्थितेः=अन्त्य अवस्था से । च=और । उभय=दोनों में । नित्यत्वात्=नित्यता होने से । अविशेषः=विशेष नहीं हो सकते ।

अन्त्य का अर्थ है अन्त तक रहने वाली ।

इसका अभिप्राय है कि परमात्मा का परिवर्तित हो जगत् रूप में होना मानने से परमात्मा के दो रूप मानने होंगे । एक नित्य, दूसरा अनित्य और यदि दोनों को नित्य मानें तो विशेष (पंच महाभूतादि) नहीं बन सकते । कारण यह कि विशेष नाशवान् हैं ।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि जगत् को परमात्मा का ही परिवर्तित रूप मानने से दोनों में नित्यत्व मानना होगा और फिर विशेष (पंच महाभूतादि) नहीं हो सकते । कारण कि यह अवस्था नाशवान् है ।

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥३७॥

पत्युः+असामञ्जस्यात् ।

पत्युः=पति का । असामञ्जस्यात्=अयुक्त होने से ।

जगत् का पति परमात्मा नहीं । यह अयुक्त है । पति-पत्नी का पारस्परिक भोग का सम्बन्ध है । परमात्मा जगत् का भोग नहीं करता । जगत् परमात्मा के प्रयोग के लिए नहीं । यदि उसे जगत् का भोक्ता मानें तो यह अयुक्त है ।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥३८॥

सम्बन्ध+अनुपपत्तेः+च ।

च=और । सम्बन्धः=भोक्ता का सम्बन्ध । अनुपपत्तेः=उपपन्न नहीं होता, सिद्ध नहीं होता ।

यह सूत्र उक्त सूत्र के असामञ्जस की व्याख्या में है । असामञ्जस से अभिप्राय है अनियमित । अनियमित इस कारण है कि युक्ति से सिद्ध नहीं होता । परमात्मा जगत् का पति नहीं । यह सम्बन्ध भोग का है और यह अयुक्तिसंगत है ।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥३९॥

अधिष्ठान्+अनुपपत्तेः+च ।

जगत् परमात्मा का अधिष्ठान (निवास-स्थान) है, और यह असिद्ध है। जगत् तो एक सीमित स्थान में है और परमात्मा असीम है। जगत् परमात्मा में अधिष्ठित है । परमात्मा जगत् में अधिष्ठित नहीं ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥४०॥

करणवत्+चेत्+न+भोगादिभ्यः ।

करणवत्=इन्द्रियों की भाँति (है)। चेत्=यदि कहो । न=तो नहीं। भोगादिभ्यः=भोगादि से ।

परमात्मा इन्द्रियों जैसा भी नहीं जिनसे वह भोग करता हो । वह तो सर्वथा इन्द्रियों के बिना है ।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥४१॥

अन्तवत्त्वम्+असर्वज्ञता+वा।

अन्तवत्त्वम्=अन्त वाला होना अर्थात् नाशवान् होना। असर्वज्ञता=असर्वज्ञ होना। वा=और।

और जगत् की भाँति परमात्मा का अन्त वाला होना नहीं और न ही असर्वज्ञता अर्थात् अल्प ज्ञानयुक्त होना है। अतः परमात्मा जगत् में परिवर्तित नहीं हुआ। 'न' शब्द पूर्व सूत्र का इसमें भी प्रयोग होता है।

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥४२॥

उत्पत्ति+असम्भवात्।

उत्पत्ति असम्भव होने से।

जगत् की उत्पत्ति होती है, परन्तु परमात्मा की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इस कारण परमात्मा का परिवर्तित रूप जगत् नहीं है।

न च कर्त्तुः करणम् ॥४३॥

न+च+कर्तुः+करणम्।

और न ही कर्त्ता के करण (साधन) हैं।

परमात्मा बिना साधनों के जगत् की रचना करता है। यह इस कारण सम्भव है कि परमात्मा प्रकृति के एक-एक परमाणु से सम्बद्ध है।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥४४॥

विज्ञानादिभावे+वा+तत्+अप्रतिषेधः।

विज्ञानादि=विशेष ज्ञान इत्यादि के। भावे=होने पर। तत्=उन (करणादि का न होना) का। अप्रतिषेधः=विरोध नहीं।

ऊपर लिखा है कि परमात्मा के इन्द्रियादि नहीं, परन्तु परमात्मा विशेष ज्ञान का स्वामी है। ऐसा होने पर भी इन्द्रियों का न होने से किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। अभिप्राय यह है कि परमात्मा के सर्वज्ञ होने से कार्य बिना इन्द्रियों के ही होता है।

प्रसंगवश यह कहा जा सकता है कि जीवात्मा अल्पज्ञ होने से अर्थात् अल्प शक्तिवाला होने से इन्द्रियों की आवश्यकता रखता है, परन्तु परमात्मा ज्ञानस्वरूप होने से इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं रखता। यहाँ ज्ञानेन्द्रियों से अभिप्राय है।

विप्रतिषेधाच्च ॥४५॥

विप्रतिषेधात्+च।

विप्रतिषेधात्=विभिन्न प्रकार से खण्डन करते हुए ब्रह्म (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति) के स्वरूप का वर्णन किया गया है। सूत्रकार इस समूचे पाद का उपसंहार करता हुआ बताता है कि ब्रह्म के स्वरूप पर आपत्तियों का अनेक प्रकार से निराकरण किया गया है।

तृतीय पाद

सूत्रकार ने सृष्टि-क्रम में एक अत्यावश्यक विषय को इस पाद में उठाया है। इस विषय को उठाने के लिए उसने उन लोगों का पक्ष उपस्थित किया है, जो वेद शास्त्रों में मतभेद प्रकट करने का यत्न करते रहते हैं।

सृष्टि-क्रम में आकाश शब्द को लेकर पूर्व पक्ष उपस्थित किया जाता है। सूत्रकार महर्षि व्यास ने उसको इस प्रकार प्रकट किया—

न वियदश्रुते ॥१॥

न+वियत्+अश्रुतेः।

न=नहीं है। वियत्=आकाश। अश्रुतेः=श्रुति में कहा न होने से।

अर्थ है—वेद शास्त्र में आकाश कहीं नहीं कहा है। इस कारण आकाश नहीं है। वियत् आकाश का नाम है।

शंका तो केवल इतनी ही थी जैसी कि ऊपर कही गयी है, परन्तु वे भाष्यकार जो प्रायः सूत्र का स्रोत उपनिषद् में ढूंढ़ने लगते हैं, वे वियत् (आकाश) को भी उपनिषदों में ढूंढ़ने लगे हैं।

आकाश शब्द तो शास्त्र में है। इस कारण सूत्रकार ने उपनिषद् का प्रमाण न देते हुए पूर्व पक्ष का केवल खण्डन कर दिया और कहा है—

अस्ति तु ॥२॥

अस्ति=है। तु=तो। अर्थात् श्रुति में आकाश का वर्णन है।

इस 'है' के पक्ष में तो प्रमाण देने ही चाहिए थे, परन्तु भाष्यकारों ने पूर्व पक्ष को सुदृढ़ करने के लिए एक बात अपने पास से उपस्थित कर दी है। वह पूर्व पक्ष के मस्तिष्क में थी अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता। यह भाष्यकारों के मस्तिष्क की उपज ही प्रतीत होती है।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्य इस पाद के प्रथम सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

वेदान्तेषु तत्र तत्र भिन्नप्रस्थाना उत्पत्तिश्रुतय उपलभ्यन्ते। केचिदाकाशस्योत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। तथा केचिद्वायोरुत्पत्तिमामनन्ति, केचिन्न। एवं जीवस्य प्राणानां च। एवमेव क्रमादिद्वारकोऽपि विप्रतिषेधः श्रुत्यन्तरेषूपलक्ष्यते।

अर्थात्—वेदान्त में अनेक स्थानों पर भिन्न प्रस्थान वाली (भिन्न प्रकरणस्थ) उत्पत्ति श्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं। कुछ श्रुति-वाक्य वायु की उत्पत्ति मानते हैं, कुछ नहीं मानते। एवं कुछ श्रुति-वाक्य जीव और प्राणों की उत्पत्ति मानते हैं और कुछ नहीं मानते। इसी प्रकार क्रमादि द्वारा भी अन्य श्रुतियों में विरोध उपलक्षित होता है।

हमारा मत है कि पूर्व सूत्र मे केवल यही पक्ष है कि शास्त्र में वियत् का उल्लेख नहीं। सूत्रकार ने इसका खण्डन किया है। उसने कहा है कि उल्लेख है। यह बात तो अशुद्ध पक्ष का आधार बनाने के लिए भाष्यकारों ने कह दिया कि इस सूत्र के अर्थ केवल यह नही कि आकाश का उल्लेख शास्त्र में नहीं, वरन् यह है कि आकाश की उत्पत्ति का वर्णन शास्त्र में नहीं।

यह बात पूर्व पक्ष के मस्तिष्क में थी अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता परन्तु इसका उल्लेख आ जाने से इसका उत्तर तो शास्त्र में से देना ही पड़ेगा। यह हम आगे चलकर देंगे।

यहाँ हमारा कहना यह है कि प्रश्न सरल है। इसमें आकाश की उत्पत्ति का प्रश्न नहीं है। अतः उत्तर में भी इसका उल्लेख नहीं है।

सूत्रकार ने २-३-२ में कह दिया कि इसका उल्लेख है।

दोनों सूत्रों में उत्पत्ति की ओर संकेत नहीं। यह केवल भाष्यकारों के मस्तिष्क की उपज है।

परिणाम यह है कि उत्पत्ति सम्बन्धी उत्तर दर्शन-शास्त्र में नहीं है। इस कारण उत्तर पक्ष में दिये सूत्रों को भाष्यकार अपने विचार से तोड़-मरोड़ने लगे हैं।

हमारा यह मत है कि ब्रह्मसूत्रों का अध्ययन और विवेचन करते समय शंकराचार्य के भाष्य को पृथक् रखकर ही कार्य आरम्भ करना चाहिए। स्वामीजी की शैली ही अयुक्त अर्थात् तर्करहित है। इस शैली का अनुकरण करने से वेदान्त दर्शन के अर्थ ही अशुद्ध हो रहे हैं।

यहाँ हम सूत्रकार का आशय अपने मत से प्रकट करते हैं।

यदि यह कहीं आकाश के उल्लेख होने और कहीं न होने की बात होती तो इसका उत्तर तो सूत्रकार पहले (२-१-१ में) दे चुका हैं। उस सूत्र में कहा गया है कि यदि किसी स्मृति में किसी विषय का उल्लेख न हो तो यह दोष नहीं। कारण यह कि किसी दूसरी स्मृति में उस विषय पर उल्लेख हो भी सकता है।

जब सूत्रकार ने कहा कि वेद में आकाश का वर्णन आया है तो यह आवश्यक हो जाता है कि वेद में आकाश शब्द का प्रमाण दिया जाये। उत्पत्ति के विषय में न प्रश्न था और न ही उत्तर है।

ऋग्वेद में व्योम शब्द मिलता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥

(ऋ० १-१६४-३९)

यहाँ व्योम शब्द है। व्योम आकाश को कहते हैं और आकाश को ब्रह्म का स्वरूप माना है। इसे परम अक्षर तथा अति सूक्ष्म भी कहा है।

यही मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है। सूत्रकार ने भी इसी मन्त्र के आधार पर निम्न सूत्र लिख दिया है—

आकाशस्तल्लिङ्गात्॥ (ब्रह्मसूत्र १-१-२२)

परन्तु पूर्व पक्ष वाले ने अपने संशय का रूप बदल दिया है। वह कहता है—

गौण्यसम्भवात् ॥३॥

गौणी+असम्भवात्।

असम्भव होने से यह उक्त कथन गौण है।

इसका अर्थ यह है कि यहाँ आकाश का अर्थ गौण है। यह परमात्मा के लिए आया है।

गौण का अर्थ है कि मुख्य उल्लेख आकाश का नहीं। आकाश की उपमा परमात्मा से दी गयी है। अतः यह व्योम का उल्लेख गौण रूप से है। यह किसी पदार्थ का नाम नहीं और असम्भव है।

जो भाष्यकार आकाश की उत्पत्ति को बीच में ले आये हैं, वे सूत्रकार का उत्तर समझ नहीं सके।

प्रश्न आकाश की उत्पत्ति के विषय में नहीं है। वह (पूर्व पक्ष) कह रहा है कि वियत् का वर्णन वेद में नहीं है। जो व्योम शब्द मन्त्र ऋग्वेद (१-१६४-३६) में आया है, उसके विषय में आपत्ति करने वाले का कहना है कि गौण रूप में है। वहाँ आकाश का उल्लेख किसी पदार्थ के रूप में नहीं आया।

पूर्व पक्ष का समर्थन करने के लिए निम्न सूत्र कहा है।

शब्दाच्च ॥४॥

शब्दात्+च ।

और शब्द से ।

अभिप्राय यह है कि पूर्व पक्ष ने जो आकाश को गौण कहा है, वह वेदमन्त्र के शब्दों को देखने से कहा है।

सूत्रकार का उत्तर है—

स्याच्चैकस्त ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

स्यात्+च+एकस्य+ब्रह्मशब्दवत् ।

स्यात्=कदाचित् । च=और। एकस्य=एक के । ब्रह्मशब्दवत्=ब्रह्म शब्द की भाँति ।

इसका अर्थ है—कुछ एक के कथन से शायद यह है, अर्थात् व्योम का प्रयोग गौण है। वैसे ब्रह्म का भी प्रयोग कई स्थानों पर परमात्मा के अतिरिक्त होता है।

वेद में उक्त मन्त्र में व्योम परमात्मा के लिए आया है। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र में आकाश को परमातमा का लिंग अर्थात् संकेत माना है।

इस बात को सूत्रकार अस्वीकार नहीं कर सका। उसने कहा है कि कुछ एक के विचार से शायद यह पक्ष ठीक है, परन्तु यह ऐसे ही है जैसे कि ब्रह्म शब्द का अर्थ परमात्मा के अतिरिक्त भी आता है। आकाश का उल्लेख वेद में तो है। इसमे सन्देह नहीं।

अर्थात् पूर्व पक्ष का यह कहना कि आकाश शब्द वेदों में है ही नही, यह अशुद्ध है। आकाश का वेद में उल्लेख है।

सूत्रकार अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए अगला सूत्र कहता है।

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥६॥

प्रतिज्ञा+अहानिः+अव्यतिरेकात्+शब्देभ्यः ।

हमारी प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती, वेदों में अलग वर्णन न होने से।

सूत्रकार युक्ति करता है कि ब्रह्म और आकाश का एक साथ वर्णन होने से आकाश शब्द श्रुति में है, इस प्रतिज्ञा (वक्तव्य) का खण्डन नही होता।

बात स्पष्ट है कि आकाश और ब्रह्म का वर्णन एक साथ ही आया है। इसका यह अर्थ नहीं कि हमारा वक्तव्य कि आकाश वेदों में आया है, गलत हो गया।

आकाश और ब्रह्म साथ-साथ आते हैं। कारण यह कि इन सब स्थानों पर जहाँ आकाश ब्रह्म के साथ आया है, आकाश से अभिप्राय है और ब्रह्म के सब स्थानों पर होने से जहाँ-जहाँ आकाश है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म है। परमात्मा सर्वव्यापक है। इस कारण आकाश ब्रह्म से पृथक् हो नहीं सकता। अतः श्रुति में ब्रह्म और आकाश का उल्लेख एक साथ होने से सूत्रकार का कथन असत्य नहीं हो सकता कि श्रुति में आकाश का उल्लेख है।

जो लोग ब्रह्मसूत्रों को उपनिषद् ग्रन्थों की व्याख्यामात्र मानते हैं; वे वियत् (आकाश) को उपनिषदों में भरा पड़ा देख यह कहने लगे कि पूर्व पक्ष आकाश की उत्पत्ति के विषय में है।

अब सूत्रकार के उत्तर में उत्पत्ति का उल्लेख और प्रमाण न देख अप्रासंगिक कथन करने लगे हैं।

सूत्र संख्या २-३-५ पर भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य जी इस प्रकार लिखते हैं—

इदं पदोत्तरं सूत्रम्। स्यादेतत्—कथं पुनरेकस्य संभूतशब्दस्य 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २-१) इत्यस्मिन्नधिकारे परेषु तेजःप्रभृतिष्वनुवर्तमानस्य मुख्यत्वं संभवत्याकाशे च गौणत्वमिति ? अत उत्तरमुच्यते—स्याच्चैकस्यापि संभूतशब्दस्य विषयविशेषवशाद्गौणो मुख्यश्च प्रयोगो ब्रह्मशब्दवत्। यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म' (तै० ३-२) इत्यस्मिन्नधिकारेऽन्नादिषु गौणः प्रयोग आनन्दे च मुख्यः।

इसका अर्थ इस प्रकार है—

'यह पद उत्तर के रूप में इस सूत्र में है। यह 'स्यात्' है। कैसे ? पुनः एक संभूत शब्द के (विषय में), तस्माद्वा—संभूतः (तै० उ० २-१) इस अधिकार में अन्य स्थल में तेज इत्यादि में अनुवर्तमान मुख्य कैसे हो सकता है और आकाश में गौण कैसे ? अतः उत्तर में कहा है। और स्यात् कैसे ? ब्रह्म की भाँति विषय विशेष के अनुसार इसका प्रयोग मुख्य और गौण होता है। जैसे एक (ब्रह्म) का प्रयोग (तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्म—तै० उ० ३-२) इस अधिकार में, अन्नादि में गौण और आनन्द में मुख्य प्रयोग है।

यह अयुक्त कथन है। वहाँ अन्न तेजादि के साथ ब्रह्म गौण नहीं है। कारण यह कि ब्रह्म का अर्थ वहाँ प्रकृति है, परमात्मा नहीं। ब्रह्म का अर्थ प्रकृति होने से गौण क्यों हो गया ? ब्रह्म का जहाँ आनन्द के साथ उल्लेख आया है वहाँ वह मुख्य क्यों है ? दोनों ब्रह्म हैं।

साथ ही इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उक्त सूत्रों में संभूति का आशय है, अर्थात् उत्पत्ति का अर्थ सूत्र में किस प्रकार आ गया ?

यदि उत्पत्ति का भाव उक्त सूत्रों में न लिया जाये तो सूत्रों (२-३-५ और २-३-६) का अर्थ अति सरल और स्पष्ट हो जाता है।

शंका है कि व्योम शब्द ब्रह्म के लिए आया है। अतः यहाँ आकाश का अर्थ गौण है, अर्थात् यह नहीं बताया कि व्योम स्वतः कोई पदार्थ है।

सूत्रकार का उत्तर है कि कदाचित् एक के कथन से यह गौण है। जैसे ब्रह्म का प्रयोग अन्य पदार्थों के विशेषण के रूप में आता है—जैसे ब्रह्मचर्य, ब्रह्म देश इत्यादि।

परन्तु आगे (२-३-६ में) यह कह दिया है कि हमारी यह प्रतिज्ञा अर्थात् वक्तव्य गलत नहीं। ठीक है कि व्योम (आकाश) का वर्णन वेद में है। इसी प्रकार शब्द है 'खं ब्रह्म'। यहाँ भी आकाश से अभिप्राय है।

जो भाष्यकार सूत्रार्थ करने में उपनिषद्-वाक्यों का आश्रय लेते हैं, वे प्रत्येक सूत्र में किसी उपनिषद्-वाक्य से समानता ढूंढ़ने लगते हैं। इससे सूत्रार्थ में अन्तर पड़ जाता है।

जहाँ तक आकाश की उत्पत्ति का सम्बन्ध है, इसमें हमारा मत है कि आकाश शब्द जहाँ तो परमात्मा के साथ आया है, वहाँ व्योम (space) का वाचक है और परमात्मा सर्वव्यापक होने से पूर्ण व्योम में उपस्थित है। अतः ऐसे प्रसंगों में आकाश और परमात्मा पर्यायवाचक हो जाते हैं। यहाँ उत्पत्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं हो सकता।

परन्तु जहाँ आकाश का सम्बन्ध सृष्टि-रचना में पंच भूतों में आता है, वहाँ आकाश प्रकृति का एक रूप है। यह प्राकृत पदार्थ है और वहाँ इसको परमात्मा नहीं माना और न ही उस रूप में इसे परमात्मा का लिंग स्वीकार किया है। ऐसे स्थानों में उत्पत्ति का उल्लेख है।

हम १-१-२२ के भाष्य में यह बता चुके हैं कि पंच भौतिक आकाश तो प्रकृति का रूप होने से परमात्मा का चिह्न नहीं। यह परमात्मा का उतना ही चिह्न है जितना कि जगत् का कोई भी पदार्थ परमात्मा का लिंग हो सकता है।

जो उपनिषद् के प्रमाण दिये गए हैं, वे इन सूत्रों के साथ सम्बद्ध नहीं। वहाँ आकाश की उत्पत्ति तब बतायी है जब आकाश पंच-भौतिक है और जहाँ आकाश व्योम (space) के अर्थों में आया है, वहाँ इसकी उत्पत्ति का वर्णन नहीं, वहाँ वह परमात्मा का लिंग है।

उदाहरण के रूप में तैत्ति० उप० २-१ में आकाश को उत्पन्न हुआ बताया है वहाँ इसका सम्बन्ध अन्नादि से कहा है।

यह उपनिषद् इस प्रकार है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। (तैत्ति० उ० २-१)

अर्थ है कि 'उस' और 'इस' आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। 'एतस्मात्' का अर्थ है आत्मा से अतिरिक्त। अतः 'इसका' अर्थ है प्रकृति (ब्रह्म)। अभिप्राय यह है कि प्रकृति से, परमात्मा के सहयोग से आकाश उत्पन्न हुआ। यह पंच भौतिक आकाश का वर्णन है।

इसी मन्त्र को आगे पढ़ने से बात स्पष्ट हो जाती है।

लिखा है कि—

आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी ।

स्पष्ट है कि यहाँ पंच महाभूतों की उत्पत्ति का वर्णन है। यहाँ आकाश एक महाभूत है और इसकी उत्पत्ति होती है।

इसी उपनिषद् का एक अन्य प्रमाण (तैत्ति० उप० ३-२) शंकर ने दिया है। वहाँ बताया है कि—

तप से ब्रह्म जानने की इच्छा कर। यहाँ ब्रह्म से त्रिविधं ब्रह्म का अभिप्राय है। केवल परमात्मा नहीं। तप ब्रह्म है। इत्यादि।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि आकाश की उत्पत्ति तो तब है जब पंच भूतों वाला आकाश लिया है।

वेदों में जहाँ आकाश का कथन है, वहाँ दोनों में किसी भी आकाश के विषय में यह हो सकता था। आकाश जो परमात्मा का लिंग है अथवा जो पंच भूतों में एक है। पंच भूतों वाला आकाश परमात्मा का लिंग नहीं है।

अतः उत्पत्ति विवाद का विषय नहीं। सूत्रकार ने भी उत्पत्ति का उल्लेख नहीं किया। सूत्रकार कहता है, आकाश का कथन तो है।

कदाचित् कोई वैसा ही मन्त्र पूर्व पक्ष वाले के मस्तिष्क में रहा होगा जैसा मन्त्र हमने (ऋ० १-१६४-३९) ऊपर दिया है। इसपर पूर्व पक्ष कहता है कि यहाँ आकाश का उल्लेख गौण है; अर्थात् सीधा आकाश के विषय में नहीं।

सूत्रकार ने इसका उत्तर दिया कि प्रतिज्ञा 'कि वेद में आकाश शब्द है' गलत नहीं। सूत्रकार आगे प्रकृति के आकाश का वर्णन करता है।

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥७॥

यावत्+विकारं+तु+विभागः+लोकवत्।

यावत्=जहाँ तक। विकारं=विकार है। (विकार से आकाश का सम्बन्ध है) तु=तो। विभागः=विभाग होता है। लोकवत्=जैसे लोक में देखा जाता है।

अर्थात्—जहाँ तक पंच-भौतिक आकाश का सम्बन्ध है, वह विभक्त होता है। अर्थात् कारण से भिन्न रूप वाला हो जाता है और उसे भिन्न रूप में बनाने वाले निमित्त कारण (परमात्मा) से भी वह भिन्न होता है। वैसे ही जैसे संसार में देखा जाता है।

संसार में देखा जाता है कि स्वर्ण से स्वर्ण-भूषण भिन्न-रूप हो जाते हैं और स्वर्णकार से भी उसका सादृश्य नहीं होता। इसी प्रकार प्रकृति के सब विकार प्रकृति के रूप से भिन्न होते हैं और जगत् के निमित्त कारण से भी भिन्न हैं।

यही बात पंच-भौतिक आकाश की है।

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार और अहंकारों से पंच महाभूत बनते हैं। आकाश का विभाग हुआ यह कहा, तो यहाँ इसी पंच-भौतिक आकाश का उल्लेख है।

पंच महाभूतों में यह माना जाता है कि अहंकारों से पहले आकाश बना। आकाश से वायु बना, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी।

यहाँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का अभिप्राय है आकाशीय पदार्थ, वायवीय पदार्थ, आग्नेय पदार्थ, जलीय पदार्थ और पार्थिव पदार्थ।

इनको वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में लिखा जाये तो आकाशीय पदार्थ वह है जो अहंकारों (inert-atom) से बनता तो है, परन्तु उसका रूप परिमण्डलों (atoms) के रूप में होता है। परिमण्डलों में अहंकार एक-दूसरे के चारों ओर घूमते रहते हैं। अहंकारों के ऐसे संयोग बन जाते हैं कि वे सामूहिक अवस्था में सर्वथा प्रभावहीन होते हैं। तीनों अहंकार आकाश में एक साथ एकत्रित होकर आकर्षण-विकर्षण रहित हो सन्तुलित अवस्था में हो जाते हैं तब आकाश का परिमण्डल होता है।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

एतेन+मातरिश्वा+व्याख्यातः।

इससे (आकाश महाभूत से) मातरिश्वा बनने का वर्णन है।

यह समझा जाता है कि आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी महाभूत बनता है। इनका वास्तविक नाम है—आकाशीय, वायवी, आग्नेय, जलीय और पार्थिव पदार्थ।

यहाँ इस सूत्र में आकाश से वायवी का ही कथन है। अन्य भूतों का वर्णन आगे करेंगे।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि बृहदारण्यक उपनिषद् (२-७) में एक वायु का वर्णन है और (ऋ० १-२-१,२,३) में भी एक वायु का वर्णन है। यह आकाश से उत्पन्न मातरिश्वा वह वायु नहीं है। यह पंच भौतिक है। यह परिमण्डलीय अवस्था (atomic state) में है और बृहदारण्यक एवं ऋग्वेद वाली वायु शक्ति का रूप है। वहाँ (ऋ० १-२-१) में कहा है कि वायु वस्तुओं को सुन्दर, सुखद और स्वादु बनाती है। वह यह पंच भौतिक वायु नहीं है।

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः॥९॥

असम्भवः+तु+सतः+अनुपपत्तेः।

सत् पदार्थ की उत्पत्ति युक्तिरहित है। यदि सम्भव (उत्पाद होने योग्य) हो तो वह सत् नहीं हो सकता। सत् का अर्थ नित्यत्व है।

असम्भवतः=उत्पन्न होता नहीं। सतः=नित्य पदार्थ। अनुपपत्तेः=उपपत्ति अर्थात् सिद्ध न होने से।

स्वामी शंकराचार्य से मतभेद यह है कि सत् पदार्थ एक है अथवा एक से अधिक। स्वामीजी मानते हैं कि केवल परमात्मा ही सत् है। हम यह पूर्व सूत्रों के भाष्यों में सिद्ध कर चुके हैं कि परमात्मा के अतिरिक्त प्रकृति और जीवात्मा भी नित्य हैं।

इस सूत्र की आवश्यकता इस कारण हुई है कि सूत्र २-३-७ में यह कहा है कि विकार रूप आकाश से विभाग बनता है, परन्तु जो पदार्थ सत् हैं, वे नहीं बनते।

परमात्मा नहीं बनता। वह शाश्वत अर्थात् अनादि है। वह आकाश भी जिसे परमात्मा का लिंग माना है, अनादि है।

तेजोऽतस्तथा ह्याह॥१०॥

तेजः+अतः+तथा+हि+आह।

तेजः=तेज। अतः=इस (वायु) से। तथा=ऐसा। हि=निश्चय से। आह=कहा है।

आकाश से मातरिश्वा, मातरिश्वा से अग्नि उत्पन्न होता है। ऐसा शास्त्र में वर्णन किया गया है।

कहाँ वर्णन है? तैत्तिरीय उपनिषद् (२-१) में।

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। (तैत्ति० २-१)

उस और इससे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ (वनस्पतियाँ), ओषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष (प्राणी) और वह तथा यह पुरुष अन्न एवं रसमय हैं।

आपः ॥११॥

तेज से आपः (जलय) उत्पन्न होते हैं।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥१२॥

पृथिवी+अधिकाररूप+शब्दान्तरेभ्यः।

आपः से पृथिवी की उत्पत्ति बतायी है। 'अधिकाररूप शब्दान्तरेभ्यः' के अर्थ अन्य भाष्यकारों ने ऐसे किये हैं, जो भलीभाँति विषय को स्पष्ट नहीं कर पाते। इस वाक्य का प्रयोजन पृथिवी की व्याख्या करना है।

जैसे वायु न लिखकर मातरिश्वा लिखा था और ऐसा लिखकर उसे उस वायु से पृथक् प्रकट किया था, जो वायु ईश्वरीय शक्ति के रूप में जगत् की रचना और कार्य में भाग लेता है। इसका विस्तृत वर्णन वृहद० उप० (३-७) में किया है। मातरिश्वा इससे भिन्न पाँच भौतिक वायु है जो अग्नि की उत्पादक है।

इसी प्रकार पृथिवी का विश्लेषण लिख दिया गया है। कौन पृथिवी ? वह जो अधिकार अर्थात् प्रकरण से पता चलती है। प्रकरण से पाँच भौतिक पृथिवी है जो रूप और शब्द (नाम) रखती है, अर्थात् अपना रूप और नाम रखती है।

यहाँ हम वर्तमान विज्ञान की बात लिख दें तो पृथिवी के विषय में उक्त कथन स्पष्ट हो जाएगा। वर्तमान विज्ञान में 'मैटर' तीन रूपों (अवस्थाओं) में लिखा है —वायवी (gaseous), जलीय ((liquid) और ठोस (solid)। ठोस रूप वायवी और जलीय रूपों से विलक्षण इस कारण माना जाता है कि यह अपना रूप स्थिर (stable) रखता है। यही बात पृथिवी की व्याख्या करने के लिए सूत्रकार ने लिखी है, अर्थात् पृथिवी वह है जिसका रूप और नाम स्थिर है। अर्थात् ठोस (solid) पदार्थ।

आकाश→मातरिश्वा→तेज→आपः→पृथिवी।

अभिप्राय यह कि यहाँ पृथिवी से नक्षत्र (earth) का अर्थ नहीं। पृथिवी (earth) नक्षत्र में बहुत कुछ है, केवल ठोस पदार्थ ही नहीं। अतः प्रकरण से पृथिवी एक पाँच भौतिक पदार्थ है जो सृष्टि-रचना में अन्तिम महाभूत है। इसका स्थूल रूप ठोस पदार्थ है। ये अपना रूप रखते हैं और अपना नाम रखते हैं।

नाम एवं रूप परस्पर सम्बन्धित हैं। उदाहरण के रूप में कंचनचंगा इत्यादि पर्वत हैं। वे रूप और नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका नाम और रूप स्थिर है।

संक्षेप में पार्थिव पदार्थ पृथिवी का रूप समझे जाते हैं।

इस पाद के प्रथम सूत्र से लेकर सूत्र संख्या १२ तक पंच-भूतों के विषय में लिखा है। पंच महाभूतों का प्रसंग आकाश से आरम्भ किया गया है। शंका करने

वाला कहता है कि वेदों में आकाश शब्द नहीं है। सूत्रकार के मन में कोई वेद-मन्त्र रहा होगा। हमने (ऋ० १-१६४-३९) का उदाहरण दिया है। उसमें व्योम शब्द ब्रह्म का सूचक आया है।

शंका करने वाला कहता है कि वेद में आकाश का वर्णन गौण रूप में है, अर्थात् आकाश के लिए नहीं आया। आकाश ब्रह्म के लिए आया है।

सूत्रकार इसका उत्तर यह देता है कि आकाश शब्द से तो यह प्रकट होता है कि आकाश शब्द है। कदाचित् ब्रह्म की भाँति वह दूसरे अर्थों में लिया गया है। यद्यपि वहाँ आकाश और परमात्मा साथ आये हैं; इस पर भी यह कहना कि आकाश शब्द वेदों में है, गलत नहीं।

इसके आगे सूत्रकार कहता है कि ब्रह्म के साथ जिस आकाश का वर्णन है, वह दूसरा है और विकार रूप आकाश दूसरा है। वह प्रकृति से उत्पन्न होता है। इसके उपरान्त आकाश से मातरिश्वा, उससे तेज, तेज से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति का वर्णन कर दिया है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि सृष्टि-क्रम ब्रह्मसूत्रों में वैसा ही बताया है जैसाकि सांख्य और वैशेषिक में बताया गया है। इसी आधार पर हमारा कहना है कि वैदिक दर्शन शास्त्र परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे पूरक हैं। वैशेषिक दर्शन (२-१-१,२, ३, ४, ५) देखें।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥१३॥

तत्+अभिध्यानाद+एव+तु+तलिङ्गात्+सः।

तत्=उस (पंच महाभूत के)। अभिध्यानात्=व्यापक चिन्तन से। एव=ही। तु=तो। तत्=उसके। लिङ्गात्=लक्षण से। सः=वह (परमात्मा विदित होता है।)

अभिप्राय यह है कि सृष्टि क्रम में आकाश से पृथिवी तक के बनने पर चिन्तन करने से परमात्मा के लिंगों का पता चलता है।

जितने भी पदार्थ इस जगत् में व्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर हैं, वे पाँच अवस्थाओं में पाये जाते हैं। ये अवस्थाएं हैं, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी। ये अवस्थाएँ उत्तरोत्तर सूक्ष्म से स्थूलता की ओर कही गई हैं।

इनकी व्याख्या में हम इनकी आभ्यन्तरिक बनावट के विषय में लिख चुके हैं। पृथिवी के परिमण्डल अथवा उनके समूह (atoms and molecules) बहुत समीप-समीप होकर ठोस आकृति उपस्थित करते हैं। इनका रूप और नाम स्थिर होता है। वैज्ञानिक भाषा में कहते हैं shape and name पार्थिव पदार्थों का

रूप स्थिर होता है। दूसरी अवस्था है जलीय (तरल) पदार्थों की। इसमें परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूह कुछ दूर-दूर होते हैं। इतने कि वे एक-दूसरे के आकर्षण से बाहर नहीं होते, यद्यपि पार्थिव पदार्थों की भाँति परस्पर बँधे नहीं होते।

तीसरी अवस्था वायवी (gaseous) है। इसमें परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूह और भी दूर-दूर होते हैं और यदि इनको दबाव से इकट्ठा न रखा जाये तो ये स्वतन्त्र हो रिक्त स्थान में फैल जाते हैं। वैज्ञानिक भाषा में इनको कहते हैं कि ये formless हैं। ये न तो आयतन स्थिर रख सकते हैं और न ही रूप।

अग्नि-स्वरूप पदार्थ उनको कहते हैं जिनके परिमण्डल अथवा परिमण्डल-समूहों में वियोग अथवा संयोग सहज ही हो सकता है और इस वियोग अथवा संयोग से अग्नि (ऊष्मा) उत्पन्न होती है। इनको रेडियो एक्टिव पदार्थ कहते हैं।

एक अवस्था ऐसी भी है जिसमें अहंकारों में संयोग तो होता है, परन्तु वह संयोग परिमण्डलों का रूप ग्रहण नही करता। अहंकार ऐसे ढंग से संयुक्त होते हैं कि वे सर्वथा आकर्षण-विकर्षण से रहित हो जाते हैं। इस अवस्था में इनको आकाश कहते हैं। ये संयोग लक्षणविहीन होते हैं। इस अवस्था में उनके संयोग-वियोग नहीं हो सकते। इनमें वायु का समावेश न होने से गति उत्पन्न नहीं होती। यहाँ वायु से उस शक्ति का अभिप्राय है जो कि गति उत्पन्न करती है। यह पंचभौतिक वायु से भिन्न है।

अहंकारों से ये पंच महाभूत बनते हैं और उनसे पंच तन्मात्रा बनती हैं। तन्मात्रा तो पाँच प्रकार की शक्ति तरंगें ही हैं। उनसे कुछ कार्य सम्पन्न होते हैं और उन कार्यों को सम्पन्न कर वे विनष्ट हो जाती हैं। पंच महाभूत विशेष कहलाते हैं और इन पंच महाभूतों से बनने वाले कार्य जगत् के सब पदार्थ भी विशेष ही कहलाते हैं और इन विशेषों के स्वभाव और व्यवहार को लिखने वाले दर्शन का नाम वैशेषिक दर्शन है। इस दर्शन शास्त्र के रचयिता कणाद मुनि हैं।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

विपर्ययेण + तु + क्रमः + अतः + उपपद्यते + च।

विपर्ययेण = विपर्यय से अर्थात् (प्रलय क्रम से)। तु = तो। क्रमः = क्रम। अतः = इस प्रकार। उपपद्यते = सिद्ध होता है।

अर्थात् सृष्टि क्रम के उलट क्रम, प्रलय काल में भी इसी प्रकार होता है। अभिप्राय यह है कि पृथिवी → आपः → अग्नि → वायु → आकाश क्रम रहता है।

आकाशादि (पंच महाभूतों) से पहले हैं अहंकार, महत्, और प्रकृति। इनमें भी प्रलय काल में सृष्टि क्रम विपरीत होगा।

इसी प्रकार सृष्टि क्रम और विपर्यय अर्थात् प्रलय क्रम है।

उक्त (२-३-१३) में सृष्टि क्रम लक्षण है परमात्मा के अस्तित्व का। इसी प्रकार प्रलय क्रम भी उसी के अस्तित्व का प्रमाण है।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥१५॥

अन्तरा + विज्ञानमनसी + क्रमेण + तत्+ लिंगात्+इतिचेत्+न+ अविशेषात्।

अन्तरा=बीच में। पंच महाभूतों के क्रम के भीतर। विज्ञानमनसी=बुद्धि और मन। तत् लिंगात्=उनके लिंग (लक्षण) से। इतिचेत्=इसे यदि कहो तो न=नहीं (कारण यह कि) इनके अविशेष होने से।

अर्थात् पंच महाभूतों के क्रम में बुद्धि मन नहीं है। यदि कहो कि ये दोनों क्रम में हैं तो ऐसी बात नहीं। कारण यह कि ये अविशेष हैं।

मन और बुद्धि महत् का अंश हैं और पंच महाभूतों का क्रम तो अहंकारों के उपरान्त आरम्भ होता है।

अहंकारों के उपरान्त बनी सृष्टि को विशेष कहते हैं और उससे पहली सृष्टि को अविशेष।

इस सूत्र में यह कहा गया है कि मन और बुद्धि पंच महाभूतों के क्रम में नहीं। कारण यह कि ये अविशेष हैं। ये अहंकारों से पहले की सृष्टि है।

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥१६॥

चराचर+व्यपाश्रयः+तु+स्यात्+तद्+व्यपदेशः+भाक्तः+तद्भाव-भावित्वात्।

चराचर व्यपाश्रय=चराचर प्राणी जो (शरीर के) आश्रय से है। तु=तो। स्यात्=है। तत्=वह। भाक्तः=गौण। व्यपदेशः=कहे जाने से।

तत्=वह। भाव भावित्वात्=जन्म और मरण होने से। चराचर प्राणियों के जन्म-मरण का कथन गौण है, अर्थात् जो इनमें चेतन तत्त्व है, वह न जन्म लेता है और न मरता है। इनका जन्म-मरण कहने मात्र का है।

अतः जन्म-मरण गौण है, कहने मात्र का है। इनका जीवन देह के आश्रय है जो नाशवान् है। आत्मा अविनाशी है।

इस सिद्धान्त की पुष्टि गीता में इस श्लोक के भी होती है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्-
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ (भ०-गी० २-२०)

अर्थ इस प्रकार है—

यह (जीवात्मा) किसी काल में भी न जन्म लेता है, न मरता है। न यह होकर फिर होने वाला है। वह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत और पुरातन है। नाश होने वाला शरीर है। यह (जीवात्मा) नाश नहीं होता।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥१७॥

आत+मन+अश्रुते+नित्यत्वात्+च+ताभ्यः।

आत्मा अवैदिक (कथन) नहीं। नित्य होने से और उनसे होने से।

अभिप्राय यह है कि नित्य होने से जो हो सकता है। आत्मा नित्य है और जन्म-मरण उसका नहीं होता।

ज्ञोऽत एव ॥१८॥

ज्ञः+अतः+एव।

इसलिए यह चेतन ही है।

यहाँ आत्मा में चेतना को स्वीकार करते हुए स्वामी शंकराचार्य ने वैशेषिक और सांख्य दर्शन से अपनी अनभिज्ञता का प्रदर्शन किया है।

आप लिखते हैं—

स किं कणभुजानामिवागन्तुक चैतन्यः, स्वतोऽचेतनः, आहोस्वित्सांख्यानामिव नित्यचैतन्यस्वरूप एवेति वादिविप्रतिपत्तेः संशयः। किं तावत्प्राप्तम्?

इसका अर्थ है—वह क्या कणाद मत के समान आगन्तुक चैतन्य होता हुआ स्वतः अचेतन है अथवा सांख्यकों के समान नित्य चैतन्य स्वरूप ही है। इस प्रकार वादियों के विपरीत कथनों से संशय होता है। तो क्या प्राप्त हुआ?

इसका अभिप्राय यह है कि कणाद के मत से आत्मा में चेतना आगन्तुक है। अर्थात् कहीं बाहर से आती है और सांख्य आत्मा को नित्य चैतन्यस्वरूप मानता

है। इस प्रकार परस्पर विरोधी भावों का समाधान करने के लिए वेदान्त दर्शन में यह सूत्र कहा गया है।

हमारा यह मत है कि ये सब सूत्र उन जड़वादियों के खण्डन में लिखे हैं जो शरीर को ही चेतन-स्वरूप हो जाने का मत प्रकट करते हैं। कणाद और सांख्य का नाम स्वामी शंकराचार्य ने इन दोनों की निन्दा करने के लिए लिख दिया है। कणाद आत्मा को ऐसा नहीं मानता, जैसाकि स्वामीजी ने यहाँ प्रकट किया है।

महर्षि कणाद ने आत्मा के विषय में यह लिखा है—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि।
(वै० द० ३-२-४)

प्राण अपान लेना, पलक खोलना और बन्द करना, जीवन, मन की गति, इन्द्रियों के विकार, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न—आत्मा के ये लिंग हैं।

लिंग का अर्थ है कि वे चिह्न जिनसे आत्मा का ज्ञान होता है, जैसे धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान होता है।

यहाँ यह समझने की बात है कि धुएँ से अग्नि का निर्माण नहीं होता अथवा अग्नि में तेज और प्रकाश धुएँ से उत्पन्न नहीं होता।

अतः इन्द्रियों के विकार से आत्मा में चेतनता उत्पन्न नहीं होती। इन्द्रियों के विकार तथा मन की गति से आत्मा के अस्तित्व का पता चलता है।

कणाद यह नहीं मानता कि इन्द्रियों से अथवा मन से जीवात्मा में चेतनता आती है। स्वामीजी ने कणाद के वैशेषिक का कोई प्रमाण नहीं दिया। कदाचित् स्वामीजी का आशय वैशेषिक दर्शन के इस सूत्र से है—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥
(वै० द० ३-२-१)

परन्तु इससे स्वामीजी की बात सिद्ध नहीं होती।

इस सूत्र का अर्थ यह है कि आत्मा और इन्द्रियों के विषय का सम्बन्ध होने पर मन में ज्ञान होना और न होना दिखाई देता है।

यह मन में ज्ञान और अज्ञान के विषय में लिखा है। जब आत्मा और इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है तब मन में ज्ञान होता है अथवा ज्ञान का अभाव होता है।

इन्द्रियाँ तो जड़ हैं। अतः आत्मा के चेतन होने के कारण ही इन्द्रियाँ मन को ज्ञान दे सकती हैं।

शंकराचार्य का यह कहना है कि इन्द्रियों के बिना आत्मा जड़ है, यह उपर्युक्त सूत्र से सिद्ध नहीं होता।

सांख्य के विषय में हम पहले ही लिख चुके हैं कि सांख्य मानता है आत्मा चेतन है, परन्तु ईश्वर कर्ता, धर्ता, स्रष्टा है।

यदि स्वामीजी की अनर्गल बातों के विषय में ही लिखने लगें तो निस्संदेह एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखना पड़ेगा।

उत्क्रांतिगत्यागतीनाम् ॥१९॥

उत्क्रान्तिः+गति+आगतीनाम् ।

नीचे की योनियों से उन्नति अर्थात् निम्न कोटि की योनियों से श्रेष्ठ योनियों में जाना और वहाँ से लौट आना होता है। यह जीवात्मा के विषय में कहा गया है। इसी को आवागमन कहते हैं। मरना, जन्म लेना, फिर मरना इत्यादि जीवों (प्राणियों) के साथ होता है। नित्य जीवात्मा इन गतियों में आता जाता है।

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥२०॥

स्व+आत्मना+च+उत्तरयोः ।

स्व+आत्मना=अपने आत्मा के साथ सम्बद्ध होने से। उत्तरयोः=दोनों जो आगे होने वाले हैं। अभिप्राय यह कि गति और अगति होती है।

उत्तरयोः का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने अगले लोक में जाने से किया है। भावार्थ एक ही है। भाव यह है कि आत्मा आता-जाता है, भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेता है। इस कारण यह परमात्मा नहीं है। परमात्मा के सर्वव्यापक होने से उसका जाना और आना अथवा एक लोक से दूसरे लोक में जाना नहीं हो सकता।

'स्वात्मना' का अर्थ है कि अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध होने से। किसका, किसके साथ सम्बन्ध होने से ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है। इसका उत्तर है कि जब जीवात्मा में गति-अगति होती है तो मोक्ष-प्राप्ति की अवस्था को छोड़कर जीवात्मा सदा गति-अगति में शरीर (सूक्ष्म अथवा स्थूल) के साथ सम्बद्ध रहता है। अतः हमारा मत है कि इस सूत्र में स्वात्मना का अर्थ है कि सूक्ष्म शरीर अपने आत्मा के साथ गति-अगति करता है।

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥२१॥

न+अणुः+अतच्छ्रुतेः+इति+चेत्+न+इतर+अधिकारात् ।

यह अणु-मात्र नहीं। (ऐसा श्रुति में लिखा कहा जाता है।) यदि यह कहो तो नहीं। दूसरे के अधिकार से।

कुछ लोग कहते हैं कि यह लिखा है कि यह (आत्मा) अणु नहीं। अर्थात् यह विभु है। सूत्रकार कहता है कि ऐसा कहो तो ठीक नहीं। यह अणु है। जहाँ कहीं

आत्मा को जिसे सर्वव्यापक माना है वहाँ दूसरे अधिकार से है अर्थात् वहाँ किसी अन्य (परमात्मा) का विषय है।

आत्मा शब्द जीवात्मा के लिए भी प्रयुक्त होता है और परमात्मा के लिए भी। जहाँ परमात्मा के लिए प्रयुक्त होता है वहाँ इसे विभु कहा जाता है।

इन सूत्रों के भाष्य में श्री स्वामीजी को सूत्रकार का मन्तव्य स्वीकार करना पड़ा है। उदाहरण के रूप मे श्री स्वामीजी इसी सूत्र (२-३-२१) के भाष्य में लिखते हैं।

अथापि स्यान्नाणुरयमात्मा। कस्मात्? अतच्छ्रुतेः। अणुत्वविपरीतपरिमाणश्रवणादित्यर्थः। 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु' (बृ० ४-४-१२), 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः,' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २-१-१) इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत् नैष दोषः, कस्मात? इतराधिकारात्। परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परिमाणान्तरश्रुतिः,……

अर्थात्—इस पर भी शंका होती है कि यह आत्मा अणु नहीं है। क्योंकि श्रुति में ऐसा कहा है। अणु परिमाण के विपरीत परिमाण है, ऐसा सुने जाने के कारण। 'वह महान् अजन्मा आत्मा है, जो वह प्राणों में विज्ञानमय है,' 'वह आकाशवत्, सर्वगत और नित्य है,' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' इस प्रकार श्रुतियाँ आत्मा को अणु मानने के विरुद्ध हैं। ऐसा यदि कहो तो यह दोष नहीं। क्योंकि इतर का अधिकार है—परमात्मा के प्रकरण की श्रुतियाँ हैं।

यहाँ तो स्वामीजी ने भी स्वीकार कर लिया है कि परमात्मा जीवात्मा से इतर है।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च॥२२॥

स्वशब्द+उन्मानाभ्याम्+च।

जब जीवात्मा का वर्णन आता है तो प्राणी अपना आत्मा, ऐसा कहता है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक प्राणी का अपना-अपना जीवात्मा है। इससे और इसका नाप होने से यह सीमा वाला है। इसी से इसे अणु-मात्र कहा है। अणु का अभिप्राय है कि बहुत ही सूक्ष्म।

परमात्मा को तो 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' : (ब्र० सू० १-३-१०) ऐसा लिखा है। यह आकाश के अन्त तक धारण करता है। आकाश अनन्त है। इस कारण परमात्मा भी अनन्त है, परन्तु जीवात्मा के विषय मे यह लिखा है कि यह अणुमात्र है।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो…(मुण्ड० ३-१-९)

यह आत्मा अणु बराबर चेतन कहा जाता है।

अविरोधश्चन्दनवत् ॥२३॥

अविरोधः+चन्दनवत् ।

चन्दन की गन्ध की भाँति (इसके अणु होने पर भी पूर्ण शरीर में कार्य करने में) विरोध नहीं।

यहाँ उपमा बहुत उपयुक्त नहीं दी गयी। चन्दन की सुगन्ध और आत्मा का शरीर में कार्य एक समान नहीं। उपमा पूर्ण अंगों में ठीक नहीं। यह बात सूत्रकार को भी अनुभव हुई प्रतीत होती है। इसी कारण अपनी बात को समझाने के लिए सूत्रकार ने एक अन्य सूत्र (२-३-२४) लिख दिया है।

इस पर भी एक अंश में उपमा ठीक बैठती है। चन्दन कमरे के एक कोने में पड़ा हो तो इसकी गन्ध पूर्ण कमरे में फैल जाती है। इसी प्रकार जीवात्मा हृदय की गुहा में रहता है, परन्तु इसका कार्य पूर्ण शरीर में होता है।

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ॥२४॥

अवस्थितिवैशेष्यात्+इति+चेत्+न+अभ्युपगमात्+हृदि+हि।

(चन्दन की) स्थिति की विशेषता से। यदि यह कहो तो ठीक नहीं। (क्योंकि) हृदय देश में (आत्मा की) स्थिति स्वीकार की गयी है।

चन्दन की विशेष स्थिति यह है कि चन्दन के अंश उड़कर दूसरे स्थानों पर जाते हैं। तब इसकी सुगन्धि वहाँ अनुभव होती है। आत्मा के अंश तो टूट-टूटकर शरीर में अन्य स्थानों पर नहीं जाते। यह विशेष स्थिति है। इससे यदि कहो कि आत्मा पूर्ण शरीर में होना चाहिए तो यह नहीं। हृदय स्थल में ही यह स्वीकार किया गया है और यह हृदय (मस्तिष्क) से, वात शिराओं (nerves) से, पूर्ण शरीर से सम्बन्धित है। इस कारण आत्मा को अणु-मात्र मान लेने से इसके शरीर में कार्य का विरोध (आपत्ति) नहीं।

यहाँ सूत्रकार ने स्वामी शंकराचार्य के मत 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' को स्वीकार नहीं किया। यदि जीवात्मा परमात्मा ही होता तो उसके अणु-मात्र मानने में कोई तत्त्व नहीं रह जाता। न ही 'चन्दनवत्' इत्यादि उदाहरणों की आवश्यकता थी।

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

गुणात्+वा+लोकवत्।

गुणात्=गुण से। वा=अथवा। लोकवत्=लोक में जैसे।

विचारणीय विषय यह उपस्थित है कि जीवात्मा को यदि अणु परिमाण वाला मानें तो वह पूर्ण शरीर पर आधिपत्य कैसे रखे हुए है ?

सूत्रकार ने एक उपमा दी है। जैसे चन्दन की गन्ध फैल जाती है, परन्तु इस उपमा से पूर्ण परिस्थिति को प्रकट न कर सकने के कारण उसने व्याख्या कर दी। कहा कि चन्दन की विशेष (एक बात) में समानता है—सुगन्धि का फैल जाना। वैसे आत्मा हृदय (मस्तिष्क) की एक गुहा में रहा माना जाता है और मस्तिष्क पूर्ण शरीर से शिराओं के द्वारा जुड़ा हुआ है। इस कारण आत्मा अणु होते हुए भी पूर्ण शरीर पर अधिकार रखता है।

कैसे अधिकार रखता है ? लिखा है कि आत्मा अपने गुणों से शरीर पर शासन करता है। आत्मा का गुण है कि यह चेतन है। ईक्षण रखता है।

साथ ही यह कह दिया कि जैसे लोक में एक अधिकारी नगर पर अधिकार रखता है। आत्मा की सेवा के लिए मन, बुद्धि और दस इन्द्रियाँ हैं। इनके द्वारा यह पूर्ण शरीर पर ऐसे राज्य करता है जैसे कि राजा अपने कर्मचारियों द्वारा देश पर राज्य करता है।

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

व्यतिरेकः+गन्धवत्।

व्यतिरेकः=पृथक् होना। गन्धवत्=गन्ध की भाँति।

जैसे गन्धयुक्त वस्तु से गन्ध पृथक् हो, अपना प्रभाव दिखाती है, वैसे ही आत्मा का प्रभाव आत्मा से पृथक् स्थान पर देखा जाता है। यह इन्द्रियों द्वारा होता है।

पिछले सूत्र में 'गुणात्' शब्द आया है। अर्थात् आत्मा का गुण 'ईक्षण' पूर्ण शरीर पर दिखायी देता है। गुण का प्रभाव लोकवत् होता है। अर्थात् जैसे राजा कर्मचारियों द्वारा अपने गुणों का प्रदर्शन प्रजा पर करता है, वैसे ही आत्मा, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा शरीर पर अपने गुणों का प्रभाव उत्पन्न करता है।

परन्तु वर्तमान सूत्र में गुणों की गन्ध से तुलना नहीं की। गन्ध की तुलना राज्य के उन कर्मचारियों से की है जो राजा के गुण पहुँचाते हैं।

गन्ध फूल अथवा चन्दन का गुण नहीं। गन्ध तो फूल अथवा चन्दन में एक प्रकार का तेल (essential oil) होता है। वह तेल (essential oil) उड़ने वाला होता है। उस तेल का गुण गन्ध है और यह तेल उड़कर जहाँ जाता है वहाँ यह गन्ध अनुभव होती है। अतः फूल की सुगन्धि जब सूँघने वाले के पास पहुँचती है तो वास्तव में उस फूल का तेल फूल से उड़कर सूँघने वाले के पास जाता है।

इस कारण फूल और सुगन्धि वाले तेल का वह सम्बन्ध है जो राजा और उसके कर्मचारी का है।

अतः हमने इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है। गन्ध की भाँति पृथक् हो जाता है। कौन पृथक् हो जाता है? ईक्षण गुण वाला आत्मा, प्रभाव ले जाने वाली इन्द्रियों से। प्रभाव गुण नहीं है। प्रभाव गुण का लक्षण है। यह पदार्थ से पृथक् हो सकता है, गुण नहीं।

यही इसका गुण है। गुण इन्द्रियों द्वारा पूर्ण शरीर पर प्रकट होता है जैसे फूल की गन्ध का प्रभाव प्रकट होता है।

तथा च दर्शयति ॥२७॥

तथा+च+दर्शयति।

तथा=वैसा। च=ही। दर्शयति=देखने में आता है। कहाँ देखने में आता है? वेदादि शास्त्रों में, अथवा सांसारिक कार्यों में।

उदाहरण के रूप में श्वेताश्वतर उपनिषद् में जीवात्मा के विषय में लिखा है—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भोगो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

(श्वेता० उ० ५-७, ९)

अर्थ है—जो गुणयुक्त, फलप्रद कर्मों का करने वाला, किये कर्मों का भोगने वाला है, वह विश्व रूप विभिन्न रूपों, तीन गुणों और तीन मार्गों पर गमन करने वाला है। प्राणों का स्वामी अपने कर्मों से जन्म-जन्मान्तरों में घूमता है।

वह (जीवात्मा) बाल के अग्र भाग के सौवें भाग के भी सौवें भाग के बराबर कल्पित किया गया है। यह भाग परिमाण है जीव का। ऐसा जानना चाहिए। वह (जीवात्मा) अनन्त मार्ग पर जाने वाला माना जाता है।

अन्य स्थानों पर भी जीवात्मा को अति सूक्ष्म ही माना है।

लोकवत्, इसका प्रभाव शरीर के दूर-दूर अंगों में भी शरीर के करणों द्वारा पहुँचता है।

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

पृथक्+उपदेशात्।

जीवात्मा का परमात्मा से पृथक् में उपदेश (वर्णन) है। अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा नहीं कहा गया। यह परमात्मा से पृथक् है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठो० १-३-१३)

अर्थात्—बुद्धिमान् मनुष्य मन, वाणी को रोके (संयत करे)। उस मन, वाणी को बुद्धि मे रोके। उस बुद्धि को महान् (अर्थात् मन, वाणी, बुद्धि से बड़े) आत्मा में रोके और उसको परमात्मा से जोड़े।

एक अन्य स्थान पर भी लिखा है—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥

(कठो० २-३-७, ८)

अर्थात्—इन्द्रियों से मन बलवान् है। मन से बुद्धि बलवान् है। बुद्धि से बड़ा आत्मा (जीवात्मा) है। इससे बड़ा उत्तम अव्यक्त (परमात्मा) है।

इस अव्यक्त को बड़ा पुरुष (परमात्मा) कहते हैं, जो लिंगों से रहित है। उसे जानकर जीवात्मा अमृत को प्राप्त कर लेता है।

इन उदाहरणों में जीवात्मा और परमात्मा में भेद बताया है।

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

तत्+गुणसारत्वात्+तु+तत्+व्यपदेशः+प्राज्ञवत्।

तत्=उसका। गुणसारत्वात्=गुण की प्रधानता से। तु=तो। व्यपदेशः=कथन। प्राज्ञवत्=चेतन की भाँति (है)।

यह कहा गया है कि अपने विशेष गुणों के कारण वह शरीर में व्याप्त रहता है। जैसे चेतनता शरीर में सर्वत्र रहती है।

आत्मा अणुमात्र है, परन्तु अपने विशेष गुणों के कारण पूर्ण शरीर में यह व्याप्त प्रतीत होता है। पूर्ण शरीर चेतन अनुभव होता है।

प्राज्ञ—चेतनता का नाम है। आत्मा पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं। इस पर भी यह पूर्ण शरीर का अनुभव (ज्ञान) रखता है। यह अपने विशेष गुणों के कारण है।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

यावत्+आत्मभावित्वात्+च+न+दोषः+तत्+दर्शनात्।

यावत्=जब तक। आत्मभावित्वात्=आत्मा का होना है। च=और। न=नहीं। दोषः=दोष। तत्=उसके। दर्शनात्=दर्शन से।

इस सूत्र के लिखने में प्रयोजन यह प्रतीत होता है कि कुछ लोग कहते हैं कि जब तक जीवात्मा इस शरीर में है, तब तक ही वह कार्य करता है।

शरीर छूट जाने पर वह अस्तित्वहीन हो जाता है। अर्थात् जीवात्मा बिना शरीर के कुछ भी नहीं कर सकता। तो फिर उसके दर्शन का क्या लाभ है? शरीर का ही ज्ञान आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में सूत्रकार का कहना है कि नहीं, यह ऐसा नहीं है। जब तक यह शरीर में अस्तित्व रखता है, इसकी भावित्वात् (विद्यमानता) है, तब तक इसके दर्शन में 'दोष' नहीं। अर्थात् इसके दर्शन व्यर्थ नहीं।

यह पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है कि जीवात्मा नित्य है। अतः इसका दर्शन दोषयुक्त अथवा व्यर्थ नहीं।

कुछ भाष्यकारों ने यह लिखा है कि आत्मा की विद्यमानता तो बुद्धि और मन के संयोग से दिखाई देती है और बुद्धि तथा मन, शरीर के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं। इस कारण आत्मा की विद्यमानता शरीर के नाश होने पर नहीं रहती।

यह अर्थ इस सूत्र से निकलते नहीं। आत्मा के 'भावित्वात्' का अभिप्राय केवल इतना है कि आत्मा की विद्यमानता है। यह किस कारण है, इसका उल्लेख इस सूत्र में नहीं। बुद्धि तथा मन को इन भाष्यकारों द्वारा व्यर्थ में साथ जोड़ दिया गया है।

यद्यपि हम यह मानते हैं कि मन, जन्म-जन्मान्तर तक आत्मा के साथ रहता है और स्वामी ब्रह्म मुनिजी का विचार है कि बुद्धि गुण रूप में मोक्षावस्था में भी साथ रहती है; परन्तु हमारा तो यह कहना है कि इसका सम्बन्ध इस सूत्र के साथ नहीं।

इसमें तो इतना ही लिखा है कि आत्मा की विद्यमानता सदैव रहने से इसके दर्शन से दोष नहीं अर्थात् गुण है। मोक्ष प्राप्ति में दर्शन से लाभ होता है।

हमारा मत बुद्धि के विषय में यह है कि जागृत अवस्था में जीवात्मा स्वतः बिना मन और बुद्धि के भी अपना अस्तित्व रखता है। बुद्धि और मन तो जड़ हैं। ये जीवात्मा की चेतनता को प्रखर कर देते हैं। यह इसी प्रकार है जैसे कि बोलने वाले के शब्द को 'लाऊडस्पीकर' ऊँचा कर देता है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इनके बिना जीवात्मा स्वतः कुछ नहीं। जीवात्मा चेतन होने के कारण स्वतः चेतन कार्य करने के योग्य है।

जो लोग जीवात्मा को परमात्मा का अज्ञानी हुआ अंश मानते हैं, उनकी बात तो समझ में आती है। वे बुद्धि और मन से परमात्मा को अज्ञानी हो गया समझते हैं।

परन्तु यह शास्त्रीय कथन नहीं। युक्ति और शास्त्र का मत यही है कि जीवात्मा चेतन तत्त्व है और यह ज्ञानवान् है। अतः इसकी चेतना सर्वत्र और सदैव रहती है यह केवल सुषुप्ति अवस्था में नहीं होती। यह अवस्था जगत् के प्रलय-काल में होती है। उस समय जीवात्मा सक्रिय नहीं रहता।

अतः इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है—

जब तक जीवात्मा 'भावित्वात्' (की विद्यमानता है) इसके (जीवात्मा के) दर्शन=साक्षात्कार में दोष नहीं आता।

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

पुंसत्व+आदिवत्+तु+अस्य+सतः+अभिव्यक्तियोगात्।

पूर्व सूत्र में यह बताया गया है कि जीवात्मा अपने गुणों से चेतन होता है। इस सूत्र में यह कहा है कि सुषुप्ति अवस्था में भी जीवात्मा की चेतनता नष्ट नहीं होती। वह उसमें वैसे ही रहती है जैसे मनुष्य की प्रत्येक अवस्था में पुंसत्व रहता है।

वीर्य और पुंसत्व तो बाल्याकाल में भी रहता है, परन्तु इसकी अभिव्यक्ति यौवनकाल में ही होती है। इसी प्रकार जीवात्मा में चेतना सदैव रहती है, परन्तु उस चेतनता की अभिव्यक्ति केवल मात्र जागृत अवस्था में दिखाई देती है। तब यह सक्रिय होता है।

अतः इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है—

इसकी (चेतनता की) तो अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) होती है जागृत अवस्था में। पुंसत्व की भाँति अर्थात् पुंसत्व सदैव रहता है। यद्यपि इसका प्रकटीकरण यौवनकाल में होता है।

हमारा विचारित मत यही है कि उक्त सूत्र (२-३-३०) में शब्द भावित्वात् का अर्थ है जागृत अवस्था में विद्यमानता। इसमें बुद्धि इत्यादि के साथ होने अथवा न होने की बात नहीं है। जब तक इसकी जागृत अवस्था में विद्यमानता है तब तक प्राज्ञ (चैतन्यता) रहती है और इस सूत्र (२-३-३१) में यह बताया है कि यह चेतनता सुषुप्ति अवस्था में भी रहती है, जैसे बाल्यकाल में पुंसत्व। अभिप्राय यह कि जीवात्मा में चेतनता नित्य है।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥३२॥

नित्योपलब्धि+अनुपलब्धि+प्रसंगः+ अन्यतरनियमः+वा+अन्यथा।

उपलब्धि से अभिप्राय है विषयों की अनुभूति; और अनुपलब्धि से अभिप्राय है विषयों का अनुभव न करना। ये गुण जीवात्मा के साथ नित्य अर्थात् सदा रहते हैं। प्रसंग का अभिप्राय है सन्दर्भ में। अन्यतरनियम से अभिप्राय है कि परमात्मा और जीवात्मा, दोनों में से एक। अर्थात् जीवात्मा के द्वारा नियमन। अर्थात् दूसरे से नियन्त्रण (मानना पड़ेगा)। वा—अथवा। अन्यथा— दूसरी प्रकार से नहीं तो।

पूर्ण सूत्र का अर्थ बनता है कि जीवात्मा में विषयों की उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि नित्य है। इसको अनुभव करने अथवा न करने का सामर्थ्य सदा रहता है, क्योंकि यह शरीर का अधिष्ठाता है।

अभिप्राय यह है कि जीवात्मा की विषयों को अनुभव करने की सामर्थ्य अथवा न अनुभव करने की सामर्थ्य नित्य है। एक सीमा तक तो यह अनुभव कर सकता है और उस सीमा से ऊपर अनुभव नहीं करता। यह सामर्थ्य और असमर्थता नित्य अर्थात् सदा रहने वाली है। नहीं तो यह मानना पड़ेगा कि वह अपने कर्मों में स्वतन्त्र नहीं है।

सूत्र में अन्य से मन अथवा बुद्धि भी हो सकते हैं और वह परमात्मा भी हो सकता है, परन्तु ऐसा है नहीं। यदि ऐसा मानेंगे तो जीवात्मा अपने भले-बुरे कार्य के फल का भोक्ता नहीं रह जाएगा और धर्म-अधर्म का, पुण्य-पाप का, जीवात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य को अधिकार हो जाएगा।

यह सिद्ध हो चुका है कि परमात्मा तो शक्ति देता है और उस शक्ति का प्रयोग अथवा दुरुपयोग जीवात्मा अपनी जिम्मेदारी पर करता है।

अतः इस सूत्र को ऊपर के सूत्रों की शृंखला में ही समझना चाहिए। स्वामी शंकराचार्य प्रभृति भाष्यकार इन सूत्रों से यह सिद्ध कर रहे हैं कि जीवात्मा स्वयं अनुभव नहीं करता। बुद्धि और मन ही इसमें साधन हैं। वह इस सूत्र का अर्थ बदल कर करते हैं।

उनका कहना है कि जीवात्मा की नित्य उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि का विषय दूसरे के नियमन के कारण है। नहीं तो कुछ अन्य बात मानी जाएगी। वह बात क्या मानी जाएगी ? उन्होंने बताया नहीं।

हमारे अर्थ में और इस अर्थ में अन्तर यह है कि हम उपलब्धि और अनुपलब्धि को सामर्थ्य से जोड़ते हैं। जीवात्मा अल्प-सामर्थ्य है, इस कारण इसे असीम कुछ भी उपलब्ध नहीं। इसकी उपलब्धि की सीमा है। अतः उपलब्धियां और अनुपलब्धियां दोनों ही चलती हैं। इनका सम्बन्ध मन, बुद्धि से नहीं, वरन् आत्मा के

सामर्थ्य से है। यदि यह नहीं मानते तो इस पर किसी दूसरे का नियन्त्रण माना जाएगा और प्राणी के कर्मों का फल जीवात्मा के स्थान उस नियन्त्रण करने वाले तत्त्व को होगा।

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥३३॥

कर्ता+शास्त्र+अर्थवत्त्वात्।

(जीवात्मा) कर्ता है। शास्त्र के अर्थ के अनुकूल होने से।

अर्थात्—शास्त्र भी यही कहता है कि जीवात्मा कार्य करने का उत्तरदायित्व रखता है। यह किसी के आदेश से कार्य नहीं करता। शास्त्र (वेद) में इसको अनेक स्थान पर ऐसा करने वाला माना है ? कैसे ! वेद कहता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजु० ४०-२)

अर्थात्—मनुष्य को कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार तुम्हारे (मनुष्य के) लिए दूसरा कोई मार्ग ही नहीं। ऐसा करते हुए कर्म में लिप्त न हों।

विहारोपदेशात् ॥३४॥

विहार+उपदेशात्।

विहार (इच्छानुसार कर्म) करने का उपदेश होने से।

इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा को कर्म करने की स्वतन्त्रता है।

विहार का अर्थ है स्वेच्छा से आचरण करना। शास्त्र प्राणी में आत्मा को स्वतन्त्रता से कार्य करने की व्यवस्था करता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

...एवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते।

(बृ० २-१-१८)

अर्थात्—ऐसे ही यह (आत्मा) इन इन्द्रियों से अपने शरीर में यथेच्छा से विचरता है।

इसी प्रकार अन्य उद्धरण भी दिए जा सकते हैं।

उपादानात् ॥३५॥

उपादान से भी (यही सिद्ध होता है)।

उपादान का अर्थ है वे पदार्थ जो आत्मा अपने कार्य करने में प्रयोग लाता है। शरीर में आत्मा निम्न करणों का प्रयोग करता है। करण हैं दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि। ये जड़ पदार्थ हैं। इसी कारण इनको उपादान कहा है।

मनुष्य अपनी इन्द्रियों का स्वेच्छा से प्रयोग करता है। वह अपने हाथ से अपने पुत्र को प्यार भी दे सकता है और पीट भी सकता है। इसी प्रकार सब करणों के विषय में कहा जा सकता है।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥३६॥

व्यपदेशात्+च+क्रियायां+न+चेत्+निर्देश+विपर्ययः।

और कहने से क्रिया में (आत्मा स्वतन्त्र है), यदि नहीं तो इसके निर्देशन के विपरीत (कार्य) हो जायेगा।

इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई कहता है कि मैं बम्बई जाऊँगा और जाता है तो इस पर यदि यह कहो कि वह अपनी इच्छा और कहने से नहीं जाता तो यह अयुक्त होगा। अर्थात् वह अपनी इच्छा से ही जाता है। यदि यह नहीं मानते तो मनुष्य इच्छा करे बम्बई जाने की और जा पहुँचे कलकत्ता।

अर्थात् क्रियाएँ उसकी इच्छानुसार ही होती हैं और जैसा वह निर्देश करता है वैसा ही कर्म हो जाता है।

अनेक बार यह देखा जाता है कि बुद्धि तो एक बात कहती है, परन्तु आत्मा की इच्छा बुद्धि की सम्मति के विपरीत होती है। इस पर भी क्रिया तो आत्मा के आदेशानुसार ही होती है। यदि बुद्धि कर्मों पर शासन करती तो आत्मा के आदेश से अन्य हो जाता।

उदाहरण के रूप में कभी रोगी मिष्ठान्न खाने की इच्छा करता है। बुद्धि उसे यह बताती है कि मिष्ठान खाने से रोग में वृद्धि होगी, परन्तु आत्मा हाथों को आदेश देता है कि लाओ और मुख में डाल दो। कार्य होता है। जैसी बुद्धि की सम्मति थी, उसके विपरीत भी हो जाता है।

अतः सूत्रकार कहता है कि क्रिया वैसी ही होती है जैसी आत्मा कहता है। यदि आत्मा के अतिरिक्त कोई अन्य कराने वाला होता तो आत्मा के निर्देश के विपरीत कार्य हो जाता।

इच्छा, मन अथवा बुद्धि का लक्षण नहीं बताया। यह जीवात्मा का लक्षण (लिङ्ग) है। मन का कार्य है संस्कार संचय करना। बुद्धि सम्मतिदाता है। कार्य जीवात्मा कर्मेन्द्रियों द्वारा करता है।

उपलब्धिवदनियमः ॥३७॥

उपलब्धिवत्+अनियमः ।

उपलब्धि का अर्थ है कर्म के फल की अनुभूति। यह अनुभूति प्रिय और अप्रिय दोनो की होती है । यह नियम नहीं कि यह सदा प्रिय ही हो । यद्यपि मनुष्य प्रिय की इच्छा करता है, परन्तु यह होती नहीं । क्यों ऐसा नहीं होता ? जब आत्मा स्वतन्त्र है तो यह अप्रिय को क्यों प्राप्त होता है ?

सूत्रकार कहता है कि अप्रिय और प्रिय की प्राप्ति सर्वथा निश्चित नहीं और इसका कारण यह है कि आत्मा के काम भी अनिश्चित हैं। जैसे इसके कर्म अनियमित हैं. वैसे ही उपलब्धियाँ नियम से नही होतीं। यह जैसा करता है, वैसी ही उपलब्धि इसकी होती है ।

इसका क्रियाओं के विषय में आदेश अनियमित है; इसी कारण इसकी उपलब्धियाँ (कर्म फल) भी अनियमित हैं ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि यह चेतन है, फिर इसकी क्रियाएँ अनियमित क्यों है ?

इसका समाधान सूत्रकार इस प्रकार करता है—

शक्तिविपर्ययात् ॥३८॥

शक्ति+विपर्ययात् ।

शक्ति के उलट हो जाने से ।

शक्ति से अभिप्राय है करणों की कार्य-सामर्थ्य । दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि कितने सबल, श्रेष्ठ और कुशल हैं, उस पर आत्मा के कार्य की श्रेष्ठता, पूर्णता एवं दिशा निर्भर है और फिर वही उपलब्धियों का आधार है। करणों की कार्य-सामर्थ्य न केवल न्यूनाधिक होती रहती है, वरन् यह कभी ठीक दिशा में भी कार्य नहीं करती । इस कारण क्रियाएँ अनियमित होती हैं और उपलब्धियाँ भी अनियमित होती हैं ।

अन्य भी कारण बताया है ।

समाध्यभावाच्च ॥३६॥

च+समाधि+अभावात् ।

और समाधि के अभाव से भी कर्मों का निर्देश अनियमित है और उपलब्धियाँ भी अनियमित होती हैं ।

आत्मा द्वारा बुद्धि का किसी कार्य-विशेष पर केन्द्रित कर सकना ही समाधि है। जितना बुद्धि का केन्द्रीयकरण कम होगा, उतना ही आत्मा के निर्देश शिथिल और मिथ्या दिशा में होंगे और उपलब्धियाँ भी अनियमित होंगी।

इसमें एक उदाहरण भी दिया है।

यथा च तक्षोभयथा ॥४०॥

च+यथा+तक्षः+उभयथा।

और जैसे बढ़ई दोनों बातें कर सकता है। अर्थात् काम करे अथवा न करे। करण ठीक होते हुए भी जीवात्मा उन द्वारा कार्य नहीं करता अथवा समय पर कार्य नहीं करता। इससे भी उपलब्धियों में अनियमितता हो जाती है।

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥४१॥

परात्+तु+तत्+श्रुतेः।

श्रुते=यह श्रुति में वर्णित है। परात्=दूसरे से (यह होता है)। क्या होता है? करणों में शक्ति परमात्मा की मानी गई है। इस कारण आत्मा स्वतन्त्र होता हुआ भी उन करणों से ही काम करता है जो करण परमात्मा के दिए हुए हैं। परमात्मा इन करणों में शक्ति देता है आत्मा के पूर्व जन्म के कर्मफल के अनुसार। दुर्व्यसनों से यह करणों की शक्ति छिन भी जाती है।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।

(ऋ० १०-१२१-३)

जो (प्राणतः) इन्द्रियों में प्राण अर्थात् शक्ति देता है; (निमिषतो) आँखों में झपकने की शक्ति देता है; (इन्द्राजा) सब जगत् पर शासन करता है; जैसे राजा शासन करता है।

भगवद्गीता में और भी अधिक स्पष्ट रूप से लिखा है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

(भ० गी० १८-६१)

ईश्वर अपनी (मायया) शक्ति से सब भूतों के यन्त्रों पर आरूढ़ हो उनको चलाता हुआ सब भूतों के हृद्देश में ठहरा रहता है।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥४२॥

कृतप्रयत्न + अपेक्षः + विहितप्रतिषिद्ध + अवैयर्थ्यादिभ्यः + तु ।

किये गए प्रयत्न पर अपेक्षा रखने से विहित और प्रतिषिद्ध (कर्म) की व्यर्थता नहीं होती । अर्थात् उनका उचित फल मिलता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि परमात्मा की अपेक्षा जीवात्मा के कर्मों पर रहती है । इस कारण जीवात्मा के सब प्रकार के विहित अथवा प्रतिषिद्ध कर्मों का फल मिलता है । जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु उन कर्मों का फल परमात्मा देता है ।

उदाहरण के रूप में यजु० (४०-१) में लिखा है—

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।

अर्थात्—त्याग से भोग करो और किसी के भी धन की इच्छा मत करो ।

और भी लिखा है—

सत्यं वद धर्मं चर । (तैत्ति० १-११-१)

सत्य बोलो और धर्म पर आचरण करो ।

ऊपर सूत्र (२-३-४०) में यह कहा था कि परमात्मा की शक्ति से प्राणी के करण कार्य करते हैं । अगले सूत्र (२-३-४१) में यह बताया है कि परमात्मा के इस शक्ति के दाता होने पर भी जीवात्मा के कर्मों का वह निर्देशन नहीं करता; अर्थात् परमात्मा जीवात्मा के कार्यों पर नियन्त्रण नहीं रखता । जीवात्मा कर्म करने अथवा न करने में सर्वथा स्वतन्त्र है । अब इस सूत्र (२-३-४२) में लिखा है कि वह जीवात्मा के कर्मों पर अपेक्षा रखता है और प्रत्येक कर्म का फल देता है । विहित कर्म अर्थात् शास्त्र में कहे गए करने योग्य कर्म का और प्रतिषिद्ध (करने से मना किए गए) कर्म का भी, सबका उचित फल देता है ।

अपेक्षा का अर्थ निगरानी रखना है ।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयते एके ॥४३॥

अंशः + नानाव्यपदेशात् + अन्यथा + च + अपि + दाशकितवादित्वम् + अधीयते + एके ।

एके = कई एक आचार्य (जीवात्मा को) । अंश = परमात्मा का अंश मानते हैं । नानाव्यपदेशात् = अनेक प्रकार के उपदेशों से । अन्यथा = दूसरे ढंग से । च = और । अपि = भी । दाशकितवादित्वम् = दाशकितव की भाँति । अधीयते = शास्त्रों में पढ़ते हैं ।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कई एक आचार्य नाना प्रकार के उपदेशों (कथनों) से एक-दूसरे ढंग से (जीवात्मा को परमात्मा का) अंश मानते हैं। (वे कहते हैं कि) जैसे दाशकितव में अंश होता है वैसे ही जीवात्मा परमात्मा का अंश है।

इस सूत्र में पद—दाशकितवादि के अर्थ भिन्न-भिन्न भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किए हैं।

हम पहले आचार्य श्री उदयवीर शास्त्रीजी द्वारा किए अर्थों को लिख देते हैं। शास्त्रीजी लिखते हैं—

सूत्र में 'दाश' पद सामान्य स्त्री-परक है। दानार्थक 'दाश' धातु निष्पन्न होता है। दान-गुण के कारण यह स्त्री मात्र 'मादा वर्ग' का बोध कराता है। सन्तानादि का प्रदान और अपने-आपको समर्पण की भावना इसमें निहित है। इसी प्रकार सूत्र का 'कितव' पद पुरुष सामान्य का कथन करता है। यह प्राणी-मात्र के नर-वर्ग का बोध कराता है।

इन अर्थों से श्री शास्त्रीजी इस सूत्र में अंश की तुलना पुत्र के माता-पिता का अंश होने से करते हैं।

स्वामी ब्रह्म मुनिजी इस सूत्र में इसी पद (दाशकितवादित्वम्—अपि—एके—अधीयते) का अर्थ इस प्रकार करते हैं। परमात्मा में दाशत्व-भाण्ड धर्म और कितवत्व-जुआरीपन का दोष भी आ जाये; क्योंकि कुछ शाखा वाले पढ़ते हैं कि ब्रह्म दाशा (दासद्) ब्रह्म दासा—(दासद्) ब्रह्म में कितवा उत। 'स्त्री पुंसौ ब्रह्मणो जातौ' (पैप्पलाद संहिता, ८-१-१०)। संसार में ब्रह्म से दाश—दास—भाण्ड—भड़वे इत्यादि और ब्रह्म से कितव—जुआरी तथा ब्रह्म से स्त्री-पुरुष उत्पन्न हुए। ये सब ब्रह्म हो जावें; यदि ब्रह्म से भिन्न कर्मकर्ता जीवात्मा न हों तो।

अब देखें स्वामी शंकराचार्यजी इसका क्या अर्थ करते हैं।

स्वामी शंकराचार्य के भाष्य के टीकाकार स्वामी सत्यानन्द इस प्रकार लिखते हैं—

सूत्रार्थ—(अंशः) जीव ईश्वर का कल्पित अंश है। (नाना व्यपदेशात्) क्योंकि (य आत्मनि तिष्ठन्) इत्यादि श्रुति में दोनों का भेद व्यपदेश है (अन्यथा चापि) और उसी प्रकार अन्यथा-अभेद का भी व्यपदेश है। कारण कि (एके) एक शाखा वाले (दाशकितवादित्वम्) 'ब्रह्म दाशा' इस प्रकार ब्रह्म में दाशकितवत्व आदि का (अधीयते) पाठ करते हैं।

ब्रह्म में दाशकितवत्व का अर्थ स्पष्ट नहीं हुआ। जीवात्मा में ब्रह्म के दाशकितवत्व का भाव है।

श्री स्वामीजी भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं—

तथा हि—**एके शाखिनो दाशकितवादिभावं ब्रह्मण आमनन्त्याथर्वणिका ब्रह्मसूक्ते—'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेवेमे कितवाः' इत्यादिना।**

अर्थात्—जैसे एक आथर्वण शाखा वाले ब्रह्म दाशा (ब्रह्म ही दास धीवर है। ब्रह्म ही ये कितव-जुआरी हैं)।

इन सब अर्थों में श्री उदयवीर शास्त्रीजी के ही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

एक बात स्पष्ट है कि कुछ एक आचार्य जीवात्मा को परमात्मा का ही अंश मानते हैं। कैसे अंश हैं ? यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है। एक सर्वव्यापक विभु का अंश कैसे हो सकता है ? स्वामी शंकराचार्यजी तो लिखते हैं कि जैसे अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं। (अग्नि विस्फुलिङ्गयोः); परन्तु सूत्रकार का यह आशय प्रतीत नहीं होता। यहाँ सूत्र में लिखा है (नानाव्यपदेशात्) अंश कई तरह का हो सकता है। सूत्रकार उन कई प्रकारों का वर्णन नहीं करता। उनको उसने पाठक की कल्पना पर छोड़ दिया है। चिनगारी अग्नि का अंश होती है। यदि जीवात्मा परमात्मा का वैसा ही अंश होता जैसेकि चिनगारी अग्नि का होती है तो दाश और जुआरी की बात करने के स्थान पर तुरन्त इसको कह दिया जाता, परन्तु सूत्रकार ने इसको नहीं लिखा। इससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमात्मा का वैसा अंश नहीं जैसे चिनगारी अग्नि का होती है। अन्यथा यह तुलना सहज और प्रसिद्ध थी, परन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होती। जीवात्मा परमात्मा का वैसा अंश नहीं, जैसेकि चिनगारी अग्नि का है।

सूत्रकार के मन में क्या है, स्पष्ट नहीं। सूत्रकार ने उदाहरण दिया है। (चापि) और भी। (दाशकितवादित्व) दाशकितव के सम्बन्ध की तरह।

दास का अर्थ सेवक भी है और वह भी है जो दिया जाये। कन्यादान किया जाता है, अतः पत्नी दास कही जा सकती है। कितव पुरुष के लिए भी आता है और जुआरी के लिए भी आता है। अतः यहाँ पुरुष लेना ही ठीक प्रतीत होता है।

अतएव सूत्रकार का उदाहरण यही प्रतीत होता है कि जैसे माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध है वैसे ही परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध है।

माता-पिता और पुत्र का सम्बन्ध केवल शरीर का है। माता-पिता की आत्मा और पुत्र की आत्मा का नहीं।

यहाँ स्नेह के सम्बन्ध से ही अभिप्राय है। माता-पिता का पुत्र से स्नेह का सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध परमात्मा और जीवात्मा का कहा जाता है।

अतः सूत्र के अर्थ इस प्रकार हो जाते हैं—

जीवात्मा (परमात्मा का) अंश है। इसको नाना प्रकार से समझाया गया है। कई एक आचार्य यह बताते हैं कि परमात्मा जीवात्मा का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि माता-पिता का पुत्र के साथ होता है। पुत्र, माता और पिता का अंश है। ऐसा माना जाता है।

मन्त्रवर्णाच्च ॥४४॥

मन्त्रवर्णात्+च।

च=और। मन्त्रवर्णात्=मन्त्र तथा वर्णों से।

ऊपर (२-३-४३) में लिखा है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है। साथ ही कहा है कि अनेक प्रकार से इस सम्बन्ध का वर्णन किया गया है। एक सम्बन्ध उसी सूत्र में वर्णित है। जैसा माता-पिता और पुत्र का है। हमने इस सम्बन्ध का रूप स्नेह बताया है।

अब इस सूत्र में यह लिखा है कि वेदमन्त्रों में वर्णन किये जाने से। अर्थात् परमात्मा जीवात्मा का सम्बन्ध वेदों में वर्णन किया है। ऋग्वेद प्रथम मण्डल का १६४वां सूक्त और अथर्ववेद के नवम् काण्ड का १०वां सूक्त परमात्मा और जीवात्मा के परस्पर सम्बन्धों को भली-भाँति वर्णन करते हैं। परमात्मा और जीवात्मा के कई प्रकार के सम्बन्ध हैं। यहाँ दोनों स्थलों से एक मन्त्र उदाहरण के रूप में देते हैं। एक उदाहरण है ऋग्वेद १६४-२० का, जो इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

(ऋ० १-१६४-२०)

अर्थ है—जीव और परमात्मा प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हैं। ये सयुजा हैं, सखा हैं, परस्पर आलिंगन कर रहे हैं। एक वृक्ष के स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा साक्षी के रूप में देखता है।

दूसरा उद्धरण है—

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान॥

(ऋ० १०-५५-६)

अर्थ है—सर्वव्यापक परमात्मा के आश्रय पर कार्य करने वाले युवक प्राणी-गणों को पालन करने वाला परमात्मा अपने में ले लेता है। वहाँ वह जीव उस (परमात्मा) के ज्ञानमय कौशल को देखता है कि जो कल जीवित था, आज मर जाता है।

इन दोनों मन्त्रों का अर्थ यह है कि जीवात्मा पर परमात्मा की अपेक्षा रहती है; यद्यपि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है।

अपि च स्मर्यते ॥४५॥

और स्मृतियों में भी वर्णन किया गया है? क्या वर्णन किया गया है? परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध। यहाँ स्मृतियों से अभिप्राय उपनिषद् ग्रन्थों से है।

भाष्यकारों ने जीवात्मा को परमात्मा का अंश बताने के लिए स्मृतियों के केवल दो प्रमाण दिये हैं। एक है भगवद्गीता १५-७ और दूसरा है छान्दो० ३-१२-६।

हमारा विचार है कि इन दोनों उदाहरणों में बहुत ही अस्पष्ट रूप में वर्णन किया गया है और इनसे वह अर्थ नहीं निकलते जो अद्वैतवादी सिद्ध करना चाहते हैं। उनका कहना है कि जीवात्मा परमात्मा का एक ऐसा अंश है जैसेकि गुड़ की भेली का गुड़ की एक डली से होता है।

इसमें सुरेश्वराचार्य के एक पद का उद्धरण दिया जाता है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः। सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः॥

ईश और ईशितव्य का सम्बन्ध प्रत्यगात्मा के अज्ञान से उत्पन्न होता है। समयग्ज्ञान होने पर अज्ञान तम के ध्वस्त होने से वह ईश्वरों का भी ईश्वर है।

यह है प्रतिज्ञा अद्वैतवादियों की और इन सूत्रों (२-३-४३, ४४-४५) में ही स्थान था इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने का। युक्ति तो इस सम्बन्ध में है नहीं। प्रमाण भी ठीक नहीं है।

हमने बताया है कि स्वामी शंकराचार्य और अन्य भाष्यकार भी केवल दो प्रमाण दे सके हैं। हम इन दोनों प्रमाणों का विश्लेषण यहाँ करेंगे। पहले छान्दो० उपनिषद् (३-१२-६) को लिख देना चाहते हैं।

यह उपनिषद् इस प्रकार है—

तावानस्य महिमा, ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥

(छान्दो० ३-१२-६)

इसके ऊपर गायत्री का वर्णन है। उसके विषय में इस मन्त्र में भी लिखा है—

तावानस्य = ऊपर मन्त्र में वर्णित (भगवान् की) की गयी महिमा उतनी है जितनी कि उस गायत्री मन्त्र बोलने से वर्णन की गयी है।

ततो = उस वर्णन से। पुरुषः = परमात्मा। ज्यायांश्च = बहुत बड़ा है।

इसका अभिप्राय है कि गायत्री मन्त्र में परमात्मा की महिमा बहुत बड़ी है, परन्तु वास्तव में महिमा तो उससे भी बड़ी है। सर्वाभूतानि—सब भूत उस परमात्मा का एक पाद हैं और उसके तीन अमृतमय पाद दिव्यमय लोक में हैं।

यह व्याख्या है ब्रह्माण्ड की। परमात्मा पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। सर्व भूतानां का अर्थ जीवात्मा नहीं है। इसमें पंच-भौतिक जगत् के पदार्थों को ओर संकेत है जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारागण और चराचर सृष्टि सब आते हैं और जड़ कार्य-जगत् भी।

यह पूर्ण चराचर जगत् 'सर्वभूतानि' से अभिप्रेत है। ब्रह्माण्ड के तीन अमृतमय पदों का अभिप्राय है—(१) जीवात्मा—जब ब्रह्मलीन होता है। (२) प्रकृति—जब मूल (अव्यक्त) रूप में होती है और परमात्मा स्वयं। ये तीनों अमृतमय अर्थात् अजा हैं और ये दिव्यलोक में रहते हैं। इसमें जीवात्मा परमात्मा का अंश नहीं लिखा, वरन् जगत्-रचना में अमृत-तत्त्वों से कार्य-जगत् बनने में भिन्न-भिन्न पग बताये हैं। जैसे एक जन्तु चार पाँवों पर खड़ा रहता है वैसे ही पूर्ण ब्रह्माण्ड इन चार पादों पर स्थिर है। एक पाद है सर्वं भूतानां। दूसरा जीवात्मा, तीसरा मूल प्रकृति और चौथा परमात्मा स्वयं। यह ही पूर्ण ब्रह्माण्ड है।

अब भगवद्गीता का प्रमाण देते हैं।

उद्धरण है भगवद्गीता १५-७। परन्तु इसका अर्थ समझने के लिए पूर्व के और इसके बाद के श्लोकों का अध्ययन आवश्यक है।

भ० गी० १५-५ का अर्थ इस प्रकार है—

जिनका मोह नष्ट हो गया है, आसक्ति दोष जीता गया है, जो नित्य अध्यात्म में लीन रहते हैं, जिनकी कामनायें नष्ट हो चुकी हैं, ये लोग सुख, दुःख नाम के द्वन्द्वों से विमुक्त होकर (अव्यय) अविनाशी पद को प्राप्त कर लेते हैं।

अब अगला श्लोक इस प्रकार है—(तत्) उस अव्यय पद को न तो सूर्य न ही चन्द्र प्रकाशित करते हैं। अग्नि भी उसे प्रकाशित नहीं करती। उस परम धाम से वे मुक्त जीव वापिस नहीं आते।

इसके उपरान्त है भ० गी० १५-७, जो प्रमाण रूप में अद्वैतवादी देते हैं।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

(भ० गी० १५-७)

जीव लोके=प्राणी जगत् में। जीवभूतः=प्राणी। मुझ (परमात्मा) सनातन के अंश में। प्रकृति में स्थित मन (अहंकार और पंच-महाभूत) तथा इन्द्रियों से आकर्षित होकर—क्या?

वह अगले श्लोक (१५-८) में लिखा है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ (भ० गी० १५-८)

जीवात्मा पूर्व शरीर को छोड़ता है तो वह (पूर्व श्लोक के अनुसार प्रकृति आदि से आकर्षित होकर) वायु में गन्ध के समान नये घर में रहने आ जाता है।

अब इन चारों श्लोकों के अर्थों का समन्वय करें तो पता चलेगा कि जीवात्मा परमात्मा के एक अंश प्राणी-लोक में प्राणियों में एक से दूसरे शरीर में ऐसे जाता है जैसेकि हवा के साथ गन्ध उड़ती हुई एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाती है। ऐसा तब होता है जबकि जीवात्मा, प्रकृति अर्थात् मन, अहंकार, पंच-महाभूत तथा इन्द्रियों से आकर्षित हो परमात्मा के इस जीव-लोक अंश में आकार फँस जाता है।

और जब मोह, काम, आसक्ति इत्यादि से रहित हो जाता है तो सुख-दुःख के द्वन्द्वों से छूटकर अव्यय धाम में पहुँच जाता है। यह धाम अविनाशी है। वहाँ पहुँचकर जीवात्मायें लौटती नहीं।

जो बात समझने की है वह यह कि १५-७ में मेरा अंश जीवात्मा को नहीं कहा, वरन् जीव-लोक को कहा है। अर्थात् जीव-लोक एक अंश है। बात वही है जो छान्दो० ३-१२-६ में वर्णित है।

अभिप्राय यह कि स्मृतियों में भी जीवात्मा को परमात्मा का अंश इस भाव में नहीं माना, जैसेकि गुड़ की डली गुड़ की भेली का अंश होती है।

कुछ गुणों में समानता है। उन गुणों में भी एक बहुत बड़ा है और दूसरा छोटा, परन्तु कुछ गुण ऐसे भी हैं जो परस्पर नहीं मिलते। इस कारण जीवात्मा परमात्मा से पृथक् है। यहाँ गुड़ की भेली और डली का सम्बन्ध नहीं।

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

प्रकाशादिवत्+न+एवं+परः।

प्रकाशादि की भाँति नहीं है, ऐसा परमात्मा।

ऐसा परमात्मा नहीं है। कैसा नहीं है ? प्रकाशादि की भाँति। प्रकाशदि का अभिप्राय अग्नि आदि पंच महाभूत हैं।

दूसरे अध्याय के तृतीय पाद के आरम्भ से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का वर्णन आया है। इसके उपरान्त जीवात्मा का वर्णन है। प्रकाशादि से सब पंच भूतों का अभिप्राय है। इनकी भाँति नहीं। कौन ? (परः)—परमात्मा।

यहाँ भी अद्वैतवादियों ने भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास किया है। अभी तक जीवात्मा के वर्णन में परमात्मा और जीवात्मा में सम्बन्ध का उल्लेख (२-३-१८ से चलकर इस पाद के पूर्व सूत्र तक) आया है।

अतः प्रकाशादि का अभिप्राय उन सब पदार्थों से है जिनका उल्लेख इस सूत्र में है।

जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहा है (२-३-४३)। परन्तु अंश के अर्थ समझा दिये हैं। लिखा है कि दाशकितवा की भाँति ही हैं ये सब सम्बन्ध। यह हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं।

अद्वैतवादी परमात्मा और जीवात्मा का सम्बन्ध ऐसा मानते हैं जैसाकि श्री विश्वेश्वराचार्य ने बताया है कि अज्ञान में लिप्त परमात्मा ही जीवात्मा है। इस प्रकार का सम्बन्ध मानकर ही अद्वैतवादियों के मन में अपने आप संशय उत्पन्न होता है कि यदि जीवात्मा परमात्मा ही है तो जीवों के दुःख-सुख से परमात्मा भी दुखी और सुखी क्यों नहीं होता ?

इस स्वनिर्मित संशय का उत्तर ही वे लोग इस सूत्र में से ढूंढ़ने का यत्न कर रहे हैं। वे इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं।

स्वामी शंकराचार्यजी इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं—

यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति, नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रतिजानीमहे। जीवो ह्यविद्यावेशवशाद्देहाद्यात्मभावमिव गत्वा तत्कृतेन दुःखेन दुःख्यहमित्यविद्यया कृतं दुःखोपभोगमभिमन्यते। नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानो वाऽस्ति।

जैसे जीव संसार का दुःख अनुभव करता है, वैसे परमात्मा नहीं करता। ऐसी हम प्रतिज्ञा करते हैं। जीव अविद्या के आवेश के बल से देहादि में आत्मभाव-सा प्राप्त कर तत्कृत दुःख से 'मैं दुखी हूँ' इस प्रकार अविद्याकृत दुःख के उपभोग का अभिमान करता है। वैसे परमात्मा को देहादि में आत्म-भाव अथवा दुःखाभिमान नहीं है।

यह प्रतिज्ञा तो ठीक है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा परमात्मा का अंश है। अज्ञान दूर होने पर जीवात्मा भी दुःख से निवृत्त हो जायेगा, परन्तु वह परमात्मा की भाँति सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वान्तर्यामी हो जायेगा, सिद्ध नहीं हुआ।

जीवात्मा और परमात्मा में केवल ज्ञान का ही अन्तर नहीं, सामर्थ्य और व्यापकता का भी अन्तर है।

कुछ लोग इस सूत्र (२-३-४६) का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि जैसे प्रकाश में मनुष्य भूल नहीं करता, ऐसे ही परमात्मा पूर्ण ज्ञानस्वरूप होने के कारण भूल नहीं करता और दुःख नहीं पाता।

परन्तु उक्त सूत्र के अर्थ यह बनते नहीं।

सूत्र है—प्रकाशादिन्नैवं परः।

अर्थात्—परमात्मा प्रकाशादि की भाँति ऐसा नहीं। कैसा नहीं ? एक प्रश्न है। इसका उत्तर ये लोग देते हैं जैसे आत्मा है।

'प्रकाशादि की तरह' का अर्थ यह नहीं लगता। जीवात्मा प्रकाशादि की भाँति

है क्या ? जो परमात्मा नहीं। इसके खींचा-तानी से अर्थ ही निकलते हैं 'प्रकाशादि में होने की भाँति ऐसा नहीं परमात्मा'। फिर प्रकाश के साथ आदि का क्या अर्थ है ? यह दूसरा प्रश्न है। अतः यह सर्वथा अयुक्त अर्थ हैं। सूत्र के सीधे और स्पष्ट अर्थ तो यह ही हैं कि प्रकाशादि की भाँति परमात्मा नहीं।

परमात्मा ऐसे नहीं जैसेकि प्रकाशादि।

अन्तर भी स्पष्ट है। प्रकाशादि कृत्रिम हैं। प्रकृति से बने हैं। जीवात्मा भी अणुमात्र है, अल्पज्ञ है और हीन सामर्थ्य वाला है। इस कारण लिखा है कि नहीं, परमात्मा नहीं जैसे प्रकाशादि है। जैसे जीवात्मा और पंचभूत हैं।

इन अर्थों में एक ही बात खटकती है कि प्रकाश कहाँ से आ गया ? पाद के पूर्व भाग में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी का वर्णन है। साथ ही जीवात्मा का उल्लेख है, परन्तु प्रकाश एक नया शब्द रख दिया गया है; इस पर भी प्रकाश और अग्नि समभाव प्रकट करते हैं। इस कारण हमने इसका अभिप्राय पंचभूत तथा जीवात्मा लिया है।

स्मरन्ति च ॥४७॥

अर्थ है—स्मरण करते हैं।

अर्थात्—यह स्मृति में भी बताया गया है। स्मृतियों में क्या है ? यही कि परमात्मा प्रकृति के परिणामों, आकाशादि पंचभूतों और जीवात्मा से पृथक् है।

(श्वेता० उप० ४-६)

स्वामी शंकराचार्य भी यह और कठो० ५-११ का उदाहरण देते हैं। सब उदाहरण यह सिद्ध नहीं करते कि जीवात्मा और परमात्मा एक ही प्रकाश की भाँति हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में तो प्रकाश का कहीं नाम भी नहीं है। हाँ, कठोपनिषद् में प्रकाश का संकेत मिलता है, परन्तु वहाँ भी वह बात सिद्ध नहीं होती, जो स्वामीजी करना चाहते हैं।

यह मन्त्र इस प्रकार है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठो० ५-११)

इसका अर्थ है—जगत् का नेत्र सूर्य लिप्त नहीं होता, जैसे दूसरे नेत्र दोषयुक्त हो जाते हैं। वैसे ही सब प्राणियों में बसा हुआ परमात्मा बाहर के लोक में उपस्थित दुःखों से लिप्त नहीं होता।

परन्तु इससे यह सिद्ध कैसे हो गया कि बाहरी नेत्र भी सूर्य हैं और सब भूतात्मा भी परमात्मा हैं।

द्रष्टा के अन्धा हो जाने पर अन्धे को दिखायी नहीं देता और वह दुखी होता है, परन्तु क्या इससे यह सिद्ध हो गया कि द्रष्टा का चक्षु सूर्य ही था।

इसी प्रकार परमात्मा सर्वव्यापक होने से सब प्राणियों में है, परन्तु प्राणी (जीवात्मा) का अपना अस्तित्व है और वह दुःख-सुख में लिप्त होता है अथवा अलिप्त होता है तो अपने प्रयत्न से है। इसका परमात्मा से सम्बन्ध नहीं।

अतः परमात्मा प्रकाशादि की भाँति नहीं है। यही स्मृतियों में लिखा है। प्रकाश आदि से अभिप्राय आकाशादि पंच महाभूत और जीवात्मा है।

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

अनुज्ञापरिहारौ+देहसम्बन्धात्+ज्योतिः+आदिवत्।

यहाँ इस सूत्र में आत्मा और परमात्मा में एक अन्य अन्तर बताया है। वह यह कि जैसे जीवात्मा देह में रहता है, वैसे ही परमात्मा भी देह में रहता है। यदि यह कहा जाये कि परमात्मा का देह से संयोग जीवात्मा से अधिक है तो ठीक ही होगा, परन्तु शास्त्र में अनुज्ञा और परिहार जीवात्मा के लिए ही होता है।

यह इस कारण है कि दोनों का देह से सम्बन्धों में अन्तर है वह अन्तर है ज्योतिः आदिवत्। जैसे ज्योति आदि का अन्तर है।

ज्योति आदि से अभिप्राय प्रकाश, अग्नि इत्यादि जिन गुणों का शरीर से अनुभव होना है, उनकी भाँति शास्त्र में विधिनिषेध है।

प्रकाश इत्यादि, देह में अनुभव होने के कारण, ज्ञान की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार देह के साथ होने से जीवात्मा को विधि और निषेध पालन करने की बात है।

देह के सम्बन्ध से ही विधि और निषेध के अर्थ हैं। अर्थात् देह के द्वारा ही उनका प्रयोग हो सकता है।

जीवात्मा देह के द्वारा ही कर्म करता है, अतः देह में ही उसे फल मिलते हैं। स्थूल अथवा सूक्ष्म देह जीवात्मा के साथ सदा लगा रहता है। यह छूटता है दो अवस्थाओं में। एक तो प्रलय के समय। तब जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में हो जाते हैं। दूसरे जब जीवात्मा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

दोनों अवस्थाओं में अन्तर भी है। प्रलय की अवस्था में यह अज्ञान में लिप्त रहता है और यदि वह अपने अज्ञान के कारण भोग नहीं कर सकता तो इस कारण कि उसके पास भोग करने के लिए और कर्म करने के लिए शरीर नहीं रहता। प्रलय काल में शरीर अव्यक्त प्रकृति में लय हो जाता है।

प्रलय काल के समाप्त होने पर पुनः जगत्-रचना होती है। शरीर बनते ही जीवात्मा तृष्णाभिभूत उन शरीरों में आ जाते हैं।

अतः सूत्रकार का कहना है कि देह के द्वारा ही कर्म होते हैं और फल मिलते हैं। इस देह में होते हुए ही शास्त्र की अनुज्ञा और परिहार (विधि, विधान और निषेध) हैं।

अब सूत्रकार ने एक अन्य समस्या उपस्थित की है।

असंततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

असन्ततेः+च+अव्यतिकरः।

और (जीवात्मा की) सन्तान (द्वारा वृद्धि) न होने से कर्म-फल में सांकर्य नहीं होता।

असन्ततेः—सन्तान न होने से। एक के अनेक न होने से। जैसे देह से सन्तान होती है, तो माता-पिता के गुण-दोष सन्तान में आते हैं। इससे एक-दूसरे के फलों में अदला-बदली हो सकती है। पिता के उत्तराधिकार में पुत्रों में धन-सम्पद इत्यादि में अदला-बदली सम्भव है। इस अदला-बदली के लिए शब्द है व्यतिकरः। अव्यतिकरः का अर्थ है अदला-बदली नहीं होती।

यदि तो जीवात्मा के सन्तान होती, एक के अनेक हो जाते तो कर्म-फलों में भी सांकर्य (अदला-बदली) अथवा परस्पर मिलावट हो जाती।

ऐसा नहीं है। जो करता है, वही फल भोगता है।

पुत्र पिता का ऋण उतारता देखा जाता है, परन्तु जीवात्मा ऐसा नहीं कर सकते। कारण यह कि जीवात्माओं में पिता-पुत्र का सम्बन्ध है ही नहीं। अतः कर्म-फलों की अदला-बदली (सांकर्य) नहीं होती।

आभास एव च ॥५०॥

आभासः+एव+च।

और यदि जीवात्मा को आभास (प्रतिबिम्ब) मानें तो यह है। अर्थात् सांकर्य हो सकेगा।

आभास से अभिप्राय एक के अनेक पात्रों में प्रतिबिम्ब है। एक सूर्य अथवा एक चन्द्र के कई प्रतिबिम्ब जल-कुण्डों में दिखायी देते हैं।

चन्द्र को ग्रहण लगने से सब जल-कुण्डों में ग्रहण लगा दिखाई देने लगता है। दोष तो एक में आया और दोष का फल सब प्रतिबिम्बों में दिखाई देता है।

यहाँ फल का सांकर्य होता है। एक का दोष अनेक में दिखायी देने लगता है।

अतः जीवात्मा को किसी दूसरे का आभास मानें तो कर्म-फल का सांकर्य होना सम्भव है।

यह कहा जाता है कि जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब-मात्र है, तो यह शंका उपस्थित होती है कि जीवात्माओं में सुख-दुःख किसका आभास है ? यह परमात्मा का तो हो नहीं सकता। कारण यह कि वह तो आनन्दस्वरूप है। यदि जीवात्मा, परमात्मा का आभास होता तो वह भी आनन्दस्वरूप होता।

यह कहा जाता है कि मन और बुद्धि के संयोग से इसमें दोष आता है तो शंका यह बन जाती है कि मन और बुद्धि क्या हैं ? वे कहाँ से आ गए ? और फिर उन्होंने दोष किसमें उत्पन्न किया; परमात्मा में अथवा उसके प्रतिबिम्ब में ?

सूत्रकार ने तो यह कहा है कि 'आभास' का सिद्धान्त मानें, तो जीवात्मा में दोषों का और कर्म-फलों का सांकर्य (अदला-बदली तथा मिलावट) हो जायेगी। अतः जीवात्मा आभास नहीं है।

स्वामी शंकराचार्य कहते हैं कि इसके अर्थ इस प्रकार हैं—'आभासः एव च' और आभास ही है। अतः सांकर्य नहीं है। जीवात्मा आभास है अथवा नहीं यहाँ विचारणीय नहीं। यहाँ विषय है सांकर्य का। वह दोनों अर्थों से नहीं है। जब सांकर्य नहीं तो आभास भी नहीं।

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

अदृष्ट+अनियमात्।

अदृष्ट अनियमित होने से।

अभिप्राय यह कि अदृष्ट (का सांकर्य) मानना नियम-विपरीत है। अर्थात् इनमें अदला-बदली नहीं होती।

अदृष्ट का अर्थ है कर्म-फल। कर्म नियम से नहीं होते। एक समान नहीं होते, अतः कर्म भी अनियमित हैं। एक समान नहीं हैं। अतः एक के कर्मों का फल दूसरे को नहीं मिल सकता।

इसी कारण सूत्रकार कहता है कि अदृष्टों का सांकर्य होना भी नियम नहीं। यह अनियम है।

सूत्र (२-३-४३) से सूत्रकार उन सिद्धान्तों का वर्णन कर रहा है, जिनको अद्वैतवादी वैसा नहीं मानते।

पहले तो यह कहा है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश माना जाता है, परन्तु यह अंश ऐसा नहीं जैसेकि गुड़ की भेली का अंश गुड़ का एक टुकड़ा है। सूत्रकार ने कहा है कि अंश का वर्णन कई लोग कई प्रकार से करते हैं। सूत्रकार ने भी वर्णन करने का यत्न किया है। वह वर्णन अद्वैतवादियों का समर्थन नहीं करता।

आगे चलकर जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता प्रकट की है (२-३-४६, ४७, ४८ सूत्रों में)।

आगे कह दिया कि जीवात्मा न तो परमात्मा की सन्तान है और न ही यह आभास है।

अब कर्म-फल के सांकर्य को नियम विपरीत बता दिया। कारण यह कि जीव भिन्न-भिन्न हैं। इनके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। कर्म-फल भी अपने-अपने हैं।

अद्वैतवादियों द्वारा इन सूत्रों से अपना मत सिद्ध करने के लिए सूत्रों को बहुत तोड़-मोड़कर उपस्थित करने का यत्न किया गया है और फिर जो कुछ भी इनके भाष्य में कहा गया है, वह सर्वथा अयुक्ति-संगत है।

उदाहरण के रूप में इसी सूत्र (२-३-५१) में स्वामी शंकराचार्य का भाष्य देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह किंचित्-मात्र भी अपने मत को स्पष्ट नही कर सके।

वह लिखते हैं—

बहुष्वात्मस्वाकाशवत्सर्वगतेषु प्रतिशरीरं बाह्याभ्यन्तराविशेषेण संनिहितेषु मनोवाक्कायैर्धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपार्ज्यते।

अर्थात्—आकाश के समान सर्वगत प्रत्येक शरीर में अन्दर-बाहर समान रूप से सन्निहित अनेक आत्माओं में मन, वाणी और शरीर द्वारा धर्माधर्म रूप अदृष्ट उपार्जन किया जाता है।

इन दो पंक्तियों में अनेक अयुक्त बातें कह दी हैं। देखिये—

(१) परमात्मा को आकाशवत् सर्वगत माना। अर्थात् परमात्मा और सर्व पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा किनके भीतर और बाहर है? वह जिसके भीतर और बाहर है, वह परमात्मा से भिन्न होगा।

(२) शरीर है और आत्मा है। ये मन, वाणी से सन्निहित हो धर्म-अधर्म करते हैं।

(३) वह आत्मा क्या है जो मन और वाणी (इन्द्रियों) से संयुक्त हो धर्माधर्म करता है? क्या वह परमात्मा का अंश है?

(४) इस धर्माधर्म रूप में अदृष्ट (कर्म-फल) उपार्जन करता है। अर्थात् परमात्मा का अंश धर्माधर्म से कर्म-फल उपार्जन करता है, तो यह परमात्मा का अंश करता है, अथवा मन और बुद्धि करते है?

ये सब बातें अनर्गल हैं।

और फिर सूत्रकार कहता है कि अदृष्टों में नियम नहीं है। अर्थात् अदृष्ट एक समान नहीं होते। कर्म-फल समान होते तो सांकर्य (मिलावट) हो सकती थी।

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

अभिसन्धि+आदिषु+अपि+च+एवम्।

और अभिसन्ध्यादि में भी ऐसा ही है।

वे भी अदृष्टों की भाँति समान नहीं हैं।

अभिसन्ध्यादि का अभिप्राय है राग, द्वेषादिमूलक संकल्प। यह माना जाता है कि जीवात्मा परमात्मा का अंश होने से निर्मल है। ये राग, द्वेष इत्यादि संकल्प ही कर्म कराते हैं और कर्मफल उपार्जन करते हैं।

सूत्रकार कहता है कि यह बात भी अनियमित अर्थात् समान न होने से अनेक जीवात्माओं के कारण है। एक परमात्मा के द्वारा नहीं होते। राग, द्वेषादि यदि संकल्पमात्र हैं तो ये किसको होते हैं? कहा जाता है कि चित्त को। चित्त तो जड़ होने से संकल्प कर नहीं सकता, अतः इनका अस्तित्व बिना जीवात्मा के स्वीकार्य नहीं हो सकता। सब संकल्प समान नहीं; इस कारण ये एक द्वारा नहीं होते। परमात्मा एक है और जीवात्मा अनेक।

अतः सूत्रकार ने अद्वैतवादियों की एक अन्य भित्ति को गिरा दिया है।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

प्रदेशात्+इति+चेत्+न+अन्तर्भावात्।

प्रदेशात्=देश अर्थात् शरीर से जिसमें यह रहता है। इति=यह है। चेत्=यदि। न=नहीं। अन्तर्भावात्=भीतर होने से।

यह भी अद्वैतवादियों के मत का खण्डन है। यह कहा जाता है कि परमात्मा का अंश जीवात्मा देह में फँस जाने से राग, द्वेष, कामादि संकल्पों और कर्मों को करता है। सूत्रकार कहता है कि यदि इनको प्रदेशात् (देह के कारण) मानो तो नहीं। कारण यह कि जीवात्मा भीतर विराजमान है। वह देह से प्रबल है। वह चेतन है और देह जड़ है। अतः जिम्मेदारी जीवात्मा की है देह की नहीं। यदि इसे परमात्मा मानो तो और भी अधिक आवश्यक है कि शरीर परमात्मा के विपरीत कार्य न करे।

इस सूत्र से दूसरे अध्याय का तीसरा पाद समाप्त होता है। इस पाद में जीवात्मा के विषय में लिखा गया है।

ब्रह्मसूत्र का दूसरा अध्याय और उसके तीनों पाद अद्वैतवादियों के खण्डन में लिखे गये हैं।

इनकी जितनी भी युक्तियुक्त व्याख्या की जाये, उतना ही त्रैतवाद सिद्धान्त का समर्थन मिलता है।

चतुर्थ पाद

इससे पूर्व (तृतीय पाद में) आकाश से चलकर सृष्टि-क्रम और उसमें जीवात्मा के स्वरूप और कार्य का तथा उसके परमात्मा से सम्बन्ध का वर्णन किया गया है।

अब इस पाद में शरीर के कार्य का वर्णन किया जा रहा है। आत्मा चेतन है। वह ईक्षण करता है। शरीर में और शरीर द्वारा कार्यों का आरम्भ करना, उसका चालू रखना और उन कार्यों का अन्त करना आत्मा का काम है। परन्तु तृतीय पाद में (२-३-४८ सूत्र में) यह बताया है कि देह में कर्मों के विषय में ही शास्त्र की अनुज्ञा और परिहार वर्णन किये गए हैं। देह में जीवात्मा के रहते ही जीवात्मा के कार्य हैं। इसी कारण उसके लिए विधि-निषेध बताये गए हैं।

इसी प्रकार तृतीय पाद के अन्तिम सूत्र में लिखा है कि यदि कर्म को देह से मानो तो ठीक नहीं; क्योंकि देह के भीतर जीवात्मा उपस्थित है। अतः कर्म का उत्तरदायित्व देह पर नहीं, जीवात्मा पर है।

इस शृंखला में अब चतुर्थ पाद आरम्भ होता है। इसमें शरीर के कार्य की व्याख्या की गई है।

सूत्रकार कहता है—

तथा प्राणाः ॥१॥

वैसे प्राण हैं।

जैसे आकाशादि पंचभूतों का वर्णन कर आये हैं, वैसे ही यहाँ प्राण का वर्णन कर रहे हैं।

प्राणः का अर्थ है—शक्ति। कार्य करने की शक्ति।

शरीर चलता-फिरता, आँख मींचता-खोलता, सुनता-बोलता, सूँघता-देखता, अनुभव करता इत्यादि सब कार्य प्राण से करता है।

शरीर में कार्य करने वाली इन्द्रियाँ हैं और उनके अतिरिक्त भी शरीर के अंग हैं जो कार्य करते हैं। उदाहरण के रूप में पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के

अतिरिक्त हृदय, फेफड़े, मस्तिष्क, आँतें इत्यादि अंग हैं जो कार्य करते हैं। इन सबके कार्य प्राण से होते हैं।

अतः प्राण कार्य करने की शक्ति का नाम है। यह शक्ति परमात्मा की है। परमात्मा जगत् की रचना करता है, अतः वह प्राण द्वारा ही करता है। जीवात्मा शरीर में कार्य करता है। सूत्रकार कहता है कि यह भी प्राण द्वारा ही होता है।

प्राण परमात्मा का लिंग है। यह सूत्रकार ने (१-१-२३ में) पहले ही बताया है। वह शक्ति जिससे जगत् कार्य करता है, वह ही प्राण है और उससे ही परमात्मा के विषय में ज्ञान होता है।

अथर्ववेद में एक प्राणसूक्त के नाम से प्रकरण है। उसमें पहला ही मन्त्र इस प्रकार है—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्व० ११-४-१)

उस प्राण के लिए हमारा नमस्कार हो जिसके वश में यह सब (जगत्) कुछ है। जो सबका ईश्वर है और जिस पर पूर्ण संसार प्रतिष्ठित है।

प्राण परमात्मा की उस शक्ति का नाम है, जिससे पूर्ण संसार चलता है और स्थित है।

इसी सूक्त में एक मन्त्र इस प्रकार है—

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते।
पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥

(अथर्व० ११-४-८)

(प्राण प्राणते नमः) प्राण से श्वासों का त्यागना होता है। उसे नमस्कार हो। (अस्तु अपानते) उससे प्राण भीतर लिया जाता है। इस कारण उसे नमस्कार हो। (पराचीनाय प्रतीचीनाय नमः) प्राण शक्ति देह में आती है और उसमें से जाती है; उसे नमस्कार हो। (सर्वस्मै त इदं) इस जगत् के सबमें वह है। इस कारण उसे नमस्कार हो।

इस प्रकार प्राण ईश्वर की उस शक्ति को कहा गया है जिससे पूर्ण जगत् कार्य करता है। साथ ही प्राणी का शरीर कार्य करता है।

सूत्रकार कहता है कि—

वैसा ही प्राण है जो शरीर में कार्य करता है। कैसा? जैसा जगत् में कार्य करता है।

गौण्यसम्भावात् ॥२॥

गौणी + असम्भावात् ।

प्राण का गौण होना असम्भव है ।

गौण का अभिप्राय है मुख्य के अतिरिक्त। जब दो हों और एक-दूसरे के अधीन हो तो अधीन को गौण कहा जाता है। यदि प्राण के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति हो और उसका प्राण के रूप मे प्रकटीकरण हो तो वहाँ प्राण गौण माना जायेगा।

सूत्रकार कहता है कि प्राण से ऊपर कोई अन्य शक्ति नहीं। वही शक्ति है जो सूर्य, चन्द्र और तारागण इत्यादि का सचालन करती है, वही शक्ति है जिसमें चराचर जगत् प्रतिष्ठित है, वही शक्ति है जो शरीर में कार्य करती है। सूत्रकार का अभिप्राय है कि वह ईश्वरीय शक्ति ही है जो शरीर में कार्य करती है। अतः प्राणों को गौण मानना असम्भव है।

यह गौण नहीं।

स्वामी शंकराचार्य गौणी के अर्थ लेते हैं—जिसकी उत्पत्ति हुई हो।

वह लिखते हैं—

इह तु सिद्धान्तसूत्रत्वाद्गौण्या जन्मश्रुतेरसंभवादिति व्याख्यातम्। तदनुरोधेन त्विहापि गौणी जन्मश्रुतिरसंभवादिति व्याचक्षाणैः प्रतिज्ञाहानिरुपेक्षिता स्यात्।

यहाँ सिद्धान्त सूत्र होने से गौणी जन्म श्रुति का असम्भव होने से ऐसा व्याख्यान किया है। परन्तु उसके अनुसार यहाँ भी जन्म श्रुति गौणी है असम्भव होने से। ऐसा व्याख्यान करने वालों से प्रतिज्ञा हानि की उपेक्षा की जायेगी।

इसका अभिप्राय यह है कि प्राण का जन्म नहीं हुआ। जन्म होने से यह गौणी माना जायेगा। यदि ऐसा मानेंगे तो प्रतिज्ञा की हानि हो जायेगी।

बात ठीक है। प्रकृति के अन्य कर्मों की भाँति प्राण का जन्म नही हुआ। जैसे महत्, अहंकार, परिमण्डल, पंच महाभूत इत्यादि प्रकृति के परिणामी हैं, वैसे प्राण नही।

परन्तु इसी कारण यह गौणी नहीं। गौणी का जन्म से सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं। प्राण ईश्वरीय शक्ति है। ईश्वरीय शक्ति का ईश्वर के अतिरिक्त यदि किसी अन्य से निर्माण अथवा प्रादुर्भाव होता तो यह गौणी हो जाती।

यह असम्भव है। अर्थात् ईश्वर की प्राण-शक्ति ज्यों-की-त्यों ही शरीर मे कार्य करती है जैसे कहीं अन्यत्र कार्य करती है।

इसका जन्म न सही, परन्तु प्रादुर्भाव तो होता है। यह ईश्वर की ओर से ही शरीर को मिलता है।

वर्तमान वैज्ञानिक इस प्राण की उत्पत्ति 'टैस्ट ट्यूब' (परीक्षण नली) मे करने का यत्न कर रहे हैं। यह ईश्वरीय शक्ति ही होगी जो वैज्ञानिक किसी स्थान पर प्रकट करने का यत्न कर रहे हैं।

यदि कभी प्रकट करने में सफल हो गये तो यह कहा जायेगा कि जैसे माता-पिता वीर्य-सिंचन के समय प्राण को प्रकट करते हैं, वैसे ही वैज्ञानिक किसी 'टैस्ट-ट्यूब' में इसे सम्पन्न कर सके हैं।

सूत्रकार का कहना है कि वहाँ भी वही शक्ति होगी जो परमात्मा सूर्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि में देता है। वह ही यहाँ भी दी गई होगी।

प्राण प्राण ही है। वह गौण नहीं हो सकता।

प्राण का किसी भी वस्तु में गति के रूप में प्रकटीकरण किया जा सकता है। इसपर भी वह ईश्वरीय शक्ति का परिचायक ही होगा। यह गौणी नहीं हो सकता।

तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥३॥

तत्प्राक्+श्रुतेः+च।

इससे पहले है। ऐसा श्रुति में वर्णन किया है।

यहाँ लिखा है—इससे। प्रश्न है किससे? जगत् से। अर्थात् जगत्-रचना से पहले ही यह उपस्थित था, ऐसा वेद में लिखा है।

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु॥

(अथर्व० ११-४-२४)

जो इन सब उत्पन्न होने वालों का निर्माण करने वाला है और सबमें चेष्टा (गति) देने वाला है; (अतन्द्रा) कभी सोता अथवा असावधान नहीं होता; (धीरः) धैर्य का उत्पन्न करने वाला; (ब्राह्मण) महान् होने से मुझमें भी तिष्ठित हो।

एक अन्य मन्त्र में प्राण को कहा है—

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री··· (अथर्व० ११-४-१२)

इसमें प्राण को विराट् कहा है। इसे सर्व-द्रष्टा भी कहा है। अतः यह परमात्मा की शक्ति का सूचक है। इसी कारण सूत्रकार इसे परमात्मा का लिंग कह चुका है।

परमात्मा अनादि है, अजा है। अतः उसकी शक्ति भी उसके साथ ही है। वह सबसे पूर्व है। ऐसा होने से ही पूर्व के सूत्र में इसे गौण होना असम्भव माना है।

उपनिषदों में भी प्राण परमात्मा से सृजन किया गया कहा है। यह प्राण ही प्रकृति से जगत्-रचना करता है और जगत् के कार्य सम्पन्न करता है।

मुण्डकोपनिषद् (२-१-३) में लिखा है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥

अर्थात्—उस (परमात्मा) से प्राण उत्पन्न हुआ; तत्पश्चात् मन तथा सब इन्द्रियाँ इत्यादि उत्पन्न हुईं। आकाश, वायु, अग्नि, आपः और पृथिवी भी उसी से उत्पन्न हुए जो संसार को धारण करते हैं।

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥४॥

तत्+पूर्वकत्वात्+वाचः ।

उस (प्राण) के पूर्वकत्व होने से वाणी (का प्रादुर्भाव होता है) ।

वाचः शब्द से अभिप्राय है सब इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि । पूर्वकत्वात्=पूर्व में ही होने से प्राण इन्द्रियों की शक्ति का स्रोत है ।

जगत्-रचना में सबसे पहले प्राण उपस्थित होता है । वास्तव में यह तो परमात्मा में शाश्वत रूप में विद्यमान है । सृष्टि-रचना के समय इसका प्राकट्य ही होता है । प्राण का शरीर में विशेष कार्य मन और इन्द्रियों में है । इस कारण वाचः (इन्द्रियों और मन) को उसके अनुसार होने की बात लिखी है ।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

सप्त+गतेः+विशेषितत्वात्+च ।

और इस (प्राण) की सात (प्रकार की) गतियाँ होती हैं । विशेष रूप से ।

प्राणी में प्राण की गतियाँ सात प्रकार की हैं । प्राण तो ईश्वरीय शक्ति होने से एक ही है, परन्तु विशेषितत्वात्—विशेष कार्य करने से यह सात प्रकार की गतियों में प्रकट होता है ।

अभिप्राय यह है कि प्राण की गति तो अनेक प्रकार की है, परन्तु शरीर में विशेष रूप से सात प्रकार की है ।

ये सात गतियाँ कौन-कौनसी हैं ? यह सूत्रकार ने गिनायी हैं ।

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

हस्त+आदयः+तु+स्थिते+अतः+न+एवम् ।

हाथ इत्यादि तो स्थित होने पर, इसलिए ऐसे नहीं ।

कैसे नहीं ? अर्थात् उन सात प्राणों में से किसी की गति नहीं । स्थित होने पर का अर्थ समझ लेना चाहिए । हाथ इत्यादि में गति भी होती है । जब हम हाथ इत्यादि से कार्य करते हैं तो इनमें गति होती है । अतः सूत्रकार उस स्थिति का वर्णन नहीं कर रहा । इस सूत्र में कहा है, स्थित होने पर, अर्थात् जब ये कार्य नहीं कर रहे होते ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि हाथ इत्यादि जब स्थित होते हैं; अर्थात् वे कार्य नहीं कर रहे होते, क्या उस समय भी उनमें प्राण होते हैं ? सूत्रकार का कहना है कि हाँ। परन्तु वे प्राण उक्त सात जैसे नहीं। उन सात का तो विशेष गतियों से सम्बन्ध है।

जब हाथ अथवा शरीर का कोई भी भाग स्थिर होता है तो वहाँ प्राण क्या करता है ? वहाँ उस समय दो प्रकार की क्रियायें हो रही होती हैं। उपचय और उपापचय (anabolism and metabolism) की। शरीर-निर्माण और शरीर में टूट-फूट तो सदैव होती रहती है। ये क्रियायें भी प्राण से ही होती हैं, परन्तु ये प्राण उक्त सात जैसे नहीं। इनमें गति-विशेषता नहीं।

सूत्र (२-४-५) में शब्द है 'गतेः विशेषितत्वाच्च'। गतियों की विशेषता से (प्राण सात प्रकार के हैं)। परन्तु शरीर में होने वाले उपचय, उपापचय में गति दृष्टिगोचर नहीं होती। इस कारण इनमें कार्य करने वाला प्राण वैसा नहीं है।

सात प्राणों की गणना सूत्रकार ने गतियों के विचार से करायी है। सब कर्मेन्द्रियों के कार्य जीवात्मा के आदेश से होते हैं। इस कारण सब (पाँचों) कर्मेन्द्रियों के प्राण को एक समान गति में माना है। यद्यपि यह सूत्रों में स्पष्ट रूप से कथन नहीं किया गया, परन्तु आगे के सूत्रों को पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि पाँचों कर्मेन्द्रियों में कार्य करने वाले प्राण की एक गति है।

यहाँ यह लिख दिया जाये तो उचित ही है कि बृ० उ० (३-९-४) में प्राण ग्यारह लिखे हैं।

उपनिषद् इस प्रकार है—

···दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति। (बृ० उ० ३-९-४)

अर्थात्—पुरुष में दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा, शरीर छूटने पर साथ जाते हैं। ये रोदन कराते हैं। इस कारण रुद्र कहलाते हैं।

यहाँ दस इन्द्रियों के प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा की बात कही है। अर्थात् दस प्राण माने हैं, परन्तु सूत्रकार सात की गणना कराता है। इससे यह प्रतीत होता है कि सूत्रकार की गणना का ढंग दूसरा है।

प्राणों की एक प्रकार की गति है जिससे जीवात्मा के आदेश पर पाँच कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं।

शेष छः प्रकार के प्राण आगे चलकर गिनायेंगे।

अणवश्च ॥७॥

अणवः+च ।

और वे अणु मात्र हैं ।

अणु से अभिप्राय अति सूक्ष्म ही लेना चाहिये ।

हस्त-पादादि और वाक्, चक्षु आदि तो स्थूल अंग हैं, परन्तु इनमें प्राण अणु मात्र अर्थात् अति सूक्ष्म है ।

श्रेष्ठश्च ॥८॥

श्रेष्ठः+च ।

और श्रेष्ठ (मुख्य प्राण) है ।

और (प्राणों की एक विशेष गति) श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य है। प्राणी के शरीर में कुछ क्रियायें होती हैं। वे अनैच्छिक होती हैं। उन्हें (involuntary) कहते हैं। जैसे हृदय की गति, फेफड़े की गति, यकृत और वृक्क की गति। इनमें कार्य करने वाले प्राण को श्रेष्ठ अथवा मुख्य कहते हैं। इसमें श्रेष्ठता यह है कि यह निरन्तर कार्य करता रहता है। दिन-रात, जाग्रत अथवा सुषुप्ति अवस्था में कार्य करता है। इसका कार्य प्राणी के जीवनपर्यन्त चलता है। इसी कारण इसको मुख्य प्राण कहते हैं। यहाँ इसकी संज्ञा 'श्रेष्ठ' कही है।

इसी विषय में छान्दोग्य उपनिषद् (५-१-६ से १२ तक) में एक कथा है। एक समय शरीर में रहने वाले सब प्राणों में झगड़ा हो गया। सब अपने-अपने को श्रेष्ठ मानने लगे। प्रजापति ने बताया कि श्रेष्ठ वह है जिसके निकल जाने से शरीर का अन्त हो जाये और उसमें किसी भी प्राण के रहने का स्थान न रहे।

इसपर अन्य प्राण एक-एक कर शरीर से बाहर रहने लगे, परन्तु उनके जाने पर भी शरीर जीवित रहा। परन्तु जब प्राण (साँस लेने वाला) शरीर को छोड़ने लगा तो अन्य प्राण भी अपना शरीर में रहना असम्भव पाने लगे। तब सब प्राण मान गये कि वह ही सबसे श्रेष्ठ है।

यही प्राण है जिससे फेफड़े कार्य करते हैं और प्राण अपान वायुएँ चलती हैं। यही बात हृदय-गति की है।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९॥

न+वायुक्रिये+पृथक्+उपदेशात्।

वायु और उसकी क्रिया इन सात प्राणों में नहीं। उसका वर्णन पृथक् है।

वायु का कार्य दूसरा है। वह क्या है? उसका वर्णन बृ० उ० (३-७-२) में मिलता है। उपनिषद् में याज्ञवल्क्य कहते हैं—

'''वेद वा अहं गौतम। तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति'''। (बृ० उ० ३-७-१)

अर्थात् हे गौतम! मैं उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को जानता हूँ।

इसपर उद्दालक ने कहा, "यदि आप जानते हैं तो बताइये?"

इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बताया—

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रं-सिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञ-वल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥ (बृ० उ० ३-७-२)

वह (याज्ञवल्क्य) बोला कि हे गौतम, वह वायु है। वायु ही वह सूत्र है जिससे यह लोक, दूसरे लोक सब भूल गुथे हुए हैं। इससे मृत पुरुष को कहते हैं कि उसके अंग ढीले हो गये। हे गौतम, वायु से ही वे अंग गठित होते हैं।

उद्दालक ने कहा, "यह ठीक है। अब आप अन्तर्यामी का वर्णन करें।"

इसका अभिप्राय यह है कि वायु वह शक्ति है जो सब पदार्थों को गठित करती है, परन्तु प्राण तो कार्य कराने वाला है। अतः प्राण वायु से भिन्न है। साथ ही वायु उस अन्तर्यामी (जो सबके भीतर बैठकर नियमन करता है) से भिन्न है।

इसका सम्बन्ध भी आत्मा से है और शरीर में वे सब कार्य होते हैं जो निरन्तर इच्छा से और बिना इच्छा (अनिच्छा) के होते रहते हैं।

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥१०॥

तु+चक्षुः+आदिवत्+तत्+सह+शिष्ट्यादिभ्यः।

किन्तु चक्षुः आदि (प्राण) की भाँति। उनके साथ शिष्ट (मुख्य प्राण) भी है।

इसका अभिप्राय है कि चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों में भी प्राण हैं। वे सब पृथक्-पृथक् हैं और अपने गोलक से मन तक ही जाते हैं। इनकी सहायता तो मुख्य प्राण ही करते हैं।

ऊपर शिष्ट प्राणों के विषय में बताया है। छान्दोग्य उपनिषद् के उद्धरण से यह पता चलता है कि फेफड़े से साँस लेना इसी प्राण द्वारा होता है।

यहाँ लिखा है कि चक्षु ग्रादि (ज्ञानेन्द्रियों) की भाँति ही यह शिष्ट प्राण है। शिष्ट प्राण उनके साथ सहयोग करते हैं।

ग्रतः यह लिखा है कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी प्राणों से कार्य करती हैं। इनके प्राण पृथक्-पृथक् हैं। ये तबतक कार्य करते हैं जबतक श्रेष्ठ प्राण सहायता के लिए रहता है।

ज्ञानेन्द्रियों के प्राणों की गति में भी विशेषता है। इसीसे इनकी गणना पृथक् की है। प्रश्न यह है कि इन पाँचों की एक में गणना की जाये; जैसे पाँच कर्मेन्द्रियों की एक में की गयी है? यद्यपि सूत्र में स्पष्ट नहीं; इसपर भी शरीरक्रिया विज्ञान से स्पष्ट है कि ज्ञानेन्द्रियों की गतियाँ पृथक्-पृथक् हैं। जैसे हाथ-पाँव एक-दूसरे के स्थानापन्न हो सकते हैं वैसे ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं हो सकतीं। सबका पृथक्-पृथक् सम्बन्ध मन से है ग्रौर मन का जीवात्मा से।

ग्रतः ग्रभी तो इन प्राणों का वर्णन ग्राया है—(१) कर्मेन्द्रियों में कार्य करने वाला प्राण, (२) श्रेष्ठ प्राण, (३) ग्राँख में देखने वाला, (४) कान में सुनने वाला, (५) जिह्वा में रस लेने वाला, (६) नाक में सूँघने वाला, ग्रौर (७) स्पर्श करने वाला। इस प्रकार सात की गणना करा दी है।

ग्रकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति॥११॥

ग्रकरणत्वात्+च+न+दोषः+तथा+हि+दर्शयति।

ग्रौर करणरहित होने पर दोष नहीं ग्राता। (शास्त्र) यह दिखलाता है।

चक्षु, श्रोत्र, नाक, त्वचा, जिह्वा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें करण माना है; इनमें प्राण हैं दृष्टि, श्रोत्र, घ्राण, स्पर्श ग्रौर रसना। करण तो इनके ग्रधिष्ठान हैं। यदि ये करण न रहें तो भी प्राण रहते हैं, यद्यपि कार्य नहीं कर सकते। ग्रधिष्ठान के बिना कार्य नहीं हो सकता, परन्तु इससे दोष उत्पन्न नहीं होता। इसका ग्रभिप्राय यह है कि प्राणवान् पदार्थ ग्रात्मा ग्रौर मन में विनष्ट नहीं होते। जैसे मुख्य प्राण के चले जाने से शरीर ही समाप्त हो जाता है, वैसे इनके जाने से नहीं होता।

इस सूत्र का ग्रभिप्राय यह है कि करणों के ग्रभाव में प्राण कार्य नहीं करते। इसपर भी वे रहते हैं ग्रौर शरीर बना रहता है।

ग्रन्य भाष्यकारों ने करणरहित होने की बात मुख्य प्राण के विषय में लिखी है। श्री उदयवीर शास्त्री मुख्य प्राण बुद्धि को मानते हैं। हमने मुख्य प्राण हृदय, फेफड़े में गति उत्पन्न करने वाले को माना है। सूत्र में तो स्पष्ट नहीं लिखा। कुछेक उपनिषद् वाक्यों में बुद्धि को भी एक प्राण माना गया है। परन्तु उन

उपनिषद्-वाक्यों की शैली पर सूत्रकार नहीं चल रहा। वह प्राण सात मानता है। अतः सूत्रकार के मत का अनुकरण करते हुए हम बुद्धि को पृथक् गणना में नहीं ले रहे। अर्थात् यह सात प्राणों के अन्तर्गत ही है। शिष्ट प्राण बुद्धि नहीं।

पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते ॥१२॥

पंचवृत्तिः+मनः+वत्+व्यपदिश्यते।

पाँच व्यापार मन की भाँति बताये गये हैं।

पाँच ज्ञानेन्द्रियों में कार्य करने वाले प्राणों का वर्णन आया है। ये पाँच प्राण पाँच प्रकार के कार्य करते हैं। वृत्ति का अर्थ व्यवसाय है। ये पाँचों कार्य मन के कार्यों की तरह के हैं। ऐसा कहा गया है।

हमने ऊपर के सूत्रों के अनुसार सात प्राण बताये हैं।

(१) जिससे ऐच्छित कार्य होते हैं। इनसे कर्मेन्द्रियाँ काम करती हैं।

(२) जिनमें अनैच्छित कार्य होते हैं; जैसे हृदय, फेफड़े इत्यादि। इनको श्रेष्ठ प्राण भी कहा है। अन्य पाँच प्राण हैं जो चक्षुः, श्रोत, नासिका, त्वक् और जिह्वा में देखने, सुनने, सूंघने, स्पर्श करने और रस लेने के कार्य करते हैं। ये पृथक्-पृथक् हैं। ये पाँच प्राण ज्ञानेन्द्रियों में कार्य करते हैं।

इन पाँच प्राणों के पाँच व्यापार हैं जो मन के पाँच व्यापारों से सम्बन्ध रखते हैं।

यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अन्य भाष्यकारों ने प्राणों के विषय में भ्रम फैला रखा है। ये प्रायः ऐसे भाष्यकार हैं जो वेदान्त दर्शन के सूत्रों को उपनिषदों के स्पष्टीकरण में कहे गये मानते हैं। जब उनको कोई बात सूत्र के अनुसार उपनिषदों में नहीं मिलती तो वे सूत्रों के अर्थ तोड़-मरोड़कर उपनिषदों के समान करना चाहते हैं। इसी प्रकार यह प्राणों के प्रकरण में भी किया गया है।

उदाहरण के रूप में स्वामी शंकराचार्य 'श्रेष्ठश्च' (वे० द० २-४-८) के भाष्य में इस प्रकार लिखते हैं—

मुख्यश्च प्राण इतरप्राणवद्ब्रह्मविकार इत्यतिदिशति।

अर्थात्—मुख्य प्राण भी अन्य प्राणों की भाँति ब्रह्म का विकार है। यह बात विचारणीय नहीं। इसको तो इस पाद के प्रथम सूत्र में ही बता आये हैं कि प्राण परमात्मा की शक्ति का रूप है।

इस सूत्र में तो यह लिखना चाहिए था कि 'श्रेष्ठ' क्या है? और जब श्रेष्ठ प्राण के विषय में बताने लगे तो कह दिया—

श्रेष्ठ इति च मुख्यं प्राणमभिदधाति, 'प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छान्दो० ५-१-१) इति श्रुतिनिर्देशात्।

अर्थात्—'श्रेष्ठ ही मुख्य प्राण का अभिधान करता है। परन्तु उदाहरण दे दिया है (छा० ५-१-१)। यह उदाहरण अशुद्ध है।

(छान्दो० ५-१-१) में इस प्रकार कहा है—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च।

यहाँ ज्येष्ठ और अन्य प्राणों में भेद नहीं बताया, वरन् सब प्राणों को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहा है।

इसका अर्थ है—

निश्चय से जो मनुष्य किसी बड़े और अपने से श्रेष्ठ को जानता है, वह बड़ा हो जाता है। प्राण ही बड़ा और श्रेष्ठ है।

इस कारण प्राण को जानो।

इसी कारण हम कहते हैं कि सूत्रार्थों को उपनिषद् वाक्यों से बाँधने पर सूत्रार्थ भी विकृत हो जाते हैं। सूत्र में शब्द 'श्रेष्ठ' है और स्वामीजी ढूंढ़ने लगे हैं कि किस उपनिषद् में श्रेष्ठ अथवा ज्येष्ठ शब्द आये हैं। बस मिलते ही उदाहरण लिख दिया।

सब प्राण श्रेष्ठ नहीं, परन्तु प्राण सामूहिक रूप में प्राणी के शरीर के लिए मुख्य होने से सब प्राण ज्येष्ठ कहलाते हैं।

यह बात दूसरी है कि प्राणों में श्रेष्ठ कौन है?

इसी प्रकार इसी (२-४-८) सूत्र के भाष्य में एक वेदमन्त्र का उदाहरण दे दिया है। यह भी विषय के साथ सम्बन्ध नहीं रखता।

वेदमन्त्र जो शंकर भाष्य में उद्धृत है, वह यह है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास॥

टीकाकार स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने इस मन्त्र का संकेत ऋ० सं० ८-७-१७—इस प्रकार लिखा है। यह उनकी भूल है। वास्तव में यह मन्त्र १०-१२९-२ है।

इसका अभिप्राय यह है कि उस (महा प्रलय) के समय मृत्यु नहीं थी और न ही अमृतत्व था। न रात थी और न दिन का ज्ञान था। (उस समय) आनीत— प्राण ही शक्ति का रूप था, परन्तु वह गतिशील नहीं थी। उस समय एक ही (स्वधया) प्रकृति अपने को धारण करने वाली थी और दूसरा कोई नहीं था।

केवल 'आनीत' शब्द जो प्राण का सूचक है, आया और स्वामीजी ने उसका उद्धरण दे दिया।

प्रकरण था 'श्रेष्ठ प्राण' का शरीर में और आप बताने लगे प्रलय काल में प्राण की बात।

इसी प्रकार एक अन्य भाष्यकार की बात लिख देना ठीक रहेगा।

श्री उदयवीर शास्त्रीजी सूत्र (वे० द० २-४-१०) की व्याख्या में लिखते हैं—

'उपनिषदों के प्राण संवाद आदि स्थलों में सर्वत्र मुख्य प्राण को चक्षु: आदि इन्द्रियों के साथ वर्णन किया है। इसलिए चक्षु आदि के समान मुख्य प्राण (बुद्धि तत्त्व) आत्मा के भोग आदि में उपकरण होता है।

'छान्दोग्य उपनिषद् (५-१-६) में समस्त प्राणों का एकसाथ वर्णन है। वहाँ चक्षु वागादि के समान मुख्य प्राण का उल्लेख है।'

हमारा मत है कि श्री शास्त्रीजी भी सूत्र के भाव को नहीं समझे और इस न समझने में भी वही कारण है जो स्वामी शंकराचार्य की अनेक भूलों में है। इसका कारण यह मानना है कि वेदान्त सूत्र उपनिषदों की व्याख्या है। यदि उपनिषदों को छोड़कर विचार किया जाता तो यह सब विभ्रम न बनता।

इस सूत्र में चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों में प्राण और मुख्य प्राण में अन्तर दिखायी देता है। इस सूत्र में स्पष्ट लिखा है—

चक्षु आदि के प्राण मनवत् हैं और उसके सहायक मुख्य प्राण हैं।

मुख्य प्राण बुद्धि तत्त्व नहीं। हमारा मत यह है कि मुख्य प्राण हृदय, फेफड़े आदि में कार्य करने वाला प्राण है।

श्री शास्त्रीजी उदाहरण देते हैं छान्दोग्य (५-१-६) का। वहाँ तो केवल यह लिखा है—

अथ ह प्राणा अहँ् श्रेयसि व्यूदिरेऽहँ् श्रेयानस्म्यहँ् श्रेयानस्मीति ॥

(छान्दो० ५-१-६)

एक बार सब प्राण कहने लगे कि मैं श्रेष्ठों में श्रेष्ठ हूँ।

बताइये, इस उदाहरण से क्या पता चल गया कि प्राणों में बुद्धि भी है और वह श्रेष्ठ है ?

श्री आचार्यजी उपनिषद् का अगला मन्त्र पढ़ते तो पता चलता कि प्राणों का यह कहना कि 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ।' स्वीकार नहीं किया गया और कौन श्रेष्ठ है, इसका निर्णय छान्दो० ५-१-१२ में किया गया है कि साँस लेने वाला प्राण ही सबसे श्रेष्ठ है। बुद्धि का तो उल्लेख ही नहीं है।

इस उपनिषद् के मन्त्र ६ से लेकर १२ तक पढ़ें तो पता चलता है कि आँख, नाक, कान, त्वचा, जिह्वा इत्यादि में जो प्राण हैं, वे फेफड़े में कार्य करने वाले प्राण से छोटे हैं और बिना उस (फेफड़े वाले) प्राण के कार्य नहीं कर सकते।

अन्य भाष्यकार भी सूत्रों के शब्द उपनिषदों में ढूंढ़ते हैं और फिर अर्थ लगाते हैं। इसी कारण भूल करने लगते हैं।

मुख्य, ज्येष्ठ अर्थात् महाप्राण वह है जिसके बिना शरीर नहीं रहता। यह प्राण वही है जो अनैच्छिक क्रियाओं को चलाता है।

एक बात यहाँ और समझ लेनी चाहिए कि इस पाद में प्राणी में कार्य करने वाले प्राणों का वर्णन हो रहा है, जगत्-रचना में कार्य करने वाली ईश्वर-शक्ति का नहीं।

मन की वृत्तियों के समान ही इन प्राणों का व्यवहार है। इन पाँचों प्राणों के कार्यों को चक्षुः इत्यादि से संकेत किया है। यहाँ ज्ञानेन्द्रियों से ही अभिप्राय है।

ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर के संसार का अनुभव मन तक पहुँचाती हैं और मन उनको ग्रहण कर आत्मा तक पहुँचाता है। तदनन्तर आत्मा उन प्राणों से कार्य करता है जो ऐच्छिक क्रियाओं को करते हैं। ये कर्मेन्द्रियाँ हैं।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जब सूत्रकार ने कहा कि ये पाँच प्राण के व्यवहार वैसे ही हैं जैसे मन के पाँच व्यवहार हैं तो ये योगदर्शन-शास्त्र वाले व्यवहार नहीं।

मन ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव ग्रहण करता है। इस कारण इनको मनोवत् कहा है।

अणुश्च ॥१३॥

अणुः+च।

और अणु है।

इसका अभिप्राय यह है कि ये पाँच प्राण मनोवत् हैं और मन की भाँति अणु (सूक्ष्म) भी हैं।

प्राण कोई पदार्थ नहीं। यह शक्ति है। यह उस शक्ति का अंग है जिससे परमात्मा जगत् में गति उत्पन्न करता है।

यही बात सूत्र २-४-७ में भी लिखी है। वहाँ उस प्राण के विषय में लिखा है जो कर्मेन्द्रियों में कार्य करते हैं। यहाँ शेष प्राणों के लिए लिखा है।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

ज्योतिः+आदि+अधिष्ठानं+तु+तत्+आमननात्।

ज्योतिःआदिचक्षु (ज्ञानेन्द्रियाँ)। तु=तो। अधिष्ठानं=प्राणों के टिकने के स्थान हैं। तत्=इसका। आमननात्=शास्त्र में समर्थन है।

चक्षु, कान, नाक, त्वचा एवं जिह्वा इन पाँच प्राणों के निवास स्थान हैं। ये इन्द्रियाँ प्राण नहीं। प्राणों से बाह्य पदार्थों का ज्ञान मन तक पहुँचता है। वहाँ ये मन में अपने अनुभवों का चित्र चित्रित करते हैं और मन जीवात्मा के साथ

सम्बन्धित होने से वे अनुभव जीवात्मा तक पहुँचा देता है और जीवात्मा बुद्धि से परामर्श कर कर्मेन्द्रियों को प्राणों द्वारा कार्य करने की आज्ञा देता है और कार्य होता है।

इस बात का कि चक्षु आदि देखते नहीं, ये तो केवल माध्यम मात्र हैं, शास्त्र से समर्थन प्राप्त है।

प्रश्न उपनिषद् में यह लिखा है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ (प्रश्न० ४-९)

अर्थात्—विज्ञानात्मा पुरुष ही देखता है, स्पर्श करता है, सुनता है, सूंघता है, रस लेता है, मनन करता है, बुद्धि का प्रयोग करता है। वह दूसरा अक्षर परमात्मा में स्थित है।

यह जानना रुचिकर होगा कि इस सूत्र के भाष्य में उदयवीर शास्त्री क्या कहते हैं। आप लिखते हैं—

"सूत्र में ज्योति पद अग्नि का पर्याय है और व्याख्याकारों के अनुसार ऐतरेय उपनिषद् के एक सन्दर्भ (१-२-४) की ओर संकेत करता है। ज्योति अथवा अग्नि, वायु आदि पद परमात्मा और भूत तत्त्व दोनों के वाचक होते हैं।"

यहाँ प्राणों का, प्राणी के शरीर में कार्य करने वाली शक्तियों का वर्णन हो रहा है। अग्नि का क्या सम्बन्ध है इस प्राण से ? यह विचारणीय बात है।

आइये, तनिक उस उपनिषद् वाक्य को भी देखें जिधर शास्त्रीजी, इस सूत्र के भाष्य में संकेत करते हैं।

ऐतरेय उपनिषद् (१-२-४) इस प्रकार है—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्। दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्। मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥

यहाँ अग्नि मुख में प्रवेश कर वाक् होकर मुख में प्रविष्ट हुआ। वायु नासिका में प्रवेश कर प्राण हो जाते हैं। आदित्य चक्षु में प्रवेश कर दृष्टि हो जाता है। दिशः कानों में घुसकर श्रवण हो जाता है। ओषधि, वनस्पतियाँ, त्वचा में घुसकर लोम हो जाती हैं। चन्द्रमा हृदय में घुसकर मन हो जाता है। मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुई है। जल रेतस् होकर लिङ्ग स्थान में चला गया।

इस उद्धरण का क्या सम्बन्ध है सूत्र के साथ, यह तो श्री शास्त्रीजी ने बताया नहीं। न ही पूरे दूसरे मन्त्र के अर्थ का उन सात प्राणों के साथ सम्बन्ध का वर्णन किया है, जिनका उल्लेख सूत्रकार इस पाद में कर रहा है।

कुछ भी हो, यह उपनिषद् वाक्य है। इसकी व्याख्या भी स्पष्ट नहीं है।

चन्द्रमा और आपः का सम्बन्ध बताया है हृदय से और रेतस् का शिश्न के साथ। मृत्यु नाभि में कैसे प्रवेश करती है, यह स्पष्ट नहीं।

वास्तविक बात यह है कि क्योंकि स्वामी शंकराचार्य ने यह उद्धरण दिया है, अत: अन्य भाष्यकारों ने मक्खी पर मक्खी मार दी है।

हमारा मत है कि ज्योति आदि अग्नि, वायु आदि के वाचक नहीं हैं। इस मन्त्र में भी ज्योति और अग्नि का समन्वय नहीं मिलता। सूत्र का इस मन्त्र (ऐतरेय० १-२-४) से किसी प्रकार का न सम्बन्ध है, न इस ओर सूत्र में संकेत है। यदि सूत्र के भाव को कोई उपनिषद् वाक्य स्पष्ट करता है तो वह प्रश्न० ४-९ है। इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

प्राण अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति इन्द्रियों में स्थित अवश्य है, परन्तु वे ये इन्द्रियाँ नहीं हैं। वह शक्ति जीवात्मा द्वारा संचालित होती है और जीवात्मा परमात्मा से सम्बद्ध है।

यही है इस सूत्र का अर्थ। चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ इन प्राणों का अधिष्ठान हैं। यह बात शास्त्र से समर्थित है।

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

प्राणवता + शब्दात्।

प्राण वाले के साथ। ऐसा शास्त्र में कहे जाने से।

इस सूत्र में शब्द प्राणवता मुख्य है। प्राण वाला कौन है? यह निश्चय है कि प्राण का शरीर में अध्यक्ष जीवात्मा है। परन्तु अध्यक्ष का अर्थ यह नहीं कि प्राण वाला वह है। इस विषय में हम इसी पाद के प्रथम सूत्र के भाष्य में बता चुके हैं कि प्राण परमात्मा की शक्ति है। अथर्ववेद ग्यारहवाँ काण्ड का चौथा पूर्ण सूक्त ही प्राणों की व्याख्या करता है। लिखा है कि प्राण परमात्मा की वह शक्ति है जिससे यह चराचर जगत् कार्य कर रहा है। (पाठक इस पाद के प्रथम सूत्र के भाष्य को देख सकते हैं।)

परमात्मा की एक अन्य शक्ति वायु है। वह भीतर से सबका नियमन करती है। प्राण गति उत्पन्न करते हैं। प्राणी में भी गति करने वाली शक्ति परमात्मा की ही है। वैसे वेद के इसी सूक्त में प्राण और वायु पर्याय माने हैं।

इस सन्दर्भ में अथर्ववेद ११-४-१५ पाठनीय है। वेदमन्त्र इस प्रकार है—

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
(अथर्व० ११-४-१५)

(प्राणम् मातरिश्वानम् आहुः) प्राण को मातरिश्वा कहते हैं। (वातः ह प्राणः उच्यते) प्राण को वायु भी कहते हैं। (प्राणे ह भूतं भव्यं च) भूत और भविष्यत् प्राण में प्रतिष्ठित हैं। (प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्) सबकुछ प्राण में प्रतिष्ठित है।

एक अन्य मन्त्र में लिखा है—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।। (अथर्व० ११-४-१४)

गर्भ के अन्दर भी, श्वास लेता व छोड़ता प्राण से ही है। अभिप्राय यह कि प्राण ईश्वरीय शक्ति है। प्राणी में वह जीवात्मा के अधीन कार्य करती है।

तस्य च नित्यत्वात् ।।१६।।

तस्य+च+नित्यत्वात्।

और उसके नित्य होने से (प्राण नित्य है)।

प्राण ईश्वरीय शक्ति है। शक्तिमान् के नित्य होने से उसकी शक्ति भी नित्य है।

ऊपर के सूत्र में लिखा है कि प्राणवता ईश्वर है और फिर लिखा है कि उसके (परमात्मा के) नित्य होने से प्राण भी नित्य है।

यह ठीक है कि प्राणी के शरीर में यह आता है और समय पाकर इसको छोड़ जाता है, परन्तु जिसका यह लक्षण है, वह नित्य है। अतः प्राण शक्ति भी नित्य है।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।।१७।।

ते+इन्द्रियाणि+तद्व्यपदेशात्+अन्यत्र+श्रेष्ठात्।

वे (प्राण) इन्द्रियाँ हैं। ऐसा कहे जाने से। श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणों से पृथक्।

ऊपर जो पाँच प्राणों का वर्णन आया है वह (ज्ञानेन्द्रियों) में कार्य करने वाले प्राणों का कथन है। ये श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणों से दूसरे हैं।

भेदश्रुतेः ।।१८।।

इन्द्रियों वाले प्राण और श्रेष्ठ (मुख्य) प्राणों में भेद है। ऐसा श्रुति में वर्णित है।

श्रुति में कहाँ वर्णित है, यह सूत्रों का अर्थ उपनिषदों से लगाने वाले बता नहीं सके।

स्वामी शंकराचार्य प्रमाण देते हैं बृ० उ० १-३-२ का।

वह लिखते हैं—"**भेदेन वागादिभ्यः प्राणः सर्वत्र श्रूयते:=ते ह वाचमूचुः** (बृ० उ० १-३-२)।

प्राण का वागादि से सर्वत्र भेद से श्रवण होता है। यह उद्धरण है बृ० १-३-२ का। इस उपनिषद् वाक्य में वागादि इन्द्रियों और प्राण में भेद यह बताया है कि सब इन्द्रियों के विषय हैं। जब इन्द्रियों का प्रयोग होता है तो विषयों की तृप्ति भी होती है। विषय इन्द्रियों को ग्रस लेते हैं। अर्थात् इन्द्रियाँ पाप से बद्ध हो जाती हैं। प्राण का कोई विषय नहीं। इस कारण पाप इसको बाँध नहीं सकता।

यहाँ प्राण की श्रेष्ठता अन्य इन्द्रियों पर दिखायी है, परन्तु यह केवल एक पक्ष है। वास्तव में प्राण (फेफड़े के कार्य) में मुख्य विशेषता यह है कि यह मनुष्य की जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति की अवस्था में निरन्तर चलते रहते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है।

हम मानते हैं कि प्राणी के शरीर में होने वाली अनैच्छिक क्रियाओं में श्रेष्ठ प्राण कार्य करते हैं और इन्द्रियों में सामान्य प्राण हैं। यहीं इन दोनों में भेद है।

वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

वैलक्षण्यात्+च

और विलक्षण होने से (वह श्रेष्ठ है)।

मुख्य प्राणों की दूसरे छः प्रकार के प्राणों से विलक्षणता यह है कि जहाँ सामान्य प्राण जीवात्मा और मन के अधीन हैं वहाँ मुख्य प्राण जीवात्मा के अधीन नहीं हैं। वे स्वतः कार्य करते रहते हैं। यद्यपि कार्य तो प्राणी के लिए ही करते हैं परन्तु वे प्राणी के अधीन नहीं हैं।

(श्रेष्ठ) मुख्य प्राणों में यही विलक्षणता रहती है कि इनका सम्बन्ध सीधा जीवात्मा से रहता है। जब शरीर सुषुप्ति अवस्था में होता है तब भी वे प्राण चलते रहते हैं। कारण यह कि आत्मा सोता नहीं। प्राणी सशरीर जीवात्मा है।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः + तु + त्रिवृत्कुर्वतः + उपदेशात् ।

संज्ञा का अर्थ नाम है। मूर्ति से अभिप्राय रूप अथवा शरीर से है। क्लृप्ति से अभिप्राय रचना का है। त्रिवृत्कुर्वतः = तीन वृत्तों में करने वाले से ऐसा कहा गया है।

इसका अर्थ यह है कि सृष्टि-रचना के समय परमात्मा ने तीन-तीन प्रकार की सृष्टि की और उस सृष्टि में रूप बना और फिर नाम भी रखा गया। तीसरे इसमें चेतना आयी अर्थात् गति आयी।

रूप और नाम से वस्तु का अर्थ लिया जाता है।

वैसे तो प्रकरण जन्तुओं में प्राणी का चल रहा है। और इसके तीन वृत्त छन्द शरीर निर्माण, शरीर के अवयवों का नाम भी मन में प्राण जोगति का सूचक है। वैसे जगत् की अन्य वस्तुओं में भी यही तीन वृत्त की प्रक्रिया है।

प्राणों के प्रकरण में इस सूत्र को देने का आशय केवल यह है कि यह भ्रम न हो जाय कि शरीर में प्राण ही कार्य कराने वाला है। प्राण परमात्मा की शक्ति है। जैसे जगत्-रचना में प्रत्येक नाम रूप वाले पदार्थ की रचना परमात्मा करता है। वैसे ही प्राण और शरीर भी ईश्वर के निर्माण किये हुए हैं।

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१॥

मांसादि + भौमम् + यथा शब्दम् + इतरयोः + च।

मांसादि से अभिप्राय शरीर में पेशियां (muscles) हैं। भौमम् (पृथिवी) भूत से बनते हैं।

पंचभूतों में मांस के बनाने में विशेष कार्य पृथिवी भूत का है। इसमें पृथिवी के अतिरिक्त भी भूत हैं। उनमें से (इतरयोः) दो से शरीर का वह भाग बनता है (यथा शब्दं) जैसा शास्त्र में वर्णन किया है। ये दोनों भूत कौन से हैं? जल और अग्नि हैं। अग्नि से प्राणों का निर्माण होता है जो शरीर को जीवित रखने में योग-दान करते हैं।

खाये अन्न के एक भाग से शरीर का निर्माण होता है। दूसरा तेज (energy) होता है।

भौमम् का अर्थ, भूमि से उत्पन्न होने के कारण अन्न भी है।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है कि भूमि से उत्पन्न अन्न से मांसादि बनते हैं। मांसादि से अभिप्राय शरीर है। इस अन्न के एक अंश से मांस बना, दूसरे अंशों

से वही समझो जैसा कि शास्त्र में वर्णन किया है। अर्थात् प्राण। अन्न में प्राण-शक्ति परमात्मा से ही आती है।

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

वैशेष्यात् + तु + तद्वादः + तद्वादः ॥

विशेषों के विषय में ही यह बात कही गयी है। यह मत कहा गया है।

विशेषों का अर्थ हम इस प्रकरण के आरम्भ में बता चुके हैं। सृष्टि-क्रम में अहकारों के उपरान्त जो क्रम है, वे विशेष कहलाते हैं। यह प्राण और प्राणी का शरीर विशेषों से ही सम्बन्ध रखता है। अतः सूत्रकार का यह मत है कि अन्न में शक्ति परमात्मा की है। यह सृष्टि-रचना के समय तेज के रूप में आती है। यही अन्न जब खाया जाता है तो तेज प्राण में बदल जाता है। यह कथन विशेषों के विषयों में ही है।

विशेषों से अभिप्राय है पंच महाभूत।

□ □

सूत्राणामनुक्रमणिका

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
अ		
अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥	(२-२-८)	३०२
अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयते एके ॥	(२-३-४३)	३५९
अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥	(२-४-११)	३८१
अणवश्च ॥	(२-४-७)	३७९
अणुश्च ॥	(२-४-१३)	३८५
अत एव च नित्यत्वम् ॥	(१-३-२९)	२००
अत एव न देवता भूतंच ॥	(१-२-२७)	१५९
अत एव प्राणः ॥	(१-१-२३)	११०
अत्ता चराचरग्रहणात् ॥	(१-२-९)	१३८
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥	(१-१-१)	२९
अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥	(१-२-२१)	१५१
अदृष्टानियमात् ॥	(२-३-५१)	३७०
अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥	(२-१-२२)	२८५
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥	(२-२-३९)	३२८
अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतरः ॥	(१-२-१७)	४३, १४४
अनुकृतेस्तस्य च ॥	(१-३-२२)	१८७
अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥	(२-३-४८)	३६८
अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥	(१-२-३)	१२९
अनुस्मृतेर्बादरिः ॥	(१-२-३०)	१६०
अनुस्मृतेश्च ॥	(२-२-२५)	३२१
अन्तर उपपत्तेः ॥	(१-२-१३)	१४२
अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥	(२-३-१५)	३४३
अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥	(१-२-१८)	१४४

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥	(२-२-४१)	३२६
अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥	(१-१-२०)	१०७
अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥	(२-२-३६)	३२७
अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥	(२-२-९)	३०३
अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥	(१-३-१२)	१७७
अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥	(२-२-५)	३०१
अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥	(१-४-१८)	२३०
अन्यार्थश्च परामर्शः ॥	(१-३-२०)	१८६
अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥	(२-२-१७)	३१४
अपि च स्मर्यते ॥	(१-३-२३)	१८८
अपि च स्मर्यते ॥	(२-३-४५)	३६३
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥	(२-१-८)	२६५
अभिध्योपदेशाच्च ॥	(१-४-२४)	२३९
अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥	(२-१-५)	४३, २६३
अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥	(१-२-२९)	१६०
अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥	(२-३-५२)	३७२
अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥	(२-२-६)	३०१
अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥	(१-२-७)	१३५
अल्पश्रुतेरिति चेतदुक्तम् ॥	(१-३-२१)	१८७
अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्हृदि हि ॥	(२-३-२४)	३४८
अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥	(१-४-२२)	२३४
अविरोधश्चन्दनवत् ॥	(२-३-२३)	३४८
अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥	(२-१-२३)	२८७
असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥	(२-२-२१)	३१५
असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥	(२-१-७)	२६४
असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥	(२-१-१७)	२७९
असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥	(२-३-४९)	३६९
असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥	(२-३-९)	३३९
अस्ति तु ॥	(२-३-२)	३३१
अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥	(१-१-१९)	१०४
अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥	(१-३-१०)	१७६

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
आ		
आकाशस्तल्लिङ्गात् ।।	(१-१-२२)	१०७
आकाशे चाविशेषात् ।।	(२-२-२४)	३२०
आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।।	(१-३-४१)	२१०
आत्मकृतेः परिणामात् ।।	(१-४-२६)	२४०
आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ।।	(२-१-२८)	२९१
आनन्दमयोऽभ्यासात् ।।	(१-१-१२)	८५
आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।।	(१-४-१)	२१२
आपः ।।	(२-३-११)	३४०
आभास एव च ।।	(२-३-५०)	३६९
आमनन्ति चैनमस्मिन् ।।	(१-२-३२)	१६१
इ		
इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ।।	(१-३-१८)	१८४
इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।।	(२-१-२१)	२८४
इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रत्वात् ।।	(२-२-१९)	३१५
इतरेषां चानुपलब्धेः ।।	(२-१-२)	२५६
ई		
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ।।	(१-३-१३)	१७७
ईक्षतेर्नाशब्दम् ।।	(१-१-५)	६१
उ		
उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ।।	(१-४-२१)	२३३
उत्क्रांतिगत्यागतीनाम् ।।	(२-३-१९)	३४६
उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।।	(१-३-१९)	१८५
उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ।।	(२-२-२०)	३१५
उत्पत्त्यसम्भवात् ।।	(२-२-४२)	३२९
उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।।	(२-२-२७)	३२२
उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ।।	(१-१-२७)	११५
उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।।	(२-१-३६)	२९४
उपलब्धिवदनियमः ।।	(२-३-३७)	३५७

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
उपादानात् ॥	(२-३-३५)	३५६
उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥	(२-१-२४)	२८७
उभयथा च दोषात् ॥	(२-२-१६)	३१२
उभयथा च दोषात् ॥	(२-२-२३)	३१६
उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥	(२-२-१२)	३०५

ए

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥	(२-३-८)	३३८
एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥	(२-१-३)	२५९
एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥	(२-१-१२)	२७२
एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥	(१-४-२८)	२४१
एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥	(२-२-३४)	३२६

क

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥	(२-२-४०)	३२८
कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥	(२-३-३३)	३५५
कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥	(१-२-४)	१३०
कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥	(१-४-१०)	२२२
कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥	(१-१-१८)	१०२
कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥	(१-४-१४)	२२६
कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥	(२-३-४२)	३५९
कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपोवा ॥	(२-१-२६)	२८८

ग

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिंग च ॥	(१-३-१५)	१८२
गतिसामान्यात् ॥	(१-१-१०)	८२
गुणाद्वा लोकवत् ॥	(२-३-२५)	३४८
गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥	(१-२-११)	४२, १३९
गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥	(१-१-६)	७३
गौण्यसम्भवात् ॥	(२-३-३)	३३३
गौण्यसम्भावात् ॥	(२-४-२)	३७५

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
च		
चमसवदविशेषात् ॥	(१-४-८)	२२०
चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥	(२-३-१६)	३४३
चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥	(२-४-१०)	३८०
छ		
छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥	(१-१-२५)	११२
ज		
जगद्वाचित्वात् ॥	(१-४-१६)	२२८
जन्माद्यस्य यतः ॥	(१-२-२)	३४
जीवमुख्यप्राणलिगान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥	(१-४-१७)	२२९
जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात ॥	(१-१-३१)	१२०
ज्योतिराद्य धिष्ठानं तु तदामननात् ॥	(२-४-१४)	३८५
ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥	(१-४-९)	२२१
ज्योतिर्दर्शनात् ॥	(१-३-४०)	२१०
ज्योतिश्चरणाभिनात् ॥	(१-१-२४)	१११
ज्योतिषि भावाच्च ॥	(१-३-३२)	२०३
ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥	(१-४-१३)	२२५
त		
त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥	(२-४-१७)	३८८
तत्तु समन्वयात् ॥	(१-१-४)	५१
तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥	(२-४-४)	३७७
तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥	(२-४-३)	३७६
तथा च दर्शयति ॥	(२-३-२७)	३५०
तथा प्राणाः ॥	(२-४-१)	३७३
तदधीनत्वादर्थवत् ॥	(१-४-३)	२१५
तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥	(२-१-१४)	२७६

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥	(१-३-३७)	२०९
तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥	(२-३-१३)	३४१
तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥	(१-३-२६)	१९४
तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥	(२-३-२९)	३५१
तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥	(१-१-१४)	९६
तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥	(१-१-७)	७५
तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः ॥	(२-१-११)	२६८
तस्य च नित्यत्वात् ॥	(२-४-१६)	३८८
तेजोऽतस्तथः ह्याह ॥	(२-३-१०)	३३९

द

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
दहर उत्तरेभ्यः ॥	(१-३-१४)	१८०
देवादिवदपि लोके ॥	(२-१-२५)	२८८
दृश्यते तु ॥	(२-१-६)	२६१
द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥	(१-३-१)	१६४

ध

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
धर्मोपपत्तेश्च ॥	(१-३-९)	१७५
धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥	(१-३-१६)	१८२

न

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥	(२-१-३५)	२९४
न च कर्त्तुः करणम् ॥	(२-२-४३)	३२९
न च पर्यायादप्यविरोधी विकारादिभ्यः ॥	(२-२-३५)	३२७
न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापाद् ॥	(१-२-१९)	१४५
न तु दृष्टान्तभावात् ॥	(२-१-९)	२६५
न प्रयोजनवत्त्वात् ॥	(२-१-३२)	२९३
न भावोऽनुपलब्धेः ॥	(२-२-३०)	३२४
न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥	(१-१-२९)	११८
न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥	(२-४-९)	३८०
न वियदश्रुते ॥	(२-३-१)	३३१

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥	(२-१-४)	४२, २६१
न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥	(१-४-११)	२२२
नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥	(२-३-२१)	३४६
नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥	(२-३-१७)	३४४
नानुमानमतच्छब्दात् ॥	(१-१-३)	१६७
नाभाव उपलब्धे ॥	(२-२-२८)	३२२
नासतोऽदृष्टत्वात ॥	(२-२-२६)	३२२
नित्यमेव च भावात् ॥	(२-२-१४)	३०६
नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥	(२-२-३२)	३५४
नेतरोऽनुपपत्तेः ॥	(१-१-१६)	९९
नैकस्मिनसंभवात् ॥	(२-२-३३)	३२६

प

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
पटवच्च ॥	(२-१-१९)	२८०
पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥	(२-४-१२)	३८२
पत्यादिशब्देभ्यः ॥	(१-३-४३)	२११
पत्युरसामञ्जस्यात् ॥	(२-२-३७)	३२८
पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥	(२-२-३)	२९९
परात्तु तच्छ्रुतेः ॥	(२-३-४१)	३५८
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥	(२-३-३१)	३५३
पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥	(२-२-७)	३०३
पृथगुपदेशात् ॥	(२-३-२८)	३५१
पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥	(२-३-१२)	३४०
प्रकरणाच्च ॥	(१-२-१०)	१३९
प्रकरणात् ॥	(१-३-६)	१७२
प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥	(२-३-४६)	३६५
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥	(१-४-२३)	२३५
प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥	(२-२-२२)	३१७
प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्य ॥	(२-३-६)	३३४
प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥	(२-३-५३)	३७३
प्रवृत्तेश्च ॥	(२-२-२)	२९७

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
प्रसिद्धेश्च ॥	(१-२-१७)	१८३
प्राणवता शब्दात् ॥	(२-३-१५)	३८७
प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥	(१-१-२८)	११७
प्राणः कम्पनात् ॥	(१-३-३९)	२१०
प्राणदयो वाक्यशेषात् ॥	(१-४-१२)	२२४
प्राणाभृच्च ॥	(१-३-४)	१७०
प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥	(१-४-२०)	२३१

भ

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥	(१-३-३३)	२०४
भावे चोपलब्धेः ॥	(२-१-१५)	२७७
भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥	(१-१-२६)	११४
भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥	(१-३-८)	१७५
भेदव्यपदेशाच्च ॥	(१-१-१७)	१०२
भेदव्यपदेशाच्चान्य ॥	(१-१-२१)	१०७
भेदव्यपदेशात् ॥	(१-३-५)	१७१
भेदश्रुतेः ॥	(२-४-१८)	३८८
भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥	(२-१-१३)	२७४

म

मन्त्रादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥	(१-३-३१)	२०१
मन्त्रवर्णाच्च ॥	(२-३-४४)	३६२
महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥	(२-२-११)	३०४
महद्वच्च ॥	(१-४-७)	२१९
मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥	(१-१-१५)	९६
मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥	(२-४-२१)	३९०
मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥	(१-३-२)	१६६

य

यथा च तक्षोभयथा ॥	(२-३-४०)	३५८
यथा च प्राणादि ॥	(२-१-२०)	२८२
यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥	(२-३-३०)	३५२
यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥	(२-३-७)	३३७

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥	(२-१-१८)	२८०
योनिश्च हि गीयते ॥	(१-४-२७)	२४०

र

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥	(२-२-१)	२९६
रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥	(२-२-१५)	३०७
रूपोपन्यासाच्च ॥	(१-२-२३)	१५३

ल

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥	(२-१-३३)	२९३

व

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
वदतीत चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥	(१-४-५)	२१७
वाक्यान्वयात् ॥	(१-४-१९)	२३०
विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥	(२-१-३१)	२९२
विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥	(१-१-१३)	९४
विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥	(२-३-१४)	३४२
विप्रतिषेधाच्च ॥	(२-२-४५)	३३०
विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥	(२-२-१०)	३०४
विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥	(१-३-२७)	१९६
विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥	(१-२-२)	१२६
विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥	(१-२-२२)	१५२
विशेषणाच्च ॥	(१-२-१२)	४२, १४१
विहारोपदेशात् ॥	(२-३-३४)	३५५
विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥	(२-२-४४)	३२९
वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥	(२-२-२९)	३२३
वैलक्षण्याच्च ॥	(२-४-१९)	३८९
वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥	(२-४-२२)	३९१
वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥	(१-२-२४)	१५४
वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥	(२-१-३४)	२९३
व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥	(२-२-४)	३००
व्यतिरेको गन्धवत् ॥	(२-३-२६)	३४९
व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥	(२-३-३६)	३५६

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
श		
शक्तिविपर्ययात् ॥	(२-३-३८)	३५७
शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥	(१-३-२८)	१९८
शब्दविशेषात् ॥	(१-२-५)	१३१
शब्दाच्च ॥	(२-३-४)	३३४
शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥	(१-२-२६)	१५७
शब्दादेवप्रमितः ॥	(१-३-२४)	१९०
शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥	(१-२-२०)	१४६
शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥	(१-१-३०)	१२०
शास्त्रयोनित्वात् ॥	(१-१-३)	४४
शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥	(१-३-३४)	२०५
श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥	(१-३-३८)	२०९
श्रुतत्वाच्च ॥	(१-१-११)	८५
श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥	(२-१-२७)	२८९
श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥	(१-२-१६)	१४३
श्रेष्ठश्च ॥	(२-४-८)	३७९
स		
संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥	(१-२-३१)	१६१
संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥	(१-२-८)	१३६
संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥	(१-३-३६)	२०९
संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥	(२-४-२०)	३९०
सत्त्वाच्चावरस्य ॥	(२-१-१६)	२७८
सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥	(२-४-५)	३७७
समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥	(२-२-१३)	३०५
समाकर्षात् ॥	(१-४-१५)	२२७
समाध्यभावाच्च ॥	(२-३-३९)	३५७
समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥	(१-३-३०)	२००
समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥	(२-२-१८)	३१४

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥	(२-२-३८)	३२८
सर्वथानुपपत्तेश्च ॥	(२-२-३२)	३२५
सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥	(२-१-३७)	२९५
सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥	(१-२-१)	१२४
सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥	(२-१-३०)	२९२
सा च प्रशासनात् ॥	(१-३-११)	१७६
साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥	(१-४-२५)	२३९
साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥	(१-२-२८)	१५९
सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥	(१-२-१५)	१४३
सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥	(१-३-४२)	२११
सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥	(१-४-२)	२१४
स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥	(१-२-१४)	१४२
स्थित्यदनाभ्यां च ॥	(१-३-७)	१७३
स्मरन्ति च ॥	(२-३-४७)	३६७
स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥	(१-२-२५)	१५५
स्मृतेश्च ॥	(१-२-६)	१३२
स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोप्रसङ्गात् ॥	(२-१-१)	४२, २५३
स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥	(२-३-५)	३३४
स्वपक्षदोषाच्च ॥	(२-१-१०)	२६६
स्वपक्षदोषाच्च ॥	(२-१-२९)	२९१
स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥	(२-३-२२)	३४७
स्वात्मना चोत्तरयोः ॥	(२-३-२०)	३४६
स्वाप्ययात् ॥	(१-१-९)	७९

ह

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥	(२-४-६)	३७७
हेयत्वावचनाच्च ॥	(१-१-८)	७७
हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥	(१-३-२५)	१९२,२०५

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
क्ष		
क्षणिकत्वाच्च ॥	(२-२-३१)	३२५
क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥	(१-३-३५)	२०८
त्र		
त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥	(१-४-६)	२१७
ज्ञ		
ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥	(१-४-४)	२१६
ज्ञोऽत एव ॥	(२-३-१८)	३४४

प्रमाणानुक्रमणिका

अ

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
अकार्यत्वेऽपि तद्योग:	(सांख्य० ३-५५)	६४
अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं	(ऐत० १-२-४)	३८६
अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं	(मनु० १-२३)	९८
अचेतनत्वेपि क्षीरवच्चेष्टितं	(सांख्य० ३-५९)	६४
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां	(श्वे० ४-५) ७१,२२३,	२७८
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते	(श्वे० ४-५)	२७८
अथ यदत: परो दिवो	(छा० ३-१३-७)	११२
अथ ह प्राणा	(छा० ५-१-६)	३८४
अनित्यइतिविशेषत:	(वै० द० ४-१-४)	३०९
अनेकद्रव्यसमवायात्	(वै० द० ४-१-८)	३१०
अन्धन्तम: प्रविशन्ति	(यजु० ४०-१२)	५९
अन्यदेवाहुर्विद्याया	(यजु० ४०-१३)	५९
अपाङ् प्राङेति स्वधया	(ऋ० १-१६४-३८)	१३१
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं	(भ० गी० ७-५)	७६
अयं होता प्रथम:	(ऋ० ६-९-४)	११२
अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥	(वै० द० ४-१-१२)	३११
अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न:	(बृ० उ० २-२-३)	२२१
अविद्या ॥	(वै० द० ४-१-५)	३०९
अविद्यामाहुरव्यक्ते	(महा भा० शा० ३०७-२)	५९
अव्यक्तमाहु: प्रकृतिं परां	(महा भा० शा० ३०६-२७)	२५७
अव्यक्तात्तु पर: पुरुषो	(कठो० २-४-८)	३५१
असंशयं समग्रं मां यथा	(भ० गी० ७-१)	७५

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
असद्वा इदमग्र आसीत् ।	(तैत्ति० २-७-१)	९१, १०१
असौ वा आदित्यो देवमधु ।	(छा० ३-१-१)	२०२
अस्मिन् महामोहमये	(महा भा० वन० ३१३-११८)	१२६
अस्य वामस्य पलितस्य···	(ऋ० १-१६४-१)	१४३
अहङ्कारस्तु महत—	(महा भा० शा० ३०६-२८)	२५७

आ

आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः ।	(तैति० २-१)	३३७
आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता	(छा० ८-१४-१)	१२८
आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि	(ऋ० ६-२२-८)	५४
आतिष्ठन्तं परि विश्वे	(ऋ० ३-३८-४)	२३१
आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे	(वै० द० ३-२-१)	३४५
आ यावता सुहस्त्यः	(ऋ० ९-४६-४)	२१४
आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्	(मनु० १-५)	१०९,२८५

इ

इदं ते नातपस्काय	(भ० गी० १८-६७)	२०९
इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं	(न्याय० १-१-४)	३५
इन्द्रियेभ्यः परं मनो	(कठो० २-३-७)	३५१

ई

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥	(सां० ३-५७)	६४, १८९, २५६
ईशावास्यमिदँ सर्वम्···	(ईशा० १०-१)	१९१
ईशेशितव्यसम्बन्धः (सुरेश्वराचार्य उद्धृत सत्यानन्दी दीपिका पृष्ठ ५२७)		३६३
ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥	(योग० १-२३)	२६०
ईश्वरः सर्वभूतानां	(भ० गी० १८-६१)	१३२,३५८

उ

उत स्वया तन्वा संवदे	(ऋ० ७-८६-२)	१०६
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	(भ० गी० १५-१७)	४३
उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म	(श्वे० १-७)	४२, ६९, १६९, १९०
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता	(भ० गी० १३-२२)	४२
उपरागात् कर्तृत्वंचित्···	(सां० १-१६४)	६५

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
ऋ		
ऋचो अक्षरे परमे···	(ऋ० १-१६४-३९)	१०६,३३३
ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके	(कठो० १-३-१)	४४, ८५, १३६
ए		
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं	(मनु० ८-९१)	१३२
ऐको हि रुद्रो न	(श्वे० ३-२)	८३
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं	(श्वे० १-१२)	७०
एतद्योनीनि भूतानि	(भ० गी० ७-६)	५१, ७६
एतस्माज्जायते प्राणो मनः	(मुण्डको० २-१-३)	१९८,३७६
एताः प्रकृतयश्चाष्टौ	(महा भा० शा० ३०६-२९)	२५७
एतेन गुणत्वे भावे च	(वै० द० ४-१-१३)	३११
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा	(भ० गी० ३-४३)	१४५
एवमेवैष एतत्प्राणान्	(बृ० २-१-१८)	३५५
एष आदेशः। एष उपदेशः।	(तैत्ति० १-११-४)	८७
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा···	(प्रश्न० ४-९)	२३४,३८६
एषोणुरात्मा चेतसा	(मुण्डको० ३-१-९)	३४७
ओ		
ओं ब्रह्मविदाप्नोति परम्	(तैत्ति० २-१)	८७
ओ३म्। आत्मा वा इदमेक	(ऐत० १-१-१)	७४
ओमित्येतकाक्षरं ब्रह्म	(भ० गी० ८-१३)	१८८,२५४
ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं	(माण्डूक्य० १)	९५, ११५
औदासीन्यं चेति॥	(सां० १-१६३)	६५
क		
कस्त्वा सत्यो मदानां	(ऋ० ४-३१-२)	९७
कारणाभावात् कार्याभावः॥	(वै० द० ४-१-३)	३०९
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः	(भ० गी० १३-२०)	४२
कुतस्तु खलु सोम्यैव	(छान्दो० ६-२-२)	६६
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	(यजु० ४०-२)	३५५
ग		
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता	(श्वे० ५-७)	३५०

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
ज		
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः	(भ० गी० १३-१७)	११२
त		
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो	(मनु० १-६)	१०६
तद्य इहात्मानमननुविद्य	(छा० ८-१-६)	१८१
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति	(छान्दो० ६-२-३)	६६, २३८
तद्धेदं तर्ह्य व्याकृतमासी	(बृ० उ० १-४-७)	२१५
तपः स्वाध्यायेश्वर	(योग० २-१)	२६०
तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं	(मनु० १-५५)	१३३
तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमया—	(तैत्ति० ३-१)	८६
तस्माद्वा एतस्मादात्मन	(तैत्ति० २-१)	८७, ३३६, ३३६
तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमया—	(तैत्ति० २-२)	८६
तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमया—	(तैत्ति० ५-१)	८६
तस्मै स होवाच ।	(प्रश्न० ५-२)	१७६
तस्य कार्यलिङ्गम् ।।	(वै० द० ४-१-२)	३०८
तस्याभावादव्यभिचारः ।।	(वै० द० ४-१-१०)	३११
ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः	(छा० ६-४-२)	२३८
तावानस्य महिमा ततो	(छा० ३-१२-६)	३६३
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा	(यजु० ४०-१)	३५६
तेन रसगन्धस्पर्शेषु	(वै० द० ४-१-६)	३१०
त्वष्टा दुहित्रेवहतुं	(ऋ० १०-१७-१)	२५८
द		
···दशेमे पुरुषे प्राणा	(बृ० ३-६-४)	३७८
द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्नि—	(सांख्य १-८७)	३४
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	(भ० गी० १५-१६)	४३
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	(ऋ० १-१६४-२०) (मुण्डको० ३-१-१) (श्वे० ४-५-६)	४१, ७१, २२३, ३६२
ध		
धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः	(मनु० १२-१०९)	२७२

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
	न	
न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं	(भ० गी० ३-४)	६०
न कारणलयात्	(सांख्य ३-५४)	६४
न जायते म्रियते वा	(भ० गी० २-२०)	३३४
न तस्य कार्यं करणं च	(श्वे० ६-८)	२३१
नमस्कृत्वा च गुरवे	(महा भा० शा० ३५०-४)	११
नमस्ते प्राण प्राणते	(अथर्व० ११-४-८)	३७४
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि	(ऋ० १०-१२९-२)	८४, ३८३
न वि जानामि यदि	(ऋ० १-१६४-३७)	१३१
न हि कश्चित्क्षणमपि	(भ० गी० ३-५)	६०
नित्य मुक्तत्वम् ॥	(सां० १-१६२)	६५
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म	(भ० गी० ३-८)	६०
	प	
परि विश्वा भुवनान्या—	(अथर्व० २-१-५)	९७
परीत्य भूतानि परीत्य	(यजु० ३२-११)	८०, १०६, १९१
पुण्डरीकं नवद्वारं	(अथर्व० १०-८-४३)	४१
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि	(भ० गी० १३-२१)	४२, २३५
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा	(श्वे० १-६)	८६
प्रकृतिं पुरुषं चैव	(भ० गी० १३-१९)	४२
प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञान	(सांख्य १-१००)	३५
प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः	(न्याय १-१-३)	३४
प्रधानसृष्टिः परार्थं	(सांख्य ३-५८)	६४
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं	(भ० गी० १८-३०)	३२
प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्	(न्याय १-१-७)	३५
प्राणामाहुर्मातरिश्वानं	(अथर्व० ११-४-१५)	३८७
प्राणापाननिमेषोन्मेष—	(वै० द० ३-२-४)	३४५
प्राणाय नमो यस्य	(अथर्व० ११-४-१)	११०, ११६, ३७४
प्राणो विराट् प्राणो	(अ० ११-४-१२)	३७६
	ब	
बहवः पुरुषा लोके	(महा भा० शा० ३५०-२)	११
बहूनां पुरुषाणां च	(महा भा० शा० ३५०-३)	११
बालाग्रशतभागस्य शतधा	(श्वे० ५-९)	३५०

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
भ		
भूमिरापोऽनलो वायुः	(भ० गी० ७-४)	७६
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं	(श्वेता० १-१२)	११६
म		
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति	(भ० गी० ७-७)	५१
ममैववांशो जीवलोके जीवभूतः	(भ० गी० १५-७)	३६४
मम योनिर्महद्ब्रह्म	(भ० गी० १४-३)	२५७
महत्यनेकद्रव्यवत्त्वा—	(वै० द० ४-१-६)	३०९
य		
य आत्मापहतपाप्मा विजरो	(छा० ८-७-१)	१२८
य एवं वेत्ति पुरुषं	(भ० गी० १३-२३)	२३५
य एको जालवानीशत	(श्वे० ३-१)	८३
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्त —	(कठो० १-३-१३)	३५१
यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं	(यजु० ३४-१)	१११
यतो वाचो निवर्तन्ते।	(तैत्ति० ४-१)	८९
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य	(तैत्ति० २-९)	९३
यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः	(भर्तृहरि)	२७०
यथा नद्यः स्यन्दमानाः	(मुण्डको० ३-२-८)	१९०
यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं	(छा० ६-१-६)	२३७
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन	(छा० ६-१-४)	२३७
यथा सोम्यैकेन लोहमणिना	(छा० ६-१-५)	२३७
यथा ह्येवैष एतस्मिन्न—	(तैत्ति० ७-१)	१०४
यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि	(यजु० २६-२)	२०२
यदाणुमात्रिको भूत्वा	(मनु० १-५६)	१३३
यदिदं किंच जगत्सर्वं	(कठो० २-३-२)	११०
यस्मादृचो अपातक्षन्य—	(अथर्व० १०-७-२०)	५६, ९८
यस्मिन् द्यौः पृथिवी	(मुण्डको० २-२-५)	१७२
यस्मिन्पञ्च पञ्चजना	(बृ० उ० ४-४-१७)	२२४
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र	(भ० गी० ३-९)	६०
युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा।	(मनु० १-५४)	१३२
येऽन्नं ब्रह्मोपासते।	(तैत्ति० २-२)	८८

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं	(छा० ६-१-३)	२३७
ये प्राणं ब्रह्मोपासते ।	(तैत्ति० ३-१)	८६
यो अस्य सर्वजन्मन	(अथर्व० ११-४-२४)	३७६
यो ब्रह्माणं विदधाति	(श्वे० ६-१८)	६८
यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञाना—	(बृ० ३-७-२२)	१४८
यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं	(छा० ५-१-१)	३८३
यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्ये—	(प्रश्नो० ५-५)	१७६
यः प्राणतो निमिषतो	(ऋ०.१०-१२१-३)	३५८
यत्र सुप्तो न कंचन कामं	(माण्डू० ५)	६५
व		
वायुरनिलममृतमथेदं	(यजु० ४०-१५)	१८६
विद्यां चाविद्यां च	(यजु० ४०-१४)	५६
विधुं दद्राणं समने बहूनां	(ऋ० १०-५५-६)	३६२
विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र	(ऋ० १-१५४-१)	१६०
विश्वस्मा अग्निं भुवनाय	(ऋ० १०-८८-१२)	१५८
…वेदवा अहं गौतम	(बृ० उ० ३-७-१)	३८०
वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा	(यजु० २३-८)	४१, ६७
वैश्वानरं कवयो	(ऋ० १०-८८-१३)	१५८
वैश्वानरः कस्मात् ?	(निरुक्त ७-२०-२१)	१५६
श		
शरीरं यदवाप्नोति	(भ० गी० १५-८)	३६४
स		
स एको मानुष आनन्दः	(तैत्ति० ८-१)	९२
सत्यं वद धर्मं चर	(तैत्ति० १-११-१)	३५६
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म	(तैत्ति० २-१)	८७
सत्यपिद्रव्यत्वे महत्त्वे	(वै० द० ४-१-७)	३१०
सत्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि	(कठो० १-१-१३)	२१८
सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था	(सांख्य १-६१)	५१, ६३, २२७
सदकारणवन्नित्यम् ॥	(वै० द० ४-१-१)	३०८
सदेव सोम्येदमग्र	(छान्दो० ६-२-१)	६६
स पर्यागाच्छुक्र…	(यजु० ४०-८)	३०, ५०

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
समाने वृक्षे पुरुषो	(श्वे० उ० ४-७)	२२३
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते	(श्वे० १-६)	४१, ६६
स वा एष पुरुषोऽन्न—	(तैत्ति० २-१)	८८
स ह द्वादशवर्ष उपेत्य	(छा० ६-१-२)	२३७
स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥	(सां० ३-५६)	६४, १८६, २५६
स होवाच वायुर्वै गौतम—	(बृ० उ० ३-७-२)	३८०
सा विश्वायुः सा	(यजु० १-४)	१६१
साक्षात् सम्बन्धात् साक्षित्वम् ।	(सां० १-११)	६५
सिँ ह्यसि स्वाहा	(यजु० ५-१२)	५४
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य	(कठो० २-२-११)	३६७
सैषानन्दस्य मीमांसा	(तैत्ति० ८-१)	१०३
सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सि—	(मनु० १-८)	६५, २८६, २५८
संख्याः परिमाणानिपृथक्त्वं	(वै० द० ४-१-११)	३११
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च	(श्वे० १-८)	६६
सांख्यदर्शनमेतावदुक्तं	(महा भा० शा० ३०७-१)	५६
स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्	(यजु० ४०-८)	५६

ह

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे	(यजु० १३-४)	८४
ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता	(श्वे० १-६)	३१४

क्ष

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः	(श्वेता० १-१०)	७०, ११६

ज्ञ

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं	(भ० गी० ७-२)	७५
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा	(श्वेता० १-६)	७०, ११६

□□

सुलभ

ब्रह्मसूत्र

(वेदान्त दर्शन) खण्ड-2

सरल सुबोध भाषा भाष्य

ब्रह्मसूत्र
(द्वितीय खण्ड)

ब्रह्मसूत्र

(वेदान्त दर्शन)

सरल-सुबोध-भाषा भाष्य

द्वितीय खण्ड

(तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय)

गुरुदत्त

हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली-110005

ग्रन्थ-संकेत

ऋ०	ऋग्वेद
बृ०, बृ० उ०, बृहद०	बृहदारण्यक उपनिषद्
छा०, छान्दो०	छान्दोग्य उपनिषद्
भ० गी०	भगवद्गीता
कठो०	कठोपनिषद्
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र
अथर्व०	अथर्व वेद
श्वेता०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
यजु०	यजुर्वेद
मुण्डको०	मुण्डकोपनिषद्
यो० द०	योग दर्शन
माण्डू०	माण्डूक्योपनिषद्
बृ० दे०	बृहद् देवता
मनु०	मनुस्मृति
सां०	सांख्य दर्शन
प्रश्न०	प्रश्नोपनिषद्
महा भा०	महाभारत
ईशा०	ईशावास्योपनिषद्
तैत्ति०	तैत्तिरीय उपनिषद्

विषय-सूची

१. तृतीय अध्याय

(१) सारांश ९-१८

(२) प्रथम पाद

जीवात्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना; जीवात्मा का उत्क्रमण, निम्न क्रमण इत्यादि १९-५०

(३) द्वितीय पाद

सन्ध्या अर्थात् स्वप्नावस्था का वर्णन; परमात्मा और जीवात्मा का परस्पर सम्बन्ध ५१-६६

(४) तृतीय पाद

सब वेदान्त विषय के ग्रन्थों में समानता; केवल शब्दों का भेद अथवा वर्णन शैली में अन्तर ६७-१४७

(५) चतुर्थ पाद

मोक्ष प्राप्ति में पुरुषार्थ का सहयोग १४८-१९८

२. चतुर्थ अध्याय

(१) सारांश १९९-२०२

(२) प्रथम पाद

ब्रह्म साक्षात्कार के साधन २०३-२१९

(३) द्वितीय पाद

ज्ञान प्राप्ति और उससे उत्क्रमण २२०-२३६

(४) तृतीय पाद
उत्क्रमण का मार्ग; चन्द्र लोक तथा ब्रह्म लोक — २२३-२५१

(५) चतुर्थ पाद
मोक्ष तथा उसका स्वरूप — २५२-२६६

३. उपसंहार — २६७-२९०
४. सूत्राणामनुक्रमणिका — २९१-३०१
५. प्रमाणानामनुक्रमणिका — ३०२-३०८
६. शुद्धि-पत्र — ३०९

तृतीय अध्याय का सारांश

प्रथम पाद

जीवात्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते समय एक सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ होता है। यह सूक्ष्म शरीर तीन भूतों से युक्त होता है। आकाश तो स्थूल शरीर में केवल माध्यम (medium) के रूप में ही है। सूक्ष्म शरीर में पृथिवी का अंश नहीं होता। शेष तीन महाभूत जल, अग्नि और वायु होते हैं।

यह सूक्ष्म शरीर जीवात्मा को प्राण की सहायता से ले जाता है। स्थूल शरीर की अग्नि जिससे शरीर गठित होता है, शरीर के भस्म होने के समय चिता की अग्नि में मिल जाती है। यह गौण अग्नि है। मुख्य अग्नि प्राण है। प्राण जीवात्मा के साथ जाता है और नवीन शरीर में कार्य करता है।

शरीर में श्रवणादि इन्द्रियों के कार्य समाप्त हो जाते हैं और प्राण जीवात्मा के साथ अगले शरीर में जाता है। यह द्वितीय अध्याय के चतुर्थ पाद में बताया जा चुका है कि श्रवणादि इन्द्रियों में प्राण ही कार्य करता है। इन्द्रियों के गोलक (अर्थात् माँस, मज्जा से बने अंग, जिनमें इन्द्रियाँ कार्य करती हैं) चिता की अग्नि में भस्म हो जाते हैं। इनके साथ ही उनके माँसादि को संगठित करने वाली शक्ति (अग्नि) चिता की अग्नि में ही मिल जाती है। परन्तु इन्द्रियों में कार्य करने वाले प्राण समाप्त नहीं होते। वे मृत देह को जीवात्मा के साथ ही छोड़ जाते हैं। वे जीवात्मा को अपने इष्टादि कर्मों का फल भोगने के लिये परलोकों में ले जाते हैं।

प्राणों के आश्रय जीवात्मायें परलोक में जाती हैं। जो जीवात्मायें ब्रह्मज्ञान नहीं रखतीं, वे पुनः इस मर्त्यलोक को लौट आती है।

कर्म योनि में किये गए कर्मों का फल जब समाप्त हो जाता है तो कर्मों और उनके संस्कारों से प्रेरित जीवात्मायें जैसे परलोक में गयी थी, वैसे ही लौट आती हैं।

कर्मयोनि में किये कर्म और संस्कारों के विषय में सूत्रकार कहता है कि कर्मफल तो समाप्त हो जाते हैं, संस्कार शेष रह जाते है। कर्म का उल्लेख यहाँ इस कारण कर दिया है, क्योंकि कर्मों से ही संस्कार बने थे। इस कारण दोनों का उपलक्षण मात्र वर्णन है।

कर्म दो ही प्रकार के होते हैं। सुकृत और दुष्कृत। कुछ लोगों का मत है कि दोनों प्रकार के कर्म करने वाले परलोक में जाते हैं। सूत्रकार का मत है कि यह कथन यमलोक के विषय में है। यमलोक उन योनियों को कहते हैं जो परमात्मा के नियन्त्रण में हैं, अर्थात् जिनमें जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं होता। वह सब प्रकार से परमात्मा के नियन्त्रण में होता है। इस लोक में भी अच्छी और बुरी योनियाँ हैं और इनमें ऊँची-नीची, जीवात्मा की गति होती रहती है।

स्मृति शास्त्रों में इसके प्रमाण भी मिलते हैं।

पाप योनियाँ सात प्रकार की गिनायी हैं। इन योनियों को श्रेणीबद्ध उनकी मानसिक (मन एवं बुद्धि की) मलिनता के अनुसार किया है।

'विद्या कर्मणो' अर्थात् ज्ञानयुक्त कर्मों से जीवात्मा की उत्क्रमण गति होती है। एक गति है जिससे जीवात्मा संयमन वाली योनियों में जाते हैं। सूत्रकार का मत है कि तीसरी गति नहीं। उत्क्रमण में दो मार्ग हैं। एक देव-यान और दूसरा पितृयान। इन दोनों मार्गों पर गति उत्क्रमण की ही होती है।

उत्क्रमण करते समय जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर से जिस-जिस वाता-वरण में जाता है, वह उसके समान ही दिखायी देने लगता है। धूप, प्रकाश, वर्षा इत्यादि का वर्णन है। सूत्रकार का मत है कि वह उनके सदृश्य दिखायी देने लगता है। सम्भवत: यह इस कारण है कि सूक्ष्म शरीर पृथिवी भूत के अभाव के कारण पारदर्शक होता है।

एक से दूसरे स्थान पर जाते हुए जीवात्मा को अधिक समय नहीं लगता। एक से दूसरे स्थान का अभिप्राय है कि एक शरीर से दूसरा शरीर को। जन्म लेने के लिये यह दूसरे से अधिष्ठित शरीर में जाता है। अर्थात् माँ के पेट में जाता है।

माँ का पेट, अभिप्राय गर्भ में जाने से जीवात्मा अपवित्र नहीं होता। अन्न से रज और वीर्य बनता है और इनके संयोग से शरीर बनता है। शरीर योनि के सदृश बनता है।

जीवात्मा तो, जब शरीर बन जाता है, तब उसमें प्रवेश करता है।

द्वितीय पाद

यह कहा जाता है कि स्वप्न में सृष्टि होती है। कई एक तो कहते हैं कि स्वप्न में जो कुछ भी अनुभव होता है, वह सब माया (कल्पना) मात्र है। क्योंकि वह अभिव्यक्त (प्रकट) नहीं हो सकता।

स्वप्न विद्या के जानने वाले कुछ विद्वान् श्रुति-प्रमाण से कहते हैं कि

स्वप्न भविष्य में होने वाले शुभ अशुभ का सूचक है। सूत्रकार का मत है कि नहीं। जो कुछ भी वहाँ दिखायी देता है, वह [illegible] नहीं। सूत्रकार का कहना है कि जब मनुष्य किसी बात का गहरा चिन्तन करने लगता है तो वह बात उसके मन पर छा जाती है। तब उसकी स्मृति स्वप्न में दिखायी देने लगती है। उस समय, स्थान अथवा व्यक्ति के साथ सम्बन्ध अथवा विपर्यय (सम्बन्ध-विच्छेद) नहीं होता।

स्वप्न देह की अवस्था के कारण भी आते हैं।

स्वप्न के अभाव में जीवात्मा का कार्य या तो नाड़ियों में होता है अथवा वह अपने आपमें स्थित होता है। स्वप्न के अभाव की दो अवस्थायें हैं। सुषुप्ति की अथवा जागने की। उक्त स्थितियाँ इन दो अवस्थाओं में ही बतायी हैं। जागृत अवस्था को प्रबोध की अवस्था भी कहते हैं। अर्थात् उस समय जीवात्मा शरीर के बाहर भीतर की बात को जानता है।

कर्म, स्मृति, शब्द और व्यवहार से पता चलता है कि सोने से पूर्व-वाला जीवात्मा ही सोने के उपरान्त होता है।

मूर्च्छावस्था आधी सोयी अवस्था है। इसका फल भेद (विभिन्न) है।

जीवात्मा और परमात्मा एक स्थान पर होने पर भी जीवात्मा की दोनों (जागृत और सुषुप्ति) अवस्थाओं में परमात्मा पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो सर्वव्यापक है। केवल उस स्थान पर ही नहीं, जहाँ गुहा में जीवात्मा होता है।

परमात्मा के लक्षणों में अथवा व्यवहार में स्थिति से भेद नहीं पड़ता। कुछ एक स्थानों में परमात्मा के हाथ-पाँव, सिर इत्यादि कहा है, परन्तु यह अलंकारिक वर्णन होने से एकरस परमात्मा में भेद का सूचक नहीं।

परमात्मा रूप रहित है, जैसे प्रकाश स्वयं रूप रहित होता हुआ अन्य पदार्थों के रूपों को प्रकाशमान करता है। वह अव्यक्त है। ऐसा वेद और स्मृतियों में वर्णन किया गया है। वह सूर्य के सदृश्य ज्ञान देने वाला है।

परमात्मा की व्यापकता ऐसे नहीं जैसे कि जल के अनेक पात्रों में चन्द्र का प्रतिबिम्ब दिखायी देता है। परमात्मा का प्रतिबिम्ब दिखायी नहीं देता। परमात्मा का प्रतिबिम्ब पदार्थों में नहीं होता, वरन् परमात्मा स्वयं उपस्थित होता है।

परमात्मा सब पदार्थों में विद्यमान होने पर भी उन पदार्थों की भाँति वृद्धि और ह्रास को प्राप्त नहीं होता।

परमात्मा का वर्णन कई प्रकार से किया है। इस पर भी जानकार यही कहते हैं कि वह अवर्णनीय है। अर्थात् उसका कोई भी वर्णन पूर्ण नहीं हो सकता।

परमात्मा को अव्यक्त कहा गया है; अर्थात् वह इन्द्रियों से अनुभव नहीं किया जा सकता है। इस पर भी भली भाँति आराधना (अभ्यास) से उसे प्रत्यक्ष भी किया जा सकता है और अनुमान से भी जाना जा सकता है।

जैसे सामान्य प्रकाश वस्तुओं को आलोकित करने पर ही अनुमान में आता है वैसे ही परमात्मा का कार्य पदार्थों में होने से योगी को प्रत्यक्ष होता है और अनुमान होता है।

इस कारण अपने लिंगों से वह अनन्त समझ में आने लगता है। जीवात्मा के दो प्रकार के कथन हैं। एक पुरुष की जागृत अवस्था में और दूसरे उसकी सुषुप्ति अवस्था में। दोनों अवस्थाओं में वह साँप की दो अवस्थाओं की भाँति होता है। साँप चलता-फिरता है अथवा कुण्डली मारे होने की अवस्था में होता है।

परमात्मा के तेज के कारण प्रकाश (ज्ञान) के आश्रय पर जीवात्मा है। ऐसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है। अर्थात् परमात्मा का ज्ञान प्रकाश की भाँति जीवात्मा को ज्ञानवान करता है।

परमात्मा के तेज के आश्रय होने पर भी जीवात्मा परमात्मा नहीं हो जाता। परमात्मा जीवात्मा में अन्तर इस प्रकार पता चलता है कि उसे सेतु माना है। दोनों में उन्मान भेद है, सम्बन्ध से भेद है और खण्ड न हो सकने का भेद है।

परमात्मा और जीवात्मा में समानता भी है और भेद भी है। समानता है दोनों के अव्यक्त, अक्षर, चेतन और अव्यय होने में। भेद है कि एक सदा सर्वज्ञ है। दूसरा पग-पग कर ज्ञान प्राप्त करता है। दोनों में स्थान का भी भेद है। एक स्थान विशेष (हृदय की गुहा) में रहता है और दूसरा सर्वव्यापक है। जीवात्मायें अनेक हैं और स्वतन्त्र हैं। परमात्मा एक है और एक रस विभु है।

जीवात्मा और परमात्मा में समानता और भेद शक्ति से सिद्ध होते हैं। परमात्मा से कोई अन्य अधिक श्रेष्ठ गुण नहीं रखता। परमात्मा सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है, सर्वान्तिर्यामी है; इत्यादि। अर्थात् वह सर्वोत्कृष्ट गुणों का स्वामी है।

इन गुणों को रखने से परमात्मा कर्म फल का देने वाला है। वेद में भी यही दिखाया गया है। इस विषय में जैमिनि ऋषि का मत है कि कर्म स्वयं अपना फल उत्पन्न करते हैं। बादरायण का कहना है कि कर्मों में हेतु परमात्मा है। अतः फलों में भी वही हेतु है। सूत्रकार का मत है कि दोनों विचार ठीक हैं। कारण यह कि फल तो कर्म का ही होता है, परन्तु फल का समय, स्थान और ढंग परमात्मा से निश्चय होता है।

तृतीय पाद

सब वेदान्त ग्रन्थों एवं वाक्यों में प्रत्यय (निष्कर्ष) एक ही है। सूत्रकार कहता है कि जब तक विशेष बात न हो तब तक वेदान्त का भाव एक ही है। यह बात बिना अपवाद के सत्य है।

वेदान्त ग्रन्थों को समझने के लिये यज्ञ के पूर्व कर्म की भाँति पहले भली प्रकार स्वाध्याय करना चाहिये। तप और स्वाध्याय योग-क्रिया के आरम्भ में होना चाहिये। ऐसा शास्त्र का विधान है।

पूर्ण वेदान्तों के प्रयोजन में भेद नहीं। इसी कारण सबका उपसंहार एक समान है। यज्ञ के अवशेष की भाँति उपसंहार भी समान होते हैं।

कहीं-कहीं शब्दों में भेद प्रतीत होता है। सूत्रकार का कहना है कि केवल शब्दों में भेद से अर्थ में भेद नहीं समझ लेना चाहिये। कहीं-कहीं प्रकरण भेद से तथा किसी विशेष वर्णन के कारण भेद दिखायी देता है; वस्तुतः भेद होता नहीं।

कई स्थानों पर परमात्मा के भिन्न-भिन्न नाम आते हैं। वे भी विषय की एकता होने के कारण भेद प्रकट नहीं करते। व्यापक शब्द से भ्रम निवारण होता है। कारण यह कि सर्वव्यापक तो परमात्मा ही है। इसी प्रकार आनन्दमय परमात्मा ही है।

कहीं-कहीं परमात्मा शिर है, पाद है, इत्यादि वाक्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि परमात्मा में भेद प्रकट किया गया है। इन शब्दों को इतना स्पष्ट और निश्चित नहीं कहा जा सकता जितना कि आनन्दमय एवं व्याप्त शब्द का प्रयोग है। अभिप्राय यह कि शिर, पाद इत्यादि तो आनन्दमय परमात्मा के अतिरिक्त अन्य पदार्थों के लिये भी प्रयोग किये जा सकते हैं, परन्तु आनन्दमय इत्यादि शब्द तो परमात्मा के लिये ही प्रयोग होते हैं। अर्थात् आनन्दमय इत्यादि शब्दों का प्रयोग निर्विवाद रूप से समान रूप में परमात्मा के लिये ही है।

कई अध्यात्म के ग्रन्थों में कुछ ऐसी बातें कही गयी हैं, जिनका प्रत्यक्ष में कुछ प्रयोजन प्रतीत नहीं होता। वे विषय गम्भीर चिन्तन के हैं। उनका चिन्तन करना ही चाहिये। चिन्तन पर प्रयोजन दिखायी देने लगेगा।

आत्म शब्द के विषय में भी भ्रम हो सकता है। यह एक से अधिक अर्थों में प्रयोग हुआ है। इसमें भी प्रयोजन हो सकता है। आत्म शब्द परमात्मा के अतिरिक्त अर्थों में प्रयोग होता है। इस अर्थ को पूर्वापर प्रकरण से मिलाकर समझ लेना चाहिये। आत्म शब्द के अन्वय से भी यही सिद्ध होता है।

आत्मा के कार्य के वर्णन से इसके अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। जहाँ इसका कार्य अपूर्व, अर्थात् कहीं अन्यत्र न मिलने वाला हो, वहाँ यह परमात्मा के लिये

प्रयोग किया गया मानना चाहिये।

कभी-कभी किसी विशेष सम्बन्ध में जीवात्मा और प्रकृति में भी अपूर्वता दिखायी देती है, परन्तु परमात्मा की अभेदता किसी दूसरे में दिखायी नहीं देती।

जीवात्मा और प्रकृति की अपूर्वता उन गुणों में ही है जो इनकी परमात्मा से समानता रखते हैं।

परमात्मा की अपूर्वता द्युव्याप्ति अर्थात् अम्बरान्त व्याप्त होने और वहाँ तक सबको धारण करने में भी है।

परमात्मा के विषय में जिस प्रकार वेदों में लिखा है, ऐसा अन्य किसी पदार्थ के विषय में नहीं लिखा। चारों वेदों में परमात्मा को पुरुष कहा है और उसके गुणानुवाद किये गए हैं।

परमात्मा की अपूर्वता जगत् में प्रलय करने की सामर्थ्य की भी है। दुष्टों का नाश करने को हान कहते हैं। यह परमात्मा का कार्य है। जो इसको करता है, वह मोक्ष का वैसे ही भागी बन जाता है जैसे कुशाछन्द का शेष गान करनेवाला है।

पाप अथवा पापी का नाश करनेवाला यदि ब्रह्मज्ञानी हो तो वह स्वर्ग-धाम में अपने सुकृतों का फल भोगकर मोक्षधाम में भी जा सकता है। स्वर्ग-धाम में गया व्यक्ति ब्रह्मलोक में जाने योग्य होने पर भी जाये अथवा न जाये, यह उसकी इच्छानुसार है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो मुक्ति का और जीवात्मा की स्वतन्त्रता का विरोध हो जायेगा।

स्वर्गलोक से ब्रह्म लोक जाने में कोई अनियमितता नहीं है। जब तक जीवात्मा का जिस लोक में रहने का अधिकार रहता है, तब तक वह वहाँ रहता है। ऐसा वेदों में भी वर्णन है।

मुक्तात्माओं में भी परमात्मा वैसे ही रहता है जैसे कि प्राणियों में रहता है।

जीवात्मा और परमात्मा में सत् इत्यादि की समानता होने से मोक्षा-वस्था में वे एक हो गये प्रतीत होते हैं। वास्तव में होते नहीं।

जीवात्मा में कामनायें सर्वत्र (प्राणीलोक में, पितृलोक में और ब्रह्म-लोक में) रहती हैं।

जीवात्मा का परमात्मा में आदर बने रहने से इसकी उसमें स्थिति बनी रहती है। यहाँ अभिप्राय मोक्षावस्था की स्थिति से है। आदर का अभिप्राय है कि परमात्मा के गुणों में विश्वास बना रहने से।

परमात्मा का दर्शन ज्ञान से होता है। भले ही ज्ञान प्राप्ति के समय ऐसी कामना हो अथवा न हो।

परमात्मा के लिंग ही उसके अस्तित्व का प्रबल प्रमाण हैं। परमात्मा

का दर्शन जिज्ञासा का विषय नहीं । यह कर्म और ज्ञान का विषय है ।

निर्धारण से ज्ञान लाभ होता है। निर्धारण का अर्थ है धारणा बनाना मोक्ष-प्राप्ति का निश्चय निर्धारण करता है। ज्ञान है ब्रह्म (त्रिविध ब्रह्म) का। परन्तु समाधि कर्म का रूप है।

ज्ञान-प्राप्ति में श्रुति (वेद-ज्ञान) सहायक है, बाधक नही ।

ज्ञान के कई रूप और कई स्तर है। अतः जिस-जिस स्तर तक और रूप की प्राप्ति होती है, वहाँ तक बन्धन टूटते चले जाते हैं।

नास्तिक युक्ति उपस्थित करता है कि आत्मा के लिंग, शरीर में ही उपलब्ध होते हैं। अतः शरीर न रहने पर आत्मा भी नहीं रहना। कारण यह कि लिंग नही रहते। सूत्रकार इसका उत्तर युक्ति से ही देता है। वह कहता है कि शरीर रहते ही लिंग समाप्त हो जाते हैं। अतः लिंग और लिंगी शरीर नही।

और भी युक्ति दी है। शरीर में अङ्ग असम्बद्ध हैं, परन्तु एक की वेदना दूसरे अंग में पहुँचती है। यह इस कारण कि पूर्ण शरीर में चेतना का एक केन्द्रीय स्रोत है। शरीर में मन्त्रणा देने वाला एक ही है।

जैसे किसी बड़े कार्य में कोई प्रधान व्यक्ति सम्पूर्ण कार्य की देख-रेख करता है वैसे ही जीवात्मा शरीर के पूर्ण कार्य में समन्वय करता है। वैसे तो शरीर के भिन्न-भिन्न अंग भिन्न-भिन्न कार्य करते कहे जाते हैं, परन्तु यह शब्दों का भेद ही है। कार्य करने वाला एक ही है। इसमें युक्ति यह है कि पूर्ण शरीर के कार्य एक ही हित के अर्थ होते हैं।

जैसी कामना होती है वैसी पूर्ण होती है। यह शरीर के समुच्चय कार्य से पूर्ण होती है। इस पर भी एक अंग सब काम नहीं कर सकता। शरीर बनने के समय ऐसी योजना नहीं थी। इसी कारण अंगों में परस्पर आश्रय का भाव रहता है।

यह ऐसे है जैसे कि शासन में होता है। सब कर्मचारी शासन के लिये कार्य करते है। (सब अंगों का सामान्य धर्म है कि वे पूर्ण शरीर को चालू रखें।) इस पर भी एक कर्मचारी पूर्ण शासन का कार्य नही कर सकता। सब एक के आश्रय होते हैं।

शरीर के अंग परस्पर सहभाव और आश्रय रखते हैं, परन्तु जीवात्मा और शरीर में सहभाव नहीं। दोनों भिन्न-भिन्न स्तर के पदार्थ हैं।

चतुर्थ पाद

इसके आगे मोक्ष प्राप्ति में कर्म की सहायता का वर्णन है। जैमिनि ऋषि का साक्ष्य दिया है। कहा है कि जैसे यज्ञ कर्म में शेष कर्म आवश्यक अंग है वैसे ही मोक्ष-प्राप्ति में पुरुषार्थवाद है। मुमुक्षों का आचरण देखने से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। यहाँ अभिप्राय जनकादि से है। वेद के प्रमाण से भी ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञान और कर्म समान आरंभण वाले हैं। समान आरम्भण का विधान (नियम) है। लोक-व्यवहार में भी ऐसा ही पता चलता है। सबसे अधिक बात संसार में दिखाई देने की है कि बिना पुरुषार्थ के कुछ भी नही होता। ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता।

सूत्रकार का मत है कि ज्ञान और कर्म मोक्ष-प्राप्ति में समान स्तर के है। इस पर भी इनकी समानता सब क्षेत्रों में नहीं। कहीं एक अधिक है तो कहीं दूसरा अधिक है। इनकी तुलना प्रतिशत के हिसाब से आँकी जा सकती है।

अध्ययन मात्र (ज्ञान प्राप्त करना मात्र) से मोक्ष नही मिल सकता।

अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के विशेष कर्म करने ही चाहियें। ये मोक्ष-प्राप्ति में साधक हैं। स्तुति की भी मोक्ष-प्राप्ति के लिये अनुमति है।

कुछ एक मुमुक्षु इच्छानुसार कर्म करते हैं। कई एक हैं जो साधन न होने से विवश हो कर्म करते हैं। कुछ एक (वर्णाश्रम के) कर्मों का मर्दन करते हैं।

ऊर्ध्व रेताओं को भी कर्म की आवश्यकता रहती है। जैमिनि ऋषि के अनुसार कर्म करने से मना करना निन्दनीय है। हाँ, कर्म विधि अनुसार करना चाहिये।

केवल स्तुति से भी काम नहीं चल सकता। स्तुति का अर्थ ज्ञान प्राप्ति है। कर्म साथ होगा तो स्तुति का लाभ हो सकेगा। स्तुति का भाव-अर्थात् अर्थ समझना चाहिये। तब स्तुति अथवा आध्यात्मिक कथाओं से परिप्लावित हो जाने मात्र से कुछ लाभ नहीं। इनका अर्थ समझकर उस पर आचरण करने से सिद्धि में सहायता मिलती है। कथा और स्तुति दोनों के अर्थ और उद्देश्य समान होने से लाभ होता है।

इसी प्रकार होम में अग्नि तथा आहुति इत्यादि का कुछ प्रभाव नहीं। इसके साथ मन्त्रोच्चारण और उन मन्त्रों का अर्थ भी ज्ञात होना चाहिये।

यज्ञ में सबकी आवश्यकता रहती है। अग्नीन्धनादि की, मन्त्रोच्चारण की, मन्त्रों के अर्थ जानने की और उन मन्त्रों के अनुरूप आचरण की। इससे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

शम दम इत्यादि (अंगों सहित) होना चाहिये।

प्राण संकट में हों तो सब प्रकार का अन्न लिया जा सकता है। इसमें किसी प्रकार की सीमा नहीं।

आश्रम कर्मों में भी आपत्ति नहीं। ये शास्त्रानुसार कर्म हैं। ये भी मोक्ष-प्राप्ति में सहायक हैं।

शास्त्र और युक्ति दोनों इस बात का समर्थन करते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति में स्तुति, हवन-यज्ञ, आश्रम कर्म को सहायक माना है। साथ ही कह दिया है कि अन्य कर्म भी जो इसके अतिरिक्त हैं, वे भी सहायक हो सकते हैं। अतिरिक्त का अभिप्राय है ज्ञान प्राप्ति में किये गए कर्म और यज्ञ रूप (निष्काम भाव से किये गए) कर्म भी मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होते हैं।

यज्ञ रूप और ज्ञान द्वारा किये गए कर्मों से मोक्ष प्राप्ति परमात्मा की विशेष कृपा का फल होता है। ये आश्रम धर्मों से अधिक समर्थ हैं।

जिस भी कर्म में प्रवृत्त हों, उसे छोड़ देना ठीक नहीं। यह ऐसा ही है जैसे कि भोजन के विषय में छूट दी गयी है। अर्थात् कर्म का व्रत भंग अथवा भोजन में अनियम आपद्काल में ही होना चाहिये।

व्रत भंग करने वाले का बहिष्कार होना चाहिये। प्रायश्चित होने तक बहिष्कार रहना चाहिये और प्रायश्चित हो जाने पर बहिष्कार बन्द हो जाना चाहिये।

कर्म करने वाले यजमान को कर्म का फल मिलता है। ऋत्विक् को दक्षिणा मिल जाती है। इस कारण उसका यज्ञ कर्म के फल में भाग नहीं है। तीसरा, जो यज्ञ में निष्काम भाव से कार्य करता है, वह भी यजमान की भाँति फल का भागी होता है।

गृहस्थ आश्रम तो पूर्ण जीवन का उपसंहार है। अतः यह सब प्रकार का फल देने वाला है। गृहस्थ आश्रम निवासियों का कार्य मुनियों (मौन रह-कर यज्ञ कर्म करने वाले) की भाँति है।

यदि प्रतिबन्ध (आपत्तिजनक कर्म) न हो तो मोक्ष एक जन्म में भी प्राप्त हो सकता है। अतः यह नियम नहीं कि इतने जन्मों में ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

तृतीय अध्याय

प्रथम पाद

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तःप्रश्ननिरूपणाभ्याम्॥१॥

तदन्तरप्रतिपत्तौ + रंहति + संपरिष्वक्तः + प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।

इसके उपरान्त (दूसरा शरीर) **प्राप्त होने पर** (जीवात्मा) **रंहति**=**जाता है।** (सूक्ष्म शरीर से) **सम्परिष्वक्तः**=**लिपटा हुआ। प्रश्ननिरूपणाभ्याम्**=**विचार-विनिमय से** (पता चलता है)।

पूर्व अध्याय में प्राणी के शरीर का वर्णन किया है। मूल प्रकृति में विकार उत्पन्न होने से शरीर बनता है। जीवात्मा उस शरीर के हृदय की गुहा में रहता है। वह पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं होता। हृदय की गुहा में रहता हुआ अपने कर्मचारियों (इन्द्रियादि) से शरीर में काम करता है। जीवात्मा ज्ञान इन्द्रियों को और कर्मेन्द्रियों को तथा अनैच्छिक कार्य करने वाले अंगों को प्राणों से चलाता है। प्राण की गतियाँ शरीर में सात हैं। यह सब पिछले अध्याय में वर्णन कर चुके हैं।

अब इस (तृतीय) अध्याय में जीवात्मा के एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने की बात लिखी है।

सूत्रकार कहता है कि जीवात्मा (सूक्ष्म शरीर में) लिपटा हुआ नये शरीर में जाता है। प्रश्न-निरूपण का अर्थ है प्रश्नोत्तरों द्वारा अर्थात् विचार-विनिमय से पता चलता है।

उपनिषदों में कई स्थल ऐसे मिलते हैं जहाँ प्रश्नोत्तरों से विभिन्न विषयों को समझाया गया है।

कदाचित् सूत्रकार का उन उपनिषद् वाक्यों की ओर संकेत नहीं है। कारण यह कि उपनिषदों में जहाँ भी प्रश्नोत्तर आये हैं, वहाँ वचन मात्र है, युक्ति नहीं है।

यहाँ सूत्रकार अपने पक्ष को युक्ति से सिद्ध करता चला आ रहा है। अतः यहाँ भी वही प्रक्रिया समझनी चाहिये।

युक्ति इस प्रकार है कि जब शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो उसमें

उपस्थित प्राण भी क्या उसके साथ समाप्त हो जाते हैं ? यदि समाप्त न होते तो हृदय इत्यादि की गति और ज्ञानेन्द्रियों के कार्य वैसे ही चलते रहते जैसे जीवित शरीर मे चलते थे। वे नहीं चलते। कारण यह कि प्राण शरीर को छोड़, मन एवं जीवात्मा में चले जाते हैं।

स्थूल शरीर तो समाप्त हो जाता है। इसके प्राण इसमें नहीं रहते, परन्तु जीवात्मा समाप्त नहीं होता। वह किस शक्ति से मृत शरीर को छोड़कर अन्यत्र जाता है ? यह संशय उत्पन्न होता है।

ईश्वर की शक्ति उसे बहाकर मृत शरीर से नवीन शरीर में ले जाती है। यह ईश्वर की शक्ति प्राण ही है, परन्तु प्राण बिना शरीर के कार्य नहीं करता।

इस कारण यह मानना पड़ता है कि जीवात्मा के साथ एक सूक्ष्म शरीर रहता है जो इतना सूक्ष्म होता है कि वह दृश्यमान नहीं, परन्तु वह भौतिक है और प्राण उसमें टिके हुए उसको और उसमें लिपटे जीवात्मा को नवीन शरीर में ले जाते हैं।

इस यात्रा (अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में जाने) का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् (४-४-१,२) में मिलता है। उपनिषद् का कथन है कि प्राण ही उसके साथ जाता है।

इसी प्रकार का एक उद्धरण छान्दोग्य उपनिषद् (५-९-२) में भी वर्णित है। वहाँ लिखा है—

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति।

अर्थात्—वह उत्पन्न हुआ। जब तक (नियत) आयु होती है, जीवित रहता है। उसके मरने पर निर्दिष्ट स्थान पर अग्नियाँ (प्राण) ही ले जाती हैं। जिसकी प्रेरणा से यहाँ (पहले शरीर में) आया था, जिससे उत्पन्न हुआ था (उसी की शक्ति से चला जाता है)।

सूत्रकार का यह कहना है कि इस (वर्तमान शरीर) के उपरान्त दूसरा शरीर नियत हो जाने पर जीवात्मा सूक्ष्म शरीर में लिपटा हुआ दूसरे शरीर में जाता है।

अतः युक्ति से (प्रश्ननिरूपणाभ्याम्) अथवा उपनिषद् प्रमाण से ऐसा पता चलता है।

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥२॥

त्र्यात्मकत्वात्+तु+भूयस्त्वात् ।

त्र्यात्मकत्वात्=तीन रूप (भूतों) वाला होने से । तु=तो । भूयस्त्वात् =अधिक होने से ।

इस सूत्र में सूक्ष्म शरीर की बनावट प्रकट की है। स्थूल शरीर की बनावट में पाँच भूतों का संयोग होता है। इस सूक्ष्म शरीर में तीन भूतों के संयोग का वर्णन है। दो भूत कार्य से बाहर होते हैं।

वैसे तो स्थूल शरीर में भी आकाश भूत केवल माध्यम (medium) का ही कार्य करता है। वह इसमें भी उतना ही कार्य करता है जितना स्थूल शरीर मे। स्थूल शरीर के शेष चार भूतों—वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—में से पृथिवी इस सूक्ष्म शरीर में नहीं होती। केवल वायु, अग्नि और जल ही होते हैं। 'भूयस्त्वात्' का अभिप्राय है तीन से अधिक। इसका अर्थ यह बनता है कि तीन रूप हैं सूक्ष्म शरीर में और अधिक भी है; अर्थात् चौथा रूप (आकाश) भी विद्यमान है। आकाश तो स्थूल शरीर में भी है और उसी रूप में इसमें भी है।

इन तीनों में भी जल ही विशेष होता है। जल से अभिप्राय पीने का जल (water) नहीं, वरन् कुछ ऐसे द्रव्य जो जलीय होते हैं। जलीय उन द्रव्यों को कहते हैं जो तरलता (liquid) का गुण रखते हैं।

सूक्ष्म शरीर अधिकांश किसी जलीय पदार्थ का बना होता है। उसमें वायु तत्त्व भी होता है और अग्नि तत्त्व (प्राण) भी होता है।

यह जीवित कोषिका की भाँति का शरीर होगा, परन्तु उसमें कोषिका की दीवार भी जलीय ही होगी, किसी ठोस पदार्थ की नहीं होगी।

एक कोषिका (unicellular) जन्तु तो एक सामान्य दूरबीन से देखा जा सकता है, परन्तु सूक्ष्म शरीर, जीवात्मा सहित, जो एक स्थूल शरीर से निकल कर दूसरे स्थूल शरीर में जाता है, उसे अभी तीक्ष्ण से तीक्ष्ण दूरबीन से भी देखा नहीं गया। इसमें कारण है पृथिवी भूत का अभाव।

वस्तुओं के रूप पृथिवी अंश के कारण होते हैं। अभिप्राय यह कि रूप ठोस अंश से बनता है। रूप पृथिवी का गुण नहीं। इस पर भी रूप में स्थिरता पृथिवी के कारण ही आती है और रूप ही आँखों से देखा जाता है; क्योंकि सूक्ष्म शरीर दृश्यमान नहीं। इस कारण इसमें पृथिवी अंश का अभाव समझ में आता है।

इस सूक्ष्म शरीर के तीन भूतों में कुछ भाष्यकार अग्नि, जल और पृथिवी तीन भूत मानते हैं। वे वायु का अभाव मानते हैं। हमने पृथिवी भूत

का अभाव माना है ।

इन दोनों पक्षों में प्रमाण नहीं है । अपने पक्ष में युक्ति हमने दे दी है ।

यह कहा जाता है कि रूस की एक प्रयोगशाला में मुर्गी के अण्डे को, जब मुर्गी प्रसव करती है, तबसे एटॉमिक माइक्रोस्कोप के नीचे रखकर देखा जा रहा है, परन्तु किस समय उसमें जीवन शक्ति आती है, पता नही चला ।

नर और मदीन कोषाणु तो मिलते देखे गये हैं, परन्तु मुर्गी का बच्चा (चूजा) किस समय बनता है, दिखायी नहीं दिया । इसका अर्थ यह निकलता है कि सूक्ष्म शरीर, जिसमें जीवात्मा लिपटा हुआ चला आता है, देखा नही जा सका । अतः यही मानना पड़ेगा कि वह अति सूक्ष्म होता है । एक कोषिका जन्तु से भी बहुत छोटा ।

वर्तमान विज्ञान शास्त्र-वेत्ता प्राणी के शरीर निर्माण में इकाई की खोज में कोषाणु, जिसे कोषिका कहा जाता है, से कहीं अधिक बारीकी में पहुँच गये हैं । कोषाणु में केन्द्रिका (nucleus) होता है । केन्द्रिका में क्रोमोज़ोम्स (chromosomes) होते हैं । एक केन्द्रिका में कई क्रोमोज़ोम्स होते हैं । भिन्न-भिन्न जन्तु में इनकी संख्या भिन्न-भिन्न होती है । ये तागे के टुकड़ों की भाँति परस्पर लिपटे रहते हैं ।

प्रत्येक क्रोमोज़ोम्स एक पेड़ की छाल की भाँति होता है जिस पर फलों के गुच्छों की भाँति गोलाकार जीन (gene) लगे रहते हैं । मनुष्य के एक क्रोमोज़ोम पर ये कई हजार की संख्या में होते हैं । अतः मनुष्य के एक केन्द्रिका के सब क्रोमोज़ोम पर कई लाख जीन होते हैं । एक जीन को शरीर की इकाई माना जाता है ।

अब यह दावा किया जाता है कि जीवन शरीर की इस इकाई को निर्जीव रासायनिक पदार्थों से निर्माण किया जा सका है, परन्तु एक 'जीन' निर्जीव शरीर की एक इकाई है अथवा जीवित प्राणी की इकाई है अभी कहा नहीं जा सकता । क्या वह प्राणी का सूक्ष्म शरीर है ? हमारा विचार है कि नहीं । सूक्ष्म शरीर इससे भी छोटा है । पृथिवी अंश न होने से वह जीन की भाँति दृश्यमान नहीं हो सकता । शरीर की इकाई के लिये कदाचित् इससे भी सूक्ष्मता की ओर जाना पड़ेगा ।

प्राणगतेश्च ।।३।।

प्राणगतेः + च ।

और प्राण की गति से ।

और प्राण की गति से (सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में जाता है)।

अभिप्राय यह है कि जाने की गति प्राण से ही प्राप्त होती है। हमने प्रथम सूत्रार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सूक्ष्म शरीर प्राण की शक्ति से ही मृत शरीर को छोड़ता है और दूसरे शरीर तक प्राण की गति से जाता है। वास्तव में सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व ही इस घटना से सिद्ध होता है कि आत्मा मृत शव को छोड़कर जाता है। जाता है प्राण के साथ और प्राण बिना किसी शरीर के आश्रय के रह नहीं सकता।

इस क्रिया का स्पष्ट वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है। वहाँ लिखा है—

...तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥

(४-४-२)

पूर्वांश में यह लिखा है कि जब शरीरान्त होता है तो शरीर के सब प्राण जीवात्मा में जाकर एकत्रित हो जाते हैं। इससे आगे पूर्व का उद्धरण है। अर्थात्—तब इस (छूटने वाले शरीर के) हृदय का अग्र भाग विशेष रूप से प्रकाशमान हो जाता है। उस प्रकाश से आत्मा, चक्षु, मूर्धा अथवा अन्य अवयवों से उत्क्रमण करता है। उस उत्क्रमण करते हुए के साथ प्राण भी (जो हृदय के अग्र भाग में एकत्रित हो गये थे) निकलते हैं। सब प्राण उत्क्रमण करते हैं। जा रहा आत्मा यदि ज्ञान सहित होता है, तो वह उत्क्रमण करता हुआ मुक्त हो जाता है। विद्या कर्म और पूर्व प्रज्ञा भी साथ ही जाती है।

यह सब कुछ इस कारण सम्भव होता है कि स्थूल शरीर के सातों प्राण शरीरान्त के समय जीवात्मा में आकर संचित हो जाते हैं।

सूत्रार्थ तो केवल मात्र इतना ही है कि सूक्ष्म शरीर प्राण की गति से उत्क्रमण करता है।

इस सूत्र का एक अन्य प्रकार से भी अर्थ किया जाता है। यह कहा जाता है कि प्राण भी गति करते हैं; अर्थात् जब जीवात्मा उत्क्रमण करता है तो प्राण अनुक्रमण करते हैं; वे साथ-साथ जाते हैं। इस प्रकार अर्थ करने वाले यह नहीं मानते कि सूक्ष्म शरीर प्राणों की सहायता से गति करता है।

परन्तु एक अन्य सूत्र है—

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ (ब्र० सू० २-४-५)

इसका अर्थ है कि विशेष गतियों के होने से (प्राण) सात प्रकार के हैं।

अर्थात् शरीर में सात प्रकार की गतियाँ हैं और गतियों की विशेषता से ही प्राण सात प्रकार के माने जाते हैं।

उक्त सूत्र के प्रकाश में ३-१-३ का अभिप्राय ऐसा ही है जैसा कि हमने ऊपर वर्णन किया है। 'प्राण की गति से'। क्या ? सूक्ष्म शरीर क्रमण करता है।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।।४।।

अग्नि+आदि+गतिश्रुतेः+इति+चेत्+न+भाक्तत्वात्।

अग्न्यादिगतिश्रुतेः=अग्नि आदि में गति से लय होने की बात श्रुति में कहे जाने से। यदि यह कहो तो यह ठीक नहीं। गौण होने से।

क्या गौण होने से ? चक्षु आदि की अग्नि जो देह के साथ ही अग्नि में भस्म हो जाती है।

प्रत्येक इन्द्रिय में एक तो शरीर का अंग है। उस शरीर के अंग में शारीरिक गठन भी शक्ति से हुआ है। वह शक्ति अग्नि है और शरीर के साथ अग्नि में ही मिल जाती है।

वे पेशियाँ जिनमें प्राण रहते हैं, भी तो बनी हैं। बहुत से द्वयणुक, त्र्यणुक संगठित होने से वे बनती हैं। उनको संगठित करनेवाली शक्ति प्राण-शक्ति से गौण है। मुख्य शक्ति सात गतियों से जानी जाती है। पूर्व अध्याय में उन सात प्राणों की गतियों के विषय में लिखा है। वह उस शक्ति के विषय में नहीं जिससे शरीर का गठन हो रहा होता है।

वैसे तो यह गठन विघटनशील है और शरीरान्त होने के समय स्वयमेव टूट-फूटकर विकार को प्राप्त होने लगता है। इसे सड़ना (Putrefaction) कहते हैं, परन्तु इस शक्ति का भली भाँति विघटन अग्नि में ही जाकर होता है।

जो शरीर की कैमिस्ट्री (रासायनिक संघटन) को समझते हैं, वे जानते हैं कि शरीर जलकर ऐसे सामान्य पदार्थों में परिवर्तित हो जाता है जो पुनः सड़ते (putrid) नहीं। इसका अभिप्राय यही है कि शरीर में जो उच्च कोटि के संयुक्त पदार्थ (higher chemicals) बने होते हैं, वे विघटित होते हैं और उनके विघटन से जो शक्ति (अग्नि) निकलती है वह चिता की अग्नि में ही विलीन हो जाती है।

एक लकड़ी के (जो पेड़ के शरीर का अंग है) जलने पर उसके संयुक्त पदार्थ (chemical compounds) विघटित होते हैं और विघटित होते समय

उनमें से अग्नि निकलती है। वह उस अग्नि में मिल जाती है जिस अग्नि में वह जलायी जाती है। यही बात प्राणि-शरीर के अंग-प्रत्यंग की है। उसमें के संयुक्त पदार्थ प्रोटीन, स्टार्च, चर्बी इत्यादि भी किसी शक्ति से संगठित होते हैं। शास्त्र-कार उस शक्ति को भी अग्नि नाम से ही स्मरण करते हैं। वह ही अग्नि में मिलते हैं। परन्तु यह प्राण-शक्ति नहीं है। प्राण-शक्ति इससे भिन्न है। वह जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर का आश्रय लेकर नये स्थूल शरीर में जाती है।

शरीर के अंगों की अग्नि को सूत्रकार ने गौण कहा है। इस कारण सूत्र में कहा है कि अंग-प्रत्यंग के संघटन में रासायनिक शक्ति अग्नि में ही मिल जाती है। यह प्राण नहीं। यह गौण अग्नि है।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

प्रथमे+अश्रवणात्+इति+चेत्+न+ता+एव+हि+उपपत्तेः।

पहले में न सुने जाने से; यदि यह कहो तो ठीक नहीं। उत्पन्न होने से (अर्थात् सिद्ध होने से)।

'पहले में' का अर्थ है कि प्रथम शरीर में। उस शरीर में जिसे जीवात्मा छोड़कर जाने वाला है। अश्रवण होने से। इन्द्रियों के कार्यों की ओर संकेत करने के लिये केवल श्रवण लिख दिया है। अभिप्राय यह है कि पहले शरीर में (प्रायः) जीवनान्त होने से पूर्व इन्द्रियों के कार्य समाप्त हो जाते हैं। सुनना, देखना इत्यादि बन्द हो जाता है। यह कहा जा सकता है कि इन्द्रियों के प्राण शरीर को छोड़ गये, जीवात्मा तो अभी भी शरीर में है। इससे यह कहा जा सकता है कि प्राण जीवात्मा में केन्द्रित नहीं होते और आत्मा के साथ नहीं जाते।

सूत्रकार कहता है कि यदि यह कहो तो ठीक नहीं। क्योंकि पूर्व में वर्णन अर्थात् सिद्ध किया जा चुका है।

यही सिद्ध किया जा चुका है कि प्राण जीवात्मा में एकत्रित हो जाते हैं; अर्थात् इन्द्रियों में नहीं रहते। यही कारण है कि कभी-कभी मरने से पूर्व शरीर मृत प्रायः हो जाता है।

इस सूत्र का अर्थ और भाष्य अन्य सूत्रकारों ने कुछ ऐसे ढंग से किया है कि जिससे कुछ भी समझ आने योग्य बात पता नहीं चलती। भाष्यकारों की अयुक्तता का भास इस ओर इससे पहले सूत्र के भाष्य साथ-साथ पढ़ने से पता चलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनको संसार का वास्तविक ज्ञान नहीं। इस कारण वे मनगढ़न्त अर्थ करने लगते हैं।

प्रायः भाष्यकार सूत्र का अर्थ करते समय इस बात की खोज में रहते प्रतीत होते हैं कि सूत्र का कम-से-कम एक शब्द किसी उपनिषद् वाक्य में आ जाये। शंकराचार्य ने इस दिशा में बहुत दौड़-धूप की है परन्तु इस दौड़-धूप में सूत्रों के असंगत अर्थ ही लगा सके है। कई उदाहरण हम पूर्व अध्यायों में दे चुके है।

सूत्र (३-१-४) को देखें। सूत्र में अग्नि शब्द आया है। हम वहाँ अर्थ इस प्रकार कर आये हैं। हमने लिखा है कि चक्षु, कर्ण इत्यादि शरीर के अंग तो शरीर के साथ भस्म हो जाते है। उन अंगों में भी अग्नि होती है। शरीर जलाने पर इन अंगों का मांस, मज्जा इत्यादि भी जलते हैं और इनके जलने से निकली अग्नि चिता की अग्नि में मिल जाती है।

यह एक सामान्य बात है। जिस किसी ने शव को चिता पर जलते देखा है, जानता है। सूत्रकार ने कहा है कि प्राण चिता की अग्नि में नहीं जलते। प्राण आत्मा के साथ चले जाते हैं। अंगों की अग्नि जो चिता की अग्नि में मिल जाती है, वह गौण होती है। प्राण भी अग्नि का स्वरूप है। वह उस गौण अग्नि से पृथक् है। अग्नि का अर्थ शक्ति से है।

परन्तु यह भेद मानते हुए भी स्वामी शंकराचार्य ऐसा लिखते हैं जैसे कि वे शरीर के जलने से किसी प्रकार की अग्नि निकलती नहीं देख रहे।

आप इसी (३-१-४) सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

...वागादीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी, लोमसु केशेषु चादर्शनात्। "ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः" (बृ० ३-२-१३) इति ही तत्राम्नायते। नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्चगच्छन्तीति संभवति। नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्प्यते। नापि प्राणैर्विना देहान्तर उपभोग उपपद्यते।

इसका अर्थ है—वाक् आदि इन्द्रियों की अग्नि आदि गति श्रुति में गौण कही है। कारण कि लोम और केशों में ऐसा देखने में नहीं आता। 'ओषधी-र्लोमानि' (बृ० ३-२-१३) ऐसी वहाँ श्रुति है। लोम और केश कूदकर ओषधि और वनस्पति को प्राप्त होते हैं, ऐसा सम्भव नहीं। इसलिये जीव का प्राण उपाधि के परित्याग करने पर गमन नहीं हो सका और न ही प्राणों के बिना दूसरे शरीर में उपभोग सम्भव है।

स्वामीजी ने बात ठीक लिखी है और उपनिषद् वाक्य के अर्थ को ग्रहण नहीं किया। इस पर भी आप सूत्रार्थ समझे प्रतीत नहीं होते।

उपनिषद् में भी ठीक लिखा है, परन्तु वहाँ वाक्, चक्षु आदि अंगों के भस्म होने की बात लिखी है, चक्षु आदि में प्राण की बात नहीं। कारण यह कि लोम केश इत्यादि में प्राण नहीं होते। परन्तु भस्म वह भी होते हैं। उनके भस्म होने पर, उपनिषद्कार का कहना है कि उनके अंश ओषधियों में चले जाते हैं। यह ठीक है अथवा अशुद्ध है, यहाँ विचारणीय नहीं। विचारणीय यह है कि यहाँ

लोमादि की भांति चक्षु आदि शरीर के अंगों का वर्णन है। उनमें प्राण का वर्णन नहीं।

स्वामीजी इसे समझे नहीं। यदि समझे होते तो अगले सूत्र (ब्र० सू० ३-१-५) का भाष्य करते हुए चिता की अग्नि को छोड़कर विषयान्तर न लिखने लग जाते।

वर्तमान सूत्र (३-१-५) का भाष्य करते हुए आप लिखते हैं—

स्यादेतत् —कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५-३-३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते ? यावता नैव प्रथमेऽग्नावपां श्रवणमस्ति। इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः, तेषां च प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' (छा० ५-४-१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ५-४-२) इति।

इसका अर्थ इस प्रकार है—

यह शंका होती है—जब प्रथम अग्नि में आपः का श्रवण नहीं तो पञ्चम्यामा० (छा० ५-३-३) यह अवधारण किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि यहाँ द्युलोकादि पाँच अग्नियाँ पाँच आहुतियाँ आधार रूप से अधीन हैं। उसमें से प्रथम में 'असौ वाव' (छा० ५-४-१) ऐसा उपन्यास कर 'तस्मिन्नेतस्मिन्न०' (छा० ५-४-१) श्रद्धा से डाली जाती है।

सूत्रकार वर्णन कर रहा है। क्या वर्णन कर रहा है ? प्राणों का जीवात्मा के साथ अगले शरीर में जाने का विषय। और स्वामी जी द्युलोक की पाँच अग्नियों में प्रथम दूसरी इत्यादि ले रहे हैं।

इसी कारण हमने लिखा है कि स्वामीजी न तो ब्रह्म सूत्रों के भाव को समझे हैं और न ही उपनिषद् वाक्यों को। दोनों परस्पर असम्बद्ध हैं। यह सब दोष इस कारण है कि स्वामीजी विषय का पूर्वापर देखते नहीं और धड़ाधड़ उपनिषदों के उद्धरण देने लगते हैं। स्वामीजी के भाष्य की पद्धति अशुद्ध है और अर्थ अनेक स्थलों पर इतने अशुद्ध हुए हैं कि इस शास्त्र को विकृत करने का बहुत बड़ा दोष हो गया है।

विस्मय की बात यह है कि श्री उदयवीर शास्त्री और स्वामी ब्रह्म मुनि भी अपने भाष्यों में स्वामीजी का प्रायः अनुकरण करने लगते हैं।

इन विद्वान मनीषियों को भी क्यों यह समझ नहीं आया कि दर्शन-शास्त्र उपनिषदों के पिछ-लग्गू नहीं ? हम यह मानते हैं कि आर्य जीवन मीमांसा उपनिषदों में भी लिखी है, परन्तु सूत्रार्थ पृथक् करके फिर यह देखना चाहिये कि ये उपनिषद् के किस मन्त्र से सम्बन्ध रखते हैं।

देखिये, स्वामी ब्रह्म मुनिजी इस सूत्र का अर्थ क्या करते हैं। वह इस सूत्र में लिखते हैं—

(प्रथमे—अश्रवणात्—इति—चेत्) प्रथम उत्कृष्ट-द्युलोक नामक अग्नि में सूक्ष्म देह कहे जाने वाले अपः—सूक्ष्म जलों का श्रवण नहीं है। 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः—तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' (छा० ५-४-१,२) इस वचन में आपः (जलों) का श्रवण पाठ नहीं है, किन्तु 'श्रद्धा' शब्द है कि द्युलोक अग्नि में देव श्रद्धा को होमते हैं।

अब तनिक श्री उदयवीर शास्त्रीजी के भाष्य को भी देख लें तो पता चलेगा कि उन्होंने भी आँखें मूँदकर शंकराचार्य जी का ही अनुकरण किया है।

आप लिखते हैं—'(प्रथमे) पहले में (अश्रवणात्) न सुने जाने से (इतिचेत्) ऐसा यदि कहो तो (वह ठीक)। (न) नहीं। (ताः) वे (एव) ही (हि) क्योंकि (उपपतेः) उपपन्न—सिद्ध होने से। प्रथम आहुति स्तर में 'आपस्' का श्रवण नहीं है। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि वहाँ प्रथम आहुति से वे 'आपस्' ही सिद्ध होते हैं।

'छान्दो० (५-४-१, २) के पंचाग्नि विद्या प्रसंग में द्युलोक आदि पाँच अग्नियों की कल्पना कर उनमें होम्य द्रव्य रूप से श्रद्धा आदि का निर्देश किया है। 'असौ वाव लोको गौतमाग्नि—

'राजा प्रवाहण ने आरुणि गौतम को कहा—हे गौतम। यह लोक (द्युलोक) अग्नि है।—'

यह तो स्पष्ट ही है कि सब मिथ्या दिशा 'प्रथमे' शब्द से आरम्भ हुई है। इस पाद में इससे पूर्व के चारों सूत्रों को पढ़ने से प्रथमे का अर्थ प्रथम शरीर में ही है। यहाँ पञ्चाग्नियों का और द्युलोक तथा 'आपस्' श्रद्धा आदि कहाँ से आ गये?

वास्तव में ये शब्द छान्दोग्य उपनिषद् (५-४-१, २) में हैं और क्योंकि शंकराचार्यजी ने इस सूत्र में इस उपनिषद् का उद्धरण दिया है, इस कारण ये शब्द सूत्र में घुसेड़ देने चाहियें।

अति खेद का विषय है कि दर्शनशास्त्र के ग्रन्थ का भाष्य करते हुए अन्धाधुन्ध उस व्यक्ति के भाष्य का अनुकरण किया जाता है जो अध्यात्म विषय में युक्ति करना पाप मानता है।

आइये, तनिक देखें कि छान्दो० ५-४-१,२ में क्या लिखा है और उसका जीवात्मा के शरीर बदलने के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध है भी अथवा नहीं?

छान्दो० ५-४-१,२ मन्त्र इस प्रकार हैं—

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गा ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥२॥

इसका अर्थ है—

हे गौतम ! वह लोक ही अग्नि है। उस अग्नि की समिधा सूर्य है। उस अग्नि का धुआँ सूर्य की किरणें हैं। दिन ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र चिनगारियाँ हैं।

और इस अग्नि में देवगण श्रद्धा का हवन करते हैं। उस हवन से सोम-राजा की उत्पत्ति होती है।

हमारा यह निश्चित मत है कि इस उपनिषद् में न तो सूत्र का विषय वर्णन किया है और न ही सूत्र का प्रसंग उसमें है। दोनों में किंचित् मात्र भी सामञ्जस्य नहीं।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी शंकराचार्य की भाषा की उत्कृष्टता और क्लिष्टता ने बड़े-बड़े विद्वानों को भ्रम में डाल रखा है।

इस सूत्र का अर्थ यही बनता है कि प्रथम शरीर में श्रवणादि इन्द्रियाँ कार्य करना छोड़ देती हैं। तो वे कहाँ चली जाती हैं? जो तो गोलक (tissues) हैं, वे चिता की अग्नि में भस्म हो जाते हैं और जलने से अपनी अग्नि भी चिता की अग्नि में सम्मिलित कर देते हैं। परन्तु यह अग्नि गौण है। प्राण पृथक हैं। वे हृदय के अग्र भाग में संचित होकर प्रकाशमान जीवात्मा को सूक्ष्म शरीर से लिपटे हुए नवीन शरीर में ले जाते हैं।

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥६॥

अश्रुतत्वात्+इति+चेत्+न+इष्टादिकारिणाम्+प्रतीतेः।

अश्रुतत्वात्=न सुना जाने से। इति चेत्=यदि यह कहो। न=तो ठीक नहीं। इष्टादिकारिणाम्=इष्टादि कर्म करनेवालों की गति। प्रतीतेः=प्रतीत होने से।

श्रुत सब इन्द्रियों के कर्मों का संकेत करता है। अर्थात् सुनना, देखना, सूँघना आदि न होने से।

कहाँ न होने से ? मृत देह में। यदि यह कहो कि प्राण नहीं रहे तो वह ठीक नहीं।

यदि ऐसा मानेंगे तो इष्टादि कर्म करने वाले उस सूक्ष्म देह से चन्द्रादि लोकों में जाकर सुख भोग नहीं कर सकेंगे।

शब्द है 'न इष्टादि कारिणाम् प्रतीतेः' श्रेष्ठ कर्म करने वालों को अन्य लोकों में कुछ भी 'प्रतीत' नहीं होगा। प्रतीत का अर्थ है इन्द्रियों के भोग।

जब हम यह मानते हैं कि इस लोक मे यज्ञ-यागादि कर्म करने से जीवात्मा चन्द्रादि लोकों को प्राप्त होते हैं तो वे प्राण जीवात्मा को लेकर ही वहाँ जाते हैं और वहाँ के भोगों का अनुभव कराते हैं।

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥७॥

भाक्तं + व + अनात्मवित्त्वात् + तथा + हि + दर्शयति।

भाक्तं = गौण। वा = तो। अनात्मवित्त्वात् = आत्म ज्ञानी न होने से। तथा = वैसा।। हि = निश्चय से। दर्शयति = दिखलाता है।

ऊपर के सूत्र में लिखा है कि श्रेष्ठ कर्मों के करनेवाले स्वर्गलोक को प्राप्त होते हैं। वे सूक्ष्म शरीर में वहाँ जाते हैं और प्राण रखने के कारण वहाँ सुख का अनुभव करते हैं।

इस सूत्र में यह लिखा है कि उन जीवात्माओं का स्वर्ग लोक में जाना गौण (समाप्त हो जानेवाला) है। कारण यह कि वहाँ जानेवाले जीवात्मा अनात्मवादी अर्थात् ब्रह्म ज्ञान से अनभिज्ञ होते हैं। ब्रह्म ज्ञानी मोक्ष प्राप्त करते हैं।

ऐसा उपनिषदों में भी लिखा है कि स्वर्ग लोक में गयी जीवात्मायें देवताओं की भोग-सामग्री होती हैं। अर्थात् उनके शुभ कर्म धीरे-धीरे समाप्त होते जाते हैं। जब वे सब समाप्त हो जाते हैं तब वे पुनः कर्मयोनि (मनुष्य जीवन) में आते हैं।

सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है कि आत्मा ज्ञानी न होने से वह (इष्टादि कर्म करने वालों की गति) गौण है (अर्थात् छोटी है) ऐसा शास्त्र में दिखलाया गया है।

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥८॥

कृतात्यये + अनुशयवान् + दृष्टस्मृतिभ्याम् + यथेतम् + अनेवम् + च।

कृतात्यये = किये गये कर्म के फल के समाप्त हो जाने पर। अनु-

शयवान्=संचित कर्म संस्कारों से युक्त होकर। **दृष्टस्मृतिभ्याम्=कर्म और उनकी स्मृति अर्थात् संस्कारों से। यथेतम्**=**जैसे गया था वैसा ही आता है। अनेवम्**=ऐसा नहीं भी। **अभिप्राय यह कि अन्य प्रकार से (भी)।**

इस सूत्र का भावार्थ यह बनता है कि जिन शुभ कर्मों से स्वर्ग प्राप्त हुआ था, उनका कर्म फल समाप्त हो जाने पर संचित कर्मों के संस्कारों से युक्त और उनकी स्मृति से प्रेरित जीवात्मा जैसे वहाँ गया था उसी अथवा किसी अन्य मार्ग (अथवा ढंग) से लौट आता है। यहाँ अभिप्राय मार्ग से भी है और ढंग से भी है; अर्थात् सूक्ष्म शरीर से लिपटा हुआ।

'अनेवम्' (अर्थात् वैसा नहीं भी) लिखा है। इसका अभिप्राय यह है कि जाने के ढंग के अतिरिक्त मार्ग भी है। यह भी कहा जाता है कि चन्द्रादि लोक से वह ब्रह्म लोक में भी जा सकता है। अतः वहाँ पर जाने का मार्ग भी दूसरा होगा और सूक्ष्म शरीर भी नहीं होगा। अतः स्वर्ग से लौटने पर अन्य प्रकार से भी लौटना हो सकता है।

सूत्र में शब्द है 'दृष्टस्मृतिभ्याम्'। इसका अर्थ कई भाष्यकार करते हैं कि श्रुति और स्मृति से। शब्द के यह अर्थ भी ठीक हैं, परन्तु प्रसंग के साथ हमारे अर्थ अधिक संगत हैं। हमने अर्थ किये हैं कर्म और उनकी स्मृति से प्रेरित होकर। कर्म की स्मृति का अर्थ है संस्कार। अतः अर्थ बनते हैं कर्म और कर्मों के संस्कारों से प्रेरित वे आते हैं।

'दृष्ट' कर्मों को कहते हैं और अदृष्ट कर्म फल को कहते हैं। कर्म फल तो स्वर्ग में भोग लिए जाते हैं। अतः कर्म और उनकी स्मृति ही रह जाती है और उनसे प्रेरित ही जीवात्मा ब्रह्म लोक को जाता है अथवा इस मर्त्य लोक को वापस आता है।

जहाँ तक मार्ग का सम्बन्ध है, यह सूत्र में तो नहीं लिखा। यहाँ केवल 'यथेतमनेवं' लिखा है। परन्तु इसकी विस्तृत व्याख्या छान्दोग्य उपनिषद् (५-१०-१,२,३,४,५,६) में लिखी है। सूत्रकार इससे सहमत प्रतीत नहीं होता।[1]

उपनिषद् का भावार्थ इस प्रकार है—

वे जो वन में श्रद्धा और तप से उपासना करते हैं, अर्चि (ज्योति) में जाते हैं। ज्योति से दिन (के प्रकाश) में। दिन से शुक्ल पक्ष से उत्तरायण में ॥१॥

उत्तरायण से संवत्सर को। संवत्सर से आदित्य को और आदित्य से चन्द्रमा को। चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक अमानव पुरुष है, वह उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। यह देवयान मार्ग है ॥२॥

जो नगरों में रहते हुए इष्ट पूर्ति और दान कर्म करते हैं, वे धूम (वत्)

---

१. देखें सूत्र-भाष्य ३-१-२४

हो जाते हैं। धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को और कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन को।

ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते ॥३॥

ये मासों (दक्षिणायन) से पितृलोक, पितृलोक से आकाश को और आकाश से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। ये सोम राज हैं। ये देवों का अन्न होते हैं। देवों से खाये जाते हैं (इनके कर्म फल कालादि देवताओं से क्षीण होते जाते हैं। अर्थात् कर्म फल भोग से समाप्त होते जाते हैं) ॥४॥

कर्मों के क्षय होने तक यहाँ रहकर वे फिर इसी मार्ग से जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं। आकाश को प्राप्त होते हैं। आकाश से वायु को, वायु से धूम को और धूम से अभ्र को ॥५॥

अभ्र मेघ हो जाते हैं। मेघ बरसता है। (इह व्रीहियवा ओषधि-वनस्पतयस्तिलमाषा) तब वह (वर्षा से) धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होता हैं। इस प्रकार यह निश्चय ही कठिनाई से निकलने का स्थान है। जो जो अन्न खाता है, जो वीर्य सिंचन करता है; वह रूपवान हो यहाँ उत्पन्न होता है ॥६॥

इस प्रकार उपनिषद् में जीवात्माओं के स्वर्ग लोक को जाने का तथा वहाँ से लौटने का मार्ग लिखा है। सूत्रकार ने ऐसा कुछ नहीं लिखा।

सूत्र में तो केवल इतना लिखा है कि जिस मार्ग से जाता है उसी से अथवा अन्य मार्ग से लौट आता है। जिसने तो ब्रह्म लोक में जाना होता है; अर्थात् जो आत्मा ज्ञानवान् है, वह उत्तरायण के मार्ग से जाता है और (इस मार्ग से) नहीं लौटता है। उसका मार्ग उपनिषद् मत से लिख दिया है।

यहाँ हमने उपनिषद् का उद्धरण इस कारण दिया है कि इसमें मार्ग आने और जाने का स्पष्ट रूप में लिखा है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम इस मार्ग को युक्तियुक्त मानते हैं। परन्तु विषयान्तर होने से हम यहाँ उस पर विवेचना नहीं कर रहे। इसके लिये देखे सूत्र ३-१-२४ का भाष्य। इस सूत्र में तो केवल जाने और आने की बात लिखी है।

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥

चरणात्+इति+चेत्+न+उपलक्षणार्था+इति+कार्ष्णाजिनिः।

आचरण से यदि यह कहो (तो ठीक) नहीं। उपलक्षण के लिए है यह।

यदि यह कहो कि (पुनः जन्म होता है) आचरण अर्थात् कर्मों से तो

यह ठीक नहीं। उपलक्षण के निमित्त पूर्व के सूत्र में कहा है। ऐसा कार्ष्णाजिनि ऋषि का भी मत है।

इससे पहले सूत्र में शब्द आया है 'अनुशयवान्'। इसका अर्थ होता है—शेष बचे हुए से युक्त होकर।

वर्तमान सूत्र में यह कहा है कि वह अनुशय शब्द उपलक्षण मात्र प्रयोग किया है। उपलक्षण का अभिप्राय है कि कर्म के लक्षण के रूप में। कर्म का लक्षण कर्म के संस्कार होते हैं।

अभिप्राय यह कि जब प्राणी स्वर्ग लोक, विद्युत लोक अथवा चन्द्र लोक में चला जाता है तो वहाँ कर्म फल भोगता है। कर्म क्षीण हो जाते हैं; केवल कर्मों के संस्कार रह जाते हैं। उन संस्कारों को ही उपलक्षण कहा है।

इन संस्कारों से खिंचता हुआ और 'दृष्टस्मृतिभ्याम्'—कर्मों और कर्मों की स्मृति से, जीवात्मा इस लोक में आकर उचित जन्म पाता है। पूर्व जीवन में जैसे कर्म किये थे, वैसा ही जन्म मिलता है।

हमने पूर्व सूत्र के भाष्य में यह लिखा है कि स्वर्गलोक में जीवात्मा कर्म नहीं करता, केवल ज्ञानेन्द्रियों से भोग ही करता है। अतः न तो वहाँ कर्म होते हैं और न ही वहाँ से लौटने के समय किसी प्रकार के कर्म शेष होते हैं। केवल पूर्व कर्म-योनि के कर्म और उनके संस्कार होते हैं कर्म-फल समाप्त हो चुके होते हैं।

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

आनर्थक्यम्+इति+चेत्+न+तदपेक्षत्वात् ॥

आनर्थक्यम्=अकारण है।

अनुशयवान् का अर्थ शेष कर्म के स्थान शेष संस्कारों वाला करना अकारण है। यह ऊपर के अर्थ पर आपत्ति की गयी है। पूर्व सूत्र में शब्द है 'दृष्टस्मृतिभ्याम्'। द्विवचन है। इस कारण अर्थ किये हैं दृष्ट और संस्कार। इस सूत्र में यह कहा है कि स्मृत (संस्कारों) को बीच में ले आना अकारण है।

सूत्रकार कहता है कि यह अकारण नहीं।

इति चेत्=यदि यह कहो तो।

न=ठीक नहीं। तदपेक्षत्वात्=कारण यह कि संस्कारों पर भी तो कर्मों की अपेक्षा होती है। बिना कर्म के संस्कार नहीं हो सकते और जैसे कर्म होंगे, वैसे संस्कार होंगे।

पूर्व पक्ष यह है कि संस्कारों की बात अकारण है। सूत्रकार कहता है कि कर्मों का प्रभाव ही संस्कार होते हैं। अतः दोनों में अन्तर नहीं।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

सुकृतदुष्कृते+एव+इति+तु बादरिः।

शुभ कर्म और पाप कर्म ही तो है। यह बादरि ऋषि का कहना है।

धर्म और अधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई कर्म नहीं। भगवद् गीता में भी यह लिखा है कि कर्म और विकर्म ही दो प्रकार के कर्म हैं। अकर्म तो कर्म विहीनता है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

(भा० गी० ४-१८)

अर्थात्—जो कर्म में अकर्म देखता है और अकर्म में कर्म देखता है, वह यथार्थ बात देखता है। वही मनुष्यों में बुद्धिमान है। वह योगी है और उसके सब कर्म फल युक्त होते हैं।

यही बात इस सूत्र में कही है। वह यह कि सुकृत और दुष्कृत ही तो होते हैं, अन्य कुछ नहीं। इनके संस्कार ही अच्छे-बुरे जन्म में कारण हैं।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥१२॥

अनिष्टादिकारिणाम्+अपि+श्रुतम्+च।

अनिष्टादिकारिणाम्=अनिष्ट आदि कर्म करने वाले। अपि=भी (स्वर्ग को जाते हैं) ऐसा सुना जाता है।

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में ये शब्द आये हैं—

ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।

यहाँ सर्वे शब्द से भले-बुरे सबका अर्थ निकलता है। सूत्रकार कहता है कि यह ठीक है, परन्तु वह इस प्रकार है। अगले सूत्र में देखिये।

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

संयमने + तु + अनुभूय + इतरेषाम् + आरोहावरोहौ + तद् + गति दर्शनात् ।

संयमने = नियन्त्रण वाले लोक में ।

इसे यम लोक भी कहते हैं। हम इसका अर्थ यह लेते है कि उन योनियों में जहाँ जीवात्मा के सब कर्म परवश हो जाते हैं उसकी अपनी इच्छा से कुछ नहीं होता। जैसे कुत्ता, सूअर एवं अन्य इतर जन्तु। ऐसे लोक में भी।

अनुभूय = अनुभव करके। अर्थात् फल भोग कर। इतरेषां = दूसरों का अर्थात् पाप-कर्म करने वालों का। आरोहावरोहौ + उतरना-चढ़ना, दोनों अर्थात् निम्न कोटि की योनियों में जाना तथा ऊपर आना, दोनों होते हैं।

यह हम ऐसे प्राणियों की गति से देखते हैं।

इसका अर्थ यह है कि सूत्रकार ने ऊपर के सूत्र में दिये कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के प्रमाण को ठीक स्वीकार नहीं किया। वह कहता है कि नहीं। जो पाप-कर्म करने वाले हैं वे भी आरोह-अवरोह अर्थात् ऊँची और नीची योनियों में आते-जाते अनुभव किये जाते हैं, परन्तु यह उनकी गति यम लोक में ही होती है। हमने यम लोक के अर्थ बताये हैं। वह लोक जहाँ जीवात्मायें कर्म फल भोगने में पराधीन हैं और कर्म करने में भी स्वतन्त्र नहीं।

स्मरन्ति च ॥१४॥

और ऐसा स्मृति ग्रन्थों में लिखा है।

उसको स्मरण करने से पता चलता है कि अनिष्ट कर्म करने वाले यम लोक में विचरते हैं और यम लोक (परमात्मा से) नियन्त्रित लोक का नाम है।

स्मृति ग्रन्थ वे कहलाते हैं जो मनुष्य ने विचार कर लिखे हैं। इनमें उपनिषद्, पुराणादि ग्रंथ सब सम्मिलित हैं।

उपनिषदादि ग्रंथों को शंकरवादी वेदान्त और श्रुति भी कहते हैं। यह इस कारण कि ये श्रवण कराये गये हैं और वैदिक सिद्धान्तों की व्याख्या में लिखे गये हैं। हमारे विचार में स्मृति उन सब ग्रन्थों को कहते हैं जो विचार कर लिखे गये अथवा कहे गये हैं। सूत्रकार का आशय है कि उक्त बात इन ग्रन्थों में भी कही गयी है।

उदाहरण के रूप में—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
(कठो० १-२-६)

जो लोग प्रमाद में फँसे हुए धन के मोह से मूढ़ हुए हैं, ऐसे मूर्खों के लिए परलोक (स्वर्ग लोक) नहीं है। वे इस लोक में ही मेरे (यम के) वश में बार-बार आते हैं।

इसका अर्थ यह है कि वे बार-बार निकृष्ट योनियों में जन्म लेकर नियन्त्रित जीवन व्यतीत करते हैं।

अपि च सप्त ॥१५॥

और सात (योनियाँ) भी हैं।

पाप-कर्मों से मिलने वाली योनियों का वर्णन है। मनुष्य जन्म तो है ही; इसके अतिरिक्त सात प्रकार की इतर योनियाँ हैं।

योनियाँ तो अगणित हैं। यहाँ सात लिखी हैं। इसका अर्थ यह है कि सब इतर योनियों को सात श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। ये श्रेणियाँ उनके मन और बुद्धि की मलिनता के अनुसार हैं। ये निम्न, निम्नतर एवं निम्नतम् हैं। इनके नाम भी उसी (मन, बुद्धि की मलिनता) के अनुसार ही माने हैं। इन श्रेणियों के नाम हैं—

(१) रौरव, (२) महारौरव, (३) वह्नि, (४) वैतरणी, (५) कुम्भीपाक, (६) तामिस्र, (७) अन्धतामिस्र।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

तत्र+अपि+च+तत्+व्यापारात्+अविरोधः।

और वहाँ भी तत् (परमात्मा का) नियन्त्रण होने से विरोध नहीं।

तद्व्यापारात्=यम के व्यापार होने से। यम परमात्मा का ही नाम है जो सब पर नियन्त्रण रखता है। उसके इन इतर योनियों पर नियन्त्रण होने से संसार में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। सब अपने-अपने स्थान पर कार्य करते रहते हैं।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

विद्याकर्मणो+इति+तु+प्रकृतत्वात् ।

विद्याकर्मणो का अर्थ है ज्ञानयुक्त कर्म करने वाले ।

प्रकृत्वात्—का अर्थ है : स्वाभाविक रूप में ज्ञानयुक्त कर्म करते हैं। उनके लिए ही स्वर्ग लोक का अथवा मोक्ष का मार्ग है।

इस संसार मे ज्ञानयुक्त कर्म हैं और अज्ञानयुक्त कर्म हैं। अज्ञानयुक्त कर्म करने वालों के लिए तो इतर सात प्रकार की योनियाँ हैं, जिनमें जीवात्मा को बार-बार जन्म लेना पड़ता है। केवल ज्ञानयुक्त कर्म करनेवाले ही ऊपर के लोकों में जाते हैं। वहाँ बार-बार जन्म लेना नहीं पड़ता।

इसी बात को भगवद्गीता में इस प्रकार लिखा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥

(भ० गी० ४-१९)

विद्वान लोग अपने कर्मों को ज्ञानाग्नि में दग्ध कर लेते हैं।

यही बात इस सूत्र में लिखी है कि ज्ञानयुक्त कर्म से ही जीवात्मा स्वाभाविक ढंग से उत्क्रमण करता है।

सकाम भाव से किये कर्मों से तो स्वर्ग की सिद्धि होती है। ज्ञान होने से मोक्ष मिलता है। दोनों मार्ग एक समान हैं। मार्ग के अन्त का भेद है।

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

न+तृतीये+तथा+उपलब्धेः ।

और तीसरे मार्ग में नहीं। ऐसा उपलब्धि प्रतीत होता है।

इसका अभिप्राय है कि ऊपर जो ज्ञानयुक्त कर्म और सात इतर लोक कहे हैं, इन दो के अतिरिक्त तीसरी गति नहीं। यही उपलब्ध होता है।

उपलब्ध का अभिप्राय है कि युक्ति से यही समझ में आता है। यहाँ कुछ भाष्यकारों ने उपलब्धे का अर्थ शास्त्र में उपलब्ध होने का किया है। उनका कहना है कि छान्दोग्य उपनिषद् (५-१०-८) में तीसरा मार्ग लिखा है।

हमारा मत है कि वहाँ पर जो दो मार्ग देवयान और पितृ यान बताये हैं, वे दोनों ज्ञानयुक्त कर्म करनेवालों के लिये हैं। अन्तर केवल यह है कि जो निष्काम भाव से संसार से विरक्त होकर कार्य करते हैं, वे देवयान से

प्रकाशमान लोक को जाते है और जो ग्रामों में रहकर सकाम कर्म करते हैं वे पितृयान मार्ग से जाते है और शीघ्र ही इस लोक में लौट आते हैं। ये दोनों एक प्रकार के प्राणी माने गये है। ये दोनों मानव लोक से उत्क्रमण करते हैं।

दूसरे प्रकार के वे हैं जो इतर योनियों में जाते है और उनको ही छान्दोग्य (५-१०-८) में तीसरी योनि कहा है। सूत्रकार ने तो उन योनियों को अज्ञानयुक्त कर्म करने वाले कहा है। सूत्रकार ने तीसरा मार्ग नही माना। यही सूत्र का अर्थ बनता है।

सूत्र है—'न तृतीये'।

उपनिषद् में केवल तृतीय शब्द के आ जाने से वह इस सूत्र से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता।

सूत्रकार ने प्रथम मार्ग का वर्णन सूत्र संख्या ३-१-६, ७, ८ में किया है।

सूत्रकार के विचार से जीवात्मा की दो गतियाँ हैं। दूसरी का वर्णन सूत्र संख्या ३-१-१२, १३ में किया है।

यहाँ हम श्री उदयवीर शास्त्री का मत लिख दें तो ठीक होगा।

आप लिखते हैं—

छान्दोग्य (५-१०-८) में जहाँ तृतीय मार्ग का वर्णन है, वहाँ यह स्पष्ट उपलब्ध होता है कि जिन आत्माओं की गति उक्त दोनों मार्गों (देवयान-पितृयान) से नही होती, उनके लिए वह तीसरा मार्ग है, जहाँ कृमि, कीट आदि क्षुद्र योनियों मे निरन्तर जन्मना मरना चलता रहता है। इष्ट आदि कर्म करने वालों को देह पात के अनन्तर चन्द्रलोक प्राप्त होता है; वहाँ उन कर्मों का फल भोगकर पुनः उनके मानव देह प्राप्ति में पाँचवीं आहुति का नियम उपनिषद् (छान्दोग्य ५-३-३) में बताया गया है।

इस लेख का अभिप्राय यह है कि सूत्रकार का यह कहना कि 'न तृतीये......' गलत है। क्योंकि उपनिषद् में तीसरा मार्ग लिखा है।

हमारा यह मत है कि श्री शास्त्रीजी ने सूत्रार्थ समझा ही नही। सूत्रकार का अर्थ यह नहीं कि निम्न योनियों का मार्ग है ही नहीं। सूत्रकार जीवात्माओं की गतियों का वर्णन कर रहा है, मार्गों का नहीं। यदि मार्गों के विचार से गणना करते तो तीन ठीक हैं, परन्तु गति की दिशा के विचार से उत्क्रमण और निम्न-क्रमण दो ही गति हैं। देवयान और पितृयान। दोनों मार्ग उत्क्रमण करनेवाले होने से एक ही होते हैं।

सूत्रकार का अर्थ वही है जो हमने अपनी उक्त विवेचना में बता दिया है। मनुष्य की जीवात्मा के लिये दो ही गतियाँ हैं। या तो वह उत्क्रमण करेगा अथवा निम्न-क्रमण।

सूत्रकार ऐसा ही समझता है, क्योंकि वह सूत्र (ब्र० सू० ३-१-२१) में कहता है संशोकज (इत्यादि) का होना 'तीन शब्द' का विरोध नही करता। अर्थात् विचाराधीन सूत्र (३-१-१८) में 'तीन नहीं' के विचार का इतर योनियों के होने से विरोध नहीं। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि दो गतियां का उल्लेख है। देवयान और पितृयान एक ही गति में लिये गये उत्क्रमण करने वाले हैं।

सूत्रकार ने गतियों (उत्क्रमण और निम्न क्रमण के विचार से) की गणना दो में की है और संशोकज निम्न क्रमण करने वालों में सम्मिलित किये हैं।

दूसरी बात श्री शास्त्री जी ने आहुतियों के विषय में लिखी है। पाँच आहुतियाँ हैं। होंगी। परन्तु इस सूत्र से उनका क्या सम्बन्ध है ? यह हम जानते हैं कि छान्दोग्य उपनिषद् ५-३-३, ४, ५, ६, ७ में अग्नियों के विषय में प्रश्न आया है और फिर छान्दोग्य० ५-४-१, २ में तथा छन्दोग्य० ५-५-१,२ छान्दोग्य० ५-६-१, २ छान्दोग्य० ५-७-१, २ और छान्दोग्य० ५-८-१,—२ में पंचाग्नियों का उल्लेख है। ये मनुष्य शरीर के बनने में साधन हैं, परन्तु हमारा निश्चित मत है कि इनसे शरीर बनने के दो मार्ग हैं अथवा तीन मार्ग हैं, का निर्णय नहीं होता। साथ ही यहाँ यह वर्णन नहीं किया गया कि ये अग्नियाँ इतर जीव-जन्तुओं के शरीर में कार्य नहीं करतीं।

पाँच अग्नियां ये हैं—(१) द्युलोक और उसकी अग्नि सूर्य द्वारा पृथिवी पर आती है। (२) पर्जन्य; यह वायु द्वारा ही पृथिवी पर कार्य करती है। (३) पृथिवी; यह संवत्सर द्वारा कार्य करती है। (४) पुरुष, वाक् एवं प्राण द्वारा कार्य करता है। (५) स्त्री, उपस्थ द्वारा कार्य करती है।

दोनों गतियों में जाने वाली आत्माओं के शरीर इन अग्नियों से बनते हैं।

ये पाँचों अग्नियाँ शरीर बनाने में कार्य करती हैं। इनका गतियों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं। गतियों का सम्बन्ध ज्ञान और कर्म से है। वास्तव में वेदान्त दर्शन के ये भाष्यकार सूत्रार्थ समझ नहीं सके। वे सब शंकराचार्य का अनुगमन कर रहे हैं। वे सूत्र का कोई शब्द जब किसी उपनिषद् वाक्य में आया दिखायी दिया और बस दोनों को सम्बन्धित समझ अर्थों को तोड़-मरोड़ कर एक-दूसरे के अनुकूल करने लगते हैं।

सूत्र का अर्थ है: तीसरी गति नहीं है। मनुष्य आत्मा के लिये या तो उत्क्रमण करने की गति है अथवा निम्न क्रमण की गति। इन दोनों गतियों का पूर्व के सूत्रों में उल्लेख आया है और यही वर्तमान सूत्र (३-१-१८) में बताया गया है।

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

स्मर्यते+अपि+च+लोके ।

लोक-व्यवहार में भी – स्मरण अर्थात् विचार कर कहा जाता है।

क्या कहा जाता है ? जो ऊपर के सूत्र में कहा है। ऊपर के सूत्र में कहा है—'न तृतीये तथोपलब्धेः' युक्ति से अथवा देखने से तीसरी कोई गति नहीं। एक गति उनकी है जो 'विद्याकर्मणोरिति' अर्थात् ज्ञानयुक्त कर्म करते हैं। इष्ट पूर्ति में किये कर्म की भी यही गति है।

दूसरे वे हैं जो 'अनिष्टादिकारिणाम्' इष्ट रहित कर्म करते हैं। स्वार्थ तृप्ति के लिये किये कर्म इस श्रेणी में आते हैं। इनकी गति लिखी है **'संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ'**। (ब्र० सू० ३-१-१३)

तीसरी कोई गति नहीं।

वर्तमान सूत्र यह कहता है कि लोक-व्यवहार में भी हम देखें तो यही प्रतीत होता है। विचार करने से दो गतियाँ ही प्रतीत होती हैं।

दर्शनाच्च ॥२०॥

दर्शनात्+च।

और (लोक में) देखे जाने से।

दैवी और आसुरी प्रवृत्तियाँ हैं। तीसरी प्रवृत्ति नहीं। इसी कारण तीसरी गति नहीं।

कई भाष्यकारों ने इन सूत्रों के भाष्य में एक तो आदि सृष्टि में होने वाले प्राणियों की ओर संकेत किया है और दूसरे पाँच आहुतियों की बात की है।

हमारा मत है कि ये दोनों बातें इन सूत्रों से असम्बद्ध है। उनको बीच में इस कारण लाना पड़ा है कि भाष्यकार आवश्यकता से अधिक सूत्रार्थों को उपनिषदों के साथ जोड़ रहे हैं।

उदाहरण के रूप में सूत्र ३-१-१८ के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य जी लिखते हैं—

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्तव्यः। कुतः ? तथोपलब्धेः।......

अर्थात् तृतीय मार्ग में देहलाभ के लिये आहुतियों की पाँच संख्या का

नियम मान्य नहीं है । किसलिये ? इसलिये कि यहाँ वैसे ही उपलब्धि होती है ।

यह बात स्वामी जी ने अप्रमाण कही है। देह तो सदैव और अन्य सब प्राणियों की पाँचों अग्नियों से बनती है। किस प्राणी की देह सूर्य, पर्जन्य, पृथिवी से अन्न, पुरुष से वीर्य और नारी के उपस्थ के बिना बनती है ?

यहाँ सूत्र में उपलब्धि का अर्थ नवीन देह की उपलब्धि लिया है। अर्थात् आहुतियाँ दिये बिना भी देह मिल जाती है । इसका युक्तियुक्त होना अथवा अयुक्तियुक्त होना तथा पाँच अग्नियों से क्या अभिप्राय है ? इसे छोड़ भी दें तब भी इसका प्रसंग के साथ मेल नहीं। कारण यह कि यहाँ इष्ट अथवा अनिष्ट कर्मों वाले के मरने के उपरान्त गति का वर्णन हो रहा है । उस गति के उपरान्त जन्म का उल्लेख नहीं है ।

उपनिषद् वाक्यों में इन आहुतियों का वर्णन है, परन्तु सूत्र उनसे स्वतंत्र हैं और ये दर्शन शास्त्र होने से सब युक्ति संगत बात ही करते हैं। प्रकरण के बाहर की बात इनमें नहीं है ।

अतः 'उपलब्धे' का अर्थ मरने के उपरांत देह प्राप्ति से जोड़ना अनुपयुक्त है।

हमने उपलब्धे का अर्थ किया है कि तृतीय गति प्राप्त नहीं है । ऐसा ही शास्त्र में उपलब्ध है अथवा युक्ति से उपलब्ध होता है । यही स्मृति से प्रमाणित है ।

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।।२१।।

तृतीयशब्दावरोधः+संशोकजस्य ।

संशोकजस्य=स्वेदज प्राणियों का । तृतीय शब्द से विरोध नहीं है ।

तृतीय शब्द ऊपर एक सूत्र (३-१-१८) में भी आया है । वहाँ लिखा है कि तृतीय मार्ग में गति नहीं है। संशय करनेवाले ने यह कहा प्रतीत होता है कि संशोकज प्राणी (स्वेदज) उक्त वर्णित दो गतियों से पृथक् है। दो गतियों में एक तो बताया है 'विद्यांकर्मणोः' और दूसरी बताई है 'अनिष्टादिकारिणाम्' ।

संशयकर्ता कहता है कि संशोकज आदि इसी प्रकार उद्भिज तृतीय गतिवाले हैं ।

सूत्रकार का कहना है कि नहीं । दोनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं है । अभिप्राय यह कि स्वेदज प्राणी (उद्भिज) द्वितीय गतिवाले ही हैं जिनके विषय में लिखा है—'संयमने त्वनुभूयेतरे……'।

इस सूत्र में तृतीय शब्द आया है। अतः ब्रह्म सूत्रों को उपनिषदों का अनुगामी माननेवाले तृतीय शब्द उपनिषदों में ढूंढने लगे है और ऐसा प्रतीत होता है कि छा० उप० ६-३-१ में तीन गणना मिल जाने से उन्होंने सुख का साँस लिया है और लगे हैं सूत्रार्थों को बिगाड़ने। इस उपनिषद् में लिखा है कि प्राणी की तीन योनियाँ हैं जीवज (जरायुज), अण्डज और उद्भिज। बस भाष्यकारों ने तुरन्त कह दिया कि संशोकज उद्भिजों में ही हैं। अतः यह सूत्र उद्भिजों के विषय में भी अवरोध प्रकट करता है।

हम सूत्र (३-१-१८) के भाष्य में बता चुके हैं कि सूत्रकार योनियों की बात नहीं बताता। योनियों का जीवात्मा की गतियों से सम्बन्ध नहीं। गतियाँ इससे भिन्न हैं।

हमारा मत है कि सूत्रकार देवयान और पितृयान मार्गों को एक ही प्रकार की गति मानता है। कारण यह है कि ये दोनों जीवात्मा को मनुष्य योनि से उत्क्रमण की ओर ले जानेवाली हैं। नीचे की ओर को जानेवाली दूसरी गति है। इनका स्थान यमलोक है।

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

साभाव्यापत्तिः + उपपत्तः।

साभाव्यापत्ति का अर्थ है सदृश अर्थात् समान स्थिति को प्राप्त होता है। उपपत्तेः का अभिप्राय है युक्ति से।

यह बताया जा चुका है कि जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर तीन महाभूतों का बना होता है। वायु, अग्नि और जल। इसमें पृथिवी का अंश नहीं होता। अतः जब प्राणी इस शरीर के साथ प्रकाशमय लोक को अथवा चन्द्र समान ज्योतिर्मय लोक को जाता है तो भिन्न-भिन्न मण्डलों में से होता हुआ जाता है।

उदाहरण के रूप में पितृ यान मार्ग को जानेवाला जीवात्मा धुएँ के समान हो जाता है। उससे रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष की ओर, फिर चन्द्र समान ज्योतिर्मय हो जाता है। इसी प्रकार लौटने के समय होता है।

सूत्रकार का कहना है कि जिस भी स्थिति में उत्क्रमण करनेवाला जीव जाता है उसका वैसा ही भाव प्रतीत होने लगता है। शब्दों का अर्थ यह है कि वह उन वातावरणों में रहते हुए उनके भाव के सदृश प्रतीत होने लगता है। भाव के समान से अभिप्राय यह है कि वैसा ही हो गया प्रतीत होता है। वास्तव में यह धुआँ अथवा वायु, बादल इत्यादि नहीं हो जाता।

जीवात्मा तो अपना अस्तित्व बनाये रखता है, परन्तु जिस मण्डल में जाता है, उस जैसा ही प्रतीत होने लगता है। उसके सदृश हो जाता है। वास्तव में यह सूक्ष्म शरीर है जो समान भाववाला होता है। जीवात्मा वैसा नहीं होता जिस माध्यम में वह जाता है।

सूक्ष्म शरीर वैसा क्यों दिखायी देने लगता है जैसा वातावरण होता है ? यह इस कारण कि सूक्ष्म शरीर में पृथ्वी भूत न होने से यह पारदर्शक होता है और वह वैसा ही दृष्टिगत होता है जिस वातावरण में वह जाता है।

अतः सूत्र का भावार्थ है कि युक्ति से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा सूक्ष्म शरीर में जिस-जिस स्थान पर जाता है वैसा ही दृष्टिगत होने लगता है।

नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

न+अतिचिरेण+विशेषात्।

अतिचिरेण=बहुत देर। न=नहीं (लगती)। विशेषात्=विशेषता से (उसके विशेष गुणों के कारण)।

अभिप्राय यह कि जीवात्माओं को स्थूल शरीर से निकल वायु, आकाश, प्रकाशमय और विद्युतमय स्थलों में जाने तथा वहाँ से लौटने में देर नहीं लगती। यद्यपि मानव दृष्टि में इन स्थितियों से पृथ्वी का अन्तर बहुत बड़ा दिखायी देता है, परन्तु इन जीवात्माओं को जाने-आने में देर नहीं लगती। यही बात पितृयान मार्गवालों की है। जो इतर योनियों में जाते हैं उनके लिए भी यही व्यवस्था है।

उपनिषद् (छा० ५-१०-६) में जो मार्ग बताया है वह कठिन और समय लगनेवाला बताया है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार उपनिषद् वाक्य से सहमत नहीं। अथवा उपनिषद् वाक्य का भाव दूसरा है। इस विषय में श्री उदयवीर शास्त्री का कथन अगले सूत्र की व्याख्या में देंगे।

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

अन्याधिष्ठितेषु+पूर्ववत्+अभिलापात्॥

अन्यों से अधिष्ठितों में। पहले के समान। कथन से।

पूर्ववत् का अर्थ है कि जैसे पूर्व सूत्र में कहा है। अभिलापात् का अर्थ

है कहे जाने से।

'अन्यों से अधिष्ठितों में' का अभिप्राय है कि ऐसे शरीर में जिनमें दूसरी आत्मा अधिष्ठित है। अतः पूर्ण सूत्र का अभिप्राय यह बनता है कि पूर्व सूत्र में कहने से अर्थात् कहे अनुसार ऐसे स्थानों पर भी होता है जहाँ दूसरे जीवात्मा स्थित होते है। पहले सूत्र में कहा है कि जीवात्मा को जाने-आने में देर नहीं लगती।

दूसरे आत्मा कहाँ स्थित होते है ? इसमें हमारा अन्य भाष्यकारों से मतभेद है। अन्य भाष्यकारों ने अपने मत का आधार उपनिषद् बनाया है। परन्तु हमारा मत है कि सूत्रकार इस विषय में उपनिषद् से मतभेद रखता है।

इस मतभेद की बात तो आगे चलकर लिखेंगे। यहाँ पहले भाष्यकारों का मत लिख दें तो ठीक रहेगा।

पहले शंकराचार्य का मत लिखते हैं। इस सूत्र के भाष्य में आप कहते हैं—

तस्मिन्नेवावरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' (छा० ५-१०-६) इति। तत्र संशयः—किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित्क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति। किं तावत्प्राप्तम् ? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति। कुत एतत् ? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः, स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्रसिद्धेः, पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः, तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म, श्वादिजन्मवत्। यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति। एवं व्रीह्यादिजन्मापीति।

अर्थात्—उसी अवरोह के विषय में प्रवर्षण-वृष्टि के अनन्तर पढ़ा जाता है—'त इह व्रीहि, यव, औषधि, वनस्पति'—तिल और उड़द रूप ही उत्पन्न होते हैं। (छा० ५-१०-६)। इस पर संशय होता है कि क्या अनुशयी जीव इस अवधि में स्थावर जाति प्राप्त हुए स्थावर के सुख, दुःख के भागी होते हैं अथवा अन्य जीवों से अधिष्ठित स्थावर शरीरों में केवल संश्लेष संसर्ग मात्र प्राप्त करते हैं। तब क्या प्राप्त होता है ? (पूर्व पक्षी) अनुशयी जीव स्थावर जाति को प्राप्त होते हुए उसके सुख, दुःख के भागी होते हैं। वह किससे ? इससे कि इसमें 'जन्' धातु का मुख्यार्थ उपपन्न होता है और स्थावर भाव श्रुति और स्मृति में उपभोग का स्थान रूप से प्रसिद्ध है, पशु हिंसादि के योग से इष्ट आदि कर्म समूह में अनिष्ट फलत्व उपपन्न होता है। इसलिए अनुशयी जीवों का यह व्रीहि आदि रूप से जन्म श्वानादि जन्म के समान मुख्य ही है। जैसे श्वयोनि, सूकर-

योनि अथवा चाण्डालयोनि; इस प्रकार अनुशयी जीवों का श्वानादि जन्म मुख्य ही है और उनके सुख-दुःख से अन्वित होते हैं, वैसे व्रीहि आदि जन्म भी।

यहां स्वामी जी ने सूत्र का अर्थ उपनिषद् के अनुसार करने के लिए उसमें मन गढ़न्त पूर्व पक्ष उपस्थित किया है।

मन गढ़न्त यह इस कारण है कि पूर्व सूत्र में जो 'नातिचिरेण' लिखा है, वह पितृयान अथवा देवयान मार्गों पर जानेवालों के लिए लिखा है और यह सूत्र भी उन्हीं उत्क्रमण करनेवाली आत्माओं के विषय में ही है।

अतः यह सूअर, श्वान, चाण्डालादि योनियों का उल्लेख अप्रासंगिक है।

उक्त उपनिषद् (छा० ५-१०-६) में संशय यह नहीं जो पूर्व पक्ष के नाम से उपस्थित किया गया है। वह संशय कुछ और है। वह हम आगे चलकर बतायेंगे। यहां हमें देखना चाहिए कि शंकराचार्य इसका क्या उत्तर देते हैं।

शंकराचार्य आगे लिखते हैं—

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते, न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति, पूर्ववत्। यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम्। एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम्। कुत एतत्? तद्वदेवेहाप्यभिलापात्, कोऽभिलापस्य तद्वद्भावः? कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम्।

भावार्थ है—ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं, अनुशयी जीव अन्य जीवों से अधिष्ठित व्रीहि आदि में संसर्ग मात्र प्राप्त करते हैं, किन्तु उनके सुख-दुःख के भागी नहीं होते।

पूर्ववत्—आकाशादि भाव के समान। जैसे अनुशयी जीव का वायु धूमादि भाव उनके साथ केवल संसर्ग मात्र है, वैसे ही व्रीहि आदि भाव स्थावर जाति के साथ संसर्ग मात्र हैं।

श्री उदयवीर शास्त्री भी इस विषय में वैसा ही लिखते हैं जैसा कि शंकर लिख रहे हैं। आप लिखते हैं—

(अन्याधिष्ठितेषु) अन्य आत्माओं से अधिष्ठितों में (पूर्ववत्) पहले के समान (अभिलापात्) कथन से। अन्य आत्माओं में अधिष्ठित व्रीहि आदि में अनुशयी आत्माओं का संपर्क मात्र होता है, जैसे पहले कहे वायु आदि में; क्योंकि उपनिषद् में इस विषय पर समान कथन है।

श्री शास्त्री जी ने विना विचार किये शंकर का अनुकरण किया है। वास्तव में शंकराचार्य और शास्त्री जी भूल गये हैं कि वे ब्रह्म सूत्रों पर भाष्य लिख रहे हैं और उपनिषद् पर नहीं।

जब वर्तमान सू० (३-१-२४) में पूर्ववत् लिखा है तो किसी उपनिषद् के किसी पूर्व कथन से आशय नहीं, वरन् पूर्व सूत्र की ओर संकेत है।

ब्रह्म सूत्रों में किसी भी स्थान पर धुआँ व्रीहि इत्यादि में जीवात्मा के आने की बात नहीं लिखी।

सूत्र (ब्र० सू० ३-१-८) में केवल यह लिखा है कि वह जिस मार्ग से जाता है, उसी मार्ग से अथवा उसके अतिरिक्त मार्ग से आता है।

हमारा मत है कि सूत्रकार ने जाने-आने के विषय में अपना मत सूत्र (ब्र० सू० ३-१-२३) में बताया है। वह यह कि जीवात्मा में विशेषता के कारण उसका जाना-आना अविलम्ब होता है। शब्द है 'नातिचिरेण'—देर नहीं लगती। उपनिषद् द्वारा कथित मार्ग सरल नहीं और उसमें समय लगने का भी उल्लेख किया है। (छा० उपनिषद् ५-१०-५, ६)।

देखिये, उपनिषद् और ब्रह्म सूत्रों में मतभेद कहाँ-कहाँ है? उपनिषद् (५-१०-५) में लिखा है—

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते। (छा० ५-१०-५)

इसका अर्थ है कर्मों का क्षय होने तक वहाँ रहकर जिस मार्ग से वहाँ (पितृ लोक में) गये थे उसी से लौटते हैं।

इसके विपरीत सूत्रकार कहता है—

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च। (ब्र० सू० ३-१-८)

इसका अर्थ है कि किये हुए कर्म का फलोपभोग पूरा हो जाने पर कर्म और संस्कारों के प्रभाव से उस मार्ग से अथवा दूसरे मार्ग से (भी) लौटता है। अर्थात् आने के समय वह मार्ग नहीं भी हो सकता जिससे गया था।

एक अन्य मतभेद है। जहाँ उपनिषद् में लिखा है—

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं राात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिणैति मासाँस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति॥

(छा० ५-१०-३)

अर्थात्—जो यह ग्रामों में (गृहस्थ लोग) इष्ट, पूर्त्त और दत्त ऐसी उपासना करते हैं, वे धूम को प्राप्त होते हैं; धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को तथा कृष्ण पक्ष से छः मास वाले दक्षिणायन को। ये लोग संवत्सर को प्राप्त नहीं होते।

उपनिषद् के अनुसार मनुष्य को मरण समय से पितृ लोक तक पहुंचने में कई मास लग जाते हैं, परन्तु सूत्रकार कहता है कि देर नहीं लगती।

इसी विषय में एक अन्य मतभेद है।

उपनिषद् में कहा गया है—

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति॥

(छा० ५-१०-६)

अर्थात्—वह अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है। वह जीव धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह निष्क्रमण निश्चय ही अत्यन्त कष्ट प्रद है। उस अन्न का जो भक्षण करता है और जो जो वीर्य सिंचन करता है, तद्‌रूप ही वह जीव हो जाता है।

इसमें विशेष बात यह है कि जो प्रक्रिया जीवात्मा के इस संसार में लौटने की लिखी है, वह तो स्वर्ग प्राप्त जीवों के लिए अति 'दुर्निष्प्रपतरं' (कष्टप्रद) है।

इसके विपरीत सूत्रकार कहता है, 'नातिचिरेण विशेषात्।' (ब्र० सू० ३-१-२३) बहुत काल नहीं लगता।

उपनिषद् के अनुसार तो जीव बेचारा लुढ़कता, ठोकरें खाता, बादल से वर्षा, वर्षा से अन्न-वनस्पति में, वहाँ से कट-पिट, सुखाकर, पीसा जाकर, चूल्हे पर पकाया जाकर खाया जाता है और खाये अन्न से तुरन्त रेतस् नहीं बनता। रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा और अन्त में वीर्य। वहाँ से भी स्त्री के गर्भाशय में। बहुत अच्छा फल दिया है उपनिषदकार ने पुण्यकर्मों के करने वाले को पितृ लोक में जाने का।

इससे तो मनुष्य से मनुष्य का जन्म अधिक युक्तियुक्त समझ में आता है।

इस सब विचार के उपरान्त हमारा यह कहना है कि वर्तमान सूत्र (३-१-२४) में दो बातों में भाष्यकारों ने भूल की है। एक तो 'पूर्ववत्' के अर्थ उपनिषद् में जो जाने अथवा लौटने का मार्ग बताया है, उसको सूत्रकार का अभिप्राय समझ लिया है। सूत्र ग्रन्थ में तो पूर्व में है 'नातिचिरेण'। उपनिषद् वाला मार्ग तो सूत्रकार ने बताया नहीं; प्रत्युत उसके विपरीत ही संकेत किया है। इस कारण सूत्र में पूर्ववत् का स्पष्ट अभिप्राय है—जो पूर्वोक्त सूत्र में कहा है। उसकी भाँति। अन्याधिष्ठितेषु—दूसरे से अधिष्ठित शरीर में।

अर्थात्—दूसरे जीवात्मा के शरीर में जीवात्मा बहुत जल्दी चला जाता है जैसे पूर्व में कथन किया गया है।

यहाँ दूसरे से अधिष्ठित शरीर का अर्थ यव इत्यादि नहीं, वरन् माँ के शरीर में जाकर शरीर धारण करने से अभिप्राय है। अर्थात् एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते समय अथवा पितृलोक से मर्त्यलोक में आने पर माँ के पेट में जाने में देर नहीं लगती। यह है इस सूत्र का अभिप्राय।

सूत्रकार ने उपनिषदकार के पितृलोक को आने-जाने के मार्ग को अस्वीकार किया है और अपना मत बताया है कि किये कर्मों के फल समाप्त होने

पर जीवात्मा इस मर्त्यलोक में अपने कर्मों के संस्कारों से जन्म लेने के लिए अविलम्ब माँ के पेट में आ जाता है।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

अशुद्धम्+इति+चेत्+न+शब्दात्।

अशुद्ध है, यदि यह कहो तो नहीं, शब्द से।

(जीवात्मा का माँ के पेट में जाना) अशुद्ध है। यदि यह कहो तो नहीं। शब्दार्थ से।

इसमें समझने की बात एक तो यह है कि अशुद्ध का क्या अर्थ है? अशुद्ध के शाब्दिक अर्थ अपवित्र हैं। कौन अपवित्र है? जीवात्मा अथवा गर्भ?

परन्तु भाष्यकारों ने इसका अर्थ अधर्मयुक्त किया है। अधर्मयुक्त उनके लिए जो उस अन्न को खाते हैं जिसमें उनके विचारानुसार जीवात्मा चला जाता है।

हम इसको इस प्रकार समझते हैं। जीवात्मा जब गर्भ में जाता है तो क्या वह वहाँ अशुद्ध हो जाता है? उस स्थान पर कई प्रकार के द्रव्य रहते हैं। सूत्रकार का कहना है कि नहीं। वहाँ किसी प्रकार से भी जीवात्मा के लिए अपवित्रता नहीं है।

अशुद्ध का अर्थ न धर्म-अधर्म है और न ही यह कष्ट, सुविधा से सम्बन्ध रखता है। इसका अर्थ शुद्ध-अशुद्ध से ही है।

शंकराचार्य जी इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

यत्पुनरुक्तम्—पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म, तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मास्तु, तत्र गौणी कल्पनाऽनर्थिकेति, तत्परिह्रियते। न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य।

जो यह कहा गया है कि पशु हिंसादि योग से यज्ञ कर्म अशुद्ध है। उसका अनिष्ट फल भी हो सकता है। इससे अनुशयी जीवों का व्रीहि आदि जन्म मुख्य ही हो तो उसमें गौणी कल्पना अनर्थक होगी। इसका परिहार किया जाता है। नहीं, क्योंकि धर्म और अधर्म विज्ञान शास्त्र हेतुक हैं।

हमारा मत है कि सूत्रार्थ यह नहीं। इस कारण शंकराचार्य जी का यह सब कथन कल्पना मात्र है।

सूत्रार्थ यह है—(माँ के गर्भ में) अशुद्धि नहीं होती। शब्द हैं—'अशुद्ध है यदि यह कहो तो (जीवात्मा के लिए) नहीं। (अशुद्ध) शब्द के अर्थों में।'

रेतःसिग्योगोऽथ ॥२६॥

रेतः सिग्योगः+अथ।

रज वीर्य का संयोग होता है। जिससे प्राणी का शरीर बनता है।

यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि यह शरीर निर्माण के विषय में ही लिखा है। अन्न से रज वीर्य बनता है और रज वीर्य के संयोग से शरीर बनता है।

इसे अगले सूत्र में स्पष्ट कर दिया है।

योनेः शरीरम् ॥२७॥

योनेः+शरीरम्।

योनेः=योनि के अनुसार। शरीरम्=शरीर बनता है।

सूक्ष्म शरीर अति सूक्ष्म होता है। यह तो जीवात्मा के साथ ही जाता है। अतः इसका रज वीर्य के साथ सम्बन्ध नहीं। न ही जीवात्मा का इस वीर्य के साथ सम्बन्ध है।

रज वीर्य से स्थूल शरीर बनता है और वह योनि के अनुसार बनता है। अभिप्राय यह कि गधे की योनि में गधा और घोड़े की योनि में घोड़ा बनता है। इसी प्रकार अन्य प्राणियों की बात है।

सूक्ष्म शरीर का पहले अन्न में जाना स्वीकार करें, फिर कूट-पीसकर पकाकर खाने से पेट में जाने की बात करें। खाना भी सीधा गर्भाशय में नहीं जाता। आयुर्वेद का विधान है कि रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि से होकर रेतस् में जाता है और वहाँ रज वीर्य के मिलने से शरीर बनता है। यह सब प्रक्रिया उस जीवात्मा के लिए है जो चन्द्रलोक से आकाश इत्यादि से अविलम्ब आता है तो पेट में जाने के लिए इतना विलम्ब और अनिश्चितता अयुक्त है।

साथ ही अन्न के कितने ही दाने खाये जाते हैं और पुरुष-स्त्री के शीघ्रातिशीघ्र भी वर्ष में एक सन्तान होती है। क्या अन्य दानों में जीव नहीं होते अथवा होते हैं तो वे पुनः मल में निकल जाते हैं अथवा श्वास से बाहर चले जाते हैं ?

इस प्रकार का विधान किसी शास्त्र में न लिखा होने से यह प्रक्रिया नहीं है। यही हमारा मत है।

हमारा मत है कि अन्नादि से 'पुद्गल' गर्भाशय में बन जाता है और

जीव पीछे सीधा माँ के पेट में जाकर उस घर में रहने लगता है जो बनकर तैयार हुआ है।

शरीर का बनना अन्नादि से है। शरीर बन जाने के उपरान्त जीवात्मा उसमें जाता है।

यही भगवद्गीता में लिखा है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

(भ० गी० १५-८)

इसका अर्थ है—जैसे वायु में बसी हुई गन्ध बहकर एक मकान से दूसरे मकान में जाती है वैसे ही जीवात्मा पहले शरीर को त्यागकर उस शरीर में जाता है, जिसमें उसे जाना होता है।

द्वितीय पाद

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥१॥

सन्ध्ये+सृष्टिः+ग्राह+हि ।

सन्ध्ये=सन्धि काल में। सृष्टिः=रचना । ग्राह=कही जाती है। हि=निश्चय से ।

इस अध्याय के प्रथम पाद में प्राणी के जन्म-मरण एवं जीवात्मा के शुभ कर्मों से पितृलोक अथवा देवलोक में जाने और (ग्रनिष्टादिकारिणाम्) बुरे कर्म करनेवालों के लिए इतर योनियों में बार-बार जन्म लेने की बात लिखी है।

उस पाद में यह भी बताया है कि जीवात्मा, योनि में शरीर बन जाने पर, उसमें ग्रा जाता है।

ग्रब इस पाद में शरीर में ग्राने पर क्या कुछ होता है, उसके विषय में लिखा है। भूतल पर मनुष्य की तीन ग्रवस्थायें लिखी हैं। एक जाग्रत ग्रवस्था, दूसरी सुषुप्ति ग्रवस्था और तीसरी इन दोनों ग्रवस्थाग्रों की सन्धि की ग्रवस्था। इस ग्रवस्था को स्वप्न ग्रवस्था कहते हैं। इसे सन्ध्य ग्रवस्था का नाम दिया है।

स्वप्नावस्था को न जागने, न सोने की ग्रवस्था कहते हैं। सूत्रकार कहता है कि इस ग्रवस्था में सृष्टि रचना होती कही जाती है, ग्रर्थात् मन कल्पना करता रहता है और वह कामनाग्रों का निर्माण करता है और उसके ग्रनुसार भिन्न-भिन्न पदार्थ, जीव-जन्तु, स्थान इत्यादि देखता, सुनता ग्रथवा ग्रनुभव करता है।

समस्या उपस्थित की गई है कि यह क्या है ? प्रथम सूत्र में इस समस्या को सूत्रकार उपस्थित मात्र करता है। वह कहता है कि—

'यह कहा जाता है कि सन्धि की ग्रवस्था में रचना होती है। यह तो सब जानते हैं कि स्वप्नावस्था में वास्तविक निर्माण नहीं होता, परन्तु इस ग्रवस्था में मनुष्य देखता, सुनता, सूँघता और स्पर्श तथा ग्रनुभव करता है। वह क्या है ?

सूत्रकार ग्रपना मत तो ग्रगले सूत्रों में लिखेगा, परन्तु कुछ ग्रन्य भाष्य-कारों ने इस विषय में कल्पना के घोड़े दौड़ाये हैं। ग्रतः हम इन भाष्यकारों के विचार लिख देना चाहते हैं।

शंकराचार्य इस सूत्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं :

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः। इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते। इदमामनन्ति— 'स यत्र प्रस्वपिति' (बृ० ४-३-९) इत्युपक्रम्य 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४-३-१०) इत्यादि। तत्र संशयः किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिकी सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति ?

अर्थात् गत पाद में पंचाग्नि विद्या का उदाहरण देकर जीव की संसार गति का प्रभेद विस्तार से कहा गया है।

यह कहा जाता है 'स यत्र प्रस्वपिति' (वह जहाँ सोता है) (बृ० ४-३-९)। इस प्रकार उपक्रम कर 'न तत्र रथा···' (बृ० ४-३-१०) इत्यादि श्रुति कहती है। इसमें संशय होता है। क्या जागृत के समान स्वप्न में भी पारमार्थिक (व्यावहारिक) सृष्टि है अथवा मायामयी है ?

संशय की बात तो पीछे देखी जायेगी। प्रथम प्रश्न यह है कि सन्ध्या अवस्था से क्या अभिप्राय है ? यह स्वप्नावस्था है अथवा कोई अन्य अवस्था है ? सूत्रकार का आशय तो हमें आगे पता चलेगा, परन्तु श्री शंकराचार्य ने अपने उक्त लेख में बृहदारण्यक उपनिषद् का संकेत किया है।

साथ ही उनका उक्त संशय में उत्तर भी पढ़ लेना चाहिए। आप लिखते हैं—

तत्र तावत्प्रतिपद्यते—संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति। संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४-३-९) इति। द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम्। तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति। कुतः ? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह—'अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४-३-१०) इत्यादि। 'स हि कर्ता' इति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥

इसका अर्थ है—वहाँ इस प्रकार संशय निवारण करते हैं। स्वप्नावस्था में तथ्यरूप सृष्टि है। संध्य स्वप्नावस्था को कहते हैं, क्योंकि 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ०उ० ४-३-९)। इस प्रकार श्रुति में प्रयोग देखने में आता है। दो लोक अर्थात् स्थानों अथवा प्रबोध तथा सुषुप्ति अवस्था की जो संधि में होता है, वह संध्य कही जाती है। उस संध्य स्थान में तथ्य रूप ही सृष्टि हो सकती है। कैसे ? इस प्रकार कि 'अथ रथान्रथ···' (बृ० ४-३-१०) इत्यादि प्रमाण-भूत श्रुति ऐसा कहती है। क्योंकि 'स हि कर्ता' और इस प्रकार के उपसंहार से यही अवगत होता है।

शंकराचार्य के इस वक्तव्य का अभिप्राय यह है कि स्वप्न अवस्था तृतीय

अवस्था में, यह जो कुछ दिखायी देता है; वह तथ्य है (सत्य है)।

इसमें वह युक्ति नहीं देते, वरन् उपनिषद् का प्रमाण देते हैं। उपनिषद् के प्रमाण हैं बृ० ४-३-६, १०।

स्वामी जी द्वारा किये गये उपर्युक्त संशय-निवारण से तो यह प्रतीत होता है कि स्वामी जी सन्ध्य अवस्था को जागृत (प्रबोध) और सुपुप्ति अवस्था के मध्य की अवस्था मानते हैं। परन्तु जो प्रमाण देते हैं वह मनुष्य की स्वप्नावस्था का नहीं है।

तनिक उपनिषद् के इन उदाहरणों को भी देख लें तो हमारी बात का अर्थ स्पष्ट हो जाएगा।

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च, सन्ध्यं तृतीयँ स्वप्नस्थानम्। तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति, इदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति, तमाक्रममाक्रम्योभयान्पाप्मन आनन्दाँश्च पश्यति। स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय, स्वयं विहृत्य, स्वयं निर्माय, स्वेन भासा, स्वेन ज्योतिषा, प्रस्वपिति। अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।। (बृ० उ० ४-३-६)

इस उपनिषद् का अर्थ इस प्रकार है—

इस पुरुष के दो ही स्थान हैं। एक (इदं) यह जगत् और दूसरा परलोक। (सन्ध्यं) मध्य में तीसरा स्थान होता है। उस मध्य के स्थान में रहता हुआ (आत्मा) इन दोनों स्थानों को देखता है। इस (लोक) स्थान और परलोक स्थान को और यह (आत्मा) जिस (कर्म) क्रम वाला होकर परलोक स्थानवाला होता है, उस (कर्म) क्रम को लाँघकर पापों के फल और आनन्द, दोनों को देखता है। वह (आत्मा) जहाँ स्व स्वरूप में सो जाता है तब इस सर्ववितलोक की एक मात्रा (अंश) को प्राप्त कर स्वयं उससे निकल और (युक्ति) निर्माण की हुई शोभा से ज्योतिर्मय स्व-स्वरूप में सोया हुआ स्वयं ज्योतिर्मय हो जाता है।

इस उपनिषद् को पढ़ने से पता चलता है कि तीसरा सन्ध्य स्थान जागृत और सुपुप्ति के मध्य की स्वप्नावस्था नहीं है, वरन् वह परलोक और इस लोक के बीच का काल है। यहाँ मृत्यु काल के स्थान को सन्ध्य कहा गया है। इसी का नाम स्वप्न स्थान है। अर्थात् मृत्यु काल में जीवात्मा अपने पूर्व लोक और आगे आनेवाले लोक को देखता है। उपनिषद्कार कहता है कि उस समय वह अपने स्वरूप में लीन होता है।

शंकराचार्य अपने भाष्य में एक ओर तो लिखते हैं कि सन्ध्य अवस्था प्रबोध और सुपुप्ति अवस्था की संधि है और दूसरी ओर उपनिषद् का उदाहरण देते हैं जिसमें सन्ध्य स्थान जाग्रत और सुपुप्ति की संधि को नहीं कहा।

वहाँ इस लोक और परलोक की संधि को कहा है।

उपनिषद् में सन्ध्य 'स्वप्न स्थान' को तो कहा है, परन्तु यह स्वप्नावस्था नहीं। इसको जागृति और सुषुप्ति की सन्धि अवस्था नहीं कहा, वरन् इदं (यह जीवन) और परलोक (दूसरे जीवन) स्थान की सन्धि स्थान कहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जब जीवात्मा एक लोक से दूसरे लोक में जाने लगता है तो वहाँ जो सन्धि स्थान है, उपनिषद्कार उसका वर्णन कर रहा है।

परन्तु न तो यह सूत्रकार का आशय है और न ही शंकराचार्य का। सूत्रकार ने तो प्रथम सूत्र में केवल समस्या रखी है और कहा है कि लोग कहते हैं कि सन्ध्य काल में सृष्टि होती है। इस कथन की व्याख्या अगले सूत्रों में की है।

परन्तु स्वामीजी ने अपने स्वभाववश तुरन्त उपनिषद् का उद्धरण दे दिया है (बृ० ४-३-९)।

विस्मय करने की बात यह है कि श्री उदयवीर शास्त्री ने भी बिना विचार किये इसी उपनिषद् का उद्धरण दिया है।

उपनिषद् का उद्धरण स्पष्ट कहता है कि—'द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोक स्थानं च, सन्ध्यं तृतीयँ् स्वप्नस्थानम्।'

जैसे उपनिषद् का (बृ० ४-३-९) उद्धरण इस सूत्र में गलत है वैसे ही यह (बृ० ४-३-१०) उद्धरण भी अशुद्ध है। न तो उसका सम्बन्ध सूत्र के विषय से है और न ही स्वामीजी अथवा श्री शास्त्री जी के सूत्रार्थों से मिलता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् (४-३-१०) में तो परलोक की बात है, जहाँ जीवात्मा कुछ अंश में चैतन्य परमात्मा से मिला होता है। यदि इस उद्धरण को ध्यान से पढ़ा जाए तो पता चलेगा कि वहाँ परलोक स्थान (स्वर्ग) की बात हो रही है। उसमें इस जगत् के पदार्थ रथ, घोड़ा, राज-मार्ग इत्यादि कुछ नहीं होता, परन्तु जीवात्मा अपनी कल्पना से आनन्द मोद और प्रमोद की सृष्टि कर लेता है।

स्वामी जी ने और श्री उदयवीर शास्त्री ने सूत्रार्थ तो ठीक समझा है, परन्तु उपनिषद् का उद्धरण असंगत दिया है।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥२॥

निर्मातारं+च+एके+पुत्रादयः+च।

और कुछ एक (वहाँ) पुत्रादि भी निर्माण कर लेते हैं।

कुछ एक स्वप्नावस्था में पुत्रादि भी बना लेते हैं।

एके का अर्थ कुछ भाष्यकार कुछ एक शाखावाले करते हैं। उदाहरण के रूप में शंकराचार्य इस सूत्र के भाष्य में इस प्रकार कहते हैं—

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां निर्मातारमात्मानमामनन्ति—'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' (कठो० ५-८) इति ।

अर्थात् कुछ एक शाखा वाले इस सन्ध्य स्थान में कामनाओं के निर्माता को पुरुष (जीवात्मा) मानते हैं। ऐसा कठोपनिषद् (५-८) में लिखा है।

यद्यपि कठोपनिषद् में भी सन्ध्य स्थान वह ही माना है जो सूत्रकार मानता है। यह वह सन्ध्य काल नहीं जो बृहदारण्यक (४-३-९) में वर्णित है। इस पर भी इस उदाहरण की कुछ आवश्यकता नहीं थी। सूत्रार्थ तो यह है कि कुछ एक के विचार से तो सन्ध्य स्थान (स्वप्नावस्था) में जीवात्मा पुत्रादि की कल्पना भी करने लगता है। कुछ एक से अभिप्राय कुछ एक मनुष्य ही हैं।

प्रथम सूत्र से इस सूत्र में कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। न ही कोई नवीन बात कही है। पहली बात को ही विशेषता के साथ दोहरा दिया गया है। परन्तु शंकराचार्य और उदयवीर शास्त्रीजी ने उदाहरण परस्पर विरोधी दिये हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में सन्ध्य स्थान है इस लोक और परलोक के मध्य का स्थान और कठोपनिषद् में तो न सोये का वर्णन है, न जागे का, न इस लोक का और न परलोक का। यह मन्त्र परमात्मा के विषय में है।

सूत्रार्थ है कि इस सन्ध्य स्थान में जीवात्मा पुत्रादि की कल्पना भी करने लगता है; ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

'एके' से कोई एक शास्त्र के स्थान 'कुछ एक के विचार से मानना' ठीक रहेगा।

कठोपनिषद् (५-८) इस प्रकार है :—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद्वै तत् ॥

जो यह सोये हुए में जागता है, कामना के योग्य जो होना चाहिये, उसको निर्माण कर रहा है। वही शुक्र है। वही ब्रह्म है। वही अमृत कहलाता है। सब लोक उसी में आश्रित हैं। उससे कोई बढ़कर नहीं है। यही ब्रह्म है। परमात्मा सदैव जागता रहता है। यह आशय है।

इस (कठो० ५-८) का सूत्र के साथ दूर का भी सम्बन्ध नहीं।

मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

मायामात्रं+तु+कात्स्न्र्येन+अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।

मायामात्रं=कल्पना मात्र है। तु=तो। कात्स्न्र्येन=पूर्ण रूप से। अन-भिव्यक्तस्वरूपत्वात्=न प्रकट होनेवाले स्वरूपवाला होने से।

यह तो कल्पना मात्र होता है (जो कुछ स्वप्न में दिखायी देता है)। वह सब कुछ अभिव्यक्त स्वरूप (प्रकट न) हो सकने से।

अभिव्यक्त का अर्थ है प्रकट हो सकना, अर्थात् जो कुछ देखा जाता है, वह स्वरूप से प्रकट नहीं हो सकता। अतः स्वप्नावस्था में जो कुछ देखा जाता है, वह कल्पना मात्र है।

इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि प्रथम सूत्र में भी इस लोक में जाग्रत और सुषुप्ति अवस्था का वर्णन है; न कि लोक-परलोक के मध्य स्थान का। उपनिषद् में तो लोक-परलोक के मध्य स्थान की चर्चा है। यह बात इसके पूर्व मन्त्र (बृ० ४-३-८) के पढ़ने से और भी स्पष्ट हो जाती है। मन्त्र में लिखा है :—

(स वा अयं पुरुषो जायमानः) वह यह पुरुष जन्म लेते समय और फिर लिखा है (स उत्क्रामन्म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति) तथा मरने पर उत्क्रमण करते समय पापों को त्याग देता है।

इसके आगे ही (बृ० ४-३-९ में) लिखा है कि पुरुष के दो ही स्थान हैं। यह लोक और परलोक। तीसरा इन दोनों लोकों का संधि स्थान अर्थात् स्वप्न स्थान है।

मरते समय किसी को क्या दिखायी देता है अथवा परलोक में क्या होता है, यह इस सूत्र के साथ सम्बन्ध नहीं रखता। यहाँ उससे इन सूत्रों की संगति नहीं।

सूत्रार्थ तो यह है कि स्वप्नावस्था में जो कुछ मनुष्य रचता है, वह माया-मय अर्थात् कल्पना है।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ४ ॥

सूचकः+च+हि+श्रुतेः+आचक्षते+च+तद्विदः ।

सूचकः=सूचक है अर्थात् बताता है। च=और। हि=क्योंकि। श्रुतेः=श्रुति से। आचक्षते=कहते हैं। च=और। तद्विदः=उसके (स्वप्न विद्या के) जाननेवाले।

सूत्र का भाव है—और स्वप्न बताता है (भविष्य के विषय में) क्योंकि श्रुति और स्वप्न विद्या के जाननेवाला ऐसा कहते हैं।

स्वप्न में देखी बातें भविष्य की सूचक हैं। ऐसा श्रुति और स्वप्न के ज्ञाता कहते हैं।

यहाँ दो बातों पर विचार करने की आवश्यकता है। एक तो यह कि श्रुति का अर्थ वेद (संहिता) है अथवा उपनिषद्। जहाँ तक हमारा ज्ञान बताता है, इस प्रकार की बात कि स्वप्न में जो कुछ देखा जाता है वह किसी प्रकार के शुभ-अशुभ का सूचक होता है, वेद संहिताओं में नहीं लिखी। ऐसा उपनिषद् में संकेत अवश्य है।

इसका अर्थ यह है कि सूत्रकार उपनिषद् को भी श्रुति के नाम से सम्बोधन करता है।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या सूत्रकार स्वप्नों को किसी भविष्य में शुभ-अशुभ का सूचक मानता है?

इसमें हमारा मत यह है कि यदि सूत्रकार ऐसा मानता होता तो अपना मत लिखता।

सूत्रकार इन सूत्रों को तीन प्रकार से लिख रहा है। एक तो वह युक्ति और वक्तव्य देता है। दूसरे, वह अपने युक्ति आदि को कहता है कि ऐसा श्रुति अथवा स्मृति में भी लिखा है। तीसरे, वह अपने कहे मत का किसी अन्य ऋषि के मत से खण्डन-अथवा मण्डन करता है।

हमारा विचार है कि यह सूत्र इस तीसरी श्रेणी का ही है। जैसे अन्य ऋषियों के मत से पूर्णतः सहमति सूत्रकार की नहीं होती वैसे ही यहाँ श्रुति (उपनिषद्) से सूत्रकार की सहमति प्रतीत नहीं होती।

उपनिषद् में एक स्थान पर यह लिखा है :—

तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं ँ् स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने; तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने॥

(छा० ५-२-८)

अर्थात्—काम्य कर्मों में स्वप्न में स्त्री को देखे तो उस स्वप्न दर्शन के होने पर कर्म में समृद्धि (सफलता) जाने।

सूत्रकार इसे ठीक मानता है अथवा नहीं, यह यहाँ स्पष्ट नहीं। उपनिषद् का ऐसा मत है। इतना ही इसका अभिप्राय है।

हम इस मन्त्र को ठीक नहीं मानते। यह (उपनिषद्) मन की कामना को व्यक्त करता है। जब मनुष्य किसी कामना से कोई यज्ञादि कार्य करता है और कामना मन पर आच्छादित हो जाती है तो स्वप्न की अर्द्ध चेतनावस्था में

ऐसे स्वप्न दिखायी दे जाने सम्भव हैं। परन्तु वे सत्य होंगे, निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है :—

श्रुति (उपनिषद्) के जाननेवाले कहते है कि स्वप्न में जो कुछ देखा जाता है, वह भविष्य में शुभ-अशुभ का सूचक होता है।

यहाँ एक बात और कह दी जाये तो ठीक है। उपनिषद् के इस कथन के आरम्भ में लिखा है कि यह श्लोक है (अर्थात् मन्त्र नहीं है।)। इसका अर्थ हम यह समझे हैं कि उपनिषद्कार भी इसे अपना मत नहीं कहता। वह कहता है कि ऐसा श्लोक (कहावत) है।

कोश में श्लोक (शब्द) का अर्थ किंवदन्ति (श्रूयते इति श्लोकः) भी है।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥५॥

पराभिध्यानात्+तु+तिरोहितं+ततः+हि+अस्य+बन्धविपर्ययौ।

पराभिध्यानात्=दूसरे के गहरे चिन्तन से। तु=तो। तिरोहितं=आच्छादित रहता है। अतः=इस कारण। हि=क्योंकि। अस्य=उसका। बन्धविपर्ययों=(विषयों से) बन्ध अथवा मोक्ष (रहता है)।

सूत्रकार ने स्वप्नों के विषय में अपना मत इस सूत्र में बताया है :

एक सूत्र (ब्र० सू० ३-२-३) में सूत्रकार ने यह बताया है कि स्वप्न शुद्ध कल्पना ही होते हैं। उनमें वास्तविकता कुछ भी नहीं होती। इस सूत्र में सूत्र-कार और आगे चलता है और यह मत प्रकट करता है कि जिस बात का चिन्तन किया जाये, उसके संस्कार पुनः जाग्रत हो उठते हैं। यही स्वप्न होता है।

किसी वस्तु, पदार्थ, प्राणी अथवा स्थान के साथ बन्ध (सम्बन्ध) और विपर्यय (विच्छेद) की प्रतीती होने लगती है। वास्तव में इनका किसी के जीवन से अथवा अपने जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

पूर्व सूत्र के भाष्य में जो श्रुति में श्लोक का वर्णन किया है, उसका यहाँ सूत्रकार ने खण्डन ही किया है।

न तो स्वप्न में किसी वास्तविक बात का वर्णन होता है और न ही यह किसी शुभ-अशुभ का सूचक होता है। यह मनुष्य के अपने विचारों का ही प्रति-बिम्ब उसके मन पर होता है।

सूत्र का भावार्थ इस प्रकार है :—

किसी बात के गहरे चिन्तन से आच्छादित मन (स्वप्न) में मनुष्य उस बात से सम्बन्ध अथवा विपर्यय (सम्बन्ध विच्छेद) देखने लगता है।

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥६॥

देहयोगात्+वा+सः+अपि ।

देहयोगात्=शरीर के सम्बन्ध से । वा=अथवा । सः=वह (स्वप्न) । अपि=भी ।

स्वप्न देह के सम्बन्ध से भी होते हैं ।

स्वप्न संस्कारों से भी होते हैं ।

स्वप्न संस्कारों से होते हैं । देह के सम्पर्क से भी होते हैं ।

कभी सोये सोये किसी का हाथ छाती पर आ जाता है तो उसको भयानक स्वप्न दिखायी दे जाता है । भयानक स्वप्न का स्वरूप तो अन्य संस्कारों से होता है।इसी प्रकार से किसी का पांव सोये-सोये खाट से नीचे लटक जाता है और सो-सा जाता है तो पाँव कट जाने का स्वप्न आ जाता है ।

इन स्वप्नों का भी वस्तु स्थिति से सम्बन्ध नहीं होता ।

ब्रह्म मुनि इस सूत्र का अर्थ यह करते हैं कि स्वप्न देह के सम्बन्ध में ही होते हैं । अर्थ तो यह भी ठीक है । इस पर भी हमारा मत है कि हमारे अर्थ अधिक युक्तियुक्त हैं । कारण यह कि देहधारी मनुष्य का ही उल्लेख है । साथ ही पूर्व सूत्र में मन पर किसी विषय के आच्छादित होने से स्वप्न की बात लिखी है । अतः यहाँ मन पर किसी विषय से सम्बन्ध न रखने की बात कहनी स्वाभाविक प्रतीत होती है ।

हम सूत्र का भावार्थ यह समझते हैं कि देह (की अवस्था) के कारण भी स्वप्न होते हैं।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥७॥

तद्+अभावः+नाडीषु+तच्छ्रुतेः+आत्मनि+च ।

तद्=उस (स्वप्न अवस्था) का । अभावः=अभाव अर्थात् न होना । नाडीषु=नाड़ियों में । तच्छ्रुते=ऐसा श्रुति में आया है । आत्मनि=आत्मा में । च=और ।

स्वप्न के अभाव की अवस्था में जीवात्मा नाड़ियों में चला जाता है (यह सुषुप्ति अवस्था का वर्णन है ।) और आत्मनि होता है, अर्थात् अपने आप में होता है । ऐसा श्रुति में लिखा है ।

विचारणीय यह है कि स्वप्न के अभाव की अवस्था या तो जाग्रत

अवस्था होती है अथवा सुषुप्ति अवस्था। स्वप्न के अभाव की अवस्था केवल सुषुप्ति अवस्था नहीं, जैसाकि अन्य भाष्यकारो ने स्वीकार कर लिया है।

दूसरी बात जो इस सूत्र में ध्यान देने योग्य है, वह है शब्द 'नाडीषु'। प्रश्न है नाड़ी शरीर विज्ञान मे किस अंग को कहते हैं? प्राय: सब भाष्यकारों ने इसका अर्थ स्नायुओं से किया है, परन्तु शब्द कोष में नाड़ी का अर्थ नाली (tube) के हैं, जिसमें सुराख हो। इससे नाडी का अर्थ रक्तवाहिनी धमनियों से लिया जा सकता है। स्नायु के तन्तु हैं जिनसे कर्मेन्द्रियाँ कार्य करती हैं अथवा ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य ज्ञान मन तक पहुँचाती हैं। इनको अंग्रेज़ी भाषा में 'nerve' कहते हैं। धमनियाँ दो प्रकार की हैं। एक तो शुद्ध रक्तवाहिनी हैं। इनको अंग्रेज़ी में 'arteries' कहते हैं। दूसरी अशुद्ध रक्तवाहिनी। इनको 'veins' कहते हैं।

भाष्यकार नाड़ी से स्नायु का अर्थ क्यों लेते हैं, यह स्पष्ट नहीं किया। सम्भवत: वे 'शरीर विज्ञान' से अनभिज्ञ हैं और उनको धमनी तथा स्नायु में अन्तर ज्ञात नहीं।

आत्मनि के अर्थ अपने में हो सकते हैं और परमात्मा में भी। हमारा मत है कि यहाँ नाडीषु का अर्थ 'धमनियों में' से है, स्नायुओं से नहीं। और 'आत्मनि' का अर्थ अपने में से ही है। सूत्रकार यह कहता है कि स्वप्न के अभाव की अवस्था में जीवात्मा नाड़ियों में रहता है और अपने में रहता है।

जैसा कि हम बता चुके हैं, स्वप्न के अभाव की दो अवस्थायें हैं। एक सुषुप्ति और दूसरी जाग्रत। अत: जीवात्मा के इन अवस्थाओं में रहने के दो स्थान बता दिए हैं। सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा धमनियों में रहता है अर्थात् रक्तवाहिनी नालियों (blood vessals) में रहता है और जागृत अवस्था में वह अपने में ही रहता है। नाड़ी का अर्थ आंते तथा बृक्क भी हैं। जीवात्मा का कार्य वहा भी होता रहता है।

सर्वथा वैज्ञानिक शब्दों में इस सूत्र का भाव यह बनता है कि सुषुप्ति अवस्था में पूर्ण शरीर में से चेतनता (ज्ञान अथवा कार्य करने की शक्ति) और गति विलुप्त हो जाती है। चेतना केवल फेफड़े, हृदय, शुद्ध और अशुद्ध रक्त-वाहिनी धमनियों में तथा आँतों और बृक्क में रह जाती है। यहाँ गति देखी जाती है। यह गति प्राण की है। श्रेष्ठ प्राण यहाँ कार्य करता है। यह वर्णन किया जा चुका है कि प्राण परमात्मा की शक्ति है। यह ईश्वर की शक्ति जीवात्मा के अधीन काम करती है। इस कारण यह माना जाता है कि सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का कार्य धमनियों और फेफड़ों इत्यादि में चलता रहता है; यद्यपि शरीर के अन्य सब भागों में जीवात्मा का कार्य नहीं हो रहा होता।

अर्थात् जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में भी इन धमनियों इत्यादि में कार्य कर रहा होता है।

साथ ही यह अर्थ बनते हैं कि जाग्रत अवस्था में आत्मा अपने में स्थित होता है, अर्थात् अपने पूर्ण कार्य में स्थित होता है।

इस सूत्र के अपने अर्थों को सिद्ध करने के लिए भाष्यकारों ने उपनिषदों के ये उद्धरण दिए हैं। बृ० उ० २-१-१९, ४-३-२१, २-१-१७; छा० ६-८-१,२ तथा ६-९-२।

इनमें से एक दो उद्धरण ही हम अपने पाठकों के समक्ष रख रहे हैं। अन्य भी वैसे ही हैं। बृ० उ० २-१-१९ इस प्रकार है—

अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद, हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते; ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते॥

(बृ० उ० २-१-१९)

उपनिषद् का अर्थ इस प्रकार है—

अतः जब जीवात्मा सुषुप्ति में होता है और जब वह किसी को नहीं जानता, तब हिता नाम की बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ हृदय (heart) से निकलकर शरीर में प्रतिष्ठित होती हैं। वहाँ (प्रत्यवसृप्य) (रक्त) बहाती हुई (पुरीतति) शरीर में (शेते) टिकी हैं। जैसे कोई कुमार, राजा अथवा ब्राह्मण अति दुःखनाशिनी महा आनन्द की अवस्था में पहुंच विश्राम करता है, वैसे ही जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में सोता है।

इस उपनिषद् से यह सिद्ध नहीं होता कि नाड़ियों से अभिप्राय स्नायु-मण्डल है। अधिक सम्भावना यही प्रतीत होती है कि उपनिषद्कार का वही भाव है जो हमने प्रकट किया है, अर्थात् नाड़ी से अभिप्राय रक्तवाहिनी नाड़ियाँ हैं और यहाँ हृदय से अभिप्राय रक्त संचालन स्थान (heart) है।

अब दूसरा उद्धरण लें। सूत्र के भाष्य में शंकराचार्यजी ने उद्धरण बृ० ४-३-२१ का दिया है। हम मन्त्र २० और २१ दोनों देना चाहते हैं। इससे बात अधिक स्पष्ट होगी। मन्त्र २० इस प्रकार है—

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताणिम्ना तिष्ठन्ति, शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद् भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः॥

मन्त्र २१ इस प्रकार है:—

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभ्॑रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वतो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकाम्॑रूप्॑शोकान्तरम्॥

(बृ० उ०४ -३-२०, २१)

इनके अर्थ इस प्रकार हैं—

इस (शरीर) की वे हिता नाम नाड़ियाँ सहस्रों भागों में कटी हुई बाल की (कई बार काटे हुए सूक्ष्म बाल की) भाँति शरीर में टिकी हैं। वे सफेद, नीले रंग, पीले रंग, हरे रंग और लाल वर्ण के रस से पूर्ण हैं। अथ (यत्रैनं) इस स्वप्न अवस्था में देही को मानो मारती हैं, वश में करती हैं अथवा हाथी से भगायी जाती हैं अथवा गड्ढे में गिराती हैं। इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रत अवस्था में भय इत्यादि देखता है; उन्हें इस स्वप्नावस्था में अविद्या से मानता है और समझता है कि मैं इसका देव हूँ, राजा हूँ अथवा सब कुछ हूँ। ऐसा मानता है कि इसका परम धाम है।

इस मन्त्र (बृ० उ० ४-३-२०) में तो स्पष्ट है कि नाड़ियाँ रक्तवाहिनी धमनियाँ ही हैं। शरीर में ये ही भिन्न-भिन्न रंगों में दिखायी देती हैं और इनमें ही लाल रंग का रस बहता है। उपनिषद् में नीले-पीले रंग इत्यादि भी लिखे हैं। शरीर विज्ञान के जाननेवाले मानते हैं कि शरीर में इन रंगों के रस भी हैं और वे नाड़ियों में बहते देखे जाते हैं।

अगले मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

वह (सुषुप्ति अवस्था) इस (जीवात्मा) का काम रहित, पाप रहित और भय रहित रूप है। जैसे पुरुष को स्त्री से आलिंगन करते हुए बाहर अथवा भीतर का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता; इसी प्रकार वह प्रज्ञात्मा (संपरिष्वक्तो) नीन्द में लिप्त हुआ बाहर-भीतर की बात भूल जाता है। वह आप्त काम, आत्म काम, अकाम और शोक शून्य रूप है।

इस मन्त्र में भी सुषुप्ति अवस्था का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार अन्य उद्धरण हैं। इनसे भी सूत्रार्थ वही प्रतीत होता है जो हमने ऊपर किया है। भाष्यकारों ने नाड़ी का अर्थ स्नायुमंडल से किया है। हम समझते हैं कि यह ठीक नहीं। दूसरी बात यह है कि अन्य भाष्यकार सूत्रार्थों और सूत्र के भावों पर इतना बल नहीं देते जितना कि उन्होंने उद्धरण देने पर दिया है। खैर, यह उनकी शैली है।

हमारा मत है कि सूत्रार्थ और उसका भाष्य उपनिषद् से स्वतंत्र रूप से होना चाहिए।

सूत्र का भाव यह है कि जीवात्मा की स्वप्नावस्था का उल्लेख ऊपर के सूत्रों

में करने के उपरान्त इस सूत्र में स्वप्न के अभाव की अवस्था का वर्णन किया है। ये दो अवस्थायें है। जाग्रत और सुषुप्ति। सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा नाड़ियों (रक्तवाहिनी संस्थान) में कार्य करता है और शरीर में अन्यत्र ऐसे सोता है, मानो उसे बाहर-भीतर की सुध नही रहती और जाग्रत अवस्था में वह अपने आप में रहता है। अपने आप में कैसे रहता है ? वह अगले सूत्र में वर्णन किया है।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥८॥

अतः + प्रबोधः + अस्मात्।

इसलिये जागृति होती है, इस कारण से।

पूर्व सूत्र में यह कहा है कि जीवात्मा एक अवस्था में नाड़ियों में होता है और एक अवस्था में अपने आप में। इससे (स्वप्नावस्था से) पृथक् अवस्था जागृति की होती है। यही इस सूत्र में वर्णित है।

'आत्मनि' (जो सूत्र ३-१-७ में कहा है) का अर्थ 'अपने आप में' होता है। अर्थात् वह 'जीवात्मा' भीतर और बाहर की बात जानने लगता है। जैसे बृ० उ० ४-३-२१ में लिखा है कि सुषुप्ति अवस्था में बाहर-भीतर की बात को नहीं जानता। उसके विपरीत 'आत्मनि' अवस्था में वह शरीर के बाहर और भीतर की बात को जानता है। इसी कारण इस अवस्था को प्रबोधः कहा है।

इस सूत्र के विषय में भी अन्य भाष्यकारों से हमारा मतभेद है। उदाहरण के रूप में शंकराचार्य जी इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—'कुत एतदागात्' (बृ० २-१-१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः' (बृ० २-१-२०) इत्यादिना। 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (छा० ६-२०-२) इति च।

इसका अर्थ है—

और वह आत्मा का सुषुप्ति स्थान ही है। और इसी कारण से 'स्वाप' (स्वप्न) प्रकरण में कहा है 'कुत एतदागात्' (बृ० २-१-१६)। इस प्रश्न के प्रति वचन के अवसर में 'यथाग्ने' जैसे अग्नि से अनेक क्षुद्र चिनगारियाँ निकलती हैं वैसे ही इस आत्मा से समस्त प्राण (बृ० २-१-२०) इत्यादि श्रुति से। इस आत्मा से नित्य प्रति-दिन जीव के प्रबोध का उपदेश किया जाता है और

'सत आगम्य' (छा० ६-१०-२) यह सम्पूर्ण प्रजायें सत् में आने पर नहीं जानती कि हम सत् से आयी हैं।

शंकराचार्य जी के कथन का अभिप्राय यह है कि परमात्मा (आत्मा) ही सुषुप्ति स्थान है। अग्नि से चिनगारियाँ निकलने की भाँति प्राण शरीर में स्फुल्लिगित होते हैं। यह नित्य प्रतिदिन प्रबोध का उपदेश है। इसके लिये उन्होंने प्रमाण दिये हैं—बृ० उ० २-१-१६, २-१-२० और छा० उ० ६-१०-२।

हम उपनिषद् के प्रमाणों को आगे चलकर देखेंगे, परन्तु हम यहाँ यह बता देना चाहते हैं कि यदि यह मान लिया जाये कि जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा में सोता है तो फिर मोक्ष के लिये झगड़ा करने की क्या आवश्यकता? कोई औषधि (अफ़ीम इत्यादि) खाकर सो जाये और परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त कर लिया जाये।

वास्तव में स्वामीजी ने इससे पहले के सूत्र अर्थ ठीक नहीं किये; इसी कारण इसके भी गलत अर्थ करने पड़ रहे हैं। स्वामी जी ने सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा के रहने (कार्य करने) का जो स्थान उपनिषद् के प्रमाण से बताया है, वह तो धमनियाँ हैं। परन्तु स्वयं वह मानते प्रतीत होते हैं कि नाड़ी स्नायु-मण्डल हैं, जिनका सम्बन्ध मन से रहता है और वहाँ जीवात्मा परमात्मा के सान्निध्य में रहता है। इसी कारण कह दिया है कि 'प्रबोधः' हो जाता है। अर्थात् सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा की संगत से जीवात्मा प्रबुद्ध हो जाता है। यह अशुद्ध है; क्योंकि सोया हुआ मनुष्य जानता है कि ऐसी कोई बात नहीं होती।

इसी कारण हमारा यह कहना है कि इन दोनों सूत्रों के अर्थ इस प्रकार हैं। सातवें सूत्र का अर्थ है कि सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का (नाड़ीषु) नाड़ियों में कार्य होता है। नाड़ी रक्त प्रवाहिनी नाली को कहते हैं और दूसरी अवस्था में जीवात्मा अपने में विद्यमान होता है और वर्तमान सूत्र में कहा है कि इस कारण यह प्रबोध है।

अब तनिक उपनिषदों के प्रमाण को भी देख लें। बृहदारण्यक २-१-१६ इस प्रकार है—

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥

इसका अर्थ है—

उस अजातशत्रु ने कहा : जो जीवात्मा है वह सोये हुए अवस्था में कहाँ था और (जागने) पर कहाँ से आ गया? हे गार्ग्य! इसको जान नहीं सका।

यह प्रश्न है। उपनिषद्कार इस प्रश्न का उत्तर अगले मन्त्रों में देता

है। वह अजातशत्रु के मुख से ही कहलाया है। मन्त्र संख्या २-१-१७ में तो यह कहा है कि आत्मा सुषुप्ति अवस्था में (विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते) विज्ञान (बुद्धि) की सहायता से प्राणों के विज्ञान को खींचकर अपने में लेकर हृदय गुहा के आकाश में सोता है।

यहाँ यह नहीं लिखा कि वह परमात्मा में सोता है। जीवात्मा रहता है हृदय की गुहा में। वहाँ पर, परमात्मा भी सर्वव्यापक होने से सदा रहता है। अतः जीवात्मा जब जाग्रत अवस्था में होता है तब भी और जब सुषुप्ति में होता है तब भी हृदय की गुहा में रहता है। जैसा सम्बन्ध इसका परमात्मा के साथ जाग्रत में होता है वैसा ही इसका सम्बन्ध सुषुप्ति अवस्था में रहता है। अतः सूत्र का अर्थ यह नहीं हो सकता कि सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा (प्रबोधः) ज्ञानवान अवस्था में हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि उपनिषद् (बृ० उ० २-१-१६,१७) स्वामीजी के कथन का समर्थन नहीं करता। स्वामीजी बृ० उ० २-१-२० का उद्धरण देते हैं। वहाँ भी यह नहीं लिखा कि इस अवस्था में जीवात्मा परमात्मा में होता है। (जागने के समय) जैसे अग्नि में से चिनगारियाँ निकल आती हैं, वैसे निकलता है। वहाँ तो इस प्रकार लिखा है कि जब मनुष्य जागता है तो जीवात्मा की अवस्था ऐसे होती है जैसे मकड़ी जाले को पकड़कर ऊपर चढ़ती है अथवा अग्नि से स्फुल्लिंग उठते हैं। क्या मकड़ी परमात्मा से ऊपर उठती है अथवा क्या जागया हुआ जीव चिनगारी है? वहाँ तो अर्थ है कि जैसे सुलगती आग जो सोयी हुई प्रतीत होती है, वह हवा लगने से चिनगारियाँ छोड़ने लगती है, वैसे जीवात्मा सोये हुए से जाग पड़ता है। प्राण परमात्मा की शक्ति है। वही जागने पर स्फुल्लिंग की भाँति बोध का परिचय देने लगता है। अर्थात् जीवात्मा प्राण का प्रयोग करने लगता है। परमात्मा में सोने का उल्लेख नहीं है।

परन्तु बात विचारणीय यह है कि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा परमात्मा में सोता है क्या? न यह उपनिषद् से सिद्ध हुआ है और न ही यह सूत्रार्थ से प्रकट होता है।

इसी प्रकार छान्दो० ६-१०-२ की बात है। इस उपनिषद् का अर्थ है कि सब प्रजायें सत् से उत्पन्न होती हैं और फिर सत् में ही मिल जाती हैं। प्रजायें अज्ञानवश नहीं जानतीं कि वह सत् से उत्पन्न हुई हैं।

परन्तु यहाँ सत् का अर्थ परमात्मा नहीं है। यहाँ प्रजाओं का अर्थ जगत् की वस्तुएँ हैं। जैसे श्वेताश्वतर (४-५) में प्रकृति से बहुत सी प्रजाओं के बनने की बात लिखी है वैसे ही यहाँ (बृ० उ० ६-१०-२ में) बहुत सी प्रजाओं को सत् (प्रकृति) से उत्पन्न हुआ लिखा है।

यह हम पहले भी कई बार बता चुके हैं कि सत् के अर्थ अनित्य पदार्थ के

होते हैं और ये तीन हैं। प्रकृति भी एक है। इस उपनिषद् में (सत्) से प्रकृति का अभिप्राय है।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥६॥

स+एव+तु+कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः।

वह ही तो कर्म, अनुस्मृति शब्द और विधि से स्थित होता है।

अर्थात—जो सोया हुआ था, वही जागता है। वह सोने से पहले के कर्मों को चलाता है। सोने से पहले की स्मृतियों को आगे स्मरण रखता है। वही शब्द का प्रयोग जो पहले करता था, वह अभी भी करता है और (व्यवहार) सोकर जागने के उपरान्त चलाता है जो सोने से पहले कर रहा था।

अतः कोई यह न समझ ले कि सोने के उपरान्त जागने पर कोई नयी आत्मा आ गयी है।

यों तो उपनिषद्कार भी यह नहीं कहते कि सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा का परमात्मा से किसी प्रकार का विशेष सम्बन्ध बन जाता है। सूत्रकार तो उपनिषद् वाक्यों से पृथक् कह रहा है कि जीवात्मा जाग्रत अवस्था में आता है तो यह अपने में स्थित हो जाता है और शरीर के बाहर की तथा शरीर के भीतर की क्रियाओं को जानने लगता है।

साथ ही यह कहा है कि सो जाने से उसके अपने अस्तित्व में अन्तर नहीं आता। यह वही होता है। कर्मों से, स्मृति से और विधि (व्यवहार) से यही पता चलता है।

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

मुग्धे+अर्द्धसम्पत्तिः+परिशेषात्।

मुग्ध=मोह अथवा मूर्च्छा। अर्द्धसम्पत्ति=अर्द्ध सुषुप्ति अवस्था। परिशेषात्=परिशेष से अर्थात् विलक्षणता से।

मूर्च्छावस्था अर्ध-सुषुप्ति अवस्था होती है। इसके प्रभाव सुषुप्ति से भिन्न देखे जाते हैं।

मूर्च्छा किसी रोग के कारण हो सकती है अथवा किसी बाहरी औषधि अथवा आघात के कारण भी होती है।

इसकी सुषुप्ति से विलक्षणता इस कारण है कि दोनों के प्रभाव में अन्तर होता है। सुषुप्ति में रोगी को आराम मिलता है, सुख मिलता है और थकावट दूर होती है। मूर्च्छा में ऐसा कुछ नहीं होता। इन प्रभावों के विपरीत प्रभाव भी होते हैं। मूर्च्छा के उपरान्त मनुष्य दुर्बलता को प्राप्त होता है।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥११॥

न + स्थानतः + अपि + परस्य + उभयलिङ्गम् + सर्वत्र + हि।

स्थान (एक होने) से भी नहीं, दूसरे के दोनों लिङ्ग (सुषुप्ति और जाग्रत अवस्था)। क्योंकि वह सर्वत्र (व्यापक) है।

इसका अभिप्राय यह है कि जीवात्मा जाग्रत और सुषुप्ति, दोनों अवस्थाओं में परमात्मा में स्थित है, क्योंकि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है। अतः सब अवस्थाओं में जीवात्मा उसमें स्थित है। दोनों का स्थान एक होने से एक का दूसरे पर (दोनों अवस्थाओं में) प्रभाव नहीं होता। परमात्मा न सोता है, न ही जागता है। वह जैसा है सदा वैसा ही रहता है।

शंकराचार्यजी इस सूत्र पर भाष्य इस प्रकार करते हैं—

येन ब्रह्मणा सुषुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात्संपद्यते तस्येदानीं स्वरूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते। सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः—'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३-१४-२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३-८-८) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः। किमासु श्रुतिषूभयलिंगं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम्? यदाप्यन्यतरलिङ्गं, तथापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते। तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेत्येवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते।

सुषुप्ति आदि में उपाधि के उपशान्त होने से जीव जिस ब्रह्म के साथ सम्पन्न होता है, अब उसका स्वरूप श्रुति सामर्थ्य से निर्धारित किया जाना है। ब्रह्म विषयक श्रुतियाँ दो लिङ्ग वाली हैं। 'सर्व कर्मा०' (बृ० ३-१८-२) इत्यादि श्रुति निर्विशेषलिंगक हैं और 'अस्थूलमन' (बृ० ३-८-८) इत्यादि श्रुति निर्विशेष लिंगक हैं। क्या इन श्रुतियों में दोनों लिंगवाला ब्रह्म समझना चाहिए अथवा दोनों में एक लिंगवाला? यदि दोनों में एक लिंगवाला समझा जाये तो भी क्या वह सविशेष है अथवा निर्विशेष? ऐसा विचार किया जाता है। उसमें दोनों लिंगवाली श्रुतियों के अनुग्रह से दोनों लिंग वाला ब्रह्म समझना

चाहिये। यह कहा जाता है। इस पर इसका उत्तर है—'ऐसा प्राप्त होने पर हम कहते हैं—पर ब्रह्म का स्वतः उभयलिंगत्वा उत्पन्न नहीं होता।

इस भाष्य में दो संशय विशेष रूप में उठाये गये हैं। एक तो यह कि जीवात्मा की सुषुप्ति इत्यादि अवस्था उपाधिमात्र है। इन उपाधियों के शान्त होने पर जीव जिस ब्रह्म के साथ सम्पन्न होता है, उसका स्वरूप श्रुति अनुसार निर्धारित किया गया है।

अर्थात् पूर्व पक्ष वाला परमात्मा के भिन्न-भिन्न अंश को भिन्न-भिन्न लिंगवाला मानता है।

दूसरे प्रश्न के अनुसार पूर्व पक्षवाला परमात्मा के सविशेष और निर्विशेष दो प्रकार के लिंग मानता है। पूर्व पक्षवाला अपने कथन के प्रमाण में उपनिषद् के उद्धरण भी देता है।

स्वामीजी इस पूर्व पक्ष के उत्तर में ब्रह्मसूत्र का उक्त सूत्र मानते हैं। आप कहते हैं कि ब्रह्म स्वतः उभयलिंगवाला उपपन्न नहीं होता। जो उत्तर पक्ष यहाँ स्वामीजी ने लिखा है, वह ठीक है। परन्तु यह सूत्र इस बात को सिद्ध करने के लिए नहीं लिखा गया।

इस सूत्र में ब्रह्म का उभयलिंग (दो चिह्न) का सविशेष, निर्विशेष से अभिप्राय नहीं। यहाँ तो जीवात्मा का सुषुप्ति अथवा जाग्रत अवस्थाओं से अभिप्राय है।

किसी पदार्थ के व्यवहार को उस पदार्थ का लिंग माना जाता है। अतः जीवात्मा के सुषुप्ति अवस्था अथवा जाग्रत अवस्था के व्यवहार से परमात्मा के व्यवहार में अन्तर आ जाता है क्या? नहीं। सूत्रकार का ऐसा कहना है। जीवात्मा परमात्मा में स्थित है। इस स्थिति पर भी परमात्मा जीवात्मा की स्थिति से अप्रभावित, एक-रस रहता है।

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥१२॥

न+भेदात्+इति+चेत्+न+प्रत्येकम्+अतद्वचनात्।

नहीं (स्थान) भेद से है यह। यदि (भेद) कहो तो ठीक नहीं। वह प्रत्येक में है। शास्त्र में ऐसा वचन न होने से है। शास्त्र में तो सब स्थान पर परमात्मा को विभु, एक-रस और एकरूप कहा है।

कहीं-कहीं ऐसा लिखा है कि—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। (अथर्व १०-७-३२)

जिसके चरण भूमि हैं और उदर अन्तरिक्ष है……

परन्तु सूत्रकार कहता है कि इस स्थान भेद से भी परमात्मा पृथक्-पृथक् नहीं। परमात्मा विभु है। यहाँ अलंकार रूप में लिखा गया है।

वास्तव मे सूत्र (३-२-११, १२) अद्वैतवादियों के मत का खण्डन करने के लिये लिखे गये हैं। अद्वैतवादी मानते है कि परमात्मा ही उपाधि भेद से जड़, प्रकृति अथवा अज्ञानी जीव हो जाता है।

स्वामी शंकराचार्य मानते हैं कि—

तयोरन्योऽविद्याकामवासनाश्रयलिङ्गोपाधिर्विज्ञानात्मा पिप्पलं कर्मफलं सुखदुःखलक्षणं स्वादु अनेकविचित्रवेदनास्वादरूपमत्ति उपभुङ्क्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमेश्वरोऽभिचाकशीति सर्वमपि पश्यन्नास्ते ॥

(श्वेता० ४-६ शंक० भाष्य)

इसका अर्थ है—उनमें एक अविद्या काम और वासनाओं के आश्रय भूत लिंग देह रूप उपाधि वाला विज्ञानात्मा अविवेकवश उसके स्वादु-अनेक विचित्र वेदना रूप स्वादवाले पिप्पल सुख-दुःख रूप, कर्मफलों का भोक्ता है।

देह रूप उपाधिवाला (परमात्मा) को ही विज्ञानात्मा माना है।

इस सूत्र में लिखा है कि परमात्मा का भेद नहीं होता, उसके उभयलिंग भी नहीं। ऐसा न तो युक्ति-युक्त है और न ही शास्त्र में लिखा है।

उपाधि भेद का अर्थ है कि जिस स्थिति में विद्यमान हो उसके अनुसार गुणों में भेद पड़ जाना। सूत्रकार का मत है कि स्थिति भेद से जो गुण दिखायी देते हैं, वह परमात्मा में सब स्थितियों में समान एवं सदा विद्यमान रहते हैं। यह नहीं कि स्थिति में मान्यता आने से गुण विलुप्त हो जायें अथवा विपरीत गुण आ जायें।

अपि चैवमेके ॥१३॥

अपि+च+एवम्+एके।

और भी कई एक इसी प्रकार (कहते हैं)।

"भेदात् इति" पूर्व सूत्र में कहे अनुसार लक्षण और व्यवहार में भेद से परमात्मा दिखायी देता है। ऐसा कई अन्य भी कहते हैं। हमने शंकर का मत बताया है। वेद में अलंकाररूप कहे गये का भी वर्णन किया है। इसी प्रकार अन्य भी हो सकते हैं। सूत्रकार कहता है कि ये सब अमान्य मत हैं। परमात्मा एक-रस और विभु है।

इसके प्रमाण शास्त्र में भी मिलते हैं। कठोपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥ (कठो० ४-११)

अर्थात्—वह (परमात्मा) तत्त्व, मन से ही प्राप्त करने योग्य है। इसमें नाना कुछ नहीं। जो मनुष्य इसमें नानात्व देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को जाता है।

अभिप्राय यह है कि परमात्मा एक-रस है। सूत्रकार ने अपना मत इससे पूर्व के सूत्र में बता दिया है—'चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्।'

यदि यह (भेद की बात) कहो तो ठीक नहीं। वह प्रत्येक में है। अर्थात् सर्वव्यापक है। ऐसा कहा गया है।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्॥१४॥

अरूपवत्+एव+हि+तत्प्रधानत्वात्।

(परमात्मा) रूप रहित तत्त्वों की भाँति ही है। क्योंकि (अरूपता) उसका (एक) प्रधान गुण है।

परमात्मा असीम है। रूपवाली वस्तुओं की सीमा होती है। परमात्मा का रूप मानेंगे तो उसका महान् होना नष्ट हो जायेगा।

यहाँ एक-दो उदाहरण दे दें तो ठीक होगा।

एक मन्त्र है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण··· (यजु० ४०-८)

इसमें परमात्मा को कायारहित कहा है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं। (कठो० ३-१५)

वह (परमात्मा) न कहने, न स्पर्श योग्य है और रूपरहित तथा अव्यक्त है।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः··· (मुण्डक० २-१-२)

परमात्मा दिव्य और मूर्त्ति रहित है।

जहाँ उसके देह तथा देहांगों का कथन है वहाँ अलंकार स्वरूप ही है। ऐसा ही इस मन्त्र में है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याँ शूद्रोऽअजायत॥ (यजु० ३१-११)

इसका मुख ब्राह्मण है, क्षत्रिय बाँहें। उरु वैश्य है और शूद्र पाँव हैं। ये अलंकार ही हैं।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥१५॥

प्रकाशवत्+च+अवैयर्थ्यात्।

और प्रकाश की भाँति (वर्णन) न व्यर्थ होने से। अर्थात् उसका भी प्रयोजन है। वह अर्थयुक्त है।

परमात्मा प्रकाशवत् है। प्रकाश का प्रयोजन यह है कि प्रकाश की सहायता से वस्तुओं के स्वरूप दिखायी देते हैं। इस पर भी प्रकाश का अपना रूप नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा रूपवान् जगत् को बनाने वाला निमित्त कारण है, परन्तु वह स्वयमेव रूपवान् नहीं है।

अतः परमात्मा रूपरहित है।

आह च तन्मात्रम् ॥१६॥

आह+च+तन्मात्रम्।

और (शास्त्र) कहता है कि वह तन्मात्र है।

यहाँ तन्मात्र शब्द के अर्थ ही विशेष जानने योग्य हैं। स्वामी शंकराचार्य तन्मात्र के अर्थ इस सूत्र में इस प्रकार करते हैं—

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म।

अर्थात् यह श्रुति विलक्षण रूपान्तर से रहित चैतन्य मात्र निर्विशेष ब्रह्म को कहती है।

इसका अभिप्राय यह है कि तन्मात्र का अर्थ है तत+मात्रम्। वह (चैतन्य) मात्र है।

पूर्व सूत्र में परमात्मा को प्रकाशवत् कहा है। प्रकाश चेतनता का प्रतीक माना जाता है। इस कारण स्वामीजी ने इसे चेतन मात्र कहा है।

इस सूत्र के यह अर्थ भी हो सकते हैं, परन्तु हमारा मत इससे भिन्न है। परमात्मा चेतन तो है ही। ऐसा प्रकाशवान् ज्ञानयुक्त होने से कहा जा चुका है, परन्तु वह केवल चेतन ही नहीं है। इसके अतिरिक्त भी है। अतः

तन्मात्र के अर्थ चेतन मात्र नहीं।

हमारा विचार है कि यहाँ तन्मात्र से अर्थ इतना मात्र है कि वह अरूपवत् है; अर्थात् वह अव्यक्त है।

सूत्रार्थ इस प्रकार बनते हैं कि श्रुति ऐसा कहती है कि परमात्मा अव्यक्त मात्र है। मात्र शब्द का प्रयोग तो कथन पर बल देने के लिये ही है।

हम तन्मात्र को चैतन्य मात्र क्यों नहीं मानते? यह हम पहले बता चुके हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, जगत् कर्त्ता, भर्त्ता, प्रलय कर्त्ता इत्यादि भी है; अर्थात् वह सर्व गुण सम्पन्न है। इस कारण तन्मात्र का अर्थ केवल चेतन मात्र नहीं हो सकता। अतएव वह अव्यक्त मात्र भी नहीं। उसके अन्य गुण भी हैं। साथ ही चेतन जीवात्मा भी है।

शब्द तन्मात्र का प्रयोग रूपरहित प्रकट करने के लिए ही है। अव्यक्त पदार्थ ही रूप रहित होता है। पूर्व के दो सूत्र (३-२-१४, १५) रूप के विषय में हैं। वर्तमान सूत्र भी उसी शृंखला में है। अतः पूर्व सूत्रों के समर्थन में ही है। व्यापक परमात्मा के लिए ही आता है। अतः अरूपवत् के लिए तन्मात्र शब्द का प्रयोग प्रतीत होता है।

इस सूत्र में तन्मात्र से अभिप्राय केवल चेतन नहीं।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥१७॥

दर्शयति+च+अथो+अपि+स्मर्यते।

श्रुति दिखाती है और स्मृति में भी ऐसा कहा गया है।

जो कुछ भी ऊपर परमात्मा के विषय में कहा है, वह स्मृतियों अर्थात् उपनिषद् ग्रन्थों में भी कहा गया है।

परमात्मा के विषय में क्या कहा है? पूर्व सूत्रों में कहे गये अनुसार परमात्मा एक रस, अभेद रहता है, यह रूपरहित है, यह प्रकाशस्वरूप है और यह अव्यक्त है।

उदाहरण तो अनेक हैं। यहाँ हम एक-दो ही दे रहे हैं।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥
यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं, स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

(श्वेता० ३-३, ४)

सम्पूर्ण विश्व में जिसके चक्षु हैं, अर्थात् जो सब कुछ देखता है। सम्पूर्ण विश्व में उसके मुख हैं अर्थात् वह सबको उपदेश देता है। सब ओर उसकी बाँहें हैं अर्थात् उसकी शक्ति सर्वत्र विराजमान है। उसकी बाँहें विश्व में व्याप्त हैं; अर्थात् सब लोकों को वह नियन्त्रण में रखता है और उसके पाँव सब ओर हैं; अर्थात् सब लोकों का आश्रय है।

वह अपनी दो भुजाओं से पशु-पक्षियों, मनुष्यादि को पैरों और पंखों से युक्त करता है और द्युलोक तथा भूलोक को उत्पन्न करता है। और एक है।

वह भगवान् जो देवों की उत्पत्ति करनेवाला है तथा उन्हें ऐश्वर्ययुक्त करने वाला है। वह विश्व का अधिपति है और पापियों को दण्ड देनेवाला है और सर्वत्र है। उसने पूर्व में हिरण्यगर्भ की रचना की। वह हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करे।

एक अन्य उदाहरण लीजिये—

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदँ सर्वमिति।... (छान्दो० ७-२५-१)

वह ही नीचे है, ऊपर है, पीछे है और आगे है। वह दक्षिण को है, उत्तर को है और वह ही सर्वत्र विद्यमान है।

इस प्रकार परमात्मा केवल मात्र चेतन नहीं है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वस्रष्टा, सर्वभर्त्ता और प्रलयकर्त्ता है।

यही आशय है सूत्रकार का।

बात आरम्भ हुई थी मनुष्य की सुषुप्ति, जाग्रत और स्वप्नावस्था से। सूत्र में स्वप्नावस्था के अभाव में जीवात्मा के नाड़ियों में होने की बात आयी तो भाष्यकारों ने लिख दिया कि स्नायुमण्डल के मूल में (हृदय की गुहा में) वह जा बैठता है। साथ ही स्वप्नावस्था के अभाव में वह 'आत्मनि' स्थित होता है।

इस पर भाष्यकारों ने लिखा कि 'आत्मनि' के अर्थ परमात्मा ही हैं। इस पर संशय उठाया गया कि जीवात्मा जब सोता अथवा जगता है तो क्या परमात्मा भी जागता-सोता है ?

सूत्रकार का मत यह नहीं था। तदनन्तर भाष्यकारों ने 'प्रबोधस्यात्' का अर्थ कर दिया कि परमात्मा में बैठ ज्ञानवान हो जाता है। यह बात भी सूत्रकार के आशय अनुसार नहीं थी। इस सबका हम व्याख्या सहित खण्डन कर चुके हैं।

इस पर परमात्मा के विषय में सूत्रकार लिखने लगा तो उसमें उसे भाष्यकार ने सगुण, निर्गुण एवं विशेष्य, निर्विशेष्य बताना आरम्भ कर दिया। ऐसा भी सूत्रों में नहीं था।

इस प्रकार भाष्यकार अपने मनमाने मत को बलपूर्वक ब्रह्मसूत्रों के

प्रणेता के नाम पर लिख रहे हैं। सूत्रकार के भाव को हमने अपने मतानुसार लिख दिया है और युक्ति एवं प्रमाण से वही मत ठीक प्रतीत होता है।

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥

अतः + एव + च + उपमा + सूर्यकादिवत्।

और इसलिए ही सूर्यादिवत् से इसका सादृश्य (बताया गया) है।

परमात्मा प्रकाशस्वरूप है अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से जगत् को दृश्यमान कर देता है, वैसे ही परमात्मा अपना ज्ञान सबको देता है।

यहाँ परमात्मा को सूर्य नहीं कहा। सूर्यकादि की भाँति वह प्रकाश (ज्ञान) देनेवाला है। ऐसा ही वर्णन किया है। वैदिक परम्परानुसार वेद-ज्ञान परमात्मा का दिया हुआ ही है।

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥१९॥

अम्बुवत् + अग्रहणात् + तु + न + तथात्वम्।

अम्बुवत् = जल में प्रतिबिम्ब की भाँति। अग्रहणात् = न लेने से। तु = तो। न = नहीं। तथात्वम् = वैसा होना।

यदि हम परमात्मा की सर्वव्यापकता किसी पदार्थ में ऐसे लें जैसे जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब होता है तो, सूत्रकार कहता है, वैसा नहीं। यह ग्रहण करने योग्य नहीं।

अर्थात्—परमात्मा जगत् में वैसे व्यापक नहीं, जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल-पात्र में होता है। प्रतिबिम्ब होने से चन्द्र जल-पात्र में नहीं आ जाता। परन्तु परमात्मा तो स्वतः प्रत्येक पदार्थ के भीतर और बाहर रहता है।

अतः सूत्रार्थ है कि यह इस प्रकार नहीं जैसे कि जल पात्र में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब होता है।

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

वृद्धि + ह्रासभाक्त्वम् + अन्तर्भावात् + उभयसामञ्जस्यात् + एवम्।

वृद्धि ह्रास का गौण होना। अन्तर्यामी होना। दोनों में युक्तियुक्त

सम्बन्ध होने से—ऐसा है।

परमात्मा ऐसे पदार्थों में भी रहता है जिनमें वृद्धि और ह्रास होता रहता है। इससे प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या परमात्मा में भी वृद्धि-ह्रास होता रहता है ? सूत्रकार कहता है कि यह नहीं। वृद्धि-ह्रास गौण अर्थात् अस्थायी कार्य हैं और करने वाला अजर और अमर है। यहाँ गौण का अर्थ निम्नकोटि के कार्य हैं।

प्राणी जब अल्पायु होता है तो भी परमात्मा उसमें व्यापक होता है। समय व्यतीत होने पर युवा हो जाता है। परमात्मा तब भी उसके भीतर उपस्थित होता है। क्या परमात्मा भी शरीर के साथ वृद्धि पाता है ? यह प्रश्न है। अथवा जो कोई वस्तु टूटने लगती है अथवा उसमें ह्रास होने लगता है तो क्या परमात्मा उसके साथ ह्रास को प्राप्त होने लगता है ?

सूत्रकार का कहना है कि नहीं। ऐसा नहीं होता। परमात्मा तो नियमन करनेवाला है। अतः वस्तुओं के छोटा-बड़ा होने से वह छोटा-बड़ा नहीं होता।

दर्शनाच्च ॥२१॥

दर्शनात्+च।

और ऐसा देखने में आता है।

नित्य वस्तुओं को छोटा-बड़ा होते देखा जाता है, परन्तु परमात्मा भी उसके साथ छोटा-बड़ा होने लगे तो या तो कुछ स्थान परमात्मा से रिक्त हो जायेगा अथवा किसी स्थान पर परमात्मा घना (concentrated) हो जायेगा। क्योंकि परमात्मा एकरस है, इस कारण वह ऐसा नहीं होता।

दर्शनात् का अर्थ कई भाष्यकारों ने वेदादि शास्त्रों में देखे जाने से किया है। यह भी ठीक है, परन्तु हम पहले ढंग से बताने को ठीक समझते हैं। परमात्मा में भाग नहीं हो सकता। इसीलिए कहा है कि वह छोटा-बड़ा नहीं होता; यद्यपि वस्तुएँ छोटी-बड़ी होती हैं।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

प्रकृतैतावत्त्वम्+हि+प्रतिषेधति+ततः+ब्रवीति+च+भूयः।

प्रकृत में इतने होने का निश्चय से (प्रतिशेध) निषेध करता है। तदनंतर

फिर भी कहता है ।

प्रकृति का अर्थ है स्वभाव; अर्थात् जो कुछ परमात्मा के स्वभाव के विषय में अभी तक कहा गया है उस कहे हुए का भी, कहते हैं कि वर्णन पूर्ण नहीं । उस वर्णन की पूर्णता का निषेध करते हैं । उस अनन्त, असीम का कोई भी वर्णन पूर्ण नहीं ।

ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् (२-३-६) में लिखा है । वहाँ परमात्मा के विषय में समझाते हुए ऋषि ने अन्त में कहा है 'नेति नेति' । अर्थात् वह अवर्णनीय है ।

इसको इन शब्दों में भी कहा जा सकता है कि उस अनन्त का कोई भी वर्णन पूर्ण नहीं हो सकता । 'इस पर भी यह कह दिया है' कि जितना ऊपर के सूत्रों में वर्णन किया है, वह निश्चय से सत्य है यद्यपि वह वर्णन अपूर्ण है । इसी से उसे अवर्णनीय कहा है ।

तदव्यक्तमाह हि ॥२३॥

तत्+अव्यक्तम्+आह+हि ।

वह अव्यक्त है; निश्चय से कहा है । अव्यक्त का अर्थ है जो इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता ।

यह नहीं कि उसके अतिरिक्त अन्य कोई अव्यक्त पदार्थ ही नहीं । यदि ऐसा हो तो सूत्रकार कहता : 'अव्यक्त परमात्मा ही है' । इसके विपरीत वह यह कहता है कि वह निश्चय से अव्यक्त है ।

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

अपि+च+संराधने+प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।

फिर भी आराधना करने पर । (वह अव्यक्त जाना जाता है) । प्रत्यक्ष और अनुमान से ।

पूर्व सूत्र में लिखा है कि वह अव्यक्त है; अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं । इस पर भी वह भली प्रकार की गयी आराधना से जाना जाता है ।

आराधना का अर्थ है उपासना । परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना । जिसके लिये परमात्मा का सामीप्य प्राप्त किया जाता है । इसकी आवश्यकता और

इसकी योग्यता प्राप्त करने के उपाय बताना योग दर्शन का विषय है।

अतः योग दर्शन में वर्णित उपाय से चित्त की वृत्तियों के निरोध के उपरान्त ही उपासना अर्थात् समाधि लगायी जा सकती है। उस समाधि में अव्यक्त का साक्षात्कार हो सकता है।

योगी जो कुछ समाधि में देखते हैं, वह इन आँखों इत्यादि के देखे से भिन्न होता है। योग दर्शन में यह बताया है :—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥

(यो० द०—१-४७, ४८, ४९)

इसका अभिप्राय यह है कि निर्विचार समाधि के अत्यन्त निर्मल होने पर अध्यात्म का फल मिलता है।

उस समय बुद्धि को ऋतम्भरा कहते हैं और वह इन्द्रियों के ज्ञान और अनुमान से अन्य बात बताने लगती है। अर्थात् अव्यक्त न तो इन्द्रियों से देखा जा सकता है और न ही उसके विषय मे अनुमान लगाया जा सकता है। अनुमान में सादृश्य का होना आवश्यक है। जगत् में अव्यक्त के सदृश्य कुछ है नहीं, इस कारण मनुष्य जो कुछ जगत् को देखकर अनुमान लगाता है, वह अव्यक्त में लागू नहीं हो सकता। इसी कारण योग दर्शनाचार्य ने कहा है कि ऋतम्भरा जो अनुभव करती है, वह इन्द्रियों के प्रत्यक्ष और जगत् से प्राप्त अनुमान से पृथक् होता है।

अतः सूत्रकार कहना है कि आराधना (उपासना) से उस अव्यक्त का साक्षात्कार होता है। वह साक्षात्कार ऐसा है कि उस अवस्था में बुद्धि (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) से प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा जाना जाता है।

सूत्र के स्पष्ट अर्थ हैं कि परमात्मा के अव्यक्त होने पर भी योगी समाधि अवस्था में उसका प्रत्यक्ष कर सकता है और अनुमान लगा सकता है।

समाधि अवस्था में चित्त इन्द्रियों से (पृथक्) विच्छिन्न हो चुका होता है। अतः उस अवस्था में प्रत्यक्ष वह नहीं जो इन्द्रियों से देखा जा सकता है और न ही इस जगत् के सादृश्य से लगाये अनुमान के समान अनुमान होगा।

परन्तु यहाँ प्रायः सब भाष्यकारों ने पुन. भिन्न अर्थ किये हैं। उन्होंने सूत्र में 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' का अर्थ वेद शास्त्र में कहे अनुसार कर दिया है। यह उन्होंने किस कोश अथवा किस प्रमाण से किया है, यह तो वे ही बता सकते हैं। हमारे मत से यह अर्थ गलत है। प्रत्यक्ष अनुमान का अर्थ वेद शास्त्र में कहे अनुसार नहीं।

समाधि अवस्था में प्रत्यक्ष होता है और उसी प्रत्यक्ष पर अनुमान भी लगाया जा सकता है। इस विषय में स्वामी शंकराचार्य इस प्रकार लिखते हैं—

प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः ।
प्रत्यक्ष और अनुमान से अर्थ है श्रुति और स्मृति से ।
यह ठीक अर्थ नहीं हैं ।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥२५॥

प्रकाशादिवत्+च+अवैशेष्यम्+प्रकाशः+च+कर्मणि+अभ्यासात्।
प्रकाश+आदिवत्=प्रकाशादि की भाँति । च=और । अवैशेष्यम्= न विशेष (सामान्य) रूप में। प्रकाशः=प्रकाश । च=और। कर्मणि अभ्यासात्= योगाभ्यास से ।

अर्थात्—सामान्य रूप में प्रकाश जो कार्य करता है उसी भाँति योगाभ्यास से (प्रत्यक्ष और अनुमान) कार्य करते हैं।

प्रकाश का प्रत्यक्ष कैसे होता है ? वह विचारणीय है। प्रकाश का ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक कि प्रकाश किसी पदार्थ को आलोकित नहीं कर देता। प्रकाश सूर्य से अन्तरिक्ष में से होकर आता है, परन्तु वहाँ तो अन्धकार होता है। वहाँ प्रकाश का साक्षात्कार नहीं होता। सूर्य से आ रहे प्रकाश का साक्षात्कार तब होता है जब यह पृथ्वी पर के पदार्थों को आलोकित करता है।

इसी प्रकार परमात्मा का साक्षात्कार भी तब होता है जब इसका प्रभाव जगत् के किसी पदार्थ पर देखा जाता है। जब लोक के पदार्थों को हम परमात्मा के प्रभाव से क्रियाशील देखते हैं तब ही परमात्मा का साक्षात्कार होने लगता है। पूर्व सूत्र में 'प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' का प्रयोग योगाभ्यास द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमान से किया है। योगी का प्रत्यक्ष और अनुमान सामान्य मनुष्य के अनुमान आदि से भिन्न होता है। इसी कारण उसे असामान्य कहा है।

इस सूत्र का अभिप्राय यह बनता है कि समाधि में प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे होता है जैसे सामान्य प्रकाश का प्रत्यक्ष सामान्य आँखों द्वारा होता है। इसी प्रकार परमात्मा के प्रभाव में जब विश्व के पदार्थों को सक्रिय देखते हैं तो उसका साक्षात्कार हो जाता है। यह ज्ञानमय स्थिति है जो केवल योगी को प्रत्यक्ष होती है, सामान्य व्यक्ति को नहीं। ज्ञानमय स्थिति को ही प्रकाशवत् कहा है।

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

अतः+अनन्तेन+तथा+हि+लिङ्गम् ।
इस कारण वह (परमात्मा) अनन्त (गुणों) के साथ (सम्पन्न है) जैसा

कि लिङ्गों (लक्षणों) से विदित होता है।

परमात्मा सर्व प्रकार से अनन्त लिंगों वाला होने से केवल योगियों से ही जाना जा सकता है।

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुंडलवत् ॥ २७ ॥

उभयव्यपदेशात्+तु+अहिकुण्डलवत्।

दो भांति के कथन से साँप को कुण्डली की भाँति।

इस सूत्र में साँप की कुण्डली का सम्बन्ध दो कथनों से जानने से सूत्रार्थ स्पष्ट हो जाता है।

कुछ भाष्यकारों ने इस सम्बन्ध को इस प्रकार वर्णन किया है :

साँप कुण्डली मारकर बैठ जाता है तो यह एक रूप में दिखायी देता है परन्तु इसका वास्तविक स्वरूप दूसरा होता है। साँप एक रस्सी की भाँति लम्बा होता है और कुण्डली में कुण्डलवत् हो जाता है।

इसी भाँति जीवात्मा का दो प्रकार से वर्णन किया गया है। एक स्वरूप में यह अल्पज्ञ और अल्पशक्ति वाला होता है और दूसरे रूप में यह ज्ञान तथा शक्ति में बड़ा हो जाता है। यह दूसरा स्वरूप होता है जब यह परमात्मा से ज्ञानवान् और शक्तिमान् बना दिया जाता है।

यह ज्ञानवान् और शक्तिमान् कैसे होता है? इसका वर्णन सूत्र ३-२-२५ में और ३-२-२८ में किया है।

सूत्र ३-२-२५ में लिखा है कि परमात्मा का साक्षात्कार ऐसे होता है जैसे कि प्रकाशादि से अविशेष प्रकाश की उपलब्धि होती है। अविशेष का अर्थ है सामान्य।

जैसे सामान्य प्रकाश से पदार्थ आलोकित होते हैं, वैसे ही परमात्मा के ज्ञान और अनुभूति से जीवात्मा आलोकित अर्थात् ज्ञानवान् हो जाता है। इस सूत्र का व्याख्या सहित भावार्थ सूत्र के भाष्य में बता आये हैं।

इसी प्रकार परमात्मा से यह शक्तिमान् भी होता है। इसको अगले सूत्र ३-२-२८ में हम देखेंगे।

यहाँ केवल इतने से ही अभिप्राय है कि जीवात्मा का दूसरा कथन साँप की कुण्डली के कथन की भाँति है। साँप एक ही है। कुण्डल की भाँति बैठने पर इसका भिन्न स्वरूप दिखायी देता है। इसी प्रकार जीवात्मा भी दोनों अवस्थाओं में एक ही है। इसके दो स्वरूप कहने में आते हैं।

अतः सूत्रार्थ है—प्रकाश (ज्ञान) से आलोकित जीवात्मा और अज्ञानी जीवात्मा के विषय में दो भिन्न-भिन्न कथन वैसे ही हैं जैसे कि साँप सामान्य अवस्था में होता है अथवा कुण्डली में बैठी अवस्था में हो।

प्रायः भाष्यकारों ने इस सूत्र की व्याख्या उक्त प्रकार से ही की है। अर्थात् अज्ञ और ज्ञानस्वरूप दो कथनों का अर्थ वही है जो साँप के सामान्य रूप में और कुण्डली मारी हुई स्थिति में है। परन्तु भाष्यकार उस एक को परमात्मा कहते हैं।

तनिक ध्यानपूर्वक देखें तो यह उपमा ठीक बैठती नहीं। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि परमात्मा ही जब विशेष स्थिति में होता है तो अज्ञानी हो जाता है। ऐसा भाव न तो पूर्ण ब्रह्मसूत्र में कहीं अन्यत्र मिलता है और न ही यह इस अध्याय के वर्तमान पाद में कहीं दृष्टिगोचर होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूत्र की उक्त व्याख्या स्वामी शंकराचार्य ने की है और अन्य भाष्यकारों ने बिना किंचिन्मात्र भी विचार किये इसे स्वीकार कर लिया है।

तनिक पूर्व के सूत्रों को देखें तो (उभयव्यपदेशात्) दो कथन जीवात्मा के ज्ञानवान और अज्ञानवान होने का कहीं नहीं है। इस बात को समझने के लिए इस पूर्ण पाद का सर्वेक्षण करना पड़ेगा। यह सूत्र है ३-२-२७। इससे पूर्व सूत्र ३-२-२६ में लिखा है कि परमात्मा के अनन्त गुणों का ज्ञान इसके लिंगों से होता है। इसमें दो कथन नहीं हैं। इससे पूर्व सूत्र (३-२-२५) में लिखा है कि जैसे सामान्य प्रकाश का ज्ञान पदार्थों के आलोकित होने से होता है वैसे ही योगी को जगत् को, देखकर परमात्मा का ज्ञान होता है। इसमें भी दो प्रकार के कथन नहीं। परमात्मा के गुणों का ही उल्लेख है। इससे पूर्व ३-२-२४ में तो यह लिखा है कि योगी परमात्मा को प्रत्यक्ष भी देखते हैं और अनुमान से भी जानते हैं। इसमें किसी एक पदार्थ के विषय में दो कथन नहीं हैं। अब इससे पूर्व ३-२-२३ को देखें। वहाँ इसे अव्यक्त कहा गया है। सूत्र ३-२-२२ में कहा है कि परमात्मा के गुण अवर्णनीय होने से जाननेवाले 'नेति-नेति' कहते हैं। इसी प्रकार सूत्र ३-२-२०,२१ में कहा है कि उन पदार्थों की भाँति जिनमें परमात्मा व्यापक है, यह वृद्धि और ह्रास को प्राप्त नहीं होता। सूत्र ३-२-१९ में कहा है कि परमात्मा की व्यापकता प्रति-बिम्ब की भाँति नहीं। परमात्मा सूर्य की भाँति प्रकाश (ज्ञान) देता है। ३-२-१८ में ऐसा कहा गया है। ३-२-१७ में कहा है कि देखने से और स्मृतियों में भी परमात्मा को ऐसा अरूपवत् कहा गया है। ३-२-१६ में कहा है कि यह अव्यक्त मात्र है। ३-२-१५ में कहा है कि प्रकाश की भाँति यह सप्रयोजन है। अर्थात् इसका कार्य है। ३-२-१४ में कहा है कि यह

अरूपवान है। ३-२-१३ में कहा है कि कई लोग इसमें पाद, शिर इत्यादि अंग बताते हैं। ३-२-१२ में कहा है कि नहीं। इसमे भेद (भिन्नता) नही है।

इन सब सूत्रों में (३-२-१२ से लेकर ३-२-२६) तक दो कथन नहीं किये। कहीं जीवात्मा के अज्ञ और ज्ञानवान होने की बात नहीं। एक के उपरान्त दूसरे सूत्र में परमात्मा के ही गुणों का कथन है। यह भी नहीं कि कहीं परमात्मा के दो प्रकार के गुणों का कथन किया हो जिससे वे एक-दूसरे के विपरीत जाते हों।

अतः हमारा यह मत है कि इस सूत्र (३-२-२७) में 'उभयव्यपदेशात्' दो प्रकार के उपदेशों से वह अभिप्राय नहीं जो अन्य भाष्यकारों ने किये हैं। दो प्रकार के उपदेशों का संकेत तो सूत्र ३-२-११ में मिलता है। वहाँ लिखा है—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि॥

इस सूत्र के अर्थ हैं कि एक ही स्थान पर (जीवात्मा और परमात्मा के) होने पर भी दूसरे के दो लिंगों (सुषुप्ति एवं जागृति) का प्रभाव परमात्मा पर नहीं होता। कारण यह कि वह सर्वत्र है।

इस सूत्र में ही दो कथनों का संकेत है। अतः हमारे मत में वर्तमान सूत्र 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्' के अर्थ इस प्रकार बनते हैं : जीवात्मा के दो कथनों से कि वह जाग्रत अवस्था में और सुषुप्ति अवस्था में होता हुआ एक ही स्थान पर होता है तो अन्तर यह होता है कि जाग्रत अवस्था में वह ऐसा होता है जैसे साँप चलता-फिरता है और सुषुप्ति अवस्था में जैसे साँप कुण्डली मारे बैठा होता है।

यह अज्ञ और ज्ञान की अवस्था का कथन नहीं है, वरन् यह जाग्रत और सुषुप्ति की अवस्था पर 'उभय' शब्द का प्रयोग है।

अतः सूत्र का भावार्थ यह है कि जीवात्मा हृदय की गुहा में दोनों अवस्थाओं में होता है। ऐसे ही जैसे साँप कुण्डली के बिना और कुण्डली की अवस्था में होता है। भाष्यकारों की कल्पना की उड़ान का हम समर्थन नहीं कर सकते।

हमारे यह सब लिखने का अभिप्राय यह है कि सूत्र संख्या १२ से २६ तक परमात्मा का ही वर्णन है। सूत्र संख्या १२ से पूर्व दो अवस्थाओं का वर्णन आया है। यह इस प्रकार है। देखिये, इस पाद का आरम्भ इस प्रकार हुआ है। (३-२-१) स्वप्न अवस्था में क्या जीव सृष्टि करता है ? फिर (३-२-२ में) लिखा है कि क्या स्वप्नादि में जो पुत्रादि दिखायी देते हैं, वे होते हैं ? सूत्र ३-२-३ में सूत्रकार उक्त प्रश्नों का उत्तर देता है कि नहीं। जो कुछ स्वप्न

में दिखायी देता है, वह कल्पना है । ३-२-४ में कहा है कि यह सुनने में आता है कि स्वप्नों में भविष्य का ज्ञान हो जाता है । ३-२-५ में सूत्रकार कहता है कि यह जो कुछ भूत वर्तमान एवं भविष्य के विषय में स्वप्नों में दिखायी देता है, वह देखी, सुनी बातों के मन पर संस्कारों का फल है । ३-२-६ में कहा है कि देह के कारण से भी स्वप्न होते हैं । ३-२-७ में लिखा है कि स्वप्नावस्था के अभाव में सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा नाड़ियों में रहता है । अर्थात् वहाँ पर इसका कार्य चलता रहता है; अन्यत्र कहीं नहीं । (३-२-८) स्वप्नावस्था के अभाव में जाग्रत अवस्था भी होती है । उस समय यह 'अपने में स्थित' अवस्था में होता है । ३-२-९ में कहा है कि जो सोया था, वही जाग रहा होता है । ३-२-१० में कहा है कि मूर्च्छित अवस्था आधी सोयी अवस्था होती है । ३-२-११ में कहा है कि सुषुप्ति और जाग्रत, दोनों अवस्थाओं में जीवात्मा हृदय की गुहा में रहता है और परमात्मा के साथ रहता हुआ उस पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं डालता । हमने बताया है कि इन्हीं दो कथनों का वर्णन ३-२-२७ में है ।

यहाँ ३-२-११ से आगे परमात्मा का ही वर्णन है और यह वर्णन इस अर्थ है कि जीवात्मा जो अवस्थायें बदलता रहता है, वह परमात्मा पर प्रभाव नहीं डालतीं । वह एक रस है ।

अतः सूत्र ३-२-११ का ही प्रकरण यहाँ (३-२-२७ में) पुनः पकड़ा है और कहा है कि जीवात्मा की सुषुप्ति और जाग्रत अवस्था ऐसी है जैसी साँप की कुण्डली मारी अवस्था होती है और जाग्रत अवस्था जैसी साँप की सामान्य चलने फिरने की अवस्था ।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥२८॥

प्रकाशाश्रयवत्+वा+तेजस्त्वात् ।

प्रकाश के आश्रय की भाँति । अथवा तेज के होने से ।

वा के अर्थ पहले आने चाहियें । अथवा तेज के विचार से प्रकाश के आश्रय की भाँति ।

तेज का अभिप्राय है शक्ति । शक्ति के विचार से परमात्मा और जीवात्मा ऐसे हैं, जैसे प्रकाश और प्रकाश से आलोकित पदार्थ । जीवात्मा परमात्मा के तेज अर्थात् शक्ति से कार्य करता है । जीवात्मा अल्प शक्तिमान् है, अतः शरीर में कार्य करने के लिए तेज के अक्षय भण्डार परमात्मा से शक्ति

प्राप्त करता है। यह हम एक से अधिक वार इसी भाष्य में बता आये हैं और युक्ति से समझा चुके हैं। अतः शक्ति के विचार से जीवात्मा परमात्मा के आश्रय (सहायता से) ही है। जैसे कोई दिखायी देनेवाला पदार्थ प्रकाश के आश्रय ही दिखायी देता है।

इस सूत्र में भी जीवात्मा के विषय में ही लिखा है। जैसे यह परमात्मा के ज्ञान से ज्ञानवान् होता है वैसे ही उसके तेज से शक्तिमान् होता है।

अन्य भाष्यकारों के कथन का यहाँ भी समर्थन नहीं होता। जीवात्मा अथवा परमात्मा के विषय में यहाँ भी दो कथन नहीं हैं।

पूर्ववद्वा ॥२९॥

पूर्ववत्+वा।

अथवा पहले कहे के समान।

पहले क्या कहा गया है? यही कि जाग्रत और सुषुप्ति अवस्था में जीवात्मा एक ही होता है। वह परमात्मा से ऐसे आलोकित होता है अर्थात् ज्ञानवान् होता है जैसे कि प्रकाश से पदार्थ आलोकित होते हैं।

यही ज्ञान परमात्मा के तेज से उत्पन्न होता है। 'पूर्व' शब्द से अन्य भाष्यकार विभिन्न सूत्रों से संगत बैठाते हैं। इसमें कोई हानि नहीं। अभिप्राय एक ही निकलेगा। वह यह कि परमात्मा तेजस्वरूप (प्राणस्वरूप) है। प्राणों से ही मनुष्य शरीर कार्य करता है और जीवात्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है। मुख्य बात पूर्व के सूत्र की है। उसमें लिखा है 'तेजस्त्वात्'। परमात्मा के तेजवान होने से।

तेज (प्राण) से ही पूर्ण जगत् की रचना होती है और इस रचना के ज्ञान से ही परमात्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है।

प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

प्रतिषेधात्+च

प्रतिषेध का अर्थ है निषेध।

पूर्व सूत्र (३-२-२९) में लिखा है कि परमात्मा के ज्ञान और तेज से यह ज्ञानवान और तेजवान होता है। इस सूत्र में लिख दिया है—'और

निषेध' है। किस बात का निषेध है अर्थात् खण्डन है ? वह ऊपर के सूत्रों से उत्पन्न होनेवाले भ्रम का कि परमात्मा के ज्ञान से और परमात्मा के तेज से जीवात्मा परमात्मा हो गया माना जा सकता है। अद्वैतवादी ऐसा मानते हैं। उनका कहना है कि जगत् के अज्ञान से सर्वज्ञ परमात्मा ही अज्ञान में फंस जाता है। वह जगत् के मोह में फँस जन्म-जन्मान्तर में भटकता हुआ जीवात्मा कहलाता है।

सूत्रकार इसका निषेध करता है; अर्थात् इसका खण्डन करता है। कैसे खण्डन करता है ? यह अगले सूत्र (३-२-३१) में लिखा है।

जैसे साँप के उदाहरण वाले सूत्र (ब्र० सू० ३-२-२७) में हम बता चुके हैं कि वहाँ साँप के दो रूप जीव और परमात्मा के सूचक नहीं, वरन् प्राणी की दो अवस्थाओं में जीवात्मा का ही वर्णन है। सुषुप्ति अवस्था और जाग्रत अवस्था में जीवात्मा का वर्णन किया है कि सुषुप्ति अवस्था ऐसी है जैसे कुण्डली मारे हुए साँप की होती है। और साँप जब चल रहा होता है वह जाग्रत अवस्था में जीवात्मा का वर्णन है।

अद्वैतवादी इन सूत्रों (३-२-२८ और २९) का अर्थ भी विकृत कर लिखते हैं। शंकर लिखते हैं—

यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नात्यन्तभिन्नावुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात् ।

अर्थात्—जैसे सूर्य का प्रकाश और उसका आश्रय सूर्य अत्यन्त भिन्न नहीं; क्योंकि दोनों में तेजस्त्व समान है।

यहाँ शंकराचार्य यह प्रकट करना चाहते हैं कि जैसे सूर्य और सूर्य के प्रकाश में भिन्नता नहीं; इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा में भिन्नता नहीं।

यह अर्थ सूत्र से निकलते नहीं। सूत्र का पूर्वापर तो हम ऊपर सूत्र (३-२-२७) के भाष्य में बता चुके हैं कि वहाँ जीवात्मा और परमात्मा में भेद का वर्णन नहीं। यह तो जीवात्मा की सुषुप्ति अवस्था और जाग्रत अवस्था का वर्णन है।

साथ ही जो उदाहरण शंकराचार्य ने इस सूत्र (३-२-२८) के भाष्य में दिया है, वह भी ठीक नहीं। सूर्य और प्रकाश अभिन्न नहीं हैं। यह तो अब सर्वविदित ही है कि सूर्य एक पंच-भौतिक पदार्थ है। प्रकाश परमात्मा का तेज है।

अतः इस सूत्र में निषेध किस बात का है ? परमात्मा और जीवात्मा में भेद का नहीं। यह निषेध की बात तो तब होती जब किसी पहले सूत्र में परमात्मा तथा जीवात्मा में भेद अथवा समानता का उल्लेख होता। वह तो है नहीं। तो फिर इस विषय में निषेध नहीं।

इस (३-२-३०) से पूर्व के दो सूत्र (३-२-२८, २९) में तो परमात्मा और जीवात्मा में भिन्नता के विषय पर विचार नहीं किया गया। सूत्र ३-२-२८ में लिखा है—'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्'। इसका अर्थ हमने किया है कि प्रकाश के आश्रय (प्रकाशित होनेवाले पदार्थ) की भाँति तेज के होने से। इसी सूत्र का शंकर अर्थ करते हैं—प्रकाश और उसका आश्रय (सूर्य) तेज के होने से अभिन्न हैं।

यद्यपि हम शंकर के अर्थों को अयुक्त मानते हैं, इस पर भी इसके ठीक होने से इसमें जीवात्मा और परमात्मा में अभिन्नता प्रकट नहीं होती। यह अभिन्नता न तो हमारे अर्थों से प्रकट होती है और न ही शंकर के अर्थों से। तब ३-२-३० में निषेध किसका हो रहा है? भाष्यकारों द्वारा बताया निषेध तो हवा को लाठी से पीटने के सदृश्य हो जायेगा।

सूत्रकार इतना मूर्ख प्रतीत नहीं होता कि जो विषय उपस्थित ही नहीं, उसका प्रतिषेध लिखना आरम्भ कर दे।

इससे हमारा यह सुनिश्चित मत है कि यह निषेध उसका है जिसका पूर्वोक्त सूत्र से भ्रम उत्पन्न होता है।

आत्मा-परमात्मा प्राणी के शरीर में एक ही स्थान पर रहते हैं। एक के प्रकाश से दूसरा प्रकाशित होता है और एक के तेज से दूसरा तेजवान होता है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि दोनों एक ही हैं। इस भ्रम का ही निषेध है।

शंकराचार्य इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

इतश्चैष एव सिद्धान्तः। यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यं चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३-९-२३) इत्येवमादि। 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २-३-६) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ २-५-१९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणाद्ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते।

इसका अर्थ है—इससे भी यह सिद्धान्त है कि शास्त्र परमात्मा से अन्य चेतन का प्रतिषेध करता है। (नान्योऽतो…बृ० ३-७-२३) उस परमात्मा से अन्य द्रष्टा नहीं और (अथात…बृ० २-३-६) अब इसके अनन्तर नेति नेति का आदेश है। और (तदेतद्ब्रह्म…बृ० २-५-१९)। इस प्रकार ब्रह्म से व्यतिरिक्त प्रपञ्च का निराकरण होने से ब्रह्म मात्र का परिशेष होने से यही सिद्धान्त है, ऐसा ज्ञात होता है।

अभिप्राय यह है कि उक्त उपनिषद् उद्धरणों से यह सिद्धान्त पता चलता है कि परमात्मा के अतिरिक्त कोई नहीं। इस कारण इस सूत्र में यह निषेध है कि परमात्मा और जीवात्मा भिन्न-भिन्न हैं।

इससे यह प्रकट किया गया है कि सूत्रकार का मत जो इस पाद में तथा विशेष रूप में ३-२-११ में लिखा है, वह गलत है। केवल (ब्रह्म) परमात्मा ही है। इस सूत्र (३-२-११) में लिखा है कि एक ही स्थान पर होने पर भी परमात्मा में दो लिंग (जाग्रत और सुषुप्ति) नहीं होते। अर्थात् यहाँ जो भेद दिखाया है यह उसका निषेध किया जा रहा है। सूत्रकार को इसका यदि निषेध करना था तो वहाँ ही करना था।

हमारा मत है कि यह बात अशुद्ध है। सूत्रकार गलत नहीं है। परन्तु शंकराचार्य के उक्त मत के खण्डन से पूर्व हम उपनिषद् वाक्यों को देख लेना चाहते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् (३-७-२३) इस प्रकार है—

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यं रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ता-विज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम।

इस मन्त्र में तो केवल एक पद दे देने से कि 'कोई अन्य नहीं' अपनी उपनिषद् से अनभिज्ञता प्रकट करनी है।

इस उपनिषद् मन्त्र का अर्थ जानने के लिए अध्याय ३, खण्ड ७ का अध्ययन करना होगा। वार्तालाप, जिसका अन्त इस वार्तालाप में दिया गया है, यह है—

उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से कहा कि वह अन्तर्यामी कौन है जो—

यं इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्···

(बृहदा० २-७-१)

अर्थात्—जो इस लोक, परलोक और सब भूतों को भीतर से नियंत्रण करता है। वह कहो।

याज्ञवल्क्य ने कहा, 'मैं जानता हूँ।' तब उद्दालक ने कहा, 'बताइये ?'

इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने ३-७-२ से २३ तक के मन्त्रों में उस सूत्र का वर्णन किया है जिससे सब लोक-परलोक और प्राणी भीतर से नियमन किये जाते हैं। याज्ञवल्क्य कहता है—

स होवाच वायुर्वै गौतम तत् सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति··· (बृहदा० ३-७-२)

अर्थात्—हे गौतम ! वायु ही वह सूत्र है। वायुरूप सूत्र के द्वारा यह लोक-परलोक और समस्त भूत समुदाय गुँथे हुए हैं।

इसी वायु का वर्णन याज्ञवल्क्य आत्मा नाम से करता है। परन्तु वह

उसे नहीं जानता जो उसे गूँथे हुए हैं। प्रत्येक मन्त्र में वह इस जगत् की एक वस्तु लेता है और बताता है कि वायु से वह गूँथी हुई है। प्रत्येक में वह कहता है कि वह पदार्थ उस वायु को नहीं जानता।

यही बात ३-७-२३ में कही है। इसमें ऋषि कहता है कि रेतस् में रहनेवाला रेतस् के भीतर है जिसे रेतस् नहीं जानता।

इससे स्पष्ट है कि रेतस् उस वायु से भिन्न है। दूसरी बात यह लिखी है कि रेतस् जिसका शरीर है और जो वीर्य के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है वह आत्मा अन्तर्यामी, अमृत है। 'वह अदृष्ट (दिखायी न देनेवाला) परन्तु देखनेवाला है। सुनायी न देनेवाला, किन्तु सुननेवाला है……।

अन्त में लिखा है—

त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं……

वह आत्मा अन्तर्यामी, अमृत है; अन्य नाशमान् है।

इस मन्त्र से तीन बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि अन्तर्यामी वायु है, जिसे आत्मा शब्द से बोध कराया गया है। दूसरी बात यह कि यह आत्मा (वायु) अमृत है और अन्तर्यामी है। तीसरा यह कि शरीर इससे भिन्न है और वह शरीर नाशवान् है।

इसमें आत्मा और शरीर की बात कही है। जहाँ यह लिखा है 'नान्यो-ऽतोऽस्ति' वहाँ यही अर्थ बनता है कि नियमन करनेवाला अन्य कोई है ही नहीं।

वायु को परमात्मा नहीं कहा जा सकता। यह परमात्मा की शक्ति है। परमात्मा अविनाशी है; इस कारण इसे भी अविनाशी कहा है।

पूर्ण ब्राह्मण (बृ० ३-७) को पढ़ने से यही पता चलता है कि जगत् को भीतर से नियमन करनेवाला वायु से अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं। साथ ही जगत् नाशवान् है।

इस मन्त्र से यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा है अथवा नहीं। यहाँ जीवात्मा का अनवकाश है, परन्तु प्रतिषेध नहीं।

इसी प्रकार बृ० २-३-६ में 'नेति नेति' का अभिप्राय यह है कि परमात्मा अवर्णनीय है। इस (परमात्मा) के सम्पूर्ण का वर्णन नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं जितना बताया गया है। अतः वह अनन्त है। इसका वर्णन हम ब्र० सू० ३-२-२६ में कर आये हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। केवल इतना कहा है कि परमात्मा अवर्णनीय है।

अगला उद्धरण है बृहदा० २-५-१६ का।

इस मन्त्र में से केवल मात्र यह पद स्वामीजी उद्धृत कर रहे हैं—

तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥

इसका अन्वय इस प्रकार है—

तत्, एतद्, ब्रह्म, अपूर्वम्, अनपरम्, अनन्तरम्, अबाह्यम्, अयम्, आत्मा, ब्रह्म, सर्वानुभूरि, इति, अनुशासनम् ।

अर्थ है—

वह यह ब्रह्म अपूर्व जिसके पाहले कोई नहीं, जिससे सूक्ष्म कोई नहीं, जिसके भीतर कोई नहीं, जिसके बाहर कोई नही, यह आत्मा ब्रह्म है, पृथिवी पर सबका पालन करनेवाला है । ऐसा शास्त्र में वर्णन है ।

इस पद से भी यही प्रतीत होता है कि जिसके भीतर-बाहर कोई नहीं जिससे पहले कोई नहीं, वह सबका पालन करनेवाला है ।

अर्थात् पालन किये जानेवाला कोई दूसरा है ।

परन्तु यदि इस पूर्ण (२-५) ब्राह्मण को पढ़ें तो पता चलेगा कि यहाँ ब्रह्म से अभिप्राय केवल परमात्मा नहीं, वरन् मूल प्रकृति, जीवात्मायें और परमात्मा तीनों हैं ।

यह पद जो शंकर ने अपने भाष्य में उद्धृत किया है, वह बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय के पाँचवें ब्राह्मण के उन्नीसवें मन्त्र का अन्तिम पद है।

अतः इसमें ब्रह्म और आत्मा शब्द का अर्थ जानने के लिए इस ब्राह्मण के विषय को देखना होगा । हम बता चुके हैं कि ब्रह्म मूल प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा तीनों के लिए आता है। इससे एक का भी प्रयोजन हो सकता है, दोनों का भी और तीनों का भी । इसी प्रकार आत्मा का अर्थ परमात्मा, जीवात्मा, सत्त्व (essence), प्रकृति (nature) अर्थात् स्वभाव, धर्म, वीर्य, साहस भी है ।

अतः यह जाने बिना कि इस उपनिषद् में इन शब्दों का क्या अर्थ लगता है, उपनिषद्-मन्त्र के अर्थ नहीं किये जा सकते । इसको समझने के लिए यह आवश्यक है कि पूरे ब्राह्मण का निरीक्षण किया जाये ।

इस ब्राह्मण (बृ० २-५) का नाम मधु प्रकरण है। मधु के अर्थ हैं रुचिकर तथा अनुकूल । इसका अर्थ मीठा अथवा शहद भी है ।

इस ब्राह्मण में मधु का अर्थ हमारे विचार से रुचिकर तथा अनुकूल ही है।

पूर्ण ब्राह्मण को पढ़ने पर पता चलेगा कि ब्रह्म के अर्थ तीन मूल पदार्थों से हैं और आत्मा का अर्थ सत्त्व (essence) से है ।

इन अर्थों से इस ब्राह्मण के किसी भी मन्त्र का अर्थ करें तो वह अति सरल और स्पष्ट हो जायेगा और वह अर्थ बुद्धिगम्य होगा ।

हम यहाँ इस ब्राह्मण के प्रथम और अन्तिम मन्त्र का अर्थ करेंगे जिससे

पाठकों को हमारे इस सूत्र पर भाष्य का भावार्थ स्पष्ट हो सके। बृहदारण्यक् उपनिषद् २-५-१ इस प्रकार है—

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म ँ्शारीरस्तेजोमयो-ऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मे द ँ् सर्वम् ॥

यह पृथिवी सब प्राणियों को प्रिय है और सब भूत इस पृथिवी को प्रिय हैं। इस पृथिवी मे जो यह तेजोमय अमृत (तीन मूल अक्षर) पुरुष है और जो यह अध्यात्म शरीर (उन अक्षरों का स्वरूप) तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यही है जो कि यह आत्मा (सत्त्व अर्थात् मूल) है। यह ब्रह्म है, यह सब कुछ है।

इस मन्त्र का भावार्थ यह बनता है कि पृथिवी पर जितने प्राणी हैं वे पृथिवी को प्रिय हैं। अर्थात् पृथिवी उनका पालन करती है। उनको पृथिवी प्रिय है। वे पृथिवी पर ही रहना चाहते हैं। इस पृथिवी में तीन तेजोमय अक्षर पदार्थ उपस्थित हैं। ये पुरुष कहलाते हैं। इन अक्षरों का स्वरूप (जगत्) उन अक्षरों का शरीर है। वह शरीर अर्थात् अध्यात्म का स्वरूप भी पुरुष अक्षर इसका आत्मा (सत्त्व) है। यह ब्रह्म कहलाता है। इस ब्रह्म से ही सब कुछ बना है।

अब इसी ब्राह्मण का अन्तिम मन्त्र देखें।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच। तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्। रूप ँ्रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति। अयं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्ममयमात्मा ब्रह्म सर्वानु-भूरित्यनुशासनम् ॥　　(बृहदा० २-५-१६)

दध्यङ्ङाथर्वण ऋषि ने अश्विनी कुमारों को उपदेश किया। यह देखते हुए ऋषि ने कहा—यह (विविध ब्रह्म) रूप-रूप के प्रतिरूप (एक रूप से अनेक रूप) हो गया। इसका वह (रूप) उसे प्रकट करने के लिये है। इन्द्र (आत्मा) माया (प्रकृति) के साथ कई रूप हो जाता प्रतीत होता है। इन रूपों में (देह में) एक सौ दस (बहुत संख्या में) घोड़े (अवयव इन्द्रियाँ इत्यादि) अनन्त हैं। और यह ब्रह्म (मूल तत्त्व) है जो अपूर्व है जिसके भीतर कोई नहीं, जिसके बाहर कोई नहीं। यह आत्मा (सत्त्व) ही ब्रह्म है। वह सब अनुभव करनेवाला है। पृथिवी पर के पदार्थ उसी में हैं। यही शास्त्र का उपदेश है।

यह है उपनिषद्। इसमें अति खींचातानी से ही यह अर्थ बनते हैं कि परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

हमारे विचार में ब्रह्म से अर्थ तीन मूल पदार्थों का लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त जहाँ जीवात्मा का उल्लेख है वहाँ 'इन्द्र' शब्द का प्रयोग किया

है और प्रकृति के लिये माया शब्द का प्रयोग है। ब्रह्म तीनों मूल पदार्थों (परमात्मा, जीवात्मा और मूल प्रकृति) के लिये आया है। आत्मा शब्द सत्त्व (essence) के लिये आया है।

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥

परम्+अत+सेतु+उन्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः।

अतः परम है सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेद से।

उस (परमात्मा) से परम अर्थात् दूसरा है सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेद के कहे जाने से।

यह सूत्र पूर्व सूत्र की व्याख्या में ही है। पूर्व सूत्र (३-२-३०) में लिखा है कि निषेध है, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में भिन्नता है। इस सूत्र में बताया है कि यह भिन्नता किस प्रकार प्रकट होती है ? यह प्रकट होती है इसके सेतु होने के कथन से। उन्मान (माप) होने के कथन से, सम्बन्ध होने के कथन से और भेद होने के कथन से।

सेतु का अर्थ है बाँधनेवाला अर्थात् आश्रय। परमात्मा सबका आश्रय स्थान होने से जीवात्मा से भिन्न है।

उन्मान का अभिप्राय है नाप-तोल। परमात्मा नाप के विचार से भी जीवात्मा से भिन्न है। यह अनन्त है और जीवात्मा अणु मात्र है।

सम्बन्ध का अभिप्राय है कि इसका पूर्ण ब्रह्माण्ड के साथ सम्बन्ध। सर्वव्यापक कहे जाने से यह सम्बन्ध प्रतीत होता है, परन्तु जीवात्मा सर्वव्यापक न होने से सबसे सम्बन्ध नहीं रखता।

भेद का अभिप्राय है कि परमात्मा एक है। अतएव इसमें भेद नहीं कहा गया।

इस प्रकार पूर्व सूत्र 'प्रतिषेधाच्च' की यहाँ व्याख्या की गयी है। यह बताया गया है कि परमात्मा के तेज और ज्ञान से जीवात्मा प्राणमय और ज्ञानमय होता है परन्तु दोनों एक नहीं कहे जा सकते। क्यों एक नहीं कहे जा सकते ? यह इस कारण कि दोनों के नाप तोल, सम्बन्ध, और भेद में अन्तर है।

सामान्यात्तु ॥३२॥

सामान्यात्+तु।

तु का अभिप्राय है किन्तु। सूत्रार्थ है—किन्तु समानता भी है।

पूर्व सूत्रों में भिन्नता का कथन है। यहाँ कहा है कि भिन्नता होने पर भी समानता भी है। किस बात में समानता है? दोनों, जीवात्मा और परमात्मा अव्यक्त हैं। दोनों चेतन हैं, दोनों अनादि हैं, अक्षर है और अव्यय हैं; इत्यादि।

जीवात्मा और परमात्मा में समानता भी है।

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥३३॥

बुद्ध्यर्थः+पादवत्।

बुद्ध्यर्थः—जानने के लिये। पादवत्—पग-पग के समान।

किसी बड़ी वस्तु को जानने के लिये उसको थोड़ा-थोड़ा कर जाना जा सकता है। किसी अनादि, अनन्त पदार्थ को जानने के लिये उसके एक भाग को जानना चाहिये। पूर्ण अनादि अनन्त को जानना असम्भव है।

जीवात्मा परमात्मा को जान सकता है पग-पग करके। पग-पग का अभिप्राय है धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए।

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥३४॥

प्रकाशादिवत्+स्थानविशेषात्।

स्थान की विशेषता से। जैसे प्रकाश इत्यादि होता है।

प्रकाश एक स्थान से चारों ओर फैलता है। इस प्रकार जीवात्मा एक विशेष स्थान पर रहता हुआ पूर्ण शरीर को चेतन कर देता है।

जिस स्थान पर जीवात्मा रहता है, वह विशेष है। हृदय में एक गुहा है। उस गुहा का मन और इन्द्रियों द्वारा शरीर से ऐसे ही सम्बन्ध रहता है जैसे प्रकाश स्रोत एक स्थान पर रहता हुआ किरणों द्वारा पूर्ण स्थान में फैल जाता है।

स्वामी शंकराचार्य जी इस सूत्र के भाष्य में ऐसा लिखते हैं :—

इह सूत्रे द्वयोरपि संबन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारो विधीयते। यदप्युक्तं—संबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यादिति—तदप्यसत्, यत एकस्यापि स्थानविशेषापेक्षयैतौ व्यपदेशावुपपद्येते।

इसका अर्थ है:—इस सूत्र में सम्बन्ध व्यपदेश और भेद व्यपदेश इन

दोनों का परिहार कहा जाता है। यह भी कहा गया है कि सम्बन्ध व्यपदेश और भेद व्यपदेश से कोई अन्य होना चाहिये। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि स्थान विशेष की अपेक्षा से एक में भी ये व्यपदेश उपपन्न होते हैं।

ये अर्थ केवल इसलिये किये गये हैं कि जीवात्मा और परमात्मा का एक ही होना सिद्ध हो सके; परन्तु सूत्रकार का यह आशय प्रतीत नहीं होता। पूर्व सूत्र (३-२-३२) में दोनों में समानता प्रकट की गयी है। इस सूत्र में स्थान विशेष के होने पर भी शरीर से जीवात्मा के सम्बन्ध का वर्णन है।

सूत्र के प्रथम भाग में है स्थान विशेष में होने से। और दूसरे भाग का अर्थ है प्रकाशादिवत्। आदि से अभिप्राय है प्रकाश की भाँति एक स्रोत से फैलने-वाले पदार्थों की तरह। जैसे ज्ञान है।

प्रकाशादि से अर्थ एक भाष्यकार ने प्रकाश तथा आकाश की भाँति किया है। हमारे विचार में प्रकाश और आकाश दोनों में कोई समानता दिखायी नहीं देती।

सूत्रार्थ तो स्पष्ट ही है कि स्थान विशेष में रहता है और प्रकाश और ज्ञान की भाँति एक स्रोत से चारों ओर फेंकनेवाले पदार्थों की तरह है। यह कथन जीवात्मा के विषय में है। सूत्र संख्या ३-२-२७ से परमात्मा और जीवात्मा में भेद और समानता का वर्णन हो रहा है।

यह सूत्र भी परमात्मा और जीवात्मा में भिन्नता प्रकट करता है। पहले सूत्र (३-२-३१) में परमात्मा की विशेषताएँ वर्णन की हैं और इस (३-२-३४) में जीवात्मा की विशेषता वर्णन की है। परमात्मा का सम्बन्ध (प्रभाव) अन्य पदार्थों से प्रकाशादि की भाँति नहीं है। परमात्मा तो स्वयमेव सर्वत्र उपस्थित होता है। जीवात्मा सर्वव्यापक नहीं। इसका प्रभाव प्रकाश इत्यादि की भाँति एक स्थान से अन्य स्थानों पर जाता है।

उपपत्तेश्च ॥३५॥

उपपत्तेः+च।

और युक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है।

जीवात्मा अणु मात्र है अतः पूर्ण शरीर में इसका कार्य ऐसे ही है जैसे कि एक आगार के एक कोने में जल रहे दीपक से पूर्ण आगार में प्रकाश होता है।

जीवात्मा को पूर्ण शरीर में व्यापक नहीं माना गया। इसका युक्तियुक्त वर्णन पहले किया जा चुका है।

तथान्यप्रतिषेधात् ॥३६॥

तथा+अन्यप्रतिषेधात् ।

और दूसरे के प्रतिषेध से।

यहाँ अन्य का अर्थ अन्य गुणोंवाला है। जो जो गुण परमात्मा के वर्णन किये जा चुके हैं, उन गुणोंवाले से अन्य कोई दूसरा। उसके प्रतिषेध से अर्थात् गुणों को पीछे रखनेवाला, रोकनेवाला, होने से।

प्रतिषेध के अर्थ मोनियर विलियम के शब्दकोष में—negation non-existant भी बताये गये हैं। यही अर्थ ठीक भी प्रतीत होते हैं। अर्थात् परमात्मा के अतिरिक्त श्रेष्ठ गुणोंवाले किसी अन्य का अस्तित्व नहीं है। कठोपनिषद् (१-३-११) में भी लिखा है—"पुरुषान्न परं किंचित् सा।" अर्थात् पुरुष से श्रेष्ठ और कुछ नहीं।

इसी बात का वर्णन एक वेद मन्त्र में भली-भाँति हुआ है। मन्त्र है:—

एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (ऋ० १०-९०-३)

अर्थ है—उस जगत् का महान् सामर्थ्य इतना है, परन्तु इस जगत् में व्यापक पुरुष इससे भी बड़ा है। समस्त उत्पन्न पदार्थ इसके एक चरणवत् हैं। उसके तीन चरण प्रकाशमय स्वरूप में अविनाशी हैं।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥३७॥

अनेन+सर्वगतत्वम्+आयामशब्दादिभ्यः।

इससे सबमें व्यापक होने से विस्तार अर्थवाले शब्दों आदि से।

अनेन का अर्थ है इससे। अभिप्राय यह कि ऊपर कहे प्रतिषेध से। परमात्मा के (सर्वगतत्वम्) सर्वव्यापक होने का। (आयामशब्दादिभ्यः) अभिप्राय यह है कि परमात्मा के लिये व्यापक वाची शब्दों के प्रयोग से।

यह सूत्र परमात्मा के जीवात्मा से प्रतिषेध (भिन्न होने) का अर्थ बताने के लिये है। जहाँ जीवात्मा स्थान विशेष पर रहता हुआ प्रकाश की भाँति प्रभाव डालता है, वहाँ परमात्मा सर्वव्यापक होने से स्वतः प्रभाव डालता है। साथ ही परमात्मा का वर्णन आयाम आदि शब्दों से किया जाता है। उनका प्रयोग जीवात्मा के लिये नहीं किये जा सकता।

सूत्र संख्या ३-२-२८ से ३-२-३७ तक जीवात्मा और परमात्मा में भेद और समानता प्रकट करने के लिये लिखे गये हैं।

फलमत उपपत्तेः ॥३८॥

फलम्+अतः+उपपत्तेः।

(अतः) इसलिये। (फलम्) कर्म फल मिलने की बात। (उपपत्तेः) युक्ति से सिद्ध होती है।

परमात्मा (आयाम) सर्वव्यापक अर्थोंवाला होने से कर्मों का फल देनेवाला सिद्ध होता है। सब कुछ को नियमन करने की सामर्थ्यवाला है। परमात्मा प्रत्येक प्राणी के भीतर और बाहर भी है। इस कारण कोई भी प्राणी कोई भी कार्य इससे छुपकर नहीं कर सकता। इसके सामर्थ्यवान् होने के कारण कोई भी प्राणी परमात्मा द्वारा दिये जानेवाले कर्म फलों से बचकर निकल नहीं सकता। न तो इससे छुपकर कुछ भी किया जा सकता है और न ही इसे छला जा सकता है।

श्रुतत्वाच्च ॥३९॥

च+श्रुतत्वात्।

और श्रुति से भी यही सिद्ध होता है (परमात्मा फल देनेवाला है)।

उदाहरण के रूप में—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेता० ६-११)

अर्थात्—सब प्राणियों के भीतर स्थित एक परमात्मा है। वह सर्व-व्यापक और सब प्राणियों का अन्तरात्मा है। कर्मों का अधिष्ठाता, सब प्राणियों में रहनेवाला, सबका साक्षी, सबको चेतना देनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है।

इसी प्रकार एक अन्य वेद मन्त्र है—

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३यजमानाय सुन्वते॥

(ऋ० १०-१२५-२)

अर्थात्––परमात्मा उनकी सहायता करता है जो दुष्टों का नाश करता है। परमात्मा कान्तिमान्, सूर्य, सबका पालन करनेवाला और भूमि पर पूर्ण ऐश्वर्य का धारण करनेवाला है। परमात्मा अन्नादि हविष्य पदार्थों के देनेवाला ऐश्वर्य युक्त यजमानों को धन देता है।

धर्मं जैमिनिरत एव ।।४०।।

धर्म + जैमिनिः + अत एव।

इसी से ही जैमिनि ऋषि धर्म को फल की बात कहते हैं।

क्या कहते हैं ? यही कि धर्म अर्थात् कर्म ही फल उत्पन्न करता है, अर्थात् महर्षि जैमिनि के मत से कर्म स्वतः फलदाता है। धर्म में करने योग्य कर्म लिये हैं।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि कर्म स्वतः फलदाता है अथवा परमात्मा फल देनेवाला है ?

सूत्रकार इस मत का बादरायण के मत से इस प्रकार समाधान करते हैं।

पूर्वम् तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ।।४१।।

पूर्वम् + तु + बादरायणः + हेतुव्यपदेशात्।

बादरायण पहले को तो (कहते हैं)। (क्योंकि)। हेतु के बताये जाने से।

हेतु के उपदेश का अभिप्राय यह है कि सब कर्मों में हेतु (मूल कारण) परमात्मा कहा है। इस कारण फल देने में वही हेतु हो सकता है; कोई अन्य नहीं। फल तो कर्म का ही है, परन्तु परमात्मा फल देनेवाला है।

पूर्व सूत्र (३-२-४०) में लिखा है कि जैमिनि ऋषि का कथन है कि कर्म अपना फल उत्पन्न करता है। उससे पहले सूत्र–––३-२-३८ को सूत्र ३-२-३७ के साथ पढ़ने से यह समझ में आता है कि परमात्मा सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी होने से सबको कर्म का फल देता है। इससे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जैमिनि ऋषि और सूत्रकार व्यास मुनि में इस विषय पर मतभेद है।

परन्तु सूत्रकार इस दिखायी देनेवाले भेद को बादरायण के शब्दों में इस प्रकार वर्णन करते हैं कि ईश्वर सब कर्मों में हेतु कहे जाने से कर्म फल में भी वही हेतु है।

हेतु का अभिप्राय यह है कि जीवात्मा द्वारा कर्म करने की सामर्थ्य परमात्मा की दी हुई है। फल तो कर्म का ही मिलता है, परन्तु उस फल का समय, उसकी विधि और मात्रा का निश्चय परमात्मा द्वारा होता है।

अतः सूत्रकार का मत है कि दोनों बातों में भेद नहीं। केवल शब्दों का ही हेर-फेर है।

इसको हम इस प्रकार भी वर्णन कर सकते हैं। एक व्यक्ति परिश्रम से धन उपार्जन कर बाजार में कुछ क्रय करने आता है। वह बाज़ार में दस रुपये मूल्य की वस्तु क्रय करना चाहता है। वह दुकान पर खड़ा हो जाता है और देखता कि क्या क्रय करे? दुकान पर पड़ी वस्तुओं को देखकर वह निश्चय करता है कि दो रुपये के फल क्रय करेगा। पांच रुपये के रूमाल, मोजे इत्यादि मोल लेगा। एक रुपये की मिठाई लेगा और दो रुपये के अपने बच्चो के लिये खिलौने लेगा।

वस्तुयें तो रुपयों से खरीदी जाती हैं, परन्तु क्या वस्तु खरीदी जाये, कितने-कितने दाम की वस्तुयें खरीदी जायें और कब-कब खरीदी जायें, यह ग्राहक के अपने निश्चय करने की बात होती है।

परन्तु कर्म-फलों में और वस्तु खरीदने मे कुछ थोड़ा-सा अन्तर है। धन परिश्रम के अतिरिक्त चोरी से प्राप्त किया जा सकता है। चोरी करने का फल तो न्यायाधीश ही देगा। वह स्वयं उसका दण्ड भोगना नहीं चाहेगा। अतः दस रुपये जो ग्राहक के अपने परिश्रम की उपज हैं, वह उनसे अपनी इच्छानुसार वस्तुयें खरीदता है, परन्तु बुरे कर्मों का फल तो कोई व्यक्ति स्वतः लेना नहीं चाहेगा। उसे तो कोई न्यायाधीश ही फल दे सकता है। इस कारण परमात्मा को फल दाता कहा है। फल तो व्यक्ति के कर्मों का ही होता है, परन्तु फल का समय, विधि और मात्रा न्यायाधीश की भांति परमात्मा निश्चय करता है।

अतः सूत्रकार का मत है कि जैमिनि ऋषि और बादरायण ऋषि के कथन में विरोध नहीं और सूत्रकार के कथन तथा जैमिनि के कथन में भी विरोध नहीं।

तृतीय पाद

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययम्+चोदनादि+अविशेषात् ।

सब वेदान्तों का प्रत्यय अर्थात् आशय, अभिप्राय, लक्ष्य (एक ही है) । अविशेष रूप में प्रेरणादि से ।

इस सूत्र में अविशेष और प्रेरणादि शब्द ध्यान देने योग्य हैं। अन्य भाष्यकारों ने अविशेष के अर्थ अभिन्न किये हैं। अभिन्न के अर्थ हैं बिना अपवाद के। सर्वत्र और सदैव। ये अर्थ तब ही उपयुक्त होंगे, यदि वेदान्त का अभिप्राय भी विशेष लिया जाये।

अर्थात्—वेदान्तों से क्या अभिप्राय है, यह पहले निश्चय हो जाये तो अविशेष के अर्थ 'अभिन्न अथवा न विशेष रूप से' पर विचार किया जा सकता है।

वेद का अर्थ ज्ञान है और वेदान्त का अर्थ है ज्ञान की वह पराकाष्ठा जहाँ तक मनुष्य की पहुँच है। किस ज्ञान की? यहाँ इस ग्रन्थ में ब्रह्म के ज्ञान की पराकाष्ठा ही माननी चाहिये। परन्तु किस ग्रंथ के अनुसार अथवा किस ऋषि अथवा महर्षि के कहे अनुसार?

शंकर और उनकी परिपाटी का अनुकरण करनेवाले विद्वान उपनिषदों को वेदान्त ज्ञान की पराकाष्ठा मानते हैं। वे ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखते समय तब तक अपने भाष्य को ठीक नहीं समझते, जब तक किसी उपनिषद् वाक्य से उसका समर्थन घोषित न कर दें। ठीक अथवा गलत, वे बिना उपनिषद् के उद्धरण दिये चित्त में शान्ति अनुभव नहीं करते।

यदि शंकर मत, कि वेदान्त ग्रन्थ उपनिषद् हैं, माना जाये तो वे सदा और सर्वत्र अभिन्न रूप में एक ही आशय वर्णन करने वाले होने चाहियें। उपनिषद् में कई विषयों पर मतभेद है। इस विषय में श्री बाल गंगाधर तिलक अपने 'गीता रहस्य' ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखते हैं—

वैदिक धर्म केवल तान्त्रिक धर्म नहीं है। उसमें जो गूढ़ तत्त्व हैं उनका सूक्ष्म विवेचन प्राचीन समय ही में उपनिषदों में हो चुका है; परन्तु ये उपनिषद् भिन्न-भिन्न ऋषियों के द्वारा भिन्न-भिन्न समय में बनाये गये हैं; इसलिये उनमें कहीं-कहीं विचार विभिन्नता भी आ गयी है...।

हम भी इस बात को मानते है कि सब उपनिषद् सर्वत्र एक मत नहीं।

अतः उपनिषद् को वेदान्त मानने पर सूत्रकार का अविशेषात् से अभिप्राय 'अभिन्न रूप' से लेना ठीक प्रतीत नहीं होता। अविशेषात् के सरल अर्थ हैं बिना विशेषता से; अर्थात् सामान्य रूप में। यही ठीक प्रतीत होते हैं।

परन्तु यह भी तो हो सकता है कि वेदान्त का अर्थ उपनिषद् साहित्य हो ही नहीं। अभिप्राय यह कि ज्ञान अर्थात् ऋचाओं में निहित ज्ञान की पराकाष्ठा का आशय हो सकता है। इस अवस्था में अविशेषात् का अर्थ अभिन्न रूप से भी लिया जा सकता है। यद्यपि अविशेष के अर्थ अभिन्न लेना कुछ खींचातानी ही प्रतीत होती है। इस पर भी दूसरे भाष्यकारों के इस अर्थ को तब ही स्वीकार किया जा सकता है जब वेदान्तों के अर्थ वैदिक ज्ञान की पराकाष्ठा लिया जाये।

दूसरा शब्द है चोदनादि। चोदना के अर्थ होते हैं उकसाना (urging) अथवा प्रेरणा देना (inspiration)।

प्रत्यय का अर्थ भी विचारणीय है। प्रत्यय का अर्थ हमने आशय अथवा ज्ञान किया है। शंकर इसके अर्थ करते हैं 'विज्ञान'।

श्री ब्रह्म मुनि जी प्रत्यय के अर्थ प्रतीति अर्थात् वेदान्त से जो अनुभूति होती है, करते हैं। अर्थात् ब्रह्म की अनुभूति या उपासना स्वीकार करते हैं। आप चोदना के विषय में लिखते हैं––

(चोदनाद्यविशेषात्) उन वेदान्त वचनों या उपनिषद् वचनों में उपास्य रूप से ब्रह्म लक्षित है। उसकी उपासना विधि में भिन्नता नहीं और न ही उसके लक्षण और फल में भेद कहा गया है।

हम इस सूत्र का अर्थ करते हुए वेदान्त का अर्थ उपनिषद् नहीं लेते। हमारे मत से वेद ज्ञान की पराकाष्ठा को वेदान्त कहते हैं और वेद में इस लोक की तथा परलोक की, दोनों की विद्याओं का वर्णन है। दोनों की उत्कृष्टता वेदान्त में लेनी चाहिये।

वेद के इन सिद्धान्तों का आशय तथा लक्ष्य की प्रेरणा सर्वत्र एक समान है। यदि वेदान्त में उपनिषद् भी सम्मिलित किये जायें तो अविशेषात् के अर्थ सामान्य रूप में लेने होंगे।

परन्तु क्योंकि ब्रह्म सूत्र में ब्रह्म का वर्णन है; इस कारण सूत्रकार का इस सूत्र से अभिप्राय ब्रह्म के विषय में ही है।

यह हम पहले बता आये हैं कि ब्रह्म से अभिप्राय परमात्मा, जीवात्मा और मूल रूप में प्रकृति तीनों से है। अतः इन सबके विषय में उत्कृष्ट ज्ञान का वर्णन, जिन मन्त्रों तथा वेदानुकूल ग्रन्थों में है, वे अभिन्न (अविकल्प) रूप में एक समान हैं।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है—सब वेदान्त ग्रन्थों का आशय सामान्य रूप में एक ही प्रेरणा देनेवाला है, अथवा सब वेद ग्रन्थों में ब्रह्म ज्ञान की प्रेरणा सर्वत्र, अभिन्न रूप में एक ही है।

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥२॥

भेदात्+न+इति+चेत्+न+एकस्याम्+अपि।

भेद से नहीं है। यदि ऐसा (भेद होना) कहो तो ठीक नहीं। एक में भी (नहीं)।

यदि कहो कि (भिन्न-भिन्न वेद मन्त्रों में) वेदान्तों के आशय में भेद है तो यह बात ठीक नहीं। (भेद) एक में भी (नहीं)।

इस सूत्र में पूर्वोक्त सूत्र की बात पर बल दिया गया है। यह कहा गया है कि उक्त कथन में किंचित् मात्र भी संशय के लिये स्थान नहीं।

इस सूत्र में बताया है कि यदि कहो कि भेद दिखायी देता है तो वह एक भी विषय में नहीं है। सूत्रकार का अभिप्राय है कि अध्येता अथवा भाष्यकारों के अर्थों में भेद होते हैं। ग्रन्थ के भाव में भेद नहीं।

प्रत्यक्ष रूप में भी भेद कहाँ दिखाई देता है? इसके कई भाष्यकारों ने उदाहरण दिये हैं।

भेद के विषय में स्वामी शंकराचार्य विज्ञान भेद बताते हैं। आप सूत्र (३-३-१) के भाष्य में कहते हैं—

...इदानीं तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि भिद्यन्ते न वेति विचार्यते...ननु विज्ञेयं ब्रह्म पूर्वापरादिभेदरहितमेकरसं सैन्धवघनवदवधारितं, तत्र कुतो विज्ञान भेदाभेदचिन्तावसरः ?

इसका अर्थ है—अब प्रत्येक वेदान्त (ग्रन्थ) में विज्ञान भेद है अथवा नहीं? इसका विचार किया जाता है। क्योंकि पूर्वापरादि भेद से रहित होकर नमक की डली के समान विज्ञेय ब्रह्म एक रस स्वीकार किया गया है।

अभिप्राय यह कि वेदान्तों में भेद विज्ञान का है। विज्ञान का अर्थ उपासना किया जाता है। अभिप्राय यह कि उपासना ब्रह्म के विशेष ज्ञान प्राप्ति का नाम है।

स्वामी जी समझ रहे हैं कि भिन्न-भिन्न वेदान्त ग्रन्थों में विज्ञेय (जानने योग्य) ब्रह्म के विशेष ज्ञान में भेद दिखायी देता है।

आगे चलकर स्वामी जी इस विज्ञान भेद के उदाहरण देते हैं—

संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादित्यर्थः। यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखाभेदेऽपि पुरुषप्रयत्नस्तादृश एव चोद्यते—जुहुयादिति। एवम् 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' (बृ० ६-१-१, छा० ५-१-१) इति वाजसनेयिनां छन्दोगानां च तादृश्येव चोदना। प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्ट एव—ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति'। (बृ० ६-१-१) इति

अर्थ है—संयोग रूप चोदना और समाख्या का विशेषता से अर्थ नहीं। जैसे एक शाखा में अग्नि होत्र में भेद होने पर भी पुरुष प्रयत्न एक प्रकार कहा है। जैसे 'जुहुयात्।' ऐसे ही 'यो ह वै...।' (बृ० ६-१ १, छा० ५-१-१) 'वाजसनेयिनां' और छान्दोगों की समान प्रेरणा है और प्रयोजन का संयोग भी 'ज्येष्ठश्च-श्रेष्ठश्च' समान है (बृ० ६-१-१)।

दो उदाहरण दिये है (बृ० ६-१-१ और छा० ५-१-१)। और कहा है कि इनमें भाव भिन्न-भिन्न होते हुए भी पुरुष प्रयत्न में समानता है। यह सब ठीक है, परन्तु हमारे मत से यहाँ भाव का भी भेद नहीं है। दोनों उद्धरणों को देखें तो पता चल जायेगा।

वृहदारण्यक उपनिषद् ६-१-१ इस प्रकार है—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति। प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च। ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद।

इसका अर्थ है—जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है, वह अपनों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण (जीवन शक्ति) ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है और जो अपनों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है ऐसा विभूषित (विख्यात्) होता है जो ऐसा जानता है।

अब छान्दोग्य का उद्धरण देखें। यह इस प्रकार है—

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति
प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च॥　　　　　　　　(छा० ५-१-१)

अर्थ है— निश्चय से जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानता है, वह निश्चय से ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जाता है। निश्चय से प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है।

यहाँ दो उपनिषदों में एक ही बात लिखी है। कुछ भी भेद नहीं। न भाव का, न उद्देश्य का। अतः सूत्रकार जब कहता है कि प्रत्यक्ष में भेद वास्तव में भेद नहीं तो उसका अभिप्राय इस प्रकार के वाक्यों से नहीं है। न ही इस प्रकार के सादृश अथवा भेद से है। इन दोनों पूर्वोक्त वाक्यों में सादृश तो है, परन्तु भेद नहीं।

श्री उदयवीर शास्त्री भी उपनिषद् वाक्यों में भाव भेद दिखाने का यत्न करते है। उपनिषद् वाक्यों में अनेक स्थलों पर भाव भेद तो है, परन्तु न तो

शंकराचार्य कहीं भाव भेदवाला उदाहरण दे सके हैं और न ही उदयवीर शास्त्री।

शास्त्री जी लिखते हैं—क्योंकि विभिन्न उपनिषदों में उपासनाओं का भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। छा० ५-१०-१७ में वैश्वानर विद्या का वर्णन है, जो उसी (छा० ८-१-१) में वर्णित दहर विद्या के साथ मेल नहीं खाता।

शास्त्री जी वैश्वानर और दहर को समझे नहीं। वैश्वानर अग्नि तो शक्ति है जिससे पूर्ण जगत् कार्य करता है और दहर एक स्थान है। उस स्थान में कुछ वस्तु है जिससे प्राणी के शरीर की क्रियायें चलती हैं। एक शक्ति है, दूसरा स्थान है। दोनों में भेद होगा ही। दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ हैं। दहर में उपस्थित के विषय में लिखा है, अर्थात् शक्तिमान् के विषय में लिखा है। उस दहर में उपस्थित पुरुष का अन्वेषण करना चाहिये।

मन्त्र है—

हरिः ओं अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्त-राकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति। (छा० ८-१-१)

अर्थात्—अब इस ब्रह्मपुर के भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है, उसके भीतर जो वस्तु है, उसका अन्वेषण करना चाहिए। उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये।

दहर में जिस वस्तु का अन्वेषण करने की बात कही है वह इसी उप-निषद् के इस अध्याय और खण्ड के अगले मन्त्रों के पढ़ने से पता चलता है कि वह जीवात्मा है अथवा परमात्मा है।

अतः वैश्वानर ईश्वरीय शक्ति है। दहर स्थान में उपस्थित जीवात्मा अथवा परमात्मा है। दोनों के भाव में अन्तर है। उनमें अन्तर होना ही चाहिए। दोनों स्थलों पर वर्णित विषय भिन्न-भिन्न हैं।

अतः हमारा मत है कि सूत्र का अभिप्राय इस प्रकार के कथनों से भी नहीं। उपनिषदों में परस्पर विरोधी भाववाले वाक्य आते हैं। जैसे माण्डूक्य उपनिषद् में लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्व-मोंकार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥ (माण्डू० १)

और फिर श्वेताश्वतरोपनिषद् में यह लिखा है—

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः, पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।

स एव जातः स जनिष्यमाणः, प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ २-१६

इन मन्त्रों से यह प्रकट होता है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं।

प्रथम मन्त्र का अर्थ है—यह जो कुछ है, अक्षर (अविनाशी) ओं है। उसका ही सब व्याख्यान है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब ओंकार ही है और जो कुछ तीनों कालों से ऊपर है, वह भी ओंकार ही है।

दूसरे मन्त्र का अर्थ यह है :—

वह देव (परमात्मा) ही सब दिशा-अनुदिशा में है। सर्व प्रथम वह ही (हिरण्यगर्भ रूप में) उत्पन्न हुआ था। वह ही गर्भ (हिरण्यगर्भ) के अन्तर्गत है। वह ही उत्पन्न हुआ है, वह ही उत्पन्न होनेवाला है। प्रत्यक्ष (समस्त) जनों में प्रतिष्ठित है और सब ओर मुखवाला है; अर्थात् देखता है।

परन्तु अन्य स्थानों पर लिखा है :—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशाति ॥

(श्वेता० ४-६)

एक मन्त्र और है :—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यन्त्यन्यमीशस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

(श्वेता० ४-७)

इन दोनों मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है :—

दो सुन्दर स्वरूप वाले, साथ-साथ रहने वाले मित्र एक ही वृक्ष पर आश्रित हैं। उनमें से एक वृक्ष के स्वादिष्ट फल को खाता है और दूसरा न खाता हुआ साक्षी रूप में रहता है।

एक ही वृक्ष पर जीव असमर्थ (संसार में) फंसा हुआ मोह में ग्रस्त दीन भाव से शोच करता है और जब अपने समीप दूसरे ईश्वर को देखता और उसकी महिमा को जानता है तो वह शोकरहित (आनन्दित) हो जाता है।

इन मन्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि जीवात्मा और परमात्मा पृथक्-पृथक् हैं।

इस प्रकार की परस्पर विरोधी बातों में सूत्रकार का प्रयोजन इस प्रकार है—सूत्रकार (३-३-२ मे) कहता है कि यदि कहो कि (वेदान्तों में) भेद है तो यह ठीक नहीं। एक बात में भी (भेद नहीं)।

सूत्रकार उक्त उदाहरणों में अनवकाश देखता है, भेद नही। दोनों में अन्तर हम सूत्र २-१-१ के भाष्य में स्पष्ट कर चुके हैं।

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३॥

स्वाध्यायस्य+तथात्वेन+हि+समाचारे+अधिकारात्+च+सववत् च+तत्+नियमः।

स्वाध्यायस्य –स्वाध्याय के। तथात्वेन=इस प्रकार से। हि—क्योंकि। समाचारे –उचित आचरण से। अधिकारात्=अधिकार से और सववत्= 'सव' यज्ञ के प्रारम्भिक कार्य की भांति यह नियम है।

इसका अभिप्राय यह है कि स्वाध्याय के इस प्रकार उचित आचरण से; क्योंकि यह नियम है, प्रारम्भिक कार्य कर लेनेवालों के अधिकार से ही (ठीक ज्ञान हो सकता है)।

पूर्वोक्त दोनों सूत्रों में वेदान्त ग्रन्थों में अर्थ भेद के विषय में लिखा है। सूत्रकार का कहना है कि वास्तविक अर्थ भेद नहीं। यथार्थ अर्थ तो तब पता चलेंगे जब स्वाध्याय करते समय (समाचार) उचित व्यवहार रखा जाये। प्रारम्भिक योग्यता प्राप्त करने पर ही अधिकार का नियम है।

यह एक सामान्य बात है कि जिस विषय पर कार्य किया जाये, उस विषय का प्रारम्भिक ज्ञान होना चाहिए। यही यहां लिखा है कि वेदान्तों के अध्ययन के लिये 'समाचार' होना चाहिए। क्योंकि यह नियम है कि विषय में प्रवेश के लिए प्रारम्भिक स्वाध्याय हो।

सूत्रकार का आशय यह है कि वेदान्त अध्यात्म ज्ञान के लिये हैं। इन वेदान्तों को समाचार (उचित आचरण) से तथा 'सववत्' यज्ञ के प्रारम्भिक कार्य की भाँति अध्ययन से विषय पर अधिकार प्राप्त कर अर्थ किये जा सकते हैं।

यहाँ शंकराचार्य की नकल करते हुए कई भाष्यकारों ने मुण्डक उपनिषद् में शिरोव्रत वाले नियम का उदाहरण दिया है। सूत्रकार ने तो एक सिद्धान्तात्मक बात कही है। इसी कारण कह दिया है—सववत् च तत्नियमः। प्रत्येक कार्य में प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने का नियम है।

इन भाष्यकारों ने मुण्डकोपनिषद् (३-२-१०) का उल्लेख किया है। वहाँ पर यह कहा है कि ब्रह्म विद्या का उपदेश उनको किया जाये जो अन्य कई बातों के साथ शिरोव्रत को विधिपूर्वक धारण करनेवाला हो।

परन्तु यहाँ उपदेश की बात नहीं। यहाँ तो वेदान्त पढ़नेवालों के समझने की बात है। वेदान्त वाक्यों के प्रत्यय (ज्ञान) की बात है और सब वेदान्त वाक्यों के प्रत्यय अर्थात् उसमें वर्णित ज्ञान में भेद नहीं कहा है। इस भेद होने को वह नहीं समझता जो वेदान्त वाक्यों के स्वाध्याय के सम्यक् आचार

में प्रवेश नहीं रखता। क्योंकि 'सायवत्', किसी विषय में प्रारम्भिक ज्ञान का नियम है।

दर्शयति च ॥४॥

और (शास्त्र में) दिखाया है।

शास्त्र में भी स्वाध्याय से ज्ञान का वर्णन है। क्या वर्णन है? यही कि किसी भी बात के तत्त्व को जानने के लिए उस कार्य प्रवेश ज्ञान आवश्यक है।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥

(यो० द० २-१)

अर्थात—योग क्रिया में तप, स्वाध्याय और ईश्वर का आश्रय प्रथम चरण है।

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥५॥

उपसंहारः+अर्थाभेदात्+विधिशेषवत्+समाने+च।

उपसंहार का अर्थ अर्थात् प्रयोजन में अभेद होने से है और जैसे विधि-शेष समान में होता है।

किसी यज्ञ अथवा अनुष्ठान में पूर्ण कार्य के उपरान्त अन्त में जो विधि-विधान करना हो, वह विधिशेष कहलाता है। वही उसके सब अंग-उपांगों का उपसंहार होता है।

ग्रन्थों में लेखक उपसंहार लिखता है। उसमें पुस्तक के सब खण्डों एवं अध्यायों का सार रूप वर्णन किया जाता है। यही बात यहां कही है। वेदान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार की बातें लिखने पर भी सार की बात एक ही है और वह उपसंहार में अर्थ अभेद की भाँति लिखा रहता है।

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥६॥

अन्यथात्वम्+शब्दादिति+इति+चेत्+न+अविशेषात।

अन्यथात्वम्— अन्यथा होना अर्थात भेद होना। शब्दात्= शब्द से।

इति चेत्=यदि ऐसा कहो तो। **न**=ठीक नहीं। **अविशेषात्**=भेद न होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि शब्दों में भेद होने से अर्थों अथवा प्रयोजन में भेद मानना ठीक नहीं। कारण यह कि किसी प्रकार की विशेषता न होने से परमात्मा को इन्द्र, वरुण इत्यादि भिन्न-भिन्न शब्दों से स्मरण किया है। इस प्रकार स्मृतियों में ज्योतिस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, पूर्ण जगत् की आत्मा इत्यादि सम्बोधनों से वर्णन किया गया है। इस और इसी प्रकार की भिन्नता से यह नहीं समझना चाहिये कि वक्तव्यों के प्रयोजन में भेद है।

हमने ब्र० सू० ३-३-२ के भाष्य में कुछ उदाहरण दिये हैं। उनमें से एक माण्डूक्य उपनिषद् का है।

शब्दों से यह प्रकट होता है कि सब कुछ जो दृश्यमान है, वह ओं ही है, परन्तु तनिक गम्भीरता पूर्वक देखा जाये तो अर्थ दूसरे निकलते हैं।

इसी मन्त्र में लिखा है—

'सर्वं तस्योपव्याख्यानं।'

अर्थात्—सब उस ओं का उप व्याख्यान है। यह इस प्रकार है जैसे कि किसी स्वामी के काम की व्याख्या की जाये तो कहा जायेगा कि सेवक का नाम स्वामी का ही उप-व्याख्यान माना जाता है।

इसके अगले मन्त्र में बात कुछ अधिक स्पष्ट कर दी गयी है। वहाँ लिखा है:—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म, सोऽयमात्मा चतुष्पात्।

यह सब ब्रह्म है। यह आत्मा ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार पाद वाला है।

पहले ब्रह्म का अभिप्राय ब्रह्माण्ड है। इसमें आत्मा (सार) ब्रह्म (तीन अनादि पदार्थ) हैं। यह सार अर्थात् तीन अनादि पदार्थ के तीन पद (phases) हैं। एक जाग्रत अवस्था है। यह ब्रह्म दिन की अवस्था है। उस समय "वहि: प्रज्ञ:" प्रकट रूप में चेतनता देखी जाती है।

इस (दूसरे) मन्त्र को पढ़ने पर प्रथम मन्त्र का अर्थ प्रत्यक्ष से भिन्न हो जाता है। वहाँ कहा है—

ओं इति एतत् अक्षरम् इदं'।

यह जो अक्षर ओं है, उसका ही सब (ब्रह्माण्ड) उप व्याख्यान है।

आगे जो चार पाद वर्णन किये हैं, वह ब्रह्माण्ड की चार अवस्थाओं का ही वर्णन है।

यही अभिप्राय है इसका। अन्तिम मन्त्र में उस अवस्था का वर्णन है जिसमें अद्वैत अर्थात् तीनों ब्रह्मों में भेद दिखायी नहीं देता। वह अवर्णनीय

अवस्था है और अन्तिम पंक्ति में लिखा है—'एवम् ओंकार आत्मैव'।

इस प्रकार आत्मा (सार) ही ओंकार (परमात्मा) है अर्थात् ब्रह्माण्ड का चेतन तत्त्व परमात्मा है। 'य एवं वेद' ऐसा जान जाता है, 'संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं' वह जीवात्मा में प्रवेश कर जाता है। अर्थात् दोनों जुष्ट हो जाते हैं।

यद्यपि स्पष्ट रूप में नही, परन्तु भावार्थ में जाने पर यही समझ में आता है कि परमात्मा और जीवात्मा पृथक्-पृथक् हैं। ऐसा जानकर जीवात्मा परमात्मा से जुष्ट हो जाता है।

यही बात श्वेताश्वतर (४-७) में लिखी है।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

अतः सूत्रकार का यह कहना है कि शब्दों में भेद दिखायी देना भेद नहीं। कोई विशेष बात न होने से।

विशेष बात का अभिप्राय है कि विशेष रूप मे भेद न बताने से। अर्थात् यह नहीं लिखा कि जीवात्मा नही है। यह भ्रम है। अथवा यह नहीं बताया कि परमात्मा जीवात्मा की भाँति अज्ञ किस कारण बन गया? ऐसी बात के न होने से कोई विशेष बात नहीं मानी जा सकती।

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥७॥

न+वा+प्रकरणभेदात्+परोवरीयस्त्वादिवत्।

अथवा नहीं प्रकरण के भेद से (और) परोवरीयस्त्व आदि के समान।

इस सूत्र में भी अन्यथात्व का समावेश है। अभिप्राय यह कि भेद नहीं है। प्रकरण भेद के कारण और परोवरीयस्त्व आदि के कारण। परोवरीयस्त्व का अभिप्राय है अत्यन्त विशिष्ट विषय के निरूपण करने के समान।

अथवा प्रकरण भेद से अथवा किसी विशिष्ट विषय का विवेचन करने में अन्यथात्व (भेद की स्थिति) दिखायी दे सकता है। वस्तुतः भेद नहीं है। सब वेदान्तों का प्रयोजन एक ही है।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥८॥

संज्ञातः+चेत्+तत्+उक्तं+अस्ति+तु+तत्+अपि।

नाम से (भेद है) यदि कहा। तो वह पहले कह चुके हैं। वह भी (देखने में) है (वास्तव में नहीं)।

एक पदार्थ के कई नाम होने से अथवा कई पदार्थों का एक नाम होने से भेद दिखायी देता है। हम कह चुके हैं कि अन्यथा (भेद) नहीं है। सब वेदान्तों का एक ही अभिप्राय है।

उदाहरण के रूप में आत्मा शब्द परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिये वेदान्तों में लिखा मिलता है। इससे दोनों को एक समझने में भूल हो सकती है अथवा आत्मा जहाँ जीवात्मा के लिये आया है, उसके गुण पृथक् वर्णन किये हैं और आत्मा जहाँ परमात्मा के लिये आया है, वहाँ उसके पृथक् गुण लिखे हैं। इससे आत्मा के दो स्थानों पर प्रयोग से पृथकत्व दिखायी देता है। यह भी हो सकता है कि दोनों आत्माओं में भेद दिखायी दे। यही बात ब्रह्म शब्द की है। यही सत् शब्द के विषय में कहा जा सकता है।

इसी प्रकार दहर, वैश्वानर, आकाश, प्राण इत्यादि परमात्मा के लिये कई नाम आने से अन्यथात्व प्रकट होना है। सूत्रकार का कहना है कि ऐसा नहीं। यह ऊपर बता चुके हैं कि प्रकरण, प्रसंग अथवा विशिष्ट विषय की विवेचना में ये शब्द प्रयोग हुए हैं। वास्तव में सब वेदान्त ग्रन्थ ब्रह्म का ही निरूपण करने के लिये लिखे गये है। ब्रह्म के अर्थ हम कई बार बता चुके हैं। परमात्मा, जीवात्मा तथा प्रकृति, किसी एक के लिये भी यह शब्द प्रयोग हो सकता है अथवा तीनों के लिये भी प्रयोग हो सकता है।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥९॥

व्याप्तेः + च + समञ्जसम्।

और व्यापक होने के कारण युक्ति है।

अभिप्राय यह कि वेदादि शास्त्रों में जो व्यापक अर्थवाचक शब्द आये हैं, वह परमात्मा के लिये ही हैं। कारण यह है कि परमात्मा ही सर्वव्यापक है।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥१०॥

सर्व + अभेदात् + अन्यत्र + इमे।

सब (वेदान्त ग्रन्थों) में भेद न होने से— दूसरे स्थानों में यह (अभेद) है।

परमात्मा के विषय में किसी भी वैदिक ज्ञानयुक्त शास्त्रों में भेद नहीं।

इस कारण जहाँ-जहाँ भी परमात्मा का वर्णन है, उसके गुणों इत्यादि में भी एकरूपता है।

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥११॥

आनन्दादयः + प्रधानस्य ।

प्रधान (परमात्मा) के आनन्दादि गुण हैं ।

यहाँ प्रधान परमात्मा का ही बोध कराता है। परमात्मा को प्रधान इस कारण लिखा है, क्योंकि तीनों मूल पदार्थों में यह प्रधान अर्थात् मुख्य है। आनन्दादि से परमात्मा के वे सब गुण ले लेने चाहियें जिनका इस ग्रन्थ में वर्णन आ चुका है। यथा—यह आनन्दमय, प्रकाशस्वरूप है। उसके ज्ञानस्वरूप विभु इत्यादि अनेक गुण हैं।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥१२॥

प्रियशिरस्त्व + आदि + अप्राप्तिः + उपचय + अपचयौ + हि + भेदे ।

प्रियशिरस्त्वादि = प्रिय शिर, आदि (गुणों) की अप्राप्ति (होती है) उपचय = वृद्धि । अपचय = ह्रास इत्यादि के भेद से ।

कई स्थानों पर परमात्मा को प्रिय अथवा शिरादि लिखा है। ऐसा लिखा होने से यह नहीं मानना कि जहाँ भी ये शब्द आयेंगे, परमात्मा के लिये ही लिखे हैं। जैसे आनन्दमय लिखने से सदैव परमात्मा का ही बोध होता है। इस प्रकार प्रकाशमय, ज्ञानस्वरूप जहाँ भी हो, वह परमात्मा का सूचक ही होगा। इन गुणों में वेदान्तों में अभेद है, परन्तु वह प्रिय है, वह शिर है इत्यादि शब्दों से सदैव और सर्वत्र परमात्मा का बोध नहीं माना जा सकता।

इसमें कारण भी बताया है कि इन गुणों में उपचय अथवा अपचय होने से, अर्थात् प्रिय, प्रियतम, प्रियतर इत्यादि न्यूनता अथवा वृद्धिवाचक स्थिति होने से।

यहाँ एक बात हम लिख देना चाहते हैं। प्रायः भाष्यकारों ने परमात्मा की उपासना में भेद नहीं, यह वाक्य बार-बार लिखा है, अर्थात् उनकी दृष्टि में परमात्मा की उपासना में भिन्न-भिन्न शब्द, वाक्य अथवा गुण कहे जाने से वेदान्त ग्रन्थों में भेद नहीं मानना चाहिये। समझने की बात यह है कि सूत्रों में

उपासना का शब्द एक बार भी नहीं आया।

उपासना को ज्ञान प्राप्ति के अर्थों में ही लेना चाहिये। वेदान्त ग्रन्थों में भी जहाँ-जहाँ परमात्मा की स्तुति का पद आया है, वहाँ भी शब्द विज्ञान-परक ही लेने चाहियें। ऐसा शौनक ऋषि का मत बृहद् देवता ग्रन्थ में वर्णन किया है। वहाँ लिखा है :—

स्तुवद्भिर्वा ब्रुवद्भिर्वा ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
भवत्युभयमेवोक्तम् उभयं ह्यर्थतः समम्॥
(बृहद देवता—१-१०)

स्तुति करनेवाले अथवा वर्णन करनेवाले कथनों को तत्त्वदर्शी और ऋषि समान अर्थ वाला कहते हैं।

अतः सूत्रों के भाष्यकारों को उपासना का अर्थ वर्णन ही लेना चाहिये।

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥१३॥

इतरे+तु+अर्थसामान्यात्।

दूसरों में तो अर्थ की समानता से।

सूत्र में कथित 'दूसरे से' शब्द का अभिप्राय है, प्रिय, शिर इत्यादि के अतिरिक्त जो गुण आनन्द, ज्ञान, ज्योति इत्यादि का प्रयोग किया गया है। उन गुणों के वर्णन में सब ग्रन्थों में अर्थ की समानता है।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥१४॥

आध्यानाय+प्रयोजन+अभावात्।

गहन चिन्तन के लिये प्रयोजन के अभाव से।

पूर्व के सूत्रों में वेदान्त शास्त्रों में एक स्वर से कुछ सिद्धान्तों का घोष करने की बात कही गयी है। वे घोष क्या हैं? जो सिद्धान्त इन ब्रह्म सूत्रों के इन अध्यायों में वर्णन किये गये हैं।

यहाँ इस सूत्र में सूत्रकार ने कहा है कि उन सिद्धान्तों का कुछ प्रयोजन न भी दिखायी दे तो भी ये गहन चिन्तन के लिये उपस्थित किये गये हैं।

उदाहरण के लिये ब्रह्मसूत्र (१-१-२) में ही कहा गया है कि जिससे

इस जगत् की रचना, पालन और प्रलय होता है; वह ब्रह्म है। एक सामान्य व्यक्ति कह सकता है कि इस जगत् की रचना ब्रह्म से हुई है अथवा किसी अन्य से, इसमे क्या अन्तर पड़ता है। संसार में जीवन-यापन के लिए इसके घोष का कुछ भी प्रयोजन नहीं। सूत्रकार कहता है कि प्रयोजन न भी हो तो भी यह विषय गम्भीर चिन्तन का तो है ही।

यह सब कुछ जो कार्य-जगत् में दिखायी देता है, कहाँ से आ गया और इसका कोई अन्त तथा इसमें कोई हेतु है अथवा नही? यह विचार का विषय है।

इस सूत्र में सब सूत्रों और वास्तव में सब वेदान्त ग्रन्थों का अभिप्राय प्रकट किया गया है।

इसी प्रकार (सूत्र १-२-१ में) कहा है कि जो सर्वत्र प्रसिद्ध है उसके कथन से। पहले यह बताया कि इसकी रचना, पालन और प्रलय ब्रह्म से है। दूसरे पाद के आरम्भ में कह दिया कि सर्वत्र प्रसिद्ध के कथन से। सर्वत्र प्रसिद्ध तो यह जगत् ही है। अतएव जिस जगत् की रचना इत्यादि के विषय मे चिन्तन किया गया, अब उसके अपने अस्तित्व के विषय में चिन्तन किया गया है।

इस प्रकार प्रयोजन के अभाव में भी चिन्तन की आवश्यकता और लाभ की बात बतायी गयी है।

इस पाद के पूर्व सूत्रों में वेदान्त दर्शनों में एक ही बात कहे जाने का उल्लेख किया है। उनमें शब्द भेद होने पर भी उनके एक ही अर्थ की बात कही है। ये सब बातें गम्भीर चिन्तन का विषय हैं। अध्ययन से अभिप्राय चिन्तन ही है।

आतम शब्दाच्च ॥१५॥

आत्मशब्दात्+च।

और आत्म शब्द से।

और आत्म शब्द के प्रयोग से भी यही बात प्रकट की जा रही है कि ये सब विषय चिन्तन के साथ सम्बन्ध रखते हैं।

सब प्राणियों में आत्म तत्त्व विद्यमान है। शास्त्र में भी ऐसा कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ (कठो० १-३-१२)

अर्थात्—सब प्राणियों के भीतर छुपा हुआ आत्मा दिखायी नहीं देता। यह देखा जाता है सूक्ष्म विचार करनेवालों को उनकी तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि द्वारा।

पूर्व सूत्र में ग्राध्यानाय से यही ग्रभिप्राय है जो इस कठो० १-३-१२ में 'त्वग्रयया बुद्धया सूक्ष्मया' से कहा गया है।

इस सूत्र का भावार्थ यह है कि जैसे अन्य वेदान्तों के विषय ग्रौर वाक्य चिन्तन (ग्रध्ययन) का विषय हैं, वैसे ही ग्रात्म शब्द से भी यही पता चलता है कि यह भी चिन्तन का विषय है। इसका क्या ग्रर्थ है? यह किस-किस विषय ग्रथवा पदार्थ को दिखाता है?

ग्रात्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥१६॥

ग्रात्मगृहीतिः + इतरवत् + उत्तरात्।

ग्रात्मा का ग्रहण। इतर (ग्रन्य) की भाँति। उत्तर (ग्रागे) ग्राने वाले प्रकरण से (होना चाहिये)।

इससे पूर्व के सूत्र में यह लिखा है कि ग्रात्मा शब्द भी चिन्तन का विषय है। ग्रर्थात् इसका प्रयोग परमात्मा के लिये है ग्रथवा किसी ग्रन्य के लिये है, समझना चाहिये।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूत्र से भ्रम का निवारण कर दिया है। ग्रात्मा का ग्रर्थ जीवात्मा भी लिया जाता है। कई स्थानों पर ग्रात्मा का ग्रर्थ सार रूप भी ग्राया है। इस कारण सूत्रकार ने यह स्पष्टीकरण किया है कि—

ग्रात्मा से परमात्मा का ग्रहण करना चाहिये।

परन्तु उत्तरात् ग्रर्थात् ग्रागे आये प्रकरण से। प्रकरण से ग्रात्मा का ग्रर्थ जीवात्मा ग्रथवा 'सार' ग्रथवा परमात्मा समझा जा सकता है।

यहाँ उदाहरण दें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। कठोपनिषद् में यह मन्त्र है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

(कठो० १-३-१२)

ग्रर्थात्—यह ग्रात्मा सब भूतों (प्राणियों) में छुपा हुग्रा है। दिखायी नहीं देता। यह देखा जाता है तीव्र ग्रौर सूक्ष्म बुद्धि वालों से।

यहाँ ग्रात्मा का ग्रर्थ परमात्मा से है। यह इसलिये कि सबमें छिपा हुग्रा (एक) तो परमात्मा ही है।

इससे पूर्व एक मन्त्र में ग्रात्मा शब्द भी देखिये—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

(कठो० १-३-३)

यहाँ आत्मा और शरीर का सम्बन्ध बताया है। इससे आत्मा से जीवात्मा का अभिप्राय है। यहाँ परमात्मा से अभिप्राय नहीं है। इसी प्रकार कठोपनिषद् के (१-३-५, ६, ७, ८, ९ और १०) मन्त्र भी जीवात्मा के विषय में ही हैं। अब एक अन्य मन्त्र (कठो० १-३-११) देखें। यह इस प्रकार है :

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

(कठो० १-३-११)

अर्थात्—महत्तत्त्व से अव्यक्त पर (सूक्ष्म) है और अव्यक्त से भी पुरुष पर है। पुरुष से पर और कुछ नहीं। वही (सूक्ष्मता की) पराकाष्ठा है। वही परा (उत्कृष्ट) गति है।

यहाँ आत्मा (जीवात्मा) का उल्लेख नहीं। इसी कारण यहाँ सूक्ष्मतम तत्त्व का वर्णन करने के लिये पुरुष शब्द का प्रयोग किया है। पुरुष से अभिप्राय परमात्मा का ही है।

हमारे कहने का अभिप्राय यह है कि पुनः कठो० १-३-१२ में आत्मा शब्द का प्रयोग किया है। य'हाँ गूढात्मा' शब्द है और आत्मा शब्द परमात्मा के लिये प्रयोग किया गया है। आत्मा के कार्य को देखकर यही परिणाम निकलता है। यह आत्मा सर्वभूतेषू (सब प्राणियों में) लिखे होने से परमात्मा का ही सूचक है।

परन्तु अगले ही मन्त्र (कठो० १-३-१३) में यह लिखा है :—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥

(कठो० १-३-१३)

अर्थ है :—विद्वान मनुष्य वाणी (इन्द्रियों) को मन में रोके। मन को बुद्धि में रोकें और अपनी बुद्धि को (महति) महान् आत्मा में। इस महान् आत्मा को (आत्मनि) परमात्मा में लीन करे।

इस मन्त्र मे अन्तिम 'आत्मा' (आत्मनि) का अर्थ परमात्मा है।

इस प्रकार सूत्रकार ने अपने सूत्र ३-३-१५ के कथन में सूत्र ३-३-१६ से अपने भाव का स्पष्टीकरण कर दिया है।

आत्मा का अर्थ प्रकरण के अनुसार लेना चाहिये।

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥१७॥

अन्वयात्+इति+चेत्+स्यात्+अवधारणात् ।

अन्वय से अर्थात् पद सम्बन्ध से यदि यह कहो तो ऐसा है अवधारणा से ।

आत्मा शब्द का पदार्थ करने में इसका निर्वचन अत् धातु से है । इसका अर्थ है (सातत्यगमन) सर्वत्र व्याप्त होना । सबका आदान अर्थात् नियन्त्रण करनेवाला तथा प्रलय के समय सबका लय करनेवाला । इससे आत्मा का अर्थ परमात्मा बनते हैं, परन्तु सातत्यगमन के अर्थ व्याख्याकारों ने इस प्रकार भी लिखे हैं :—

अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति व्याप्नोति वा योन्यन्तराणि स आत्मा ।

जो कर्म फलों को प्राप्त करता है तथा एक देह से देहान्तर को प्राप्त होता रहता है, वह आत्मा है । अतः इसका प्रयोग जब शरीर के साथ किया जाता है, तो जीवात्मा के लिये समझना चाहिये ।

अतः कहाँ जीवात्मा के लिये और कहाँ परमात्मा के लिये प्रयोग किया गया, यह 'उत्तरात्' तथा 'अवधारणात्' के अनुसार करना चाहिये । अवधारणात् से अभिप्राय है पूर्वापर के विषय के साथ मिलाकर निश्चय करना ।

मन्त्र में आगे क्या लिखा है और इस शब्द के प्रयोग में प्रसंग क्या है, इसके विचार से ही इस शब्द के अर्थ किये जा सकते हैं । पूर्वापर का वर्णन ही इसका निश्चय करता है कि आत्मा से परमात्मा का अभिप्राय है अथवा जीवात्मा का ।

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥१८॥

कार्याख्यानात्+अपूर्वम् ।

कार्याख्यानात् = काम के कथन से । अपूर्वम् = अपूर्व है ।

अपूर्व का अर्थ अद्वितीय है अपने कार्य के वर्णन से । इसके बराबर कोई नहीं । इससे पहले कोई नहीं हो चुका जो ऐसा हो ।

परन्तु स्वामी शंकराचार्य ने यहाँ भी अपने उसी अयुक्तिसंगत कथन से सूत्रार्थों को विकृत कर दिया है ।

आप इस सूत्र का अर्थ सर्वथा असंगत करते हैं । आप लिखते हैं —

नाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते, कार्याख्यानात् । प्राप्तमेव हीदं कार्यत्वेनाचमनं प्रायत्यार्थं स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायते । नन्वियं श्रुतिस्तस्याः स्मृतेर्मूलं स्यात्,

नेत्युच्यते, विषयनानात्वात् । सामान्यविषया हि स्मृतिः पुरुषमात्रसंबद्धं प्रायत्यार्थ-माचमनं प्रापयति । श्रुतिस्तु प्राणविद्याप्रकरणपठिता तद्विषयमेवाचमनं विदधती विदध्यात् । न च भिन्नविषययोः श्रुतिस्मृत्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्पते । न चेयं श्रुतिः प्राणविद्यासंयोग्यपूर्वमाचमनं विधास्यतीति शक्यमाश्रयितुम्, पूर्वस्यैव पुरुषमात्र-संयोगिन आचमनस्येह प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । अत एव च नोभयविधानम् ।

अर्थात्—आचमन विषय नहीं हो सकता; क्योंकि कार्य रूप से आख्यान होने से । कार्य रूप से स्मृति में प्रसिद्ध हो, यह आचमन शुद्धि के लिये प्राप्त (कहा) है । उसका अन्वाख्यान अनुवाद करता है, परन्तु यह श्रुति उस स्मृति का मूल होगी ? ऐसा नही । यह नहीं कहते, क्योंकि विषय भिन्न है । सामान्य विष-यक स्मृति शुद्धि आचमन से सब पुरुषों के लिये है । श्रुति तो प्राण विद्या के प्रकरण में पठित है । इस कारण तद्विषयक आचमन का ही विधान करती है । भिन्न विषयक श्रुति और स्मृति में मूल मूलि भाव नहीं हो सकता । यह श्रुति प्राण विद्या संयोगी अपूर्व आचमन का विधान करेगी । ऐसे आश्रय नहीं किया जा सकता । कारण पुरुष मात्र संयोगी पूर्व आचमन का ही यहाँ प्रत्यभिज्ञान होता है । इससे दोनों का विधान नहीं है ।

शंकर के उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि 'अपूर्वम्' किसी क्रिया के पूर्व आचमन का विधान बताता है ।

हमारा यह कहना है कि यह पूर्ण वक्तव्य सूत्र से असम्बद्ध है ।

सूत्र अति सरल है और उसको किसी उपनिषद् वाक्य से स्पष्टता से न जोड़ सकने के कारण असम्बद्ध प्रमाण और वक्तव्य दिया जा रहा है ।

सूत्र का अर्थ है—कार्य के कथन से अपूर्व । कौन ? निस्सन्देह परमात्मा ।

समान एवं चाभेदात् ॥१९॥

समानः+एवं+च+अभेदात् ।

ऐसे ही अभेद होने से, समान है । अपूर्वता में समान है ।

अपूर्व तो प्रकृति और जीवात्मा भी समान रूप में है, परन्तु परमात्मा अपूर्ववत् अभेद रूप से है, अर्थात् यह ऐसा है जैसाकि किसी दूसरी वस्तु एवं पदार्थ में नहीं है ।

परमात्मा की अपूर्वता उसके अभेद में है; अर्थात् वह किसी दूसरे के समान नहीं है । यह अद्वितीय है । यह न्यूनाधिक नहीं हो सकता । उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते ।

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥२०॥

सम्बन्धात्+एवम्+अन्यत्र+अपि ।

सम्बन्ध से; इस प्रकार; दूसरों में; भी।

दूसरे स्थानों पर (प्रकृति जीवात्मा में) भी अपूर्वता सम्बन्ध से ही है। अभिप्राय यह है कि जीवात्मा और प्रकृति भी अपूर्व इस कारण है कि वे भी अव्यक्त अनादि, अक्षर हैं। यह इनका सम्बन्ध परमात्मा से है।

पीछे सूत्र (३-२-३२) में कहा है कि कुछ गुणों में यह जीवात्मा प्रकृति के समान है, परन्तु कई गुणों में यह विशेष है। वह विशेष गुणों से 'आनन्दमय' है। इसमें यह दूसरों के समान नहीं।

अतः दूसरों मे भी अपूर्वता तो है, परन्तु अभेद होना इसकी विशेषता है। यह एक रस है।

न वा विशेषात् ॥२१॥

न+वा+विशेषात् ।

'वा' के अर्थ 'च' हैं। कई भाष्यकार इसका अर्थ 'निश्चय से' भी करते हैं। स्वामी शंकराचार्य 'दोनों' ऐसा अर्थ करते है।

हमारे विचार में 'वा' 'और' के अर्थ में आया है।

ऊपर के सूत्र में कहा है कि अपूर्वता तो अन्यत्र भी है और वह परमात्मा से सम्बन्धित गुणों के कारण है। और इस सूत्र में कहा है—और वह अपूर्वता (जीवात्मा एवं प्रकृति की) विशेषता के कारण नहीं है।

अर्थात् उनकी (जीवात्मा तथा प्रकृति की) अपूर्वता उन गुणों के कारण ही है जिनका सम्बन्ध परमात्मा से है। उनकी अपनी किसी विशेषता के कारण नहीं।

अभिप्राय यह है कि इन दोनों अक्षरों में विशेषता यह है कि एक अल्पज्ञ है और दूसरा जड़ है। वे अपूर्व इन गुणों के कारण नहीं, वरन् अक्षर, अनादि और अव्यक्त होने के कारण हैं जो गुण परमात्मा के गुणों से सम्बन्धित हैं।

दर्शयति च ॥२२॥

और युक्ति से दिखाया (स्पष्ट किया) जाता है।

यह यह कि जीवात्मा और प्रकृति अपूर्व होने पर भी परमात्मा के समान नहीं हैं।

कुछ भाष्यकार दर्शयति का अर्थ करते हैं वेद शास्त्रों में भी देखने में ऐसा ही आता है। यह अर्थ भी ठीक है।

स्वामी शंकराचार्य जी इस पाद के सब सूत्रों को परमात्मा की उपासना में लगाते हैं। हम ऊपर लिख चुके हैं कि न तो उपासना शब्द इन सूत्रों में कहीं आया है और न ही उपासना की ओर कहीं संकेत है।

साथ ही उपासना के अर्थ स्वामी शंकराचार्य तो अर्चना, आराधना इत्यादि से लेते हैं। इसी कारण वह सूत्र ३-३-१८ में आचमन का झगड़ा ले बैठे हैं। उस सूत्र अथवा अन्य सूत्रों में जो उपनिषद् के प्रमाण उद्धृत किये गये हैं, वे सर्वथा असंगत हैं।

स्वामी ब्रह्म मुनि जी ने श्रुति और स्मृति से तुलना ले ली है। हम तो दूसरे ढंग पर सूत्रों के अर्थों को समझे हैं। इस पाद के आरम्भ में ही यह विषय आरम्भ किया गया है कि सब वेदान्त शास्त्रों में परमात्मा का कई प्रकार से वर्णन है, परन्तु उनके आशय में भेद नहीं है। और इस पाद के आरम्भ से अब तक यही विषय चला आता है कि परमात्मा को वेदान्तों में तत्त्वतः एक समान माना है।

यद्यपि इस पाद में वेदान्तों अर्थात् वेद और उपनिषदों में परमात्मा के वर्णन के विषय में भ्रम-निवारण करने का यत्न किया गया है, परन्तु उसमें भी प्रमाणों का इतना आश्रय नहीं लिया गया जितना कि युक्ति का।

हम समझते हैं कि हमने सूत्रकार के आशय का ठीक वर्णन किया है।

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥२३॥

संभृतिद्युव्याप्ती+अपि+च+अतः।

संभृति=सम्भरण अर्थात् धारण एवं पोषण करना। द्युव्याप्ति=द्युलोक अर्थात् समस्त विश्व में व्याप्त होना। च अतः=और इससे (अभिप्रेत) है।

परमात्मा की अपूर्वतः का वर्णन हो रहा है। यद्यपि अन्य (जीवात्मा तथा प्रकृति) पदार्थ भी अपूर्व हैं, परन्तु उनकी अपूर्वतः परमात्मा की अपूर्वतः से सम्बन्धित होने के कारण है।

इस सूत्र में यह बताया गया है कि परमात्मा में अपूर्वता उक्त गुणों के अतिरिक्त सम्भृति और द्युव्याप्ति होने में भी है।

परमात्मा के विषय में सूत्र १-३-१० में लिखा है कि परमात्मा

आकाश पर्यन्त सब कुछ धारण करता है। उसी विचार का इस सूत्र में पोषण किया है। यह कहा है कि समस्त विश्व में वह व्यापक है और उसमें वह सबका सम्भरण एवं पोषण करता है। ये दोनों बातें परमात्मा की अपूर्वता की द्योतक हैं।

अथर्व वेद में भी ऐसा ही कहा है—

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्ने ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥

(अथर्व० १९-२२-२१)

परमात्मा में सब महान् पालन करने वाली शक्तियाँ विद्यमान हैं। उसी में महान् ज्योतिर्मय देवता उपस्थित है। प्राणियों में सबसे प्रथम ब्रह्म ही है। उस महान् ब्रह्म की कौन बराबरी कर सकता है!

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥२४॥

पुरुषविद्यायाम्+इव+च+इतरेषां+अनाम्नानात्।

और पुरुष विद्या की भाँति दूसरों के (विषय में) वेद वाक्य न होने से।

अनाम्नानात् का अर्थ है कि वेदों में न कहे जाने से। अभिप्राय यह कि जैसे परमात्मा के विषय में पुरुष विद्या (पुरुष सूक्तों में) लिखा मिलता है; वैसा जीवात्मा और प्रकृति के विषय में लिखा नहीं मिलता। इस कारण परमात्मा की अपूर्वता उनकी अपूर्वता से भिन्न है।

पुरुष सूक्त चारों वेदों में है। ऋग्वेद में दसवें मण्डल का ९०वाँ सूक्त पुरुष सूक्त कहलाता है। यजुर्वेद में अ० ३१, सामवेद में ६१७-६२१, अथर्व वेद में १९-६ में भी वर्णित है। इस सूक्त में पन्द्रह मन्त्र हैं और उनमें परमात्मा के गुण, लक्षण और उनकी विशेषता बताई है। उदाहरण के रूप में ऋ० १०-९० का प्रथम मन्त्र है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ (ऋ० १०-९०-१)

अर्थात्—वह पुरुष (परमात्मा) सहस्रों शिर, सहस्रों आँखों और सहस्रों ही पाँव वाला है। वह विश्व की भूमि अर्थात् उत्पन्न होने का स्थान है। वह इन्द्रियों के क्षेत्र से बाहर है।

इसी सूक्त का एक अन्य मन्त्र है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ (ऋ० १०-९०-३)

इस जगत् की महान् सामर्थ्य है और वह पुरुष उससे भी बड़ा है।

समस्त प्राणी इसके एक पाद हैं। इसके तीन पाद नित्य और अमृतमय हैं।

इस प्रकार पूर्ण पुरुष सूक्त परमात्मा की महिमा का गान करता है। सूत्रकार का कहना है कि इस प्रकार की महिमा दूसरों (जीवात्मा प्रकृति) की नहीं है।

वेधाद्यर्थभेदात् ॥२५॥

वेधादि+अर्थभेदात्।

अर्थभेदात्=भिन्न अभिप्राय होने से। वेधादि=प्रलय, विनाश आदि गुणों का उल्लेख (वेदान्तों में) से।

यह भी अपूर्वता के लक्षण हैं। वेध के अर्थ बींधना है। यहाँ परमात्मा का प्रकरण चल रहा है। इस कारण इसके अर्थ प्रलय करना लिया जाना चाहिए। अभिप्राय यह कि प्रलय विनाशादि करने का गुण जो भिन्न-भिन्न अर्थों में शास्त्रों द्वारा वर्णन किया है; वह भी परमात्मा की अपूर्वता है।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥२६॥

हानौ+तु+उपायनशब्दशेषत्वात्+कुशाच्छन्दस्तुति+उपगानवत्+तत्+उक्तम्।

हानौ=हानि में अर्थात् (कर्म) त्याग में (कही गयी है)। उपायनशब्दशेषत्वात्=समीप आने में जो शेष रह गया है। यह वैसे ही कहा है जैसा कुशा, छन्द, स्तुति का उपगान कहा गया है।

वहाँ नाश एवं त्याग करना पापों का कहा गया है अथवा पापियों का कहा गया है? यह ऐसे ही है जैसे कि स्तुति गान इत्यादि है। यह समीप आने का शेष अर्थात् समाप्त करने का कार्य है। परमात्मा के समीप आने का शेष कार्य छन्द, स्तुति गान है। इस प्रकार हानौ भी स्वर्ग लाभ कराता है। पापों का नाश अथवा पापियों का नाश ऐसा ही है जैसे कि परमात्मा की स्तुति का उपगान होना है। इसी भाव को भगवान् कृष्ण ने गीता में प्रकट किया है। कहा है—

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।
(भ० गी० २-३२)

कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि यह खुला हुआ स्वर्ग का द्वार है ।

इससे पूर्व के श्लोक में बताया है कि यह धर्म-युद्ध है; अर्थात् धर्म की स्थापना के लिये है । अतएव सूत्रकार का आशय यही है कि वेदादि शास्त्रों में जहाँ विनष्ट करने के लिए लिखा है वहाँ पाप अथवा पापी को विनष्ट करने की बात लिखी है । इसका फल वही है जो छन्द स्तुति-उपगान है । ईश्वर की स्तुति का फल स्वर्ग प्राप्ति है; इसी प्रकार पाप के नाश करने अथवा पापी के नाश का फल भी स्वर्ग प्राप्ति है ।

कुछ भाष्यकारों ने हानौ के अर्थ किये हैं—कर्मों के नाश में । ये अर्थ भी ठीक हो सकते हैं, परन्तु 'पाप-कर्मों के नाश में' यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । इसमें युक्ति यह है कि पाप कर्म के नाश से सुकृत जो स्वर्ग लोक दिलवाने में सक्षम है, भी मोक्ष में परमात्मा के समीप पहुँचने में सहायक होते हैं । कारण यह कि स्वर्ग लोक मोक्ष धाम में पड़ाव भी हो सकता है । ऐसा सूत्र (३-३-२७, २८) में स्वीकार किया गया है । इन सूत्रों का भाष्य देखें ।

कुशा शब्द का अभिप्राय है यज्ञ में प्रस्तुत उपादान (सामग्री) । कुशा पूर्ण सामग्री का प्रतीक माना है ।

वर्तमान सूत्र का अर्थ है विनाश (पाप का अथवा पापी का) वही फल दिलवाता है जो कुशा, छन्द, गान इत्यादि कर्म का फल है; अर्थात् मोक्ष दिलवाता है ।

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।।२७।।

साम्पराये + तर्तव्याभावात् + तथा + हि + अन्ये ।

परलोक में तैरने योग्य (अर्थात् पार होने योग्य) के अभाव से जैसे कि दूसरे, निश्चय हैं ।

'साम्पराये' परलोक का अर्थ है स्वर्ग धाम जिसे उपनिषदों में पितृ लोक भी कहा है । वहाँ जब पार करने योग्य कुछ भी नहीं रह जाता । अभिप्राय यह कि सब कर्म फल भोग लिये जाते हैं तब निश्चय से ऐसा ही होता है जैसे अन्य (स्थान) में । अन्य स्थान का अभिप्राय मर्त्य लोक है ।

इसका सूत्र का अभिप्राय यह बनता है कि जब स्वर्ग धाम में भी सब कर्म

फल समाप्त हो जाते हैं तब जीवात्मा की स्थिति वही होती है जैसी कि इस लोक (मर्त्य लोक) में होती है।

मर्त्य लोक में जब निष्काम भाव से कर्म फल निःशेष हो जाते हैं तब ज्ञान के बल पर जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करता है। सूत्रकार का कहना है कि स्वर्ग धाम में भी यदि जीवात्मा ब्रह्म ज्ञान का ज्ञाता हो तो वह वहाँ से अपने सब सुकृत कर्मों का फल भोग कर मोक्ष धाम को जा सकता है।

पूर्व के सूत्र में पाप अथवा पापी के नाश से स्वर्ग प्राप्ति की बात कही है। यहाँ भी उसी प्रसंग को आगे चलाया गया है। कहा है कि स्वर्ग लोक में पहुँचा जीवात्मा यदि ब्रह्म ज्ञानी हो तो वहाँ से मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है। यह वैसे ही जैसे कि निष्काम भाव में रहनेवाला ब्रह्म ज्ञानी सीधा मर्त्य लोक से मोक्ष धाम को जा सकता है।

छन्दत उभयाविरोधात् ॥२८॥

छन्दतः+उभया+अविरोधात।

छन्दतः=इच्छानुसार। उभया=दोनों के। अविरोधात्=विरोध न होने से।

उक्त सूत्र में दो लोकों की बात हुई है। इस प्राणी लोक की और परलोक की। इस सूत्र में लिखा है कि इन दोनों में अर्थात् प्राणी लोक में भी और परलोक में भी बाधा नहीं है। किस बात में बाधा नहीं है? इच्छानुसार अर्थात् स्वतन्त्रता से ज्ञान के बल पर उत्क्रमण करने की अथवा ज्ञानहीन व्यवहार से पतनोन्मुख हो जाने की।

कुछ सूत्रकारों ने उभया का अर्थ किया है पाप और पुण्य दोनों। उनका कहना है कि इच्छानुसार पाप-पुण्य करने में विरोध नहीं होता। यह भी ठीक है; इस पर भी हमारा मत है कि हमारा भाव अधिक उपयुक्त है। उभया का अर्थ है दोनों लोकों में। मर्त्य लोक और स्वर्ग लोक में इच्छानुसार कार्य करने में बाधा नहीं। अविरोध है।

इस सूत्र में सूत्रकार ने यह बताया है कि इस (प्राणी) लोक में भी और स्वर्ग लोक में भी, जीवात्मा को स्वेच्छा से विचरने में बाधा नहीं। जीवात्मा सुकृत करने अथवा सुकृत न कर, पाप करने में सर्वथा स्वतन्त्र है। पूर्वोक्त सूत्र (३-३-२७) में बताया है कि इस लोक को पार करने में साधन सुकृतों के फल हैं और स्वर्ग लोक को पार कर ब्रह्म लोक में जाने का साधन ब्रह्म ज्ञान है।

परन्तु जीवात्मा इन साधनों को प्रयोग करे अथवा न करे; इसमें वह सर्वथा स्वतन्त्र है। यह उसकी इच्छानुसार है।

गतेरवर्थत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॥२६॥

गतेः + अर्थवत्त्वम् + उभयथा + अन्यथा + हि + विरोधः।

गतेः — गति का (एक लोक से दूसरे लोक में जाने के लिए)। अर्थवत्त्वम् = प्रयोजन वत् होने से। उभयथा — दोनों प्रकार से (माननी चाहियें) अन्यथा = नहीं तो। विरोधः = विरोध उत्पन्न हो जायेगा।

पूर्व सूत्र में यह भाव आया है कि स्वर्ग लोक को पार कर मोक्ष धाम में जाने के लिये ज्ञान साधन बन जाता है। साथ ही यह लिखा है कि प्राणी लोक से स्वर्ग लोक में जाने के लिये और स्वर्ग लोक से मोक्ष धाम में जाने अथवा पुनः प्राणी लोक में आ जाने के लिये जीवात्मा स्वतन्त्र है। जाये अथवा न जाये।

यहाँ इस सूत्र में यह बताया है कि इस (प्राणी) लोक से सीधा मोक्ष धाम का मार्ग भी है। ज्ञान से कर्मों के फल को निष्काम भाव से निःशेष कर सीधा मोक्ष धाम को जाया जा सकता है और सुकृत कर स्वर्ग धाम को और वहाँ से ज्ञान द्वारा मोक्ष धाम को जाने का भी मार्ग है।

इस सूत्र में बताया है कि दोनों ही मार्ग हैं। यदि दोनों को नहीं स्वीकार करेंगे तो विरोध होगा।

किसका विरोध होगा? कुछ भाष्यकारों का मत है कि शास्त्र का। वहाँ मोक्ष प्राप्त करने के दोनों मार्ग (पितृयान और देवयान) लिखे हैं और दोनों को ही मानना होगा। ऐसा सूत्रकार का मत प्रतीत नहीं होता।

हम इससे मतभेद रखते हैं। एक तार्किक के लिये शास्त्र का विरोध कुछ अधिक महत्त्व नहीं रखता। इस कारण दर्शनाचार्य को इस बात की चिन्ता नहीं होनी चाहिये कि शास्त्र (उपनिषद्) का किसी प्रकार से विरोध हो रहा है अथवा नहीं हो रहा।

हमारी धारणा यह है कि सूत्रकार वेदादि शास्त्रों के सत्य सिद्धान्तों को युक्ति से सिद्ध कर रहा है। यदि यह धारणा सत्य है तो निस्सन्देह यहाँ विरोध का अर्थ शास्त्र का विरोध नहीं, वरन् युक्ति का विरोध है। ज्ञान और सुकृत दो साधन हैं गति प्राप्त करने के। यदि केवल सुकृत के साधनों का प्रयोग किया जायेगा तो स्वर्ग तक का मार्ग बाधारहित हो जायेगा और यदि सुकृत

एवं ज्ञान दोनों का आश्रय लिया जायेगा तो मोक्ष धाम की सुविधा प्राप्त हो जायेगी। यह युक्ति है। साथ ही ऐसा प्राप्त करे अथवा न करे, जीवात्मा की इच्छा पर है। न मानने से जीवात्मा की स्वतन्त्रता की हानि होगी।

ये दोनो साधन इस (प्राणी) लोक मे भी प्राप्त हो सकते हैं। सुकृत करने का भी अवसर है और ज्ञान को उपलब्ध करने का भी। अतः मोक्ष तक की यात्रा दो पग में भी हो सकती है और एक पग में भी।

साथ ही जीवात्मा इन साधनों का प्रयोग करने अथवा न करने मे स्वतन्त्र है। अतः वह दोनो साधन रखता हुआ भी एक पग उठा पुनः लौट भी सकता है और दूसरे साधन का प्रयोग नहीं भी कर सकता।

हमारी धारणा के अनुसार अर्थ यह है कि दोनो मार्ग हैं और जीवात्मा इच्छानुसार उन पर चलता है। यदि यह नहीं मानेंगे तो बुद्धि यह स्वीकार नही करेगी।

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥३०॥

उपपन्नः+तत्+लक्षणार्थोपलब्धेः+लोकवत्।

उपपन्नः=युक्तियुक्त है। तत्=उस। लक्षणार्थः=लक्षण में अर्थ। उपलब्धेः=प्राप्त होने से। लोकवत्—जैसे संसार में होता है।

पूर्वोक्त सूत्र के कथन में सूत्रकार युक्ति देता है। वह कहता है कि विरोध युक्ति से उपस्थित होता है। उस अर्थात् दोनों ढंग से मोक्ष धाम की प्राप्ति, लक्षणों में प्रयोजन प्राप्त होने से हो सकती है। यह लोक में भी देखा जाता है।

सूत्रकार युक्ति इस प्रकार करता है कि दोनों—स्वर्ग धाम और मोक्ष धाम—के अपने-अपने लक्षण हैं। उन लक्षणों की उपलब्धि प्रयोजन है। यह एक ही पग में प्राप्त भी हो सकती है और पग-पगकर भी। यह युक्ति है। उक्त सूत्र में सूत्रकार ने शास्त्र के विरोध की ओर संकेत नहीं किया। यह यहाँ स्पष्ट कर दिया है।

संसार में हम यह नित्य देखते है। एक मनुष्य दिल्ली से कलकत्ता जा रहा है। यात्री जाने, न जाने; पूर्ण मार्ग जाने अथवा आधे मार्ग से ही लौट आने मे सर्वथा स्वतन्त्र है। साथ ही जाने पर खर्च बैठता है। यदि तो यात्री के पास कलकत्ता तक जाने के टिकट का दाम है तो वह एक छलाँग में कलकत्ता भी जा सकता है और यदि दाम कम हैं तो दिल्ली से कानपुर, कानपुर से पटना और पटना से कलकत्ता जा सकता है। कानपुर तक के टिकट के लिये

दिल्ली में अर्जन कर लेता है। कानपुर में पुनः परिश्रम कर वह पटना तक का भाड़ा एकत्रित कर लेता है और पुनः पटना में परिश्रम कर वह कलकता का भाड़ा एकत्रित कर लेता है।

एक यात्री टिकट तो दिल्ली से कलकता तक का लेता है, परन्तु वह पटना पहुँच विचार बदल देता है और लौट आता है।

यह है अभिप्राय 'लोकवत्' पद का।

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३१॥

अनियमः + सर्वासाम् + अविरोधः + शब्दानुमानाभ्याम्।

सर्वासाम् - सब (गतियों) का (सीधी मोक्ष धाम को जाने की अथवा पग-पग वहाँ पहुँचने की विधियों का)। अनियमः - नियम नहीं। अभिप्राय यह है कि कोई एक नियम नहीं है। जीवात्मा की इच्छा में विरोध नहीं। शास्त्र से भी और अनुमान (युक्ति) से भी।

इस सूत्र में अन्य भाष्यकारों का मत लिख दें तो उनका असंगत होना स्पष्ट हो जायेगा।

शंकराचार्य जी सर्वासाम् के अर्थ करते हैं—

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती, न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामित्युक्तम्। सगुणास्वपि विद्यासु कासुचिद्गतिः श्रूयते—यथो—

सगुण विद्याओं में गति प्रयोजन वाली है, परन्तु निर्गुण परमात्मा की विद्या में नहीं। ऊपर कहा गया है। सगुण विद्याओं में कुछ विद्याओं की गति श्रुति है।

आगे उन विद्याओं के कुछ नाम दिये हैं।

गतियाँ तो मोक्ष-प्राप्ति की हैं। एक देवयान और दूसरी पितृयान। गतियों से अभिप्राय उपासना विधियों से नहीं है। गति का उल्लेख ऊपर आया है, उपासना विधियों का नहीं। साथ ही यहाँ सगुण-निर्गुण का उल्लेख नहीं है। यहाँ तो सुकृत और ज्ञान की चर्चा है।

स्वामीजी ने कुछ उपासना विधियों के नाम गिनाये हैं।

पर्यंङ्क विद्या, उपकोसल विद्या, षोडशकल विद्या और वैश्वानर विद्या। इन विद्याओं का देवयान और पितृयान मार्गों से क्या सम्बन्ध है? इसका वर्णन नहीं मिलता। उपासनाओं का सम्बन्ध ज्ञान प्राप्ति से है। यदि तो उपासना का अर्थ समीप बैठना का लें, तब भी यह ज्ञान सूचक है और यदि उपासना का अर्थ स्तुति,

गान इत्यादि लें तो यह उक्त वर्णित विद्याओं में नहीं आती। अभिप्राय यह कि सब कुछ अनर्गल लिखा गया है।

शंकराचार्य लिख रहे हैं कि सगुण विद्याओं में कुछ की गति श्रुति है। श्रुति का अभिप्राय स्वामीजी ने नहीं लिखा। कदाचित् उनका अभिप्राय है कि वह गति जो उपनिषदों में वर्णन की गयी है, परन्तु उपनिषदों में तो दोनों गतियों का वर्णन है और उक्त सब उपासनाओं का वर्णन है।

हमारा मत है कि इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार है। सब प्रकार से ब्रह्म धाम को जाने का ढंग (एक साथ अथवा पग-पग कर के) हो सकता है। किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं। यह शब्द एवं अनुमान से सिद्ध होता है।

स्वामीजी यह मानते हैं कि स्वर्गधाम के पथिक ब्रह्म धाम को नहीं जाते। यहाँ उसका विरोध है। अतः अपनी बात को सिद्ध करने के लिये अयुक्ति-संगत और बिना प्रमाण के बात की गयी प्रतीत होती है।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३२॥

यावद्+अधिकारम्+अवस्थितिः+आधिकारिकाणाम्।

यावदधिकारं=जब तक अधिकार है। अवस्थितिः ठहरना होता है। आधिकारिकाणाम्- अधिकार वालों का।

मोक्षधाम और स्वर्गधाम में जब तक किसी अधिकारी का अधिकार रहता है, वह वहाँ रहता है।

इसका अभिप्राय यह है कि स्वर्गधाम एवं मोक्षधाम में पहुँचने के लिये एक प्रकार की योग्यता आवश्यक है। जब तक वह योग्यता बनी रहती है तब तक इन धर्मों में अवस्थित रहता है। यह नहीं कि अधिकार समाप्त हो जाने पर और वहाँ रहने की इच्छा बनी रहने पर रह सकता है।

यह हम पहले बता चुके हैं कि जीवात्मा स्वर्गलोक में एवं ब्रह्मलोक में भी स्वेच्छा से विचरता है। परन्तु इस सूत्र से यह पता चलता है कि किसी भी विशेष लोक में विचरना तब तक ही होता है, जब तक उसका वह अधिकार जिससे वह वहाँ पहुँचा है, बना रहता है। जब अधिकार समाप्त हुआ तो उसे वह लोक छोड़कर पुनः इस लोक में आना पड़ता है।

प्रश्न यह उपस्थित है कि स्वर्ग में एवं ब्रह्मलोक में जाने के लिये किस प्रकार का अधिकार होना चाहिये ?

स्वर्ग एवं ब्रह्मलोक में जाने के लिए, मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि

यज्ञों के द्वारा मनुष्य वहाँ पहुँचता है। वहाँ लिखा है—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥
(मुण्डको० १-२-६)

इसका अर्थ है (यज्ञ की) आहुतियाँ आओ, आओ कहती हुई सूर्य की किरणों द्वारा उस यजमान को उठाकर ले जाती हैं। प्यारी वाणी बोलती हुई और अर्चना करती हुई कहती है कि तुम्हारे शुभकर्मों से उपार्जित ब्रह्मलोक (स्वर्ग लोक) है।

अभिप्राय यह है कि यज्ञरूप कर्म करने से यजमान को स्वर्गलोक प्राप्त होता है। परन्तु आगे लिखा है—

एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥
(मुण्डको० १-२-७)

अर्थात्—जो मूढ़ इन यज्ञीय कर्मों को ही श्रेय मानते हैं वे बार-बार जन्म-मरण में आते हैं। यज्ञ से स्वर्गलोक में पहुँचे हुए मूढ पुनः लौट आते हैं। अर्थात् स्वर्ग से आगे ब्रह्म लोक तो ज्ञानियों को ही प्राप्त होता है।

यही बात सूत्रकार कहता है कि जब अधिकारी का अधिकार अर्थात् सुकृतों का फल समाप्त होता है तब वह पुनः इस लोक मे लौट आता है।

अब केवल एक प्रश्न रह गया है। वह यह कि क्या ब्रह्मलोक से भी मुक्त जीव लौट आते हैं ? सूत्रार्थ के अनुसार वहाँ जिस अधिकार से जीवात्मा पहुँचते हैं, वह अधिकार समाप्त होने पर लौटना पड़ता है। ब्रह्मलोक में पहुँचने का अधिकार है ज्ञान। क्या ज्ञान मिट सकता है ? यह विवादास्पद विषय है। जो लोग यह समझते हैं कि जीवात्मा परमात्मा का ही अंश है और वह किन्हीं कारणों से अज्ञान में फँस जाता है; ऐसे लोग यह नही बता सकते कि पुनः वैसी ही स्थिति उपस्थित होने पर परमात्मा का वह अंश पुनः संसार के बन्धनों में बँध क्यों नही सकता ?

दूसरे लोग जीवात्मा को स्वभाव से अज्ञानी अथवा अल्प ज्ञानवाला मानते हैं। जीवात्मा ज्ञानवान होने पर मुक्त हो जाता है। उनको भी यही समझ आता है कि जो ज्ञान प्राप्त किया हुआ है और स्वाभाविक नहीं, वह छूट भी जाता है। अतः दोनों प्रकार से युक्ति यही कहती है कि जिस अधिकार से जीव मुक्त हुआ है वह अधिकार छूटने पर लौटना होता है। अर्थात् मोक्ष धाम से भी लौटना होता है।

वैसे उपनिषदों और गीता में यह लिखा है—'न विनश्यति' (भ० गी० ८-२०) तथा 'न निवर्तन्ते' (भ० गी० ८-२१)।

परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मोक्ष की अवधि का काल बहुत लम्बा होने के कारण यह कथन अलंकार रूप में लिखा है।

युक्ति तो सूत्रकार ने दी है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (६-२-१५) में ब्रह्मलोक के विषय में लिखते हुए 'ब्रह्मलोकान्' ऐसा बहुवचन प्रयोग होने से ज्ञात होता है कि नीचे-ऊपर की भूमि के भेद से ब्रह्मलोकों में भेद है। उपासना (ज्ञान) के तारतम्य से भी ऐसा भेद होना सम्भव है। उस पुरुष के द्वारा पहुँचाये हुए उन लोकों में वे स्वयं (पर प्रकृष्ट होकर) परावत प्रकृष्ट अर्थात् अनेक वर्ष तक रहते हैं। तात्पर्य यह कि अनेकों कल्पपर्यन्त रहते हैं। अवधि निश्चय कर दी है। इससे ऐसा समझ मे आता है कि शंकराचार्य भी मोक्ष से लौटने को स्वीकार करते हैं।

वेद (ऋक्० १-२४-१, २) में भी ब्रह्मलोक (मोक्षावस्था) से पुनः लौटने की ओर संकेत है।

इसका अर्थ है कि सूत्रकार का मत भी ऐसे ही है कि ब्रह्मलोक में भी तब तक रहना होता है, जब तक वहाँ रहने का अधिकार बना रहता है।

वहाँ रहने का अधिकार है ज्ञान। यह ज्ञान संस्कार रूप होने के कारण समय के साथ क्षीण होता जाता है।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥३३॥

अक्षरधियाम्+तु+अवरोधः+सामान्यतद्भावाभ्याम्+औपसदवत्+तत्+उक्तम्।

अक्षर बुद्धियों अर्थात् जो मोक्षावस्था को अक्षर (अविनाशी) मानते हैं, उनका अवरोध तो सामान्य रूप में उसी भाव से है जैसे कि उपसद होता कहा गया है। उपसद का अभिप्राय है औपचारिक। उपसद कर्मकाण्ड की एक विधि है जिसमें अध्वर्यु (मिष्ठान्न) की आहुति देते हैं। यह यज्ञ में औपचारिक कर्म ही है।

यह हम लिख आये हैं कि कुछ उपनिषद्कार यह मानते हैं कि मोक्ष से लौटना नहीं होता। सूत्रकार इनको अक्षर-धी कहता है। अभिप्राय यह है कि ये मोक्षावस्था को अक्षर अर्थात् क्षरण न होनेवाली मानते हैं। सूत्रकार कहता है कि उनका ऐसा मानना अर्थात् मुक्त प्राणियों के अधिकार-- ज्ञान के क्षीण होने

की अमान्यता ऐसी है जैसी कि उपसद अर्थात् औपचारिक मात्र है। मोक्ष को स्वर्ग से भिन्न प्रकार की स्थिति बताने के लिये यह कहा गया है।

अभिप्राय यह कि यह काल इतना लम्बा होता है कि यह कहने में आ सकता है कि मोक्षावस्था अक्षर है।

सूत्रकार यहाँ कई उपनिषद् वाक्यों का खण्डन करता प्रतीत होता है।

यह वही बात हो जाती है जो कि बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखी है कि मुक्ति के कई स्तर है और सबमें मुक्त जीव लम्बे काल तक रहता है। सूत्रकार का अभिप्राय है कि पूर्ण मुक्त स्थान पर भी चिरकाल तक रहकर लौट आता है।

इयदामननात् ॥३४॥

इयत्+आमननात्।

इयत् (इतना) वेद में भी कहा है।

वेद मन्त्रों का हम सूत्र ३-३-३२ के भाष्य में उल्लेख कर चुके हैं। मन्त्र इस प्रकार हैं—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥

(ऋ० १-२४-१,२)

इन मन्त्रों का अर्थ है—इन मुक्त अत्माओं को कौन परम सुखदायक, सुखमय, प्रजापालक अति उत्तम नामवाला है जिसका चिन्तन और मनन करें और जो मुक्त जीवों को भी इस पृथिवी का ऐश्वर्य भोगने के लिये बार-बार यहाँ भेजता है और बालक को पिता और माता का दर्शन कराता है।

दूसरे मन्त्र का अर्थ है - हम सब जीव जो मरण से रहित हैं अर्थात् मुक्त है, उस परमात्मा का चिन्तन करते है, जो हमें अखण्ड पृथिवी के भोग के लिए पुन अवसर देता है जिसमें पिता और माता के दर्शन होते हैं।

अतः सूत्रकार का मत है कि मुक्त जीव भी ब्रह्म लोक में तब तक ही रहते है जब तक कि उनके वहाँ रहने का अधिकार उनके पास रहता है। यह वेद में भी कहा गया है।

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥३५॥

अन्तरा+भूतग्रामवत्+स्वात्मनः ।

अन्तरा = भीतर है । भूतग्रामवत् = प्राणियों की भाँति । स्वात्मनः = अपने आत्मा के (भीतर) अर्थात् मुक्त आत्माओं में ।

जैसे प्राणियों के भीतर जीवात्मा रहता है वैसे ही आत्मा के भीतर वह (परमात्मा) रहता है । अपने आत्मा के भीतर वह विद्यमान है । वैसे ही जैसे कि वह प्राणियों में रहता है ।

भूतग्राम का अभिप्राय है प्राणी । जैसे प्राणियों में आत्मा रहता है वैसे ही (मुक्त) जीवात्माओं मे परमात्मा रहता है । यहाँ मुक्तात्मा इस कारण विशेष रूप से हमने लिखा है, क्योंकि पूर्व प्रसंग इनके विषय में ही है ।

अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥३६॥

अन्यथा+भेदानुपपत्तिः+इति+चेत्+न+उपदेशान्तरवत् ।

अन्यथा = दूसरी प्रकार से । भेदानुपपत्तिः = भेद असिद्ध होगा । यदि यह कहो तो ठीक नहीं । उपदेश से अन्य के समान होने से ।

किससे दूसरी प्रकार ? जो ऊपर के सूत्र में कहा है । ऊपर के सूत्र में कहा है कि जैसे इस लोक के प्राणियों में आत्मा रहता है वैसे ही आत्माओं के भी भीतर परमात्मा रहता है ।

इससे पहले के सूत्र में मुक्त जीवात्मा की बात थी । अतः अन्यथा का अभिप्राय है कि मुक्त जीवात्माओं में भी परमात्मा का अस्तित्व मानना पड़ेगा । यदि नही मानेंगे तो (भेदानुपपत्ति) भेद की अनुपपत्ति होगी ।

अनुपपत्ति का अर्थ है कि जो युक्ति से सिद्ध न हो सके । भेद की असिद्धि होगी । सूत्रकार ने इससे पूर्व जीवात्मा और परमात्मा में भेद सिद्ध किया है । यहाँ वह कहता है कि यदि परमात्मा को उसी प्रकार मुक्त आत्माओ में व्यापक नहीं मानेंगे तो परमात्मा और जीवात्मा में भेद असिद्ध हो जायेगा ।

उपदेशान्तरवत् = (इसी दर्शन में) अन्यत्र कहे गये से अन्य अर्थात् विपरीत होने से ।

अतः पूर्ण सूत्र का अर्थ एवं अभिप्राय यह बनता है कि परमात्मा मुक्त जीवात्माओं में भी वैसे ही उपस्थित है जैसे कि भूतग्राम में ।

यदि यह नहीं माना जायेगा तो ठीक नहीं होगा । कारण यह कि जीवात्मा

और परमात्मा में भेद असिद्ध हो जायेगा। यह अन्य स्थान पर भी कहा है। कहा गया है कि जीवात्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं ?

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥३७॥

व्यतिहारः + विशिंषन्ति + हि + इतरवत्।

व्यतिहारः का अर्थ है कि दोनों का एक रूप हो जाना। विशिंषन्ति = विशेष रूप से कहते हैं। हि = निश्चय से। इतरवत् = दूसरों की भाँति।

मुक्तावस्था में आत्मा-परमात्मा निश्चय ही विशेषतः एक रूप हो जाते हैं। जैसे दूसरों में होता है।

दूसरों से क्या अभिप्राय है ? यहाँ जीवात्मा और शरीर भी हो सकता है। यहाँ चीनी और जल भी हो सकता है। शरीर में जीवात्मा रहता हुआ अपने को शरीर ही समझने लगता है। इस प्रकार मुक्त आत्मा परमात्मा में रहता हुआ अपने को परमात्मा का एक रूप अनुभव करने लगता है।

परन्तु जैसे शरीर और आत्मा एक नहीं होते; उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा एक नहीं होते। यह 'इतरवत्' का अभिप्राय है।

जैसे जल में मिश्री घुल जाती है तो जल और मिश्री एक ही प्रतीत होने लगते हैं। वास्तव में होते नहीं। गर्म करने से जल मिश्री से पृथक् किया जा सकता है।

सैव हि सत्यादयः ॥३८॥

सा + एव + हि + सत्यादयः।

वह ऐसा ही है जैसे (दोनों का) पत्य आदि व्यवहार होता है।

मुक्तावस्था में जीवात्मा और परमात्मा की एकरूपता ऐसी है जैसे कि एक समान सत् आदि होने से हो सकती है। परमात्मा और जीवात्मा दोनों सत्, अक्षर और अव्यक्त हैं। इस कारण दोनों के स्वरूप में सत्यादि की समानता है। सत् आदि गुणों से जो व्यवहार उत्पन्न होते हैं वे दोनों में समान होते हैं। इससे दोनों में एकरूपता है।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

इसी प्रकार—"**स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेदं सत्यं ब्रह्मेति जयतीमां-ल्लोकान्**' (बृ० ५-४-१) जो इस महान् पूजनीय पहले से ही विद्यमान को—सत्य ब्रह्म है—इस रूप में जान लेता है, वह इन लोकों को जीत लेता है; इत्यादि वाक्य से सत्यब्रह्म की उपासना का प्रतिपादन कर आगे कहा है—'**तद्यत्तत्सत्यं, असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः**' (बृ० ५-५-२) वह जो सत्य है, वह आदित्य है, जो यह इस मण्डल में पुरुष है, और जो यह दायीं आँख में पुरुष है। यहाँ सत्यब्रह्म का प्रतिपादन है क्या यह सत्यब्रह्म की उपासना दो हैं, या एक है ?

भाष्यकार श्री उदयवीर शास्त्री का कहना है कि दो होनी चाहियें, परन्तु सूत्रकार के मत से एक ही है।

यह किसी प्रकार भी आपत्तिजनक न होता; यदि यह इस प्रकरण के अनुसार होता।

प्रथम बात तो यह है कि इस पूर्ण पाद में एक बार भी उपासना का शब्द नहीं आया। यह ठीक है कि पाद के आरम्भ में यह लिखा है कि सब वेदान्तों का लक्ष्य एक ही है, विशेष प्रेरणा देने से।

सूत्रकार का अर्थ उपासना से है अथवा किसी अन्य बात से है, यह तो अगले सूत्रों को पढ़ने पर ही पता चलता है।

उपासना का अर्थ ज्ञान प्राप्त करना है, तो सूत्र का अर्थ यह बन जाता है कि सब वेदान्तों में ज्ञान प्राप्त करने का एक ही उपाय है और उनमें भेद नहीं।

हमारा मत यह है कि इस पाद में उस ज्ञान के ऐक्य के विषय में कहा गया है जो वेदान्तों में है। ज्ञान तो एक है, परन्तु उपासना ज्ञान प्राप्त करने का उपाय है। यह एक नहीं है। इस कारण उपासना को बीच में लाना व्यर्थ है। उपासना ज्ञान नहीं। यह ज्ञान प्राप्त करने का उपाय है। उपाय अनेक हो सकते हैं।

वेदान्त का अर्थ हम उपनिषद् ही नहीं लेते। वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ और दर्शन शास्त्र भी ज्ञान के ग्रन्थ हैं। उपनिषद् उनका अनुकरण करने से ही मान्य है।

इन्हीं में ज्ञान ऐक्य की घोषणा की गयी है। तनिक अगले सूत्रों के अर्थों को देखा जाये तो पता चलेगा कि यह सूत्र अध्यात्म ज्ञान के सम्बन्ध में ही है। अध्यात्म ज्ञान अक्षर पदार्थों के ज्ञान के विषय में है। अतः वेदान्तों में अध्यात्म एक समान है।

दूसरे सूत्र में लिखा है कि भिन्न भिन्न ग्रन्थों में भेद नहीं।

तीसरे सूत्र में लिखा है कि स्वाध्याय के सम्यक् आचरण से और सववत् प्रारम्भिक कार्य कर लेने पर सब ग्रन्थों मे एक ही बात विदित होती है।

अतः पाद का आरम्भ हुआ है भिन्न-भिन्न वेदान्त के ग्रन्थों में एक

ही विषय के निरूपण से ।

और यही दिखायी भी देता है । सब ग्रन्थों का उपसंहार अर्थात् प्रयोजन एक ही है ।

जब प्रयोजन एक ही है तो फिर ग्रन्थों मे भेद मान लेना ठीक नहीं ।

जो भेद दिखाई देता है, वह प्रकरण में भेद होने से है और भेद नाम मात्र का है। (सूत्र ३-३-७) ।

यहाँ से भेद का विषय आरम्भ हुआ है। नामों से भेद है। अर्थात् परमात्मा के कई नाम हैं । अग्नि, वायु, आदित्य इत्यादि परमात्मा के कई नाम लिखे हैं, परन्तु परमात्मा एक है । इसी प्रकार परमात्मा और जीवात्मा के लिए कई स्थानों पर एक ही शब्द 'आत्मा' प्रयुक्त हुआ है । अत: एक वेदान्त में और दूसरे वेदान्त में भेद माना जा सकता है । कई स्थानो पर आत्मा से जीवात्मा का संकेत है और अन्य में आत्मा से परमात्मा का वर्णन है । इससे वेदान्तों में भेद दिखाई देता है। वास्तव में सब वेदान्त एक (त्रैतवाद) का ही प्रतिपादन करते हैं।

इस (३-३-१०) के आगे परमात्मा का एक समान सब सूत्रों में वर्णन है । यथा : परमात्मा सर्वव्यापक है, आनन्दमय है इत्यादि । परन्तु वह शिर है, वह प्रिय है इत्यादि विषय में एक समान वर्णन नही है। कही प्रिय होने में अथवा शिर होने में भिन्न-भिन्न शब्द लिखे मिलते हैं । अत: ये शब्द परमात्मा के लिये नहीं भी हो सकते । जैसे कि यजुर्वेद (३१-११) में लिखा है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" । यहाँ ब्राह्मण परमात्मा का मुख नहीं माना, वरन् मानव समाज का मुख कहा है ।

परमात्मा का वर्णन करते-करते जहाँ उसे आनन्दमय, सर्वव्यापक इत्यादि लिखा है, वहाँ प्रिय और शिर भी कहा है । इसी सम्बन्ध में परमात्मा को आत्मा शब्द से सम्बोधित किया है, परन्तु यहाँ आत्मा शब्द से अन्य के बोध होने का भी संकेत किया गया है । आत्मा से जीवात्मा अथवा सार रूप के भी अर्थ लिये जाते हैं ।

अब इसके उपरान्त विषय बदल आत्मा शब्द का अन्वय कर अर्थ कर दिया है (३-३-१५) । इन अर्थों से आत्मा, परमात्मा के लिये भी और जीवात्मा के लिये भी प्रयुक्त होता है । यह सूत्र (३-३-१७) में है ।

परमात्मा को अपना कार्य करने से अपूर्व कहा है। सूत्र ३-३-१९ में कहा है कि अन्य भी अपूर्वता में समान है। इस समानता से भेद नहीं । अन्य का अर्थ जीवात्मा और प्रकृति है । वे भी अपूर्व हैं । यद्यपि उनकी अपूर्वता और परमात्मा की अपूर्वता भिन्न प्रकार की है । परमात्मा अभेद है। वह एक रस है। जीवात्मा कई हैं । प्रकृति भी कणवत् है ।

परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति में अपूर्वता इनके अव्यक्त होने के कारण

है। इसमें तीनों समान हैं। (सूत्र ३-३-२०)।

इस सूत्र के उपरान्त परमात्मा और आत्मा के विषय पर सूत्र लिखे हैं। सूत्र ३-३-२१ मे लिखा है कि जीवात्मा और परमात्मा में अपूर्वता उनके विशेष गुणों के कारण नहीं है। विशेष गुण हैं ज्ञानवान् होना तथा अल्पज्ञ होना। सर्वव्यापक, विभु होना एवं अणु मात्र होना। इन विशेष गुणों के कारण उनकी अपूर्वता में समानता नहीं।

इस प्रकार आगे के सब सूत्रों में आत्मा-परमात्मा में समानता एवं भेद प्रकट किया गया है। इसी में स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्त करने की बात लिखी है और मुक्त जीव तथा स्वर्ग प्राप्त जीवों में अन्तर लिखा है। स्वर्गधाम और मोक्षधाम मे भी भेद लिख दिया है।

मोक्षधाम से वापस लौटने अथवा न लौटने की बात का भी वर्णन है।

अतः हमारा यह विचारित मत है कि यह सूत्र उपासनाओं में भेद-अभेद पर नहीं है, वरन् परमात्मा जीवात्मा के विषय मे है।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।।३९।।

कामादि+इतरत्र+तत्र+च+आयतनादिभ्यः।

इतरत्र =अन्य स्थान पर अर्थात् जीवात्मा में और तत्र=वहां (परमात्मा) में। कामादि=काम, कामना आदि गुण समूह। च=और। आयतनादिभ्यः= आयतन, आश्रय स्थान (रहने के स्थान) आदि से।

एक (परमात्मा) आयतन है अर्थात् आश्रय और दूसरा (जीवात्मा) उसके आश्रित है। परमात्मा के आश्रय से ही इसमें काम-कामना आदि गुण रहते है और पूर्ण होते हैं।

जीवात्मा इस लोक में, पितृलोक में अथवा ब्रह्मलोक में परमात्मा के आश्रय ही रहता है। अर्थात् इन सब अवस्थाओं में जीवात्मा की काम-कामनायें परमात्मा के आश्रय के कारण ही हैं।

इसमें कारण यह है कि कामनाओं की पूर्ति वायु (परमात्मा की शक्ति) के द्वारा ही होती है।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या मुक्त जीवों की भी कामनायें होती हैं? हाँ, होती है। ऐसा सूत्रकार का मत प्रतीत होता है। मोक्षावस्था में जीवात्मा को विचरने की स्वतन्त्रता होती है। यदि वे आत्मायें कामना रहित हों तो विचरें ही क्यों?

भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता में लिखा है कि जब जब वह इस लोक में धर्म की ग्लानि देखते हैं तब तब धर्म की स्थापना के लिये इस लोक मे आते हैं और अधर्म का नाश करते हैं। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि मुक्त जीव भी कामना करते हैं। यद्यपि इनकी कामनायें उन आत्माओं से भिन्न होती है जो इस लोक अथवा पितृ लोक में रहते हैं।

आदरादलोपः ॥४०॥

आदरात्+अलोपः।

लोप न होने की स्थिति आदर से।

लोप न होने की स्थिति का अभिप्राय है कि मोक्षावस्था के लोप न होने की स्थिति। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि मोक्षावस्था चिरकाल तक बनी रहती है और यह परमात्मा के गुणों में विश्वास से हो सकती है। जब तक परमात्मा का आदर जीवात्मा में रहता है तब तक यह (मोक्ष की) स्थिति लोप नहीं होती।

सम्भवतः आदर का अभिप्राय ज्ञान से है।

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥४१॥

उपस्थिते+अतः+तत्+वचनात्।

तत्- वह। वचनात् कथन से। अतः इससे। उपस्थिते प्राप्त होने में।

यह जो ऊपर के सूत्र में मोक्षावस्था की स्थिति चिरकाल तक बने रहने की बात लिखी है, यह इससे अर्थात् आदर से प्राप्त होने में है।

आदर से अभिप्राय है परमात्मा के प्रति श्रद्धा से उसकी सामर्थ्य, ज्ञान, व्यापकता, अम्बरान्त तक सबको धारण करने के गुण इत्यादि के विषय में विश्वास। इसके बने रहने से मोक्षावस्था की स्थिति चिरकाल तक रह सकती है।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

तत् + निर्धारण + अनियमः + तत् + दृष्टेः + पृथक् + हि + अप्रति-बन्धः + फलम् ।

उसके निश्चय करने का नियम नहीं उसके दर्शन से; क्योंकि बन्धन टूटने का फल पृथक् है । किसके निश्चय करने का ? मोक्ष-प्राप्ति के समय का ।

परमात्मा के दर्शन में (मोक्ष मिलेगा ही) यह निश्चय से नियम नहीं; क्योंकि बन्धन छूटने का फल पृथक् है । साक्षात्कार होने पर भी मोक्ष होगा ही, नियम नहीं । जन्म-मरण के बन्धन टूटने का फल उक्त निश्चय से पृथक् है ।

इसका अभिप्राय यह है कि जन्म-मरण का बन्धन टूटना कुछ ऐसी बातों का फल है जिनका सम्बन्ध मोक्ष-प्राप्ति नहीं भी हो सकता । उदाहरण के रूप मे निष्काम भाव से कर्म करना बिना मोक्ष की इच्छा के भी चल सकता है । यद्यपि निष्काम भाव से कर्म करनेवाले के बन्धन टूट जाते हैं, परन्तु यह नियम नहीं कि वह मोक्ष प्राप्त भी करेगा अथवा नहीं करेगा ।

सूत्रकार का आशय यह है कि निष्काम भाव से कर्म करना तथा यज्ञीय भावना से कर्म करने का फल ईश्वर दर्शन है । भले ही ऐसा करनेवाले को मोक्ष प्राप्त हो अथवा न हो ।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥४३॥

प्रदानवत् + एव + तत् + उक्तम् ।

प्रदानवत् = विशेष दान (दक्षिणा) के समान । एव = ही । तत् = वह । उक्तम् = कहा है ।

उपर्युक्त कथन ऐसा ही है जैसे किसी यज्ञादि में दान का देना हो । जैसे किसी यज्ञ के अवसर पर दक्षिणा देना नियम नहीं, यद्यपि दान यज्ञ का अंग होता है । दान का फल पृथक् है और यज्ञ का फल पृथक् है । इसी प्रकार पूर्व निश्चय से ही कर्मादि का फल होगा; ऐसा नियम नहीं ।

यज्ञ लोक-कल्याण के लिये किया जाता है । दान का अर्थ तो प्रायः ऋत्विक् आदि को पालना है । दोनों का फल पृथक्-पृथक् है ।

इसी प्रकार पूर्व सूत्र मे कहा है कि निष्काम भाव से कर्म अपना फल रखता है । भले ही उस फल के विषय में पूर्व निश्चय न हो । ज्ञान से परमात्मा के दर्शन होंगे, भले ही कामना इसकी न हो ।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥४४॥

लिङ्गभूयस्त्वात्+तत्+हि+बलीयः+तत्+अपि ।

बहुत से लिंगों के होने से । (तत्) ब्रह्म-ज्ञान (होता है) निश्चय से । वह लिङ्ग अतिशय बलवान् भी है ।

लिंग का अर्थ है लक्षण, जिनसे परमात्मा जाना जाता है । परमात्मा की जो व्यवस्था प्रकट होती है वे उसके लिंग होते हैं । उन लिंगों को जानने और समझने से परमात्मा का ज्ञान होता है और ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है । परमात्मा की सिद्धि में उनके लिंग अति बलवान् हैं (सहायक हैं) ।

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रिया मानसवत् ॥४५॥

पूर्वविकल्पः+प्रकरणात्+स्यात्+क्रिया मानसवत् ।

पूर्व का विकल्पित, अर्थात् पूर्व का निर्धारित । प्रकरण से होता है । मानस क्रिया की भांति ।

यह विचार कि मोक्ष की प्राप्ति करनी है, इसका सम्बन्ध मोक्ष प्राप्ति के साथ होना कोई नियम नहीं । यह ऐसे ही है जैसे कि मानस क्रियाओं का होता है । एक व्यक्ति यह इच्छा करता है कि वह बम्बई जायेगा । इस निश्चय अथवा इच्छा का सम्बन्ध बम्बई पहुंचने के साथ अनिवार्य रूप से नहीं होता । बम्बई पहुँचना तो जाने के साथ सम्बन्ध रखता है । कई लोग इच्छा करते हुए भी बम्बई नहीं जाते अथवा नहीं पहुँच पाते और कुछ अनिच्छा रखते हुए भी पहुँच जाते हैं ।

पूर्व का संकल्प केवल प्रकरण प्रस्तुत करता है ।

मोक्ष के साथ कर्म और ज्ञान का सम्बन्ध है । जिज्ञासा के होने से मोक्ष प्राप्ति की अनिवार्यता नहीं ।

पहले कल्पना की जाती है । उससे प्रकरण प्रस्तुत होता है; तदनन्तर प्रयत्न किया जाता है । ऐसे जैसे कि मानस क्रिया में होता है । मन में किसी कार्य की कल्पना होती है तदनन्तर उसके लिये प्रकरण (कार्य का उद्देश्य और ज्ञान) प्रस्तुत होता है । अन्त में उद्देश्य-प्राप्ति के लिये ज्ञान के आश्रय प्रयत्न होता है । यह मानस क्रिया का अभिप्राय है ।

अतिदेशाच्च ॥४६॥

अतिदेशात्+च ।

और अति देश से ।

यहां देश का अर्थ स्थान अथवा लोक है ; भूलोक, पितृलोक और देव-लोक । ब्रह्मलोक इन लोकों से परे होने से अति देश कहा जाता है ।

ब्रह्मलोक के अति देश होने से वह प्राप्य है और उसके लिये प्रयत्न करना पड़ता है। केवल जिज्ञासा से लाभ नहीं । लक्ष्य के निर्धारण (निश्चय) से लाभ तो होता है, परन्तु कर्म से ज्ञान की उपलब्धि द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है।

देश का अर्थ 'दिश्यते निर्दिश्यते इति' भी किया जाता है। वह जो दिखाया जाता है । पूर्व सूत्र में विकल्पित है मोक्षधाम । अतः इस प्रकार अर्थ करने से भी अर्थ वही बनते हैं जो हमने देश के अर्थ स्थान अथवा लोक लेकर किये हैं । जो अति (सर्वश्रेष्ठ) उद्देश्य दिखाया जाता है उसकी भी प्राप्ति की जिज्ञासा होती है ।

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥४७॥

विद्या+एव+तु+निर्धारणात् ।

निर्धारण से विद्या (ज्ञान) ही है (मोक्ष-प्राप्ति का साधन) ।

हम 'क्रियामानसवत्' सूत्र की व्याख्या में उल्लिखित उदाहरण लें कि बम्बई के देखने योग्य स्थानों का भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है, परन्तु बम्बई पहुँचना तो जाने से ही हो सकता है । बिना गये बम्बई पहुँचा नहीं जा सकता।

मोक्ष-प्राप्ति के लिये भी कर्म करना पड़ता है यही सूत्रकार का मत है । इस विषय पर सूत्रकार ने इसी अध्याय के चतुर्थ पाद में व्याख्या सहित लिखा है। यहाँ इतना समझ लेना चाहिये कि योगाभ्यास भी एक कर्म है । इस कर्म से बुद्धि निर्मल होती है जो समय पाकर सत्य ज्ञान प्राप्त करने के योग्य होती है। कर्म से ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसा भगवद्गीता का मत है ।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (भ० गी० ४-३३)

सब कर्म ज्ञान (प्राप्ति) में समाप्त होते हैं ।

दर्शनाच्च ॥४८॥

दर्शनात्+च ।

और दर्शन से ।

केवल निर्धारण एवं ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती । बम्बई पहुँच कर बम्बई के दर्शन करने से ही लक्ष्य की सिद्धि होगी । यही बात मोक्ष-प्राप्ति की है । मोक्ष की जिज्ञासा और मोक्ष के स्वरूप के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसके लिये प्रयत्न करना आवश्यक है ।

दर्शन का अभिप्राय चिन्तन और युक्ति भी है । उसका फल वही है जो निर्धारण एवं विद्या का है । इनका मोक्ष-प्राप्ति में योगदान अवश्य है, परन्तु ये ही सब कुछ हैं, ऐसा नहीं । इस सूत्र में लिखा है—और चिन्तन से (भी) ।

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥४६॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्+च+न+बाधः ।

और श्रुति (वेद) आदि के बलवान् होने से बाधा नहीं ।

यह यहाँ विचार किया जा रहा है कि मोक्ष-प्राप्ति में क्या-क्या सहायक है ? कुछ लोगों का मत है कि वेद कर्मकाण्ड के ही ग्रन्थ हैं । इस कारण वे मोक्ष प्राप्ति में बाधक हैं । सूत्रकार का मत है कि श्रुति का ज्ञान तो मोक्ष की प्राप्ति में साधक है, बाधक नहीं । इसमें कारण यह बताया है कि श्रुति बलवान् है । बलवान् से अभिप्राय है प्रभावी । श्रुति में ब्रह्म ज्ञान भरा पड़ा है । इस कारण यह मुक्ति प्राप्त करने में सहायक है, बाधक नहीं ।

यह और इससे पूर्व के कुछ सूत्र शंकर मत का स्पष्ट विरोध करते हैं ।

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

अनुबन्धादिभ्यः+प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्+दृष्टः+च+तत्+उक्तम् ।

अनुबन्धादिभ्यः=सांसारिक व्यवहार के फलों आदि से । प्रज्ञान्तर पृथक्त्ववत्=अन्य-अन्य बुद्धियों के पृथक् होने के समान । दृष्टः=देखा गया है । च=और । तत् उक्तम्=वह कहा गया है ।

प्रज्ञा बुद्धि को कहते हैं। प्रज्ञान्तर का अर्थ है विविध बुद्धियाँ। पृथक्त्व-वत् से अभिप्राय है पृथक्-पृथक् होने के समान । इस सबका अभिप्राय यह है कि कर्म फल आदि से भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ होने के समान देखा गया है और बताया जा चुका है ।

कर्म फल अनेक है । बुद्धियाँ भी अनेक हैं । इस कारण भिन्न-भिन्न कर्मों के फल पृथक्-पृथक् होने से बुद्धियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं ।

अतः सूत्र का अभिप्राय यह है कि सांसारिक व्यवहार के फल इत्यादि (से) बुद्धियों की विविधता देखी गयी है और वह कही गयी है ।

बुद्धियों के पृथक्-पृथक् होने का अभिप्राय है बुद्धि के स्वरूप जो ज्ञान में प्रकट होते हैं । वह अनेक है ।

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥५१॥

न+सामान्यात्+अपि+उपलब्धेः+मृत्युवत्+न+हि+लोका-पत्तिः ।

न=नहीं है । सामान्यात्=समानता से । अपि=भी । उपलब्धे=उपलब्धि के कारण । मृत्युवत्=मृत्यु के समान । न हि=निश्चय से नहीं। लोकपत्तिः=लोक का संहार (अर्थात् प्रलय)।

कई बार 'अनुबन्धादि' अर्थात् कर्म तथा फल इत्यादि के एक समान होने पर भी उपलब्धियां अर्थात् प्राप्ति समान नहीं होती । किसी पदार्थ के समान कर्म होने पर भी भिन्न-भिन्न फल प्राप्त होते हैं ।

वर्तमान युग के वैज्ञानिक इस बात को भलीभाँति समझते हैं। एक ही परीक्षण से भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक भिन्न-भिन्न आविष्कार कर पाते हैं । कारण स्पष्ट है । ज्ञान का प्रयोग बुद्धि करती है और बुद्धियाँ अनेक हैं। अतः प्रयोग भी भिन्न होते हैं ।

पूर्वोक्त सूत्र मे यह कहा गया है कि भिन्न कर्मों से भिन्न-भिन्न बुद्धियाँ प्राप्त होती हैं और इस सूत्र में कहा है कि कर्मादि के समान होने पर भी फल भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कारण यह कि फल प्राप्त करनेवाली बुद्धि है जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न होती है ।

जैसे मृत्यु तो सबकी होती है, परन्तु लोक-संहार सबके लिये समान रूप में नहीं होता । कुछ तो मृत्यु के उपरान्त भी इसी लोक में रहते हैं ।

इस सूत्र का भावार्थ यह है कि अनुबन्धादि अर्थात् कर्म फलादि के

समान होने पर भी उपलब्धियाँ (प्राप्तियाँ) समान नहीं होती जैसे कि मृत्यु के सबकी होने पर भी लोक-संहार अर्थात् संसार का नाश नहीं होता।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबंधः ॥५२॥

परेण + च + शब्दस्य + तात् + विधयम् + भूयः + त्वात् + तु + अनु-बन्धः।

परेण=परमात्मा के साथ। **च**=और। **शब्दस्य**=वेद का। **ताद्वि-ध्यम्**=उसका विधायक होना। **भूयस्त्वात्**=बहुत होने से। **तु**=तो। **अनुबन्धः**=सम्बन्ध होता है।

भाव यह है कि वेद की विधियाँ अर्थात् पद्धतियाँ बहुत होने से (उसका) परमात्मा के साथ सम्बन्ध है।

पूर्वोक्त सूत्र मे कहा है कि कर्मादि फल के एक समान होने पर भी फल-प्राप्ति (उपलब्धियाँ) समान नहीं होती। जैसे मरते तो सब हैं, परन्तु मरने के उपरान्त गति भिन्न-भिन्न होती है।

इस सूत्र में लिखा है कि भिन्नता होने पर भी सबका फल तो होता ही है और उनमें कारण है कि सबका सम्बन्ध परमात्मा से है।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥५३॥

एके + आत्मनः + शरीरे + भावात्।

कुछ एक कहते हैं कि शरीर में ही आत्मा का होना दिखायी देता है।

अर्थात् शरीर न रहने से आत्मा भी नहीं रहता। कारण यह कि उनके लक्षणों का लोप हो जाता है।

यदि यह है तो किसके बन्धन छूटते हैं और किसको मोक्ष प्राप्त होता है ? अर्थात् किसी को नहीं।

यह आजकल के वैज्ञानिकों की भाँति कही गयी बात है। इसका समाधान सूत्रकार इस प्रकार करता है।

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥५४॥

व्यतिरेकः + तद्भावाभावित्वात् + न + तु + उपलब्धिवत्।

व्यतिरेकः=भेद है; आत्मा से शरीर का विपरीत लक्षण है। तद्भावा-भावित्वात्=उसके होने अथवा न होने से भी। न तु—नहीं तो। उप-लब्धिवत्=(सामान्य) फल-प्राप्ति की भांति।

उपलब्धि अर्थात् सामान्य फल-प्राप्ति का अभिप्राय है इन्द्रियादि से प्राप्त होने वाले रस।

सूत्र का अर्थ यह बनता है कि पहले सूत्र मे जो कथन किया गया है, वह ठीक नहीं। उस सूत्र में कहा गया है कि शरीर मे आत्मा के गुण शरीर के रहने से ही होते हैं। आत्मा के गुण बिना शरीर के दिखायी नहीं देते। अतः शरीर के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

सूत्रकार इस सूत्र में युक्ति देकर बताता है कि शरीर और आत्मा मे भेद है। दोनों में अन्तर है। उस (आत्मा) के होने अथवा न होने पर भी शरीर आत्मा नहीं होता। कारण यह कि ज्ञान एवं प्राणादि के विषय नही रहते।

प्रश्नकर्त्ता तो यह कहता है कि शरीर के न रहने पर आत्मा के लक्षण नहीं रहते। सूत्रकार कहता है कि शरीर के रहने पर भी आत्मा के लक्षण नहीं रहते। अर्थात् ये लक्षण शरीर के नही, किसी अन्य पदार्थ के हैं जो शरीर रहते भी उसको छोड़ गया होता है। वह जीवात्मा है।

मृत शव में जीवन के लक्षण नहीं रहते। जीवित मनुष्य को मोदक दिखाओ तो वह मुख खोल देता है अथवा मोदक लेने के लिए हाथ बढ़ा देता है, परन्तु मृत शरीर को मोदक दिखाओ अथवा उसके कान में ज़ोर-ज़ोर से कहो कि मोदक है, मोदक है, परन्तु वह मुख नहीं खोलेगा।

अतः मृत शव में से कुछ लुप्त हो गया है। वह जीवात्मा कहा जाता है जिसका अस्तित्व प्राणों से प्रकट होता है।

इसी जीवात्मा के विषय में लिखा है कि वह चेतन है, अल्प ज्ञान वाला है, जन्म-मरण के बन्धनों में बँधा हुआ है और ज्ञान प्राप्त कर वह परमात्मा से जुष्ट हो मोक्षावस्था में चला जाता है।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

अङ्गावबद्धाः+तु+न+शाखासु+हि+प्रतिवेदम्।

अंगावबद्धाः अंगों से सम्बन्ध। तु=तो। न=नहीं। शाखासु=शाखाओं में। प्रतिवेदम्=प्रत्येक में ज्ञान होता है।

तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिए है। व्यावृत्ति का अर्थ है निराकरण करना। अभिप्राय यह कि पूर्वपक्ष का उत्तर देने के लिए सूत्रकार

ने कहा है। पूर्वपक्ष यह था कि आत्मा के लक्षण शरीर में ही प्रकट होते हैं। अतः शरीर के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

इसके उत्तर में सूत्रकार ने यह कहा है कि आत्मा हो अथवा न हो; इस पर भी शरीर में आत्मा के लक्षण नहीं रहते। मृत शरीर में चेतनता के लक्षण नहीं हैं।

इस सूत्र में सूत्रकार ने यह कहकर अपने मत की पुष्टि की है कि अंगों में सम्बन्ध है और शरीर की शाखाओं मे अर्थात् शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में ज्ञान जाता है। एक हाथ पर सुई चुभे तो दूसरा हाथ सुई को हटाने के लिए आ उपस्थित होता है। च्यूटी पाँव में काटे तो हाथ उस च्यूंटी को हटाने के लिए आ उपस्थित होता है।

अंग परस्पर सम्बद्ध हैं। एक की संवेदना दूसरे में जाती है।

अन्य सूत्रकारों ने इस सूत्र में वेदों की शाखाओं में वर्णित उपासना में भेद, परन्तु सम फल वाली बताया है।

भाष्यकारों को इस पूर्ण पाद में उपासना (ज्ञान प्राप्ति के उपायों) का भ्रम हो रहा है। यह इस कारण है कि स्वामी शंकराचार्य ने इस पाद के सब सूत्रों को आरम्भ से लेकर अन्त तक उपासना के अर्थों में ही लगाया है। हमारा स्वामीजी से और इन सब भाष्यकारों से मतभेद है। यदि इस सूत्र को कुछ गम्भीरतापूर्वक देखें तो पता चलेगा कि शरीर और आत्मा की बात लिखते-लिखते एकाएक वेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं में उपासनाओं में भेद पर कैसे चले गये ?

अंगावबद्धाः में उपासना से अंगों की किस प्रकार संगति बन गयी ? जबकि पूर्व सूत्र में शरीर की और उसमें इन्द्रियों की उपलब्धि की बात हो रही थी।

शाखासु का अर्थ शाखाओं में है, परन्तु वेदों की शाखा क्यों ? और प्रतिवेदम् शरीर मे ज्ञान अर्थात् वेदना की बात विचार करनी चाहिए थी। कारण यह कि शरीर का उल्लेख हो रहा है; वेदो का नहीं।

अतः हमारा यह विचारित मत है कि यहाँ यही अर्थ हैं कि शरीर में भिन्न-भिन्न अंग सम्बद्ध नहीं; इस पर भी जीवित अवस्था में सबकी संवेदना समान है। अतः शरीर में केन्द्रीय चेतना का स्रोत एक है। वह जीवात्मा है।

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥५६॥

मन्त्रादिवत् । वा । अविरोधः ।

वा—अथवा। मन्त्रादिवत्—मन्त्र इत्यादि की भाँति। अविरोधः—विरोध नहीं।

मन्त्र का अर्थ है विचार। विचारादि से अभिप्राय है कि वह चेतना जो शरीर के अंग-प्रत्यंग में कार्य करने की प्रेरणा देती है। पूर्वोक्त सूत्र में लिखा है कि शरीर के अंग-प्रत्यंग में संवेदना के संचार में सम्बन्ध है। ज्ञान, चेतना जिसे सूत्र में मन्त्र शब्द से लिखा है, में विरोध न होने से सब अंगों में विरोध नहीं होता; अर्थात् समन्वय और सामञ्जस्य होता है। शरीर में केन्द्रीय चेतना अर्थात् मन्त्रणा देने का स्रोत एक है। वह जीवात्मा है। उसके एक होने से अंगों के कार्य में विरोध नहीं होता।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ।।५७।।

भूम्नः+क्रतुवत्+ज्यायस्त्वम्+तथा+हि+दर्शयति।

भूम्नः=सम्पूर्ण अर्थात् समष्टि का। क्रतुवत्=निश्चित योजना की भाँति। ज्यायस्त्वम्=बड़प्पन अर्थात् श्रेष्ठता, प्रधानता। तथा हि—निश्चय से वैसे ही। दर्शयति=दिखलाता है।

जैसे यज्ञ कर्म के सम्पूर्ण की महानता है, वैसे ही निश्चय से (यहाँ) दिखलायी गयी है।

यज्ञ कर्म की भाँति सर्वांग पूर्णता की श्रेष्ठता है। निश्चय से ऐसा (शास्त्र) दिखलाता है।

निश्चय से पूर्ण शरीर में हो रहे कर्मों की श्रेष्ठता इसी में है कि वे एक ही नियन्त्रण में हैं, अर्थात् जीवात्मा के। उसके निरीक्षण में हैं। शरीर के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग में विभिन्न कार्य होते हैं। ऐसा शास्त्र में दिखलाया गया है।

नाना शब्दादिभेदात् ।।५८।।

नाना+शब्दादिभेदात्।

शब्दादिभेदात्=शब्द आदि के भेद से। नाना=कई (कार्यकर्ता समझ आते हैं)।

जैसे पाँव चलते हैं, हाथ लिखते हैं, अंगुलियाँ पकड़ती हैं, आँखें देखती हैं, दाँत चबाते है। सूत्रकार का कहना है कि यह शब्दों का भेद है।

शब्द आदि से प्रयोजन है कर्म का। शब्द कर्म को ही प्रकट करते हैं। अतः कर्म भी नाना प्रकार के दिखायी देते हैं। ये शब्द और कर्म के भेद देखने से प्रतीत होता है कि इन कर्मों के करनेवाले भी कई हैं, परन्तु ऐसा है नहीं। सूत्रकार इसमें युक्ति देता है।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५९॥

विकल्पः+अविशिष्टफलत्वात्।

विकल्पः=एक दूसरे का स्थानापन्न होना। अविशिष्टफलत्वात्=न विशेष फल होने से।

सब अंगों के कर्मों का फल समान ही है। सब-के-सब शरीर के भीतर किसी एक का हित करने के लिए हैं और वे एक-दूसरे के कार्य के अभाव की पूर्ति कर सकते हैं।

उदाहरण के रूप में कान सुनना छोड़ देता है तो आँखें उसका विकल्प उपस्थित करती हैं। वे बोलनेवाले के होंठों के फड़कने से कहे का अनुमान लगाने लगती हैं अथवा आंखें देखना छोड़ देती हैं तो हाथ टटोल-टटोलकर उन आँखों के अभाव की पूर्त्ति करने लगते हैं।

यह विकल्पः इसी कारण है कि सब कार्यों में हित-अहित एक का ही होता है जो पूर्ण शरीर का अधिष्ठाता है।

इस पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सब विकल्प एक साथ हों अथवा पृथक्-पृथक् हों। सूत्रकार अगले सूत्र में कहता है कि सकाम कर्मों का इच्छानुसार समुच्चय (संग्रह) करे अथवा न करे, इसका एक कारण नहीं है।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

काम्यास्तु+यथाकामं+समुच्चीयेरन्+न+वा+पूर्वहेतु+अभावात्।

काम्यास्तु=कामना फल वाली। यथाकामं=जैसी कामना की जाती है। समुच्चीयेरन्=समुच्चय रूप से करें। न=नहीं होता। वा=अथवा। पूर्व हेतु=पहले के प्रयोजन। अभावात्=के अभाव से।

पूर्वोक्त सूत्र में यह बताया गया है कि शरीर के अंग एक-दूसरे का विकल्प हो सकते हैं।

इसमें एक अन्य बात बता दी है कि जैसी (जीवात्मा से) कामना की जाती है, वैसी ही फलवाली होती है। ये कामनाएँ समुच्चय रूप में न हो सकतीं, यदि एक हेतु का अभाव होता।

अभिप्राय यह है कि यदि एक अंग का कार्य दूसरे के कार्य से विकल्प रूप में प्रयोग हो सकता है तो सब कार्य सब अगों से एकाएक भी हो सकते हैं क्या ? सूत्रकार कहता है कि नहीं। कारण है हेतु का अभाव।

जिस प्रकार की कामना की जाती है, वह कामना पूर्ण होती है। परन्तु सब कामनाएँ एक ही अंग से पूर्ण नहीं हो सकती। ऐसा होने में कोई पूर्व का आयोजन नहीं है।

यदि कोई मनुष्य यह चाहे कि वह नाक, आँख अथवा कान से सब कामनाएँ पूर्ण कर ले तो नहीं हो सकता। ये अंग आरम्भ से एक-एक कार्य के लिए ही बने हैं।

एक के विकल्प में दूसरी इन्द्रिय अथवा अंग प्रयोग हो सकता है, परन्तु एक अंग समुच्चय रूप में सब कार्य नहीं कर सकता। इसके बनाने का पूर्व आयोजन ऐसा नहीं था।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥६१॥

अङ्गेषु+यथाश्रयभावः।

अंगेषु=अंगों में। यथाश्रयभावः=परस्पर आश्रय का भाव होता है।

एक अंग दूसरे का विकल्परूप में कार्य इस कारण करता है कि एक को दूसरे का आश्रय होता है, तभी एक-दूसरे का काम कर सकता है।

जब हम किसी वस्तु को आँख से देखते हैं तो उसको स्पर्श भी करते हैं। उसकी गंध अथवा जिह्वा से रस भी लेते हैं और वस्तु का जो ज्ञान जीवात्मा को होता है, वह सब इन्द्रियों के ज्ञान का समुच्चय होता है। अतः जब एक इन्द्रिय का अभाव हो जाये तब दूसरी इन्द्रियों के ज्ञान से उसके अभाव को एक सीमा तक ही दूर किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में जीवात्मा को जब आँख के अभाव में अन्य इन्द्रियों द्वारा वैसा ही ज्ञान प्राप्त हो, जैसा कि आँख से देखने पर हुआ था तो अभाव एक सीमा तक दूर हो जाता है।

यही स्थिति कर्मेन्द्रियों की भी है। अन्धे पाँव टटोलकर मार्ग देखते अर्थात पाते चले जाते हैं।

शिष्टेश्च ॥६२॥

शिष्टेः+च।

शिष्टेः=जो श्रेष्ठ है और शासन करती है। च=और।

शरीर के अंग-प्रत्यंगों का परस्पर समन्वय और सामञ्जस्य देखा जाता है। सूत्रकार कहता है कि यह इस कारण है कि शरीर में एक श्रेष्ठ तत्त्व विद्यमान है, जो सब अंगों का आश्रय स्थान है और जो सबमें समन्वय करता है।

शिष्ट शब्द से शेष बचे हुए अर्थ भी हैं। पर यहाँ यह अर्थ नहीं लगते। यहाँ शिष्ट से अभिप्राय है नियन्त्रण रखनेवाले का।

शरीर के सब अंग-प्रत्यंग इस शिष्ट (जीवात्मा) के हित में ही काम करते हैं।

एक राज्य में भी शासन ऐसे ही चलता है। सब कर्मचारी अपना-अपना काम करते हैं, परन्तु सबका फल राज्य को लाभ पहुँचाना होता है। एक कर्मचारी का कार्य विकल्प के रूप में दूसरा कर लेता है, परन्तु सब कार्य एक ही कर्मचारी नहीं कर सकता। सबके कार्य एक-दूसरे के आश्रय होते हैं। इसी प्रकार एक से दूसरे के कार्य की पूर्त्ति होती है।

समाहारात् ॥६३॥

समाहार से।

अर्थात् समान रूप मे पूर्ण प्रकरण को देखने से यही सिद्ध होता है कि शरीर में एक अधिष्ठाता है जिसके हित में शरीर के सब अंग-प्रत्यंग कार्य करते हैं।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥६४॥

गुणसाधारण्यश्रुतेः+च।

अंगों के गुणसाधारण्य अर्थात् धर्म सामान्य का श्रुति में वर्णन होने से।

शरीर के विशेष गुण, कर्म तो भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु उनके सामान्य धर्म एक समान हैं।

सामान्य धर्म क्या हैं ग्रौर वे श्रुति में किस प्रकार वर्णन किये हैं ? यही इस सूत्र में समझने की बात है।

शरीर के प्रत्येक ग्रंग का गुण ग्रौर धर्म यह है कि जीवात्मा को ग्रपनी कामनाग्रों की पूर्ति के लिये सुविधायें उपलब्ध कराये। यह सब ग्रंगों का सामान्य गुण एवं कर्म है।

शरीर निवास स्थान है जीवात्मा का ग्रौर शरीर सामूहिक रूप में जीवात्मा की कामनाग्रों की पूर्ति में सुविधायें उपलब्ध करता है। सब ग्रंगों का यही सामान्य गुण है। ऐसा श्रुति में भी कहा है। एक वेद मन्त्र है :—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको ग्रश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥
(ऋग्० १-१६४-२)

सप्त (प्राणों) से संयुक्त एक रथ चक्र (शरीर) है। उस सप्तनामा (सात प्राणों) से एक ग्रश्व (जीवात्मा) इसे चलाता है। तीन नाभिचक्रों में वह ग्रजर जुता हुग्रा है जैसे कि विश्व में ग्रह ठहरे हुए हैं।

यहाँ ग्रात्मा का शरीर में उपस्थित होने का उल्लेख है।

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥६५॥

न+वा+तत्सहभाव+ग्रश्रुतेः।

वा=ग्रथवा। न=नहीं है। तत्सहभाव=उनका सहभाव (साथ-साथ रहना)। ग्रश्रुतेः=यह श्रुति में नहीं है।

वेद में जीवात्मा ग्रौर शरीर का सह ग्रस्तित्व नहीं कहा गया। सहभाव का ग्रर्थ है कि सदा एक साथ रहना। दोनों सदा एक साथ नहीं रहते। शरीर नाशमान है। जीवात्मा ग्रजर, ग्रमर है।

जीवात्मा शरीर में रहता है। इससे कार्य कराता है, परन्तु दोनों एक ही प्रकार के पदार्थ नहीं हैं। शरीर ग्रचेतन प्रकृति से बना है। जीवात्मा चेतन है। शरीर बना है, इस कारण टूटेगा भी। जीवात्मा ग्रनादि होने से न बना है ग्रौर न विनष्ट होगा। इनका सहभाव ग्रर्थात् साथ-साथ रहना श्रुति में वर्णित नहीं है।

दर्शनाच्च ॥६६॥

दर्शनात्+च।

और देखने से।

अर्थात् शरीर एवं जीवात्मा दोनों का असहभाव भी देखने से सिद्ध होता है।

और यही देखने में आता है। जो केवल इन्द्रियों से देखने पर ही विश्वास करते हैं, वे भी देखते हैं कि शरीर में एक चेतन स्वरूप पदार्थ है जो मरने पर इसमें से चला जाता है। साथ ही जो पूर्ण शरीर के कार्य का समन्वय करता है।

चतुर्थ पाद

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।।१।।

पुरुषार्थः+अतः+शब्दात्+इति+बादरायणः ।

इसलिये पुरुषार्थ (भी) है। यह वेद से विदित होता है। यह बादरायण का मत है।

इस अध्याय के तीसरे पाद में मोक्ष प्राप्ति की बात कही है। उसकी प्राप्ति के लिये ज्ञान साधन माना है। यद्यपि संकेत तो वहाँ भी है कि कर्म की आवश्यकता रहती है।

इस पाद के आरम्भ करते ही सूत्रकार कहता है कि कर्म भी है। कर्म को यहाँ पुरुषार्थ का नाम दिया है। यह बादरायण ऋषि का मत है।

'पुरुषार्थ भी है' का अभिप्राय है कि मोक्ष प्राप्ति में पुरुषार्थ का भी भाग है।

ऊपर एक सूत्र में कह आये हैं—**'पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रिया-मानसवत्।'** (ब्र० सू० ३-३-४५)

अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति पूर्व विकल्पित अर्थात् निर्धारित और प्रकरण से होती है। जैसे मानस क्रियाओं में होता है।

मन की क्रियाओं में यह होता है कि पहले किसी काम की जिज्ञासा की जाती है, तब उसका प्रकरण (वृत्तान्त) जाना जाता है। तदुपरान्त उस कल्पना को पूर्ण रूप करने का यत्न किया जाता है। यह कहा-जा सकता है कि तीसरे अर्थात् यत्न का उस सूत्र में स्पष्ट वर्णन नहीं तो इस पाद के आरम्भ में ही कह दिया है। मानसवत् में जो वहाँ कमी रह गई थी, उसे यहाँ पूर्ण कर रहे हैं।

मोक्ष प्राप्ति में भी क्रिया मानसवत् होती है। पहले मोक्ष की जिज्ञासा की जाती है तब उसका प्रकरण (ज्ञान) प्राप्त किया जाता है। तदुपरान्त उसकी प्राप्ति में पुरुषार्थ किया जाता है।

यही इस सूत्र में कहा है कि 'पुरुषार्थ भी है'। अभिप्राय यह कि कर्म मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है।

इसी सूत्र मे आगे लिखा है 'शब्दात्-इति'। यही बात वेद से भी सिद्ध होती है। यह इस प्रकार है—

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नो ऽभीद्धो धर्मस्तदु षु प्र वोचम् ॥
(ऋ० १-१६४-२६)

जैसे दूध देनेवाली गाय को कोई कुशल व्यक्ति चाहता है और दूध दोहता है, उसी प्रकार से हम वेदवाणी दोहें और उसमें कहे धर्म का पालन करें।

इस मन्त्र से यह पता चलता है कि ज्ञान प्राप्ति और कर्म (पुरुषार्थ) साथ-साथ चलते हैं। तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस सूत्र के अर्थ करते हुए हमने पुरुषार्थ का अर्थ कर्म किया है। अभिप्राय यह है कि शब्द पुरुषार्थ प्रयत्न का सूचक है, परन्तु अन्य भाष्यकारों ने पुरुषार्थ के अर्थ इस प्रकार किये हैं —

पुरुष के प्रयत्न का उद्देश्य; अर्थ का अभिप्राय वे उद्देश्य करते हैं। (object of human pursuit)। साथ ही वेदान्त दर्शन में इस शब्द के आने से इसके अर्थ हो जाते हैं मोक्ष प्राप्ति। उन भाष्यकारों के विचार से सूत्र के अर्थ बनते हैं मोक्ष प्राप्ति में वेद का भी यह मत है। ऋषि बादरायण जी कहते हैं।

पुरुषार्थ का अर्थ प्रयत्न भी है (effort or exertion)।

हम इस सूत्र का यही अर्थ मानते हैं। सूत्रकार तो यह कह चुका है। 'विद्यैव तु निर्धारणात् ।' (ब्र० सू० ३-३-४७)।

अर्थात्—ज्ञान प्राप्त होता है निर्धारण से। धारणा, ध्यान और समाधि से ज्ञान प्राप्त होता है। ये प्रयत्न ही हैं। अतः पुरुषार्थ का यहाँ अर्थ है मोक्ष प्राप्ति में प्रयत्न।

हमारा यही मत है कि इस सूत्र में पुरुषार्थ का अर्थ परिश्रम है। पुरुष का उद्देश्य नहीं। यहाँ यह जीवात्मा की खोज का लक्ष्य नहीं, वरन् खोज में प्रयत्न है।

यह विषय कि मोक्ष प्राप्ति में कर्म सहायक है अथवा बाधक, एक अति महत्त्व का है। शंकर के अद्वैतवाद के तीन आधारों में यह एक है। अतः हम शंकर मत के इस आधार का अधिक विस्तार से निरीक्षण करना चाहते हैं।

इस सूत्र की व्याख्या में शंकर इस प्रकार लिखते हैं—

पुरुषार्थोऽत इति। **अस्माद्वेदान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते। कुत एतदवगम्यते? शब्दादित्याह।** तथा हि—'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७-१-३), **'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'** (मु० ३-२-९), **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** (तै० २-१-१), **'आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये'** (छा०

६-१४-२) इति, 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८-७-१) इत्युपक्रम्य 'सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' (छा० ८-७-१) इति, 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० ४-५-६) इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृत्वम् (बृ० ४-५-१५) इत्येवंजातीयका श्रुतिः केवलाया विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वं श्रावयति ॥

इसका अर्थ इस प्रकार है—

'पुरुषार्थोऽत' इस प्रकार उपक्रम करते हैं। बादरायण आचार्य ऐसा मानते हैं कि इस वेदान्त विहित स्वतन्त्र आत्म-ज्ञान से पुरुषार्थ सिद्ध होता है। यह कैसे अवगत होता है ? श्रुति से ऐसा कहते हैं। जैसे कि—

इसके आगे शंकर बहुत से प्रमाण देते हैं। वे हैं—

(१) छा० ७-१-३; (२) मु० ३-२-६; (३) तै० २-१-१; (४) छा० ६-१४-२; (५) छा० ८-७-१; (६) छा० ८-७-१; (७) बृ० ४-५-६; (८) बृ० ४-५-१५।

इस प्रकार शंकर ने अपने विचार की पुष्टि में एक बहुत बड़ा साक्ष्य उपस्थित किया है।

परन्तु ये प्रमाण सूत्र के विषय को छू भी नहीं गये। इस सूत्र में विवाद है पुरुषार्थ शब्द पर।

ये सब प्रमाण यह सिद्ध नहीं कर सके कि सूत्रकार ने पुरुषार्थ शब्द पुरुष के लक्ष्य (object of human pursuit) के अर्थों में लिखा है अथवा प्रयत्न (effort or exertion) के अर्थों में।

उक्त जितने भी प्रमाण शंकराचार्य ने दिये हैं, वे यह सिद्ध करने के लिये हैं कि मोक्ष है। भला इसमें कोई सन्देह था ! इसी अध्याय का पूर्व पाद (३-३) में वेदान्तों में अभेद का वर्णन करते-करते वेदान्तों मे वेधादि (प्रलय) का वर्णन किया तो मोक्ष अथवा स्वर्गलोक का वर्णन आरम्भ हो गया। प्रलय भी नाश का स्वरूप है और मोक्ष तथा स्वर्ग भी पापों के नाश का स्वरूप है। यह सूत्र (३-३-२५, २६) में वर्णित है। सूत्र ३-३-२७ में साम्पराये (स्वर्ग लोक में) का उल्लेख है। वर्णन है कि स्वर्ग लोक को पार कर अर्थात् इसकी अवधि समाप्त होने पर दोनों मार्ग खुले होते हैं, वापस लौटने का अथवा मोक्षधाम को जाने का। यह ३-३-२७ में है। ३-३-२८ में लिखा है कि जीवात्मा स्वेच्छा से बिना विरोध के दोनों ओर जा सकता है। स्वर्ग लोक से मर्त्य लोक की ओर अथवा ब्रह्म लोक की ओर। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो युक्ति से विरोध होगा।

तदनन्तर (सूत्र ३-३-३२ में) लिख दिया है कि जब तक इन लोकों में रहने का अधिकार रहता है तब तक जीवात्मा वहाँ रहता है। यहाँ भी दोनों

लोकों, स्वर्ग लोक और ब्रह्म लोक, का उल्लेख है। सूत्र ३-३-३३ में मोक्ष को जो अक्षर अर्थात् अनन्त मानते हैं, उनके विषय में लिखा है कि मोक्ष काल को न समाप्त होनेवाला कहनेवाले औपचारिक रूप से कहते हैं। तदनन्तर (३-३-३५ में) कहा है कि ब्रह्म लोक में भी परमात्मा जीवात्मा में ऐसे ही है जैसे कि वह प्राणी लोक में प्राणियों में है। सूत्र ३-३-३६ में बता दिया गया है कि मोक्षावस्था में भी जीव और ब्रह्म में भेद है। इसके आगे सूत्र (३-३-३७) में लिखा है कि मोक्षावस्था में जीवात्मा में कामनायें रहती हैं और वे परमात्मा का आश्रय होने से पूर्ण होती हैं।

इस प्रकार सूत्र ३-३-४२ में लिखा है कि मोक्ष प्राप्ति और ब्रह्म के दर्शन दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। सूत्र ३-३-४५ में मोक्ष प्राप्ति 'मानस क्रियावत्' कहा है।

इसी प्रकार इस पाद के अन्त तक मोक्ष के विषय का ही निरूपण है। तब फिर इस सूत्र (३-४-१) में पुरुषार्थ (मोक्ष) है, कहने के कुछ भी अर्थ नहीं। मोक्ष के होने के विषय में प्रमाण देने के भी कुछ अर्थ नहीं रहते।

जितने भी प्रमाण शंकराचार्य ने दिये हैं, वे यही बताते हैं कि मोक्ष पद प्राप्त करना चाहिये। हमारा यह दृढ़ मत है कि सूत्र ३-४-१ का यह आशय नहीं कि मोक्ष पद है, वरन् इसका अर्थ यह है कि मोक्ष प्राप्ति में प्रयत्न (कर्म) का भी सहयोग है। हमारे इस मत का समर्थन पूर्ण पाद करता है। एक प्रबल युक्ति हमारे पक्ष में यह है कि पूर्ण (३-४) पाद में मोक्ष नहीं अथवा मोक्ष के होने में सन्देह का उल्लेख नहीं, वरन् कर्म और ज्ञान का तुलनात्मक वर्णन है। देखो, सूत्र (३-४-६, १०, ११)।

यह मिथ्यावाद है कि कर्म मोक्ष प्राप्ति में बाधक है।

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥२॥

शेषत्वात् + पुरुषार्थवादः + यथा + अन्येषु + इति + जैमिनिः।

यह जैमिनि ऋषि का मत है। शेष होने से। पुरुषार्थवाद को वैसे ही मानो जैसे अन्य (विषयों) में।

पुरुषार्थवाद का अभिप्राय है कि वह मत जिसमें पुरुषार्थ से सिद्धि मानी जाती है। सूत्रकार कहता है कि यह ऐसे है जैसे कि अन्य विषयों में होता है।

अन्य विषयों से अभिप्राय है मोक्ष के अतिरिक्त विषयों में।

शेषत्वात् से अभिप्राय यज्ञ अथवा किसी कर्म का अन्तिम भाग है। यज्ञ

के शेष अथवा किसी कर्म के अन्तिम भाग को अत्यावश्यक माना जाता है। उस पर ही यज्ञ अथवा कर्म की सफलता निर्भर करती है। अतः सूत्रार्थ इस प्रकार बनता है। पुरुषार्थ को मोक्ष प्राप्ति में वैसे ही समझो जैसे कि किसी यज्ञ कर्म मे शेष भाग को समझा जाता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में जिज्ञासा उसका प्रथम चरण है। ज्ञान दूसरा चरण है। पुरुषार्थ शेष कर्म की भाँति है। इस सूत्र का शब्द 'अन्येषु' ही सूत्रार्थ में सहायक हो रहा है। इसके अर्थ हैं—'अन्य मे'। किसमें ? मोक्ष के अतिरिक्त अन्य कार्यों में।

यह जानना रुचिकर होगा कि शंकराचार्य इस सूत्र के भाष्य में क्या लिखते हैं ? वास्तव में विवाद है ज्ञानवाद और पुरुषार्थवाद का। इसे दूसरे शब्दों में ज्ञान और कर्म का भी कहा जा सकता है। स्वामी जी ज्ञान के पक्ष में हैं। वह मानते हैं कि मोक्ष प्राप्ति में कर्म बाधक होते हैं। आप भगवद्-गीता के अपने भाष्य में, तीसरे अध्याय के प्रारम्भिक कथन में लिखते हैं—

'मोक्षस्य च अकार्यत्वात् मुमुक्षोः कर्मानर्थक्यम्।'

अर्थात्—मोक्ष अकार्य है। अभिप्राय यह कि कार्य से प्राप्त नहीं होने वाला। इस कारण मुमुक्ष के लिए कर्म व्यर्थ है।

परन्तु यहाँ सूत्रकार तो कुछ अन्य बात कहता है। अतः यह देखना चाहिए कि स्वामी जी इस सूत्र का क्या अर्थ करते हैं ? आप लिखते हैं—

कर्तृत्वेनात्मनः कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि व्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्मसंबन्ध्येवेत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजन आत्मज्ञाने या फलश्रुतिः सार्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते, यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति। यदङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते। यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै' इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवादः, तद्वत्।

अर्थात्—कर्तृ रूप से आत्मा कर्म का अंग है। अतः उसका ज्ञान भी व्रीहि प्रोक्षण आदि के समान विषय-आत्मा द्वारा कर्म सम्बन्धी ही है। इससे उस कर्म का प्रयोजन अवगत होने पर आत्म-ज्ञान में जो फल-श्रुति है, वह अर्थ-वाद है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। जैसे अन्य द्रव्य संस्कार कर्मों मे 'यस्य पर्णमयी' है वैसे ही आत्म-ज्ञान में फल श्रुति अर्थवाद है।

हमारा मत है कि यहाँ अर्थ के अनर्थ किये गये हैं। पुरुषार्थवाद को अर्थवाद कहा गया है। यह सूत्र को विकृत करने का प्रमाण है। साथ ही अर्थ-वाद का अर्थ भूसा छड़ना नहीं है।

अर्थवाद का अभिप्राय है कि किसी बात को सिद्ध करने के लिए विषयान्तर के प्रमाण और युक्तियाँ देना। अर्थवाद का अभिप्राय यह नहीं जो स्वामी जी ने कहा है—'आत्म-ज्ञान में फल श्रुति' अर्थात् आत्म-ज्ञान में श्रुति

का फल। यद्यपि श्रुति सुनना भी कर्म है, तथापि यहाँ कर्म का अर्थ योगाभ्यास है। योग के आठों अंग आत्म-ज्ञान के लिए हैं। पहले पांच—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार तो पूर्व कर्म हैं और धारणा, ध्यान तथा समाधि शेष कर्म हैं। इस सूत्र का इन शेष कर्मों से ही अभिप्राय है।

बिना पूर्व कर्म के अर्थात् बिना अभ्यास के शेष की भी सिद्धि नहीं होती। यहाँ पुरुषार्थ का अर्थ प्रयत्न (effort) है।

स्वामी जी ने अद्वैतवाद का पूर्ण प्रासाद दो आधारों पर खड़ा किया है। एक, सृष्टि रचना में परमात्मा का उपादान बनना; यह ब्रह्म-सूत्रों में कहीं नहीं मिलता। दूसरा आधार है मोक्ष में एक मात्र साधन ज्ञान मानना और कर्म को इसकी प्राप्ति में बाधक मानना। ब्रह्म-सूत्र इस दूसरे आधार का खण्डन करता है।

सूत्रार्थ है—शेष कर्म की भाँति पुरुषार्थवाद है। जैसे अन्य कर्मों में है। ऐसा जैमिनि ऋषि का कहना है।

शेष कर्म मुख्य कर्म का आवश्यक अंग होता है। इसके बिना कर्म समाप्त नहीं होता। अभिप्राय यह है कि ज्ञान के उपरान्त पुरुषार्थ करने से ही मोक्ष की सिद्धि सम्भव है।

यह जैमिनि ऋषि का मत है, परन्तु यह पूर्व पक्ष नहीं। शंकराचार्य इसको पूर्व पक्ष मान रहे हैं। यह सूत्रकार का एक अन्य ऋषि के मत द्वारा समर्थन है।

आचारदर्शनात् ॥३॥

आचार+दर्शनात्

आचरण देखा जाने से।

जनकादि राजाओं की ओर संकेत है। अतः सूत्र का अभिप्राय यह बनता है कि ज्ञानियों के भी आचरण को देखने से यही पता चलता है कि पुरुषार्थ भी मोक्ष में सहायक होता है। जनक के इतिहास में इस बात का उल्लेख है कि वह राजा ब्रह्म-विद्या का ज्ञाता होता हुआ भी यज्ञादिक कर्म करता था।

यह वर्णन भी मिलता है कि उसे राज्य पद से सीधा मोक्ष प्राप्त हुआ था।

तच्छ्रुतेः ॥४॥

तत्+श्रुतेः।

तत् (जो कुछ ऊपर कहा गया है) वह (श्रुतेः) श्रुति से भी सिद्ध है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

(यजु० ४०-२)

कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जियो।

ज्ञान और कर्म साथ-साथ चलते हैं। ज्ञानयुक्त कर्म मोक्ष में बाधक नहीं होता। यह सहायक होता है।

छान्दोग्य उपनिषद् (१-१-१०) में भी यही लिखा है—

···च यदेव विद्यया करोति, श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति ··

अर्थात्—जो कर्म, विद्या, श्रद्धा तथा योग से युक्त होकर किया जाता है वह प्रबलतर होता है। योग का अर्थ भगवद्गीता में लिखा है—

'योगः कर्मसु कौशलम्।'

(भ० गी० २-५०)

समन्वारम्भणात् ॥५॥

दोनों (ज्ञान और कर्म) साथ-साथ आरम्भण से। सूत्रार्थ है समन्वय द्वारा आरम्भण से।

इसका अभिप्राय यह है कि कर्म से ही ज्ञान आरम्भ होता है। साथ ही ज्ञान का फल कर्म से ही प्राप्त होता है। इस कारण दोनों के साथ-साथ चलने की बात लिखी है।

इसका अभिप्राय यह है कि कर्म और ज्ञान का आरम्भण एक ही समय होता है।

भगवद्गीता में इस प्रकार लिखा है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

(भ० गी० ४-१९,२०)

अर्थात्—जिसके सब कार्य कामनारहित और ज्ञान की अग्नि से संशोधित होते हैं वह ज्ञानी जन पण्डित कहलाते हैं।

बिना किसी आशा के तथा प्रशंसा-पुरस्कार की आशा के, जो कर्म-फल का मोह छोड़कर व्यवहार करता है वह कुछ भी नहीं करता।

इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान और कर्म साथ-साथ चलते हैं। कर्म त्याज्य नहीं।

तद्वतो विधानात् ॥६॥

तद्वतः + विधानात्।

उस (ज्ञानवान्) की भाँति विधान से। अर्थात् साथ-साथ आरम्भण होने वालों (ज्ञान और कर्म) के विधान (नियम) से। ऐसा हम संसार में नित्य होता देखते हैं।

नियमाच्च ॥७॥

नियमात् + च।

नियम से भी यही बात पता चलती है।

नियम से अभिप्राय है लोक व्यवहार। लोक में सफलता के लिए कर्म और ज्ञान का समन्वय देखने में आता है।

शंकर और उनकी परिपाटी के भाष्यकार सूत्र ३-४-२ से लेकर सूत्र ३-४-७ तक पूर्व पक्ष मे बताते हैं। अर्थात् वे यह मत ब्रह्म-सूत्र के प्रणेता महर्षि व्यास जी का नहीं मानते। इस कारण यह माना जाता है कि सूत्रकार ने इनको जैमिनि के नाम से लिखा है। इन भाष्यकारों का यह मत है कि वेदान्त दर्शनाचार्य का अपना मत सूत्र ३-४-१ में लिखा है और इन जैमिनि के नाम से दिये सूत्रों का समाधान सूत्र ३-४-८ में दिया है।

सूत्र ३-४-१ का अर्थ हम ऊपर दे आये हैं और हमने उस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—

'बादरायण के मत से पुरुषार्थ भी है।' शब्द प्रमाण से भी यही पता चलता है। ये भाष्यकार मानते हैं कि इस सूत्र का अर्थ है—पुरुष का लक्ष्य (मुक्ति) है। ऐसा अर्थ करने से कर्म का वर्णन तो दिखायी देता नहीं। हां,

पुरुषार्थ का उल्लेख विद्यमान है। परन्तु पुरुषार्थ के अर्थों में मतभेद है। यदि इस सूत्र (३-४-१) का अर्थ अन्य भाष्यकारों के अनुसार मान लें तब प्रश्न उत्पन्न होता है कि अगले सूत्रों में कर्म का झगड़ा कैसे उत्पन्न हो गया? तब अगले सूत्र विषयान्तर माने जायेंगे और यदि सूत्र ३-४-२ से ३-४-७ तक विषयान्तर माने जाते हैं, तब वे पूर्व पक्ष प्रतीत नहीं होंगे, प्रत्युत सूत्रकार के समर्थन में ही समझ में आयेंगे।

अब सूत्र ३-४-८ भी देख लें तो बात स्पष्ट हो जायेगी!

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।।८।।

अधिकोपदेशात्+तु+बादरायणस्य+एवम्+तद्दर्शनात्।

अधिक के उपदेश से तो बादरायण का मत इस प्रकार उसके देखे जाने से। (वही है जो जैमिनि के नाम से कहा है)।

इस सूत्र में पद 'अधिक के उपदेश से' समझने की आवश्यकता है। किससे अधिक? जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे अधिक। अर्थात् बादरायण पूर्वोक्त सूत्रों से अर्थात् ३-४-२ से ३-४-७ तक के सूत्रों में कहे सिद्धान्तों से कुछ अधिक कहते हैं। क्या कहते हैं? दर्शन से अर्थात् देखे जाने से।

इस सूत्र में ऊपर के सूत्रों के खण्डन में तो कुछ भी दिखायी देता नहीं, वरन् यह कहा है कि ऊपर कहे गये से अधिक। बादरायण कह रहे हैं कि अधिक कहने से तो बादरायण द्वारा जैमिनि के मत का समर्थन ही सिद्ध होता है। बादरायण उस मत की पुष्टि अधिक प्रमाण और युक्ति से करने जा रहे हैं।

यदि उक्त मत के विपरीत कहना होता तो शब्द 'अधिकोपदेशात्' के स्थान 'व्यतिरेकात्' होता। अधिक के कहने से विरोध सिद्ध नहीं होता।

ऊपर जैमिनी के मत से जो कुछ लिखा गया है वह प्रथम सूत्र के विपरीत भी नहीं। यदि तो प्रथम सूत्र में कर्म के विरोध में कुछ होता तब बात विचारणीय हो जाती। विरोध नहीं, वरन् समर्थन ही है।

यह स्पष्ट है कि जैमिनी इत्यादि के नाम से जो पुरुषार्थवाद और शेषत्व की बात कही गयी है, बादरायण उससे अधिक ही कहते हैं।

शंकराचार्य इस सूत्र का भाष्य करते हुए कहते हैं—

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते। यदुक्तम्—"शेषत्वात्पुरुषार्थवादः (ब्र० सू० ३-४-२) इति, तन्नोपपद्यते, कस्मात्? अधिकोपदेशात्। यदि संसार्येवात्मा शारीरः कर्ता भोक्ता च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्ततो वर्णितेन

प्रकारेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात् । अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽससारीश्वरः कर्तृत्वादिससारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु । नच तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तक भवति, प्रत्युत कर्माण्युच्छिनत्तीति वक्ष्यति "उपमर्दं च" (ब्र० सू० ३-४-१६) इत्यत्र ।

इसका अर्थ इस प्रकार है—

तु शब्द से पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति होती है। "शेषत्वात्पुरुषार्थवादः"— ऐसा जो कहा गया है वह ऐसा उपपन्न नहीं होता, क्योंकि अधिक का उपदेश है। यदि संसारी जीवात्मा ही शरीर कर्ता, भोक्ता शरीर मात्र से अतिरिक्त वेदान्तों मे उपदिष्ट होता तो वर्णित प्रकार से फल श्रुति अर्थवाद होती, किन्तु शरीर जीवात्मा से अधिक अतिरिक्त असंसारी, ईश्वर कर्तृत्व इत्यादि जीवात्मा के धर्मों से रहित अपहतपाप्मत्व आदि विशेषणों से युक्त परमात्मा जानने योग्य रूप से उपनिषदो मे उपदिष्ट है और उसका ज्ञान कर्मों का प्रवर्तक नहीं होता, प्रत्युत कर्मों का उच्छेद करता है। ऐसा आगे 'उपमर्द च' इस सूत्र में कहेगे।

शंकर ने इस भाष्य में तु शब्द व्यावृत्ति का वाचक माना है, परन्तु तु शब्द से सदा व्यावृत्ति नहीं होती। जैसे कि कोई कहे कि यदि परमात्मा सर्व व्यापक है तो (तु) वह सर्वज्ञ भी है। यहाँ तो (तु) शब्द किसी बात का खण्डन करने के लिये नही, वरन् कहे से कुछ अधिक बताने के लिये कहा गया है। और भी देखें। 'सोम देव बम्बई गया तो बंगलोर भी जायेगा।'

शंकराचार्य स्वयं ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कई स्थान पर तु शब्द का अर्थ संग्रहार्थ मानते हैं। उदाहरण के रूप मे सूत्र ब्र० सू० ४-१-१४ में तु शब्द के अर्थ 'ही' के लिखे हैं।

सूत्र ४-१-१५ में भी तु के अर्थ शंकर ने 'ही' के लिये हैं।

अत. यहाँ तु शब्द व्यावृत्ति के लिये नही है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—

अधिकोपदेशात्तु- अधिक के उपदेश से भी। एव=इस प्रकार। बादरायणः=बादरायण ऋषि का मत (है)। तद्दर्शनात्=वैसा लोक में और श्रुति में भी देखा जाने से।

कोई कारण नही कि महर्षि जैमिनी तथा महर्षि बादरायण को भिन्न-
भिन्न मतवाला माना जाये। दोनो वेदानुयायी और ऋषि माने जाते हैं।
हमारा तो यह मत है कि छयों दर्शन, वैदिक दर्शन शास्त्र परस्पर
विरोधी नही है। ये एक दूसरे की पूर्ति करते है। अतः अकारण 'तु' शब्द को
विरोधी अर्थ वाला मानना ठीक नही।
'तु' शब्द को छोड़कर शेष युक्ति, जो शंकराचार्य ने दी है, सूत्रार्थ को

प्रकट करती ही नहीं। श्री शंकर कहते हैं—अधिक कहे जाने से, विपरीत भाव प्रकट होता है। हमारा मत है कि विपरीत भाव प्रयुक्त है। जो कुछ कहा गया है उसी दिशा में ही और अधिक कहने का ही प्रयोजन हो सकता है।

आगे शंकराचार्य कहते हैं कि यदि संसारी जीवात्मा ही शरीर कर्ता, भोक्ता शरीर मात्र से अतिरिक्त वेदान्तों में उपदिष्ट होता—तो अर्थवाद होता।

यह अनर्गल बात है। जीवात्मा संसारी हो, असंसारी हो; वह शरीर से पृथक् होता ही है। वेदान्त में ऐसा ही लिखा है।

लिखा है—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

(कठो० १-२-१८)

अर्थात्—आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत, प्राचीन और न नाश होनेवाला है। नाशवान तो शरीर है।

स्वामी शंकराचार्य जी कहते हैं कि यदि वेदान्त में जीवात्मा शरीर से पृथक् लिखा है तो वह अर्थवाद है। इसका अर्थ यह हुआ कि शंकर के मत से मीमांसकों का अर्थवाद अनृत भाषण के तुल्य हो जायेगा। वस्तुतः यह ऐसा नहीं है। अर्थवाद का अभिप्राय है—जब किसी तथ्य को सिद्ध करने के लिये विषयान्तर प्रमाण और युक्तियां दी जायें तो वह विधि अर्थवाद कहलाती है।

परन्तु आत्मा तो शरीर है ही नहीं। अतः यह विषयान्तर कथन नहीं है। उसका शरीरी होना विषयान्तर नहीं कहा जा सकता। यह अर्थवाद नहीं माना जा सकता। इसे यथार्थवाद कहा जा सकता है।

शंकराचार्य के उक्त उद्धरण में कहा गया है कि परमात्मा, जीवात्मा शरीरी के धर्मों से रहित और उससे वेद्य रूप है—अर्थात् जानने योग्य है। उपनिषद् में ऐसा लिखा है। अतः उसका ज्ञान कर्मों का प्रवर्त्तक नहीं हो सकता, प्रत्युत कर्मों का उच्छेदक होगा।

भला यह कहाँ की युक्ति है? परमात्मा 'वेद्य' है—अर्थात् जानने योग्य है। इस कारण कर्म प्रवर्त्तक नहीं। यह तो ऐसे है जैसे कि कोई कहे कि न्यायाधीश वादी-प्रतिवादी से अलिप्त होता है; इस कारण वादी-प्रतिवादी हो ही नहीं सकता।

परमात्मा ज्ञान स्वरूप है और जानने के योग्य है तो फिर जीवात्मा को कर्म में प्रवृत्त होने से रोकता क्यों है? इस प्रकार की युक्तियां पढ़कर ही हम कहते हैं कि शंकर को दार्शनिक विषयों पर लेखनी नहीं उठानी चाहिये थी। उनकी सब युक्तियां प्रायः शिथिल और अप्रासंगिक होती हैं।

यजुर्वेद में लिखा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। (यजु० ४०-२)

सौ वर्ष तक मनुष्य कर्म करता हुआ जिये। यदि परमात्मा कर्मों का उच्छेद करनेवाला होता तो परमात्मा अपनी ही वाणी अर्थात् वेद में क्यों ऐसा आदेश करता ?

अतः हमारा मत है कि जैमिनी इत्यादि ने कोई ऐसा मत प्रतिपादित नहीं किया जो महर्षि व्यास को मान्य नहीं। यह तो शंकर तथा उनके अनुयाइयों द्वारा ब्रह्मसूत्रों का अर्थ विकृत कर ही दोनों में मतभेद दिखाया जा रहा है।

हमारा मत यह है कि वैदिक सिद्धान्त है कि मोक्ष की प्राप्ति के लिये ज्ञान और पुरुषार्थ दोनों की आवश्यकता है। यही बात अभी तक सूत्रों में प्रतिपादित की गयी है। इस पाद के प्रथम आठ सूत्रों का अर्थ इस प्रकार बनता है—

(१) बादरायण और वेद पुरुषार्थ को भी (मोक्ष का साधन मानते हैं)।

(२) शेष कार्य की भाँति पुरुषार्थवाद भी है, ऐसा जैमिनी ऋषि का मत है।

(३) व्यवहार में देखे जाने से।

(४) ऐसा श्रुति में भी वर्णित है।

(५) (कर्म और ज्ञान का) समान आरम्भ होने से।

(६) इसी के समर्थन में विधान और नियम भी हैं। ज्ञान और कर्म साथ-साथ चलते हैं।

(७) नियम भी हैं।

इसके उपरान्त वर्तमान सूत्र आया है। इसके अर्थ इस प्रकार हैं—इन सबसे अधिक बादरायण कहते हैं कि यही देखने से प्रतीत होता है (कि पुरुषार्थ भी मोक्ष प्राप्ति में सहायक है)।

तुल्यं तु दर्शनम् ॥९॥

तुल्यं+तु+दर्शनम्।

बराबरी (कर्म और ज्ञान में समानता) तो दिखायी देती है।

इस सूत्र पर स्वामी शंकराचार्य के भाष्य को भी देखना चाहिये कि वह इस सरल भाषा को भी कैसे विकृत करते हैं ? आप लिखते हैं—

यत्तूक्तम्—आचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति, अत्र ब्रूमः—तुल्यमाचार-

दर्शनमकर्मशेषत्वेऽपि विद्यायाः । तथा हि श्रुतिर्भवति—'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे', 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३-५-१) इत्येवंजातीयका ।

अर्थात्—जो यह कहा गया है कि 'आचारदर्शनात्' आचार दर्शन से ज्ञान कर्म का अंग है, इस पर हम कहते है कि विद्या के अकर्म शेषत्व में भी दर्शन समान हैं, क्योंकि 'एतद्धस्म'—(बृ० ३-५-१) यह श्रुति में कहा है।

शंकर ने इस सूत्र के भाष्य मे अन्य उदाहरण भी दिये हैं। उन उद्धरणों को तो हम पीछे देखेंगे। पहले शंकर के कथन की परीक्षा होनी चाहिये।

शंकराचार्य ने कहा है कि (उनके कथनानुसार) पूर्व पक्ष में कहा गया है (वे० द० ३-४-३) 'आचार दर्शनात् ।' इसका अर्थ है, 'आचरण में देखे जाने से ।' 'आचरण में' का अर्थ है लोक व्यवहार में। लोक व्यवहार में ज्ञान और कर्म साथ-साथ चलते है। कर्म ज्ञान का अंग है। सूत्रार्थ तो स्वामी जी ने भी यही किया है, परन्तु आगे जो कहा है 'अकर्म शेषत्व' (विद्या के अकर्म शेषत्व) में भी आचार दर्शन समान है।

विद्या का अर्थ है अध्यात्म ज्ञान। आप कहते हैं कि इसके अकर्म शेषत्व में। तनिक इस 'अकर्म शेषत्व' का अर्थ विचार करिये कि यह क्या है ? जब अकर्म है; अर्थात् कर्म है ही नही तो इसका शेषत्व क्या होगा ? जो है ही नहीं उसका पूर्व, मध्य और शेष कैसे होगा ?

स्वामी शंकर भाषा के शब्दों का जाल बिछाने में अति कुशल हैं, परन्तु आँखें मूँद कर पढ़ने वालों के लिये।

शंकर का 'अकर्म शेषत्व' वाक्य निरर्थक है और ऐसा प्रतीत होता है कि जब उन्होंने यह देखा कि पूर्वोक्त सूत्रों से उनके मत का प्रतिपादन नहीं हो रहा तो इस प्रकार वाग्जाल फैलाकर कर्म की महिमा को कम करने का यत्न कर दिया है।

शंकर के पूर्वोक्त भाष्य में उद्धृत (बृ० उ० ३-५-१ के) उद्धरण को भी देखना चाहिये, जिसका भाव इस प्रकार है—

तत्पश्चात् कुषीतक मुनि के पुत्र कहोल ने याज्ञवल्क्य से पूछा, 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' जो साक्षात् और प्रत्यक्ष ब्रह्म है और 'य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे' जो आत्मा सर्वान्तर है, वह मुझे बताइये।

याज्ञवल्क्य बताते है कि जो आत्मा भूख-प्यास को, शोक-मोह को, जरा को, मृत्यु को लांघ जाता है; 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः' इस ही आत्मा को जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा से, वित्तैषणा से और लोकैषणा से ऊपर

उठकर तदनन्तर भिक्षा वृत्ति को धारण करता है—इस कारण ब्राह्मण पाण्डित्य को प्राप्त होता है।

यहाँ कर्म का विरोध तो है नहीं। भिक्षा वृत्ति करने से पूर्व और उपरान्त कर्म तो होता रहता है। भिक्षा वृत्ति भी तो कर्म ही है। साथ ही इस पूर्ण उद्धरण में एक भी शब्द तो यह प्रकट नहीं करता कि बिना कर्म के ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

किस रूप में पुरुषार्थ करना पड़ेगा? यह एक पृथक् विषय है। इतना स्पष्ट है कि पुरुषार्थ करना ही पड़ेगा।

शंकर के अन्य उद्धरण भी सूत्रार्थों से मेल नहीं खाते। यहाँ यह भी कहा जाता है कि शंकर का कर्म से अर्थ अग्निहोत्र से है। अग्निहोत्र के विषय में हमने अपने (सूत्र ३-४-२५ के) भाष्य में व्याख्या की है। यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा कि अग्निहोत्र भी मोक्ष प्राप्ति में साधक है। अग्निहोत्र के दो अंग हैं। अग्नीन्धनादि और दूसरा है मन्त्र पाठ। दोनों को इकट्ठा लिया जाये तो यह मोक्ष प्राप्ति में सहायक होते हैं। (व्याख्या ३-४-२५ में पढ़नी चाहिये)।

असार्वत्रिकी ॥१०॥

सार्वत्रिकी नहीं।

अर्थात् सर्वत्र प्रयोग की वस्तु नहीं।

क्या सर्वत्र प्रयोग की वस्तु नहीं है? जो ऊपर 'तुल्यं तु दर्शनम्' कहा है। वहाँ लिखा है कि कर्म और ज्ञान समान सहायक हैं। ऐसा देखने में आता है।

सूत्रकार अपनी ही बात का संशोधन करता है कि ऐसा देखने में आता है अवश्य, परन्तु यह समानता सर्वत्र देखने में नहीं आती। कहीं कर्म अधिक कार्य करता है और कहीं ज्ञान अधिक।

क्या कभी ऐसा भी होता है कि कर्म शून्य हो और केवल ज्ञान सिद्धि दिला दे? यह आगे चलकर बतायेंगे।

इस सूत्र का अभिप्राय इतना मात्र है कि कर्म और ज्ञान की समानता सर्वत्र देखने में नहीं आती। भाष्यकारों ने तो यहाँ भी गड़बड़ की है, परन्तु अर्थ सरल हैं। ऊपर का सूत्र था, 'तुल्यं तु दर्शनम्' अर्थात् देखने में कर्म और ज्ञान तुल्य रूप में सहायक है और वर्तमान सूत्र है 'असार्वत्रिकी।' अभिप्राय यह है कि यह बात सर्वत्र देखने में नही आती। स्पष्ट है कि समानता सर्वत्र देखने में नहीं आती। इससे यह तो प्रकट होता ही है कि कहीं तो समानता है ही। साथ ही यह भी सिद्ध नहीं होता कि ज्ञान ही है। कर्म की आवश्यकता है ही

नहीं अथवा इसके विपरीत कार्य ही है और ज्ञान है ही नहीं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ मोक्ष प्राप्ति में ज्ञान और कर्म की विवेचना हो रही है। अतः कर्म और ज्ञान का सहयोग मोक्ष प्राप्ति में ही वर्णन किया जा रहा है। अतः इस सूत्र में वर्णित असमानता ज्ञान और कर्म में हो सकती है अथवा यह मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक साधकों में भी हो सकती है। किसी साधक के लिये कर्म की अधिक आवश्यकता हो सकती है और किसी के लिये ज्ञान की।

शंकराचार्य इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं—

'यदेव विद्यया करोति' (छान्दो० १-१-१०) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया, प्रकृतविद्याभिसम्बन्धात्। प्रकृता चोद्गोथविद्या—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीयमुपासीत' (छा० १-१-१) इत्यत्र॥

अर्थात्—'यदेव विद्यया करोति;' यह श्रुति सर्व विद्या विषयक नहीं है। क्योंकि उसका प्रकृत विद्या के साथ सम्बन्ध है। 'ओमित्येतदक्षरं' यहाँ उद्गीथ विद्या प्रकृत है।

अभिप्राय यह कि छा० १-१-१० में तो लिखा है कि वह सर्व विद्या विषय वाला नहीं। नहीं तो न सही, परन्तु इसका सूत्र के समझाने में क्या प्रयोजन है? सूत्र में तो सर्व विद्या की बात लिखी नहीं। न वहाँ किसी बात के सर्वत्र प्रयोग की बात लिखी है। सर्व विद्या और सर्वत्र प्रयोग में शंकराचार्य को अन्तर समझ नहीं आया।

वास्तविक बात यह प्रतीत होती है कि जहाँ भी शंकर जी को अपने स्वीकृत मत के विरुद्ध सूत्रार्थ दिखाई देते हैं, वहाँ वाक् जाल फैलाकर पाठकों के मन में भ्रम उत्पन्न करने का यत्न कर देते हैं।

हमारा कहना यह है कि इस सूत्र की उक्त सूत्र के साथ अर्थ की संगत इस प्रकार ही बैठती है कि कर्म और ज्ञान की समानता सर्वत्र देखने में नहीं आती। ऊपर कहा था कि दोनों 'तुल्यं' (समान) हैं। यहाँ इस सूत्र में समानता सर्वत्र न होने की बात लिखी है। समानता नहीं है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि एक निःशेष ही हो जाता है।

उपनिषद् में सर्व विद्या की बात है। किसी व्यवस्था के सर्वत्र न होने की बात सूत्र में लिखी है। दोनों में अन्तर है।

विभागः शतवत् ॥११॥

बाँटा गया है जैसे सौ का विभाग होता है।

प्रश्न है कि क्या बाँटा गया है ? निस्सन्देह जिस बात का प्रकरण है। कर्म और ज्ञान का। परा और अपरा विद्या का नहीं। यह कुछ भाष्यकारों ने माना है। यह ठीक है कि अपरा विद्या के अनुसार कर्म किये जाते हैं, परन्तु विद्या कर्म नहीं। कर्म विद्या से पृथक वस्तु है। इसी प्रकार परा विद्या अकर्म की सूचक नहीं। क्योंकि कोई भी विद्या कर्म-अकर्म नहीं। उदाहरण के रूप में एक मनुष्य को यह ज्ञान है कि दूध की मलाई खाने से बुद्धि तीक्ष्ण होती है। यह तो अपरा विद्या है, परन्तु इस विद्या को रखता हुआ मनुष्य मलाई खाता ही नहीं अथवा खा सकता ही नहीं। तब कर्म तो हुआ नहीं, यद्यपि ज्ञान अर्थात् अपरा विद्या तो है।

इसी प्रकार परा विद्या का ज्ञान हो सकता है। मनुष्य जान सकता है कि सब कुछ ओं अक्षर ही है। यह जानता हुआ भी वह परमात्मा की उपासना नहीं करता और न ही उसमें ध्यान लगाने का यत्न करता है। इसके विपरीत धोखा-धड़ी से धन कमाता चला जाता है। तब परा विद्या के ज्ञान पर भी अकर्म नहीं हुआ।

अतः हमारा मत है कि विद्या-अविद्या तथा कर्म-अकर्म का परस्पर सम्बन्ध नहीं। यह प्रकरण कर्म और ज्ञान के विषय में चल रहा है और सूत्रकार ने ऊपर कहा है कि मोक्ष की सिद्धि में कर्म और ज्ञान समान रूप में सहायक होते हैं। वे सदा समान मात्रा में सहायक नहीं होते। उस अवस्था में उनकी सहायता में विभाग है शतवत्।

शतवत् का अभिप्राय है जैसे सौ में विभाग (बटवारा) होता है। यदि इसको गणित की भाषा में लिखें तो प्रतिशत् का शब्द प्रयोग करेंगे। कहीं ज्ञान का प्रतिशत् अधिक होता है और कहीं कर्म का।

अध्ययनमात्रवतः ॥१२॥

मात्र का अर्थ है केवल। अतः सूत्र का अर्थ है—

केवल अध्ययन करनेवाले का।

अध्ययन से ज्ञान की प्राप्ति होती है, परन्तु अध्ययन के उपरान्त यदि मनुष्य उस ज्ञान का प्रयोग न करे तो ज्ञान व्यर्थ होता है। अतः ज्ञान प्राप्त करे, परन्तु कर्म न करे तो केवल अध्ययन करनेवाले का-सा ही फल होगा।

जो लोग केवल ज्ञान से सिद्धि की बात करते हैं वे इस सूत्र का अर्थ कैसे करते हैं ? यह एक अनुशीलन का विषय है। हम एक ऐसे ही भाष्यकार

के लेख को लिखते हैं। स्वामी ब्रह्म मुनि जी लिखते हैं—

(अध्ययनमात्रवतः) 'तद्वतो विधानात्'— आचार्यकुलाद्वेदम् अधीत्य यथा विधानं गुरोः कर्मातिशेषेण—(छान्दो० ८-१५ १) आचार्य कुल मे वेद पढ़ गुरु के विधानानुसार सम्पूर्ण कर्म करे। यह जो कहा है, यह तो अध्ययन मात्र वाले के लिये जिसने केवल वेद पढ़ा ही है, ऐसे ब्रह्मचारी के लिये कहा गया है, मुमुक्ष के लिये नही।

लगभग यही भाव है श्री उदयवीर शास्त्री जी का। स्वामी शंकराचार्य जी क्या लिखते हैं, तनिक देखना चाहिये।

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८-१५-१) इत्यत्राध्ययनमात्रस्य श्रवणादध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिरित्यध्यवस्यामः। नन्वेवं सत्यविद्यत्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्येत,—नेष दोषः, न वयमध्ययनप्रभवं कर्माव बोधनमधिकारकारणं वारयामः, किं तर्हि? औपनिषदमात्मज्ञानं स्वातन्त्र्येणैव प्रयोजनवत्प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इत्येतावत्प्रतिपादयामः। यथा च न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकारेणापेक्ष्यत एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति ॥

अर्थात्—'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८-१५-१) इस श्रुति में अध्ययन मात्र का श्रवण होने से केवल वेदाध्ययन करनेवाले के लिये ही कर्म विधि है। ऐसा हम निश्चय करते हैं। ऐसा होने पर विद्याहीन होने से कर्मों में अधिकार नहीं होता; यह दोष नहीं। हम वेदाध्ययन से उत्पन्न होनेवाले कर्मों में अधिकार के कारणभूत कर्माव बोध का वारण नहीं करते, किन्तु उपनिषद् का आत्मज्ञान स्वतन्त्र रूप से प्रयोजनवाला प्रतीत होता हुआ कर्मों में अधिकार कारणत्व को प्राप्त नही होता। इतना मात्र हम प्रतिपादन करते हैं। जैसे एक ऋतु का ज्ञान अन्य ऋतु के अधिकार के द्वारा अपेक्षित नहीं है। ऐसे यह भी समझना चाहिए।

शंकराचार्य के कथन का अभिप्राय वही है जो ब्रह्ममुनिजी ने संक्षेप मे ऊपर कहा है। केवल शंकर ने युक्ति हीन कथन अधिक किया है। इन तीनों भाष्यकारों ने एक ही उद्धरण (छा० ८-१५-१) को अपने कथन की पुष्टि मे दिया है। उपनिषद् का अर्थ तो हम पीछे देखेंगे, पहले तो हम भाष्यकारों से यह जानना चाहेंगे कि इस सूत्र में वेदाध्ययन की बात कहां से आ गयी है? केवल अध्ययनमात्र लिखा है। भला उपनिषद् का अध्ययन क्यों नहीं? दूसरी बात है, गुरुकुल में अध्ययन कहां से आ गया? घर में बैठकर अध्ययन क्यों नहीं? क्या अध्ययन का अर्थ पढ़ना ही है और पढ़कर अर्थ समझना नही? अध्ययन का अर्थ किसी गृहस्थ का वेदाध्ययन क्यों नहीं? साथ ही अध्ययन का स्वाभाविक परिणाम ज्ञान प्राप्ति भी क्यों नहीं? अध्ययन के अर्थ कोश में पढ़ना भी है। पठन कहीं भी हो सकता है।

कर्म और ज्ञान में सम्बन्ध विच्छेद शंकराचार्यजी के अपने पूर्वाग्रह के कारण ही है। ज्ञान भी कर्म का फल होता है। संसार में ज्ञान प्राप्त करने के दो ही उपाय हैं। एक है ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त कर, उस पर चिन्तन एवं मनन करना। दूसरे, ज्ञानवान से श्रद्धा तथा भक्ति से इसे प्राप्त करना। ये दोनों उपाय कर्म का रूप ही हैं।

जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है; तदुपरान्त उसके आधार पर कर्म करना होता है। यह कर्म उससे भिन्न प्रकार का होता है, जो ज्ञान प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

मान लीजिये कि एक गुरु शिष्य को यह पढ़ाता है—**'ओमित्येतदक्षर-मुद्गीथमुपासीत ओमिति ह्युद्गायति, तस्योपव्याख्यानम्।'**

(छा० १-१-१)

गुरु इसका अर्थ और भाव समझाता है। शिष्य श्रवण करता है, समझता है और हृदयंगम कर अपने आचरण को ऐसा बनाता है जो परमात्मा को सर्वत्र व्यापक और सबका अन्तर्यामी जानकर करना उचित है। यदि मनुष्य वैसा आचरण स्वीकार नहीं करता तो ज्ञान निरर्थक हो जायेगा। परमात्मा को सर्वान्तर्यामी जानकर भी, कोई अभिमानी तानाशाही चलाता है, तब ज्ञान निरर्थक हो गया समझना चाहिए और यदि वह अकर्मण्य हो जाता है तब भी तो ज्ञान का फल प्राप्त न हुआ। ज्ञान अकर्मण्यता उत्पन्न करने का नाम नहीं। यह अपने आत्मा के आदेशानुसार कार्य करने का नाम है। वह आत्मा जीवात्मा है अथवा परमात्मा है, एक पृथक् बात है।

यदि उपासना को केवल पूजा अथवा स्तुति न मान ज्ञान प्राप्ति का साधन ही मान लें तब भी मनुष्य खाना, पीना, स्नान, शौच, वस्त्र पहनना इत्यादि करता है। यदि उपासक भोजन करता है तो भोजन उपलब्ध करने में प्रयत्न करना होगा। व्यापार, सेवा-कार्य अथवा भिक्षा कार्य करना ही होगा।

वास्तव में कर्म तो छूट नहीं सकता। भगवान् कृष्ण भी कहते हैं कि मनुष्य एक क्षण के लिए भी कर्म के बिना रह नहीं सकता। यह कथन सर्वथा सत्य है।

यदि जीवन साधन उपलब्ध हों तो भी मोक्ष प्राप्ति का उपाय योग है। वह भी तो कर्म ही है।

एक बात अवश्य है कि जब मोक्ष प्राप्त हो जाता है तब विचारणीय हो जाता है कि कर्म हो अथवा न हो? स्वामी शंकर मानते हैं कि मोक्ष में अकर्मण्यता है। उस स्थिति में क्या होता है, यह मोक्ष प्राप्ति के समय विचारणीय नहीं। इस (अ० सू० ३-४ के) पूर्ण पाद में संसार में रहते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिये करणीय पर विचार किया जा रहा है। इन सूत्रों में कहीं भी कर्म का

निषेध नहीं किया गया।

मोक्ष विषय में कर्म और ज्ञान में विरोध मानने वाले सब भाष्यकारों ने उक्त छान्दोग्य उपनिषद् का प्रमाण दिया है। इस प्रमाण को भी समझ लेना चाहिये।

उपनिषद् इस प्रकार है —

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच; प्रजापतिर्मनवे, मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य, यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषणाभिसमावृत्य, कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतानि, अन्यत्र तीर्थेभ्यः, स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं, ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। न च पुनरावर्तते ; न च पुनरावर्तते ॥

(छा० ८-१५-१)

यह ब्रह्मा ने प्रजापति को कहा; प्रजापति ने मनु को कहा और मनु ने प्रजाओं को कहा। आचार्य कुल से वेद पढ़कर गुरु के सब विधान पूरे कर समापवर्तन करा कर परिवार में रहता हुआ, पवित्र स्थान में बैठ स्वाध्याय करता हुआ, धर्म-कर्म करता हुआ, सब इन्द्रियों को आत्मा से संयत करता हुआ, किसी प्राणी को कष्ट न देता हुआ पूर्ण आयु भर तीर्थ (शास्त्र) में बर्तता हुआ ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है और वहाँ से नहीं लौटता।

इस उपनिषद् में तो वही बात कही है जो हम इन सूत्रों के अर्थों में कह रहे हैं। यह मन्त्र मुमुक्षुओं के लिए ही है और ब्रह्म लोक को जाने का उपाय बताता है, जहाँ जाकर लौटना नहीं होता। इसमें कर्म का विरोध नहीं, वरन् विशेष कर्मों पर बल दिया गया है।

मुमुक्षु के लिये ब्रह्मलोक में जाने का उपाय यह बताता है कि अध्ययन करने मात्र से मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। अध्ययन का अभिप्राय ज्ञान प्राप्त करना है। अध्ययन करने के उपरान्त लिखा है (कुटुम्बे शुचौ देशे) कुटुम्ब में रहता हुआ और पवित्र स्थान पर बैठा हुआ स्वाध्याय करे। इसके उपरान्त वह क्या करे ? लिखा है कि (धार्मिकान्विदधदात्मनि) धर्म-कर्म करे।

स्पष्ट है कि अध्ययन करने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसके साथ उपयुक्त कर्म भी होना चाहिये।

नाविशेषात् ॥१३॥

न+अविशेषात्।

न अविशेष से।

अर्थात् विशेष रूप से। क्या विशेष रूप से ? जो ऊपर के सूत्र में कहा है। ऊपर के सूत्र में यह कहा है कि अध्ययन मात्र से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। अध्ययन के अनुसार धर्म का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थ पालन के उपरान्त वाणप्रस्थ और फिर सन्यास की आवश्यकता है। इन आश्रमों में भी अपने-अपने कर्म हैं। उनको करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है।

इस सूत्र में लिखा है कि (कर्म करना) विशेष रूप से है। अर्थात् अपने-अपने स्थान और काल में विशेष कर्म करने पड़ते हैं। वर्ण धर्म और आश्रम-धर्म पालन करना एवं स्थान और काल से अभिप्रेत है।

परन्तु अकर्मवादियों ने इस सूत्र के अर्थ भी भिन्न किये हैं। यहाँ उदयवीर शास्त्री इस सूत्र के भाष्य में कहते हैं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि" (यजु० ४०-२)—यह विशेष कथन नहीं है, सामान्य है।

यह अर्थ का अनर्थ है। सामान्य रूप में लिखा है कि कर्मों में लिप्त न होते हुए कर्म करे। सूत्रकार का मत तो यह है कि कर्म सबके लिये हैं, परन्तु ज्ञानी के कर्म दूसरे हैं और अज्ञानी के दूसरे हैं। ज्ञानाग्नि से दग्ध कर्म ज्ञानी करता है। विशेषात् से यही अभिप्राय है। ज्ञानी को विशेष कर्म करने होते हैं।

इस सूत्र का यह अर्थ नहीं कि विशेष व्यक्तियों को कर्म करने होते हैं और अन्य को नहीं करने होते। यह बात सूत्र से सिद्ध नहीं होती।

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥१४॥

स्तुतये+अनुमतिः+वा।

यहाँ वा का अर्थ है और, भी। सूत्र का अर्थ बनता है—

और स्तुति के लिये अनुमति है।

स्तुति की अनुमति किसी के स्थान पर है अथवा वह स्वतन्त्र रूप से स्वीकार की गयी है ? हमारा मत है कि इसकी अनुमति ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त है।

यहाँ प्रकरण चल रहा है ज्ञान और कर्म का। सूत्रकार ने कहा है कि ये दोनों ज्ञान और कर्म समान (तुल्य) दिखायी देते हैं। यह ठीक है कि कभी एक का योगदान अधिक होता है और कभी दूसरे का।

इसी पाद में सूत्रकार ने यह कहा है कि इन दोनों के अतिरिक्त अर्थात् कर्म और ज्ञान के साथ-साथ स्तुति की भी अनुमति है। तब स्तुति, कर्म और

ज्ञान से स्वतन्त्र भी लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो जाती है। लक्ष्य है मोक्ष-प्राप्ति। इसी की प्राप्ति में ज्ञान और कर्म का योगदान है। इस योगदान में स्तुति का भी समावेश हो सकता है।

प्रश्न उपस्थित होता है कि किसकी स्तुति ? स्तुति के अर्थ समझ लें तो यह जानना कठिन नहीं रहता कि किसकी स्तुति से अभिप्राय है। स्तुति के अर्थ कोश में इस प्रकार लिखे हैं।

स्तुतिः (स्तु + क्तिन्) अर्थवादः; प्रशंसा; स्तोत्रं; ईडा; नुतिः; विकत्थनं; स्तवः; श्लाघा; वर्णना; इति हलायुध कोशः।

सामान्य भाषा में इसका अर्थ बनता है कि किसी वस्तु के गुणों एवं स्वरूप का वर्णन और प्रशंसा।

यह प्रकरण है मोक्ष प्राप्ति में कर्म तथा ज्ञान के योगदान के विषय में। इसमें जब स्तुति की अनुमति है तो सूत्रकार का यह आशय प्रतीत होता है कि ज्ञान और कर्म के साथ स्तुति भी सहायक होती है। यहाँ ब्रह्म के गुण, स्वरूप और कर्मों के वर्णन और प्रशंसा इत्यादि से अभिप्राय है।

गुण, कर्म और स्वरूप के वर्णन तथा प्रशंसा का फल क्या होता है ? यह फल है अपने में वैसे गुण, कर्म इत्यादि के धारण करने की प्रेरणा। ब्रह्म के गुणों के बार-बार वर्णन अर्थात् स्मरण से मनुष्य वैसे ही गुण धारण करने लगता है।

इसी कारण भगवद्गीता में लिखा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(भ० गी० ८-१४,१५,१६)

इनका अर्थ है—

हे अर्जुन ! जो व्यक्ति अनन्य चित्त से सदा और निरन्तर परमात्मा का स्मरण करता है, वह नित्य परमात्मा से युक्त होने वाला (परमात्मा) को सुगमता से पा जाता है। (परमात्मा को पाने का अर्थ है वैसे गुण ग्रहण करना।)

इस प्रकार परम सिद्धि को प्राप्त कर परमात्मा को प्राप्त कर लेता है और इस क्षण-भंगुर दुःख रूपी संसार में जन्म-मरण को प्राप्त नहीं होता।

ब्रह्म लोक तक गये मनुष्य पुनः यहाँ लौट आते हैं, परन्तु परमात्मा को

प्राप्त मनुष्य पुनः जन्म नहीं लेते।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार बनता है कि मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्म और ज्ञान के साथ-साथ स्तुति की भी अनुमति है। यह सहायक होती है।

शंकर इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशा० २) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते। यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति संबध्येत, तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद्द्रष्टव्यम्। 'न कर्म लिप्यते नरे' (ईशा० २) इति हि वक्ष्यति। एतदुक्तं भवति—यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति, विद्यासामर्थ्यादिति तदेवं विद्या स्तूयते॥

अर्थात्—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशा० २)। यह यहाँ अन्य विशेष कहा जाता है। यद्यपि यहाँ प्रकरण की सामर्थ्य से विद्वान ही 'करता हुआ' इस प्रकार सम्बन्धित किया जाये तो यह कर्मानुज्ञा विद्या स्तुति के लिए समझना चाहिए; क्योंकि आगे 'न कर्म लिप्यते नरे' ऐसा ही यहाँ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि जीवन पर्यन्त कर्म करते हुए भी तत्त्व के जाननेवाले पुरुषों में विद्या की सामर्थ्य से कर्म लेप (कर्म बन्धन) नहीं होता। इस प्रकार इससे विद्या की स्तुति की जाती है।

हम समझते हैं कि शंकर ने यह ईशावास्योपनिषद् का मन्त्र अकारण और असंगत यहाँ लिख दिया है। ईशावास्योपनिषद् के इस उद्धरण में स्तुति का संकेत नहीं है। वहाँ कर्म करने के विषय में लिखा है। सबके लिये, विद्वान् के लिये और अविद्वान् के लिये भी। शर्त यह रखी है कि कर्म निष्काम भाव से हो।

यह कहा जा सकता है कि अविद्वान तो निष्काम भाव से कर्म कर नहीं सकेगा। न कर सके तब उसको मोक्ष फल की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस अवस्था में क्या वह कर्म न करे? यह अभिप्राय नहीं। अभिप्राय यह है कि कर्म तो करता रहे। काम भावना से किये कर्म का फल दूसरा होगा और निष्काम भाव से किये कर्म का फल दूसरा। कर्म करने का आदेश तो जीवन भर के लिये है।

भला इसका स्तुति से क्या सम्बन्ध है? ऐसा प्रतीत होता है कि स्तुति के विषय में शंकर को उपनिषद का कोई उचित प्रमाण मिला नहीं। इस कारण यह असम्बद्ध प्रमाण लिख दिया है। इस असंगत उद्धरण की सफाई देने के लिये अपने पास से विद्या और स्तुति शब्द जोड़ दिये हैं। स्तुति विद्या की करें, ऐसा लिख दिया है।

यह सब अनर्गल है। स्तुति की बहुत महिमा है। इस विषय में शौनक ऋषि बृहद्देवता में लिखते हैं—

स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च।
स्वर्गायुर्धनपुत्राद्यैरः अर्थैराशीस्तु कथ्यते॥
स्तुत्याशिषौ तु यास्वृक्षु दृश्येतेऽल्पास्तु ता इह।
ताभ्यश्चाल्पतरास्ताः स्युः स्वर्गो याभिस्तु याच्यते॥
स्तुवन्तं वेद सर्वोऽयम् अर्थयत्येष मामिति।
स्तौतीत्यर्थं ब्रुवन्तं च सार्थं मामेष पश्यति॥
स्तुवद्भिर्वा ब्रुवद्भिर्वा ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
भवत्युभयमेवोक्तम् उभयं ह्यर्थतः समम्॥
(बृ० दे०—१-७, ८, ९, १०)

अर्थात्—नाम, रूप, कर्म और सम्बन्ध की स्तुति (प्रशंसा) तो की जाती है, परन्तु लम्बे जीवन, स्वर्ग, धन और पुत्रों के विषय की नहीं।

(ऋग्वेद में) स्तुति के और प्रार्थना के पद तो आते हैं (यद्यपि कम) परन्तु स्वर्ग की प्रशंसा के पद तो और भी कम हैं (नहीं हैं)।

हम सब प्रशंसा करने वाले को जानते हैं कि वह हमसे कुछ चाहता है। साथ ही प्रशंसा करने वाला जानता है कि जो कुछ वह माँगता है, वह मेरे पास है।

परन्तु तत्त्व के जानने वाले ऋषि जानते हैं कि स्तुति करो (गुणगान करो) अथवा जो वर्णन करते हैं, वे एक ही बात कहते हैं, क्योंकि दोनों का अर्थ एक ही है।

भावार्थ यह है कि स्तुति और ज्ञान का अभिप्राय समान है। दोनों समान फल वाले हैं। स्तुति और प्रार्थना के पद इकट्ठे आते हैं, परन्तु स्वर्गादि की प्रार्थना के लिये पद नहीं हैं।

कामकारेण चैके ॥१५॥

कामकारेण+च+एके।

और कुछ एक इच्छानुसार (कर्म करते हैं)।

कौन करते हैं? वही जो मोक्ष के लिये यत्न कर रहे होते हैं। कुछ एक विवश हो भूख, प्यास अथवा अन्य शारीरिक आवश्यकताओं के लिये कर्म करते हैं। ये लोग भिक्षा करते हैं अथवा व्यवसाय इत्यादि से जीविकोपार्जन करते हैं। यह विवशता है। कुछ एक के लिये यह समस्या नहीं होती। उनको सब

अनायास ही प्राप्त होता रहता है। इस पर भी वे कर्म करते हैं। यह उनके इच्छानुसार है।

कुछ भाष्यकार 'एके' का अर्थ कुछ एक शाखा वाले करते हैं। यहाँ वैदिक शाखाओं की बात बीच में लाने का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। सरल-सी बात है कि कर्म करने में विवशता और इच्छा क्या और किसको हो सकती है?

शाखाओं की बात उठाने में कारण यह भी प्रतीत हो सकता है कि वे भाष्यकार कर्म का अर्थ हवन-यज्ञ और उसके विधि-विधान मानते हैं। अतः जहाँ कर्म की बात की जाती है, वहाँ हवन-यज्ञ इत्यादि को सामने रखकर उनकी महिमा को कम करने का यत्न करते हैं।

हमने कर्म का अर्थ परिश्रम माना है। संसार के सब काम यज्ञ रूप हो सकते हैं अर्थात् निष्काम भाव से हो सकते हैं। सूत्रकार ने भी कर्म को पुरुषार्थ शब्द (परिश्रम) से लिखा है।

यह अर्थ लें तो सूत्र में 'एके' के अर्थ कोई शाखा नहीं, वरन् कोई मुमुक्ष लेना ही ठीक होगा। 'कामकारेण' का अर्थ स्वेच्छा से किये कर्म ही होता है। ऐसे मनुष्य क्या कर्म करें अथवा क्या न करें? साथ ही कब करें और कब न करें, वे स्वयं निश्चय करते हैं।

उपमर्दं च ॥१६॥

उपमर्दं+च।

(और कुछ लोग) कर्मों का उपमर्दन करते हैं।

ये दोनों सूत्र (३-४-१५, १६) सम्बन्धित भी कहे जा सकते हैं। अर्थात् कुछ मोक्ष के इच्छुक लोग कर्म करते रहते हैं और कुछ कर्मों का उपमर्दन (तिरस्कार) करते हैं।

हम इन सूत्रों को मुक्तात्माओं के लिये नहीं, वरन् मोक्ष प्राप्ति में संलग्न के लिये मानते हैं। मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक (मुमुक्ष) कुछ नियत कर्मों के अतिरिक्त कर्मों का उपमर्दन करते रहते हैं।

जो कर्मों का उपमर्दन करते हैं, वे क्या कर्मों को स्वेच्छा से करने वालों से श्रेष्ठ होंगे? इस विषय में इन सूत्रों में किसी प्रकार का संकेत नहीं है।

जहाँ तक नियत कर्मों का सम्बन्ध है वे तो दोनों को करने पड़ते हैं। उन नियत कर्मों के अतिरिक्त यज्ञ-यागादि कर्मों के विषय में ही उपमर्दन का निर्देशन किया है। नियत कर्म वे हैं जो जीवन चलाने के लिये किये जाते हैं।

यज्ञ-यागादि का अर्थ केवल हवन अग्नि होत्रादि नहीं। यज्ञ रूप कर्म का अर्थ है लोकहितार्थ कार्य।

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥१७॥

ऊर्ध्वरेतः +सु +च + शब्दे + हि।

ऊर्ध्वरेतः + सु = ऊर्ध्व रेता व्यक्तियों में। च = और। हि = क्योंकि। शब्दे = शास्त्र में वर्णन है।

ऊपर कर्म और ज्ञान की आवश्यकता पर चर्चा हो रही है। मोक्ष प्राप्ति में इनका क्या योगदान है? यह चर्चा का विषय है। ऊर्ध्वरेता मोक्ष प्राप्ति के योग्य समझे जाते हैं। सूत्रकार ने इनका उल्लेख किया है कि उनको भी कर्म करने की आवश्यकता रहती है। शास्त्र में ऐसा ही वर्णन है। 'उनको भी कर्म करने की आवश्यकता रहती है' यह अर्थ हमने अपने विचार से किया है। सूत्र में तो केवल यह लिखा है कि ऊर्ध्वरेता व्यक्तियों में भी है। क्या है? कर्म करने की आवश्यकता। यह हमने पूर्वापर का प्रकरण देखकर अपने विचार से लिखा है। हमें यही ठीक प्रतीत हुआ है। अन्य भाष्यकारों ने तो लिखा है कि उनको कर्म करने की आवश्यकता नहीं। सूत्र में इस नकारात्मक बात का भी संकेत नहीं, परन्तु भाष्यकारो ने लिखा है। इस कारण इसकी परीक्षा की आवश्यकता है।

उदाहरण के रूप में श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का भाष्य इस प्रकार करते हैं। आप लिखते हैं—

'ऊर्ध्वरेतस्सु—ऊर्ध्वरेताओं में। च = और। शब्दे = शास्त्र में। हि = क्योंकि।'

ऊर्ध्वरेताओं में ज्ञान निष्ठा एव कर्म का अभाव देखा जाता है; क्योंकि शास्त्र में ऐसे ऊर्ध्वरेताओं का निर्देश है।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्यपूर्वक ब्रह्म ज्ञान के लिए प्रयत्नशील त्यागी पुरुष ऊर्ध्वरेता कहे जाते हैं। इनके दो आश्रम हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य तथा ब्रह्मचर्य से सीधा संन्यास। इन ऊर्ध्वरेताओं के आश्रमों में ब्रह्मज्ञान के लिए निष्ठा शास्त्र विहित है। अग्निहोत्रादिक वैदिक कर्मों का उनके लिए नियत विधान नहीं देखा जाता।

ऊर्ध्वरेताओं के इन आश्रमों का उल्लेख निम्न शास्त्रों में उपलब्ध है—छान्दोग्य (५-१०-१), मुण्डक (१-२-११), बृहदारण्यक० (४-४-२२)।

श्री शास्त्री जी ने स्वामी शंकराचार्य जी का ही अनुसरण किया है। वे भी यही मानते हैं कि ऊर्ध्वरेता व्यक्तियों को कर्म करने की आवश्यकता नहीं। स्वामी शंकराचार्य जी ने भी वही प्रमाण दिये हैं जो शास्त्री जी ने दिये हैं।

हमारा कहना है कि सूत्रकार का यह मत नहीं है। उसका मत है कि ऊर्ध्वरेता व्यक्तियों के लिए भी कर्म की आवश्यकता है। प्रमाण जो शास्त्री जी तथा स्वामी जी ने अपने पक्ष में दिये हैं, वे भी कर्मों का निषेध सिद्ध नहीं करते।

उक्त उपनिषद् प्रमाणों में न तो कहीं ऊर्ध्वरेता शब्द आया है और न ही कर्म करने के निषेध की ओर संकेत है। इन प्रमाणों के निरीक्षण से हमारे कथन का अर्थ स्पष्ट हो जायेगा। पहले हम छान्दोग्य उपनिषद् (५-१०-१) को लेते हैं।

उपनिषद् इस प्रकार है -

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभ-वन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासां ँ्स्तान्॥

अर्थात्—वे जो इस प्रकार जानते हैं और जो ये वन मे श्रद्धा, तप से उपासना करते हैं, वे ज्योति में जाते हैं और फिर ज्योति के द्वारा दिन में शुक्ल पक्ष में और शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छः मास में।

इस मन्त्र में न तो ऊर्ध्वरेताओं का उल्लेख है और न ही कर्म के निषेध का।

अब दूसरा उद्धरण लेते हैं। यह मुण्डक० (१-२-११) का है। उपनिषद् इस प्रकार है—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

अर्थात्—जो तप और श्रद्धा का सेवन करते हुए विद्वान शान्त रहते है और भिक्षावृत्ति करते हैं, वे पाप रहित होकर सूर्य द्वार से वहाँ जाते हैं जहाँ अमृत और अव्यय (अविनाशी) स्वरूप पुरुष रहता है।

यहाँ भी वही बात है जो प्रथम उद्धरण में हमने कही है। न तो ऊर्ध्व-रेता शब्द है और न ही कर्म का अभाव।

अब तीसरा उद्धरण लेते हैं। यह बृहदारण्यक० (४-४-२२) है।

स वा एष महानज आत्मा, योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय। तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा

विविदिषन्ति, यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांस: प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति, या ह्येव पुत्रैषणा, सा वित्तैषणा, या वित्तैषणा सा लोकैषणा, उभे ह्येते एषणे एव भवतः ॥

स एष नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति, नैनं कृताकृते तपतः ॥

(बृहदारण्यक० ४-४-२२)

इसका अर्थ इस प्रकार है—

वह यह महान अजन्मा आत्मा, जो यह प्राणों में विज्ञानमय है, जो हृदय के भीतर शयन करता है, वह सब पर शासन करने वाला और सबका अधिपति है। वह शुभ कर्म से बढ़ता नहीं और अशुभ कर्म से छोटा नहीं होता। वह सर्वेश्वर है। यह भूतों का अधिपति और भूतों का पालन करने वाला है। इन लोकों की मर्यादा भंग न हो, इस प्रयोजन से वह इनको धारण करने वाला सेतु है। उस आत्मा को वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तप के द्वारा जानने की इच्छा करता है। इसीको जानकर मुनि होते हैं। इस आत्म लोक की इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर चले जाते हैं (संन्यासी हो जाते हैं)। इसमें कारण यह है कि पूर्व में वे विद्वान सन्तान की इच्छा नहीं करते थे। वे विचार करते थे कि उन्होंने सन्तान से क्या लेना है? उन्हें तो आत्म लोक चाहिए। अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से व्युत्थान कर फिर भिक्षाचर्या करते थे। जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है, वह ही लोकैषणा है। ये दोनों ऐषणायें ही हैं। यह 'नेति-नेति' इस प्रकार इसे निर्देश किया गया आत्मा अगृह्य है। वह ग्रहण नहीं किया जाता, वह अशीर्य है। उसका नाश नहीं होता तथा आसक्त नहीं होता। अतः इस निमित्त से मैंने पुण्य किया है।

वह असङ्ग है। वह कहीं असक्त नहीं होता। वह बंधा नहीं, अतः व्यथित नहीं होता तथा उसका क्षय नहीं होता। इस आत्मज्ञ को ये दोनों (पाप-पुण्य सम्बन्धी शोक-हर्ष) प्राप्त नहीं होते। अतः इस निमित्त से मैंने पाप किया है (ऐसा शोक) नहीं होता अथवा पुण्य किया है (ऐसा हर्ष) नहीं होता। इन दोनों को ही वह पार कर जाता है। इसे किया हुआ और न किया हुआ नित्य कर्म ताप नहीं देता।

इसमें भी ऊर्ध्वरेताओं का उल्लेख नहीं है। केवल इतना लिखा है कि मनुष्य त्याग क्यों करता है? यह इस कारण है कि यह सन्तान की इच्छा नहीं

रखता। पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा सब एक ही हैं। इनको छोड़कर विद्वान ब्राह्मण संन्यास ले लेता है। इस वाक्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सन्तान की इच्छा न होने से ही वे ऊर्ध्वरेता हो सकते हैं।

यह अनुमान मिथ्या है कि सन्तान की इच्छा न करना और ऊर्ध्वरेता होना समानार्थक हैं।

अरण्य में रहना और ऊर्ध्वरेता होना समान स्थितियाँ मान ली गयी हैं। यह भी अशुद्ध है। अतः भाष्यकारों के इतने मात्र से यह मान लेना कि ऊर्ध्वरेता वह है जो सन्तान की इच्छा नहीं रखता अथवा जो वन में रहता है और ऐसे व्यक्ति के लिए कर्म करने की आवश्यकता नहीं, बे सिर-पैर यज्ञ की बात है। कर्म से अभिप्राय अग्निहोत्र मात्र नहीं। यह अर्थ भी है, परन्तु यज्ञ तो एक विशाल अर्थ वाला शब्द है। कोई भी कर्म यज्ञ रूप हो सकता है। जब भी कर्म निष्काम भाव से किया जाये, यह यज्ञ कहलाता है।

सूत्र तो केवल यह कहता है—ऊर्ध्वरेता व्यक्तियों में भी। उनमें क्या? पूर्व प्रकरण देखने से यही सिद्ध होता है कि उनको भी कर्म करने की आवश्यकता होती है।

इस पाद के अभी तक १६ सूत्रों की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है और उसके अनुकूल ही इस सूत्र के भी यही अर्थ बनते हैं कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए ज्ञान के साथ कर्म की भी आवश्यकता रहती है। ऊर्ध्वरेता इससे क्षम्य नहीं।

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥१८॥

परामर्शम्+जैमिनिः+अचोदना+च+अपवदति+हि।

परामर्शम् सम्मति देने को। **जैमिनि** ऋषि कहते हैं। **अचोदना**= प्रेरणा न देना। **च**=और। **हि** =निश्चय से। **अपवदति**= निन्दा करता है।

सूत्रार्थ यह बनता है—निश्चय से जैमिनि ऋषि के कथन से, यह निन्दा-कारक है कि कर्म करने की अप्रेरणा दी जाये। दूसरे शब्दों में यह कि कर्म करने की प्रेरणा का विरोध निन्दनीय है। ऐसा जैमिनी ऋषि का कहना है।

विवेच्य सूत्र में शब्द 'अपवदति' है। इसका अर्थ है निन्दा करता है। प्रश्न है कि कौन निन्दा करता है और किसकी निन्दा करता है? सूत्रकार ही इसका उत्तर देता है। 'परामर्शम् अचोदना' अर्थात् कर्म न करने की सम्मति देना। अभिप्राय यह है कि निन्दा है कर्म न करने की।

इस सूत्र के भाष्य में स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २-२३-१) इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणां सद्भावायोदाहृताः न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति। यतः परामर्शमेषु शब्देष्वाश्रमान्तराणां जैमिनिराचार्यो मन्यते, न विधिम्। कुतः ? न ह्यत्र लिङ्गादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति। अर्थान्तरपरत्वं चैषु प्रत्येकमुपलभ्यते। त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र तावद्यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्वं एते पुण्यलोका भवन्तीति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं संकीर्त्यात्यन्तिकफलतया ब्रह्मसंस्थता स्तूयते—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा० २-२३-१) इति।

अर्थात्—'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (धर्म के तीन स्कन्द हैं) इत्यादि श्रुति जो ऊर्ध्वरेता आश्रमियों के सद्भाव के लिये उदाहृत (प्रमाण रूप से कही गयी) है, वे उनके प्रतिपादन में समर्थ नहीं, क्योंकि जैमिनि आचार्य इन श्रुतियों में अन्य आश्रमों का परामर्श मानते हैं, विधि नहीं। किससे ? इससे कि लिङ्गादि में से एक भी विधि शब्द यहाँ नही है और इनमे से प्रत्येक अन्य अर्थ परक उपलब्ध होता है। 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' यहाँ तो 'यज्ञोऽध्ययनं दानमिति' (यज्ञ, वेदाध्ययन और दान) यह प्रथम धर्म स्कन्ध है, तप द्वितीय है और तीसरा स्कन्ध आचार्य कुल में वास करने वाला है। जीवन पर्यन्त नियमपूर्वक अपने देह को क्षीण करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तृतीय धर्म स्कन्ध है। ये सब तीनों आश्रमों वाले यथोक्त धर्म से पुण्य लोक वाले होते हैं। इस प्रकार आश्रमों का परामर्श पूर्वक व्यभिचारित फल कहकर 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित चतुर्थाश्रमी संन्यासी अमृतत्व को प्राप्त होता है।

हम तो यह देखना चाहते हैं कि यह उद्धरण क्या है और उसका अर्थ क्या है ? साथ ही सूत्र के साथ इसकी संगति बैठती है अथवा नहीं ?

उपनिषद् वाक्य इस प्रकार है—

त्रयो धर्मस्कन्धाः, यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमानमाचार्यकुलेऽवसादयन् सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥

(छा० २-२३-१)

अर्थ है—धर्म के तीन स्कन्ध (आधार स्तम्भ) हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान। यह प्रथम स्कन्ध है। तप दूसरा स्कन्ध है। आचार्य कुल में रहनेवाला ब्रह्मचारी जो आचार्य कुल में अपने देह को अत्यन्त क्षीण कर देता है, यह तीसरा स्कन्ध है। ये सब (तीनों पुण्य) के भागी होते हैं। ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से स्थित अमृत तत्त्व को प्राप्त होता है।

स्कन्ध के अर्थ शाखायें भी हैं और तना भी। यदि शाखायें लें तो धर्म

की तीन शाखायें अर्थात् एक-दूसरे से पृथक् तीन धर्म माने जायेंगे और यदि स्कन्ध का अर्थ वृक्ष का तना लिया जाये तो धर्म के तीन आश्रय, सहारे अर्थात् आधार अर्थ हो जायेंगे। इन अर्थों से उपनिषद् के भाव में अन्तर पड़ जायेगा। एक से यह पता चलेगा कि तीन प्रकार के धर्म हैं और दूसरे से यह पता चलेगा कि उसके अर्थात् धर्म के तीन आश्रय स्थान हैं। हमारे मत से धर्म के तीन विभाग से अभिप्राय नहीं, वरन् इसके तीन आधार (स्तम्भ) हैं, ऐसा अभिप्राय है।

कुछ भाष्यकर मानते हैं कि इसके तीन विभाग हैं। एक विभाग है यज्ञ, अध्ययन तथा दान। दूसरा है तप और तीसरा विभाग है आचार्य कुल में रहते हुए तपस्या से देह को अत्यन्त क्षीण करना।

उपनिषद् का यह कहना है कि ये तीनों आधार पुण्य लोकप्रद हैं, परन्तु जो ब्रह्म में सम्यक् प्रकार से लीन रहता है, वह अमृत पद को पाता है।

उपनिषद् का यह कहना है कि तीनों स्तम्भ पुण्य-लोक-प्रद हैं। इसके साथ ही यह भी कहा है कि इन तीनों का पालन करते हुए ब्रह्म में लीन रहने से मोक्ष प्राप्त होता है।

देखना यह है कि यहाँ ऊर्ध्वरेता कहाँ से आ गये हैं? ब्रह्मचारी के अर्थ ऊर्ध्वरेता नहीं होते। दोनों शब्द भिन्न-भिन्न हैं और इनके अर्थ अलग-अलग हैं। साथ ही इन धर्मों का पालन करते हुए कर्म करने पर पाबन्दी तो कहीं नहीं लिखी।

साथ ही सूत्र में यह जो लिखा है कि 'निन्दा करता है', इसका स्पष्टीकरण शंकर मतानुयायी यह करते हैं कि यह जैमिनि का मत है। ब्रह्म-सूत्र प्रवक्ता बादरायण इसको पूर्व पक्ष मान इसका उत्तर देता है। ये भाष्यकार मानते हैं कि जैमिनि आश्रमवासियों को कर्म न करने की प्रेरणा देने वालों की निन्दा करता है, परन्तु जैमिनि का यह परामर्श ऊर्ध्वरेताओं के लिये नहीं है। उनके लिये बादरायण ऋषि अगला (३-४-१९) सूत्र कहता है।

हम इसको पूर्व पक्ष में नहीं मानते। इसको बादरायण के मत के अनुसार ही मानते हैं।

सूत्रार्थ इस प्रकार है—जैमिनी ऋषि के कथन से कर्म करने की अप्रेरणा निन्दा करना है।

विस्मय करने की बात यह है कि श्री उदयवीर शास्त्री ने भी स्वामी शंकराचार्य का अक्षरशः अनुकरण किया है। उन्होंने भी वही असंगत उदाहरण दिये हैं, जो श्री स्वामी जी ने दिये हैं।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥१९॥

अनुष्ठेयं+बादरायणः+साम्यश्रुतेः ।

अनुष्ठेयं = अनुष्ठान के योग्य है। बादरायणः = बादरायण कहते हैं। साम्यश्रुतेः = समान रूप से श्रुति में भी माना गया है।

यहाँ प्रश्न यह है कि कौन अनुष्ठान करने के योग्य है? जिसके विषय में चर्चा चल रही है। पूर्वोक्त सूत्र में ऊर्ध्वरेताओं के लिये कर्म का विधान किया गया है। यहाँ इस सूत्र मे कहा है कि ऋषि बादरायण के कथनानुसार कर्म का अनुष्ठान उनके लिये भी है। अभिप्राय यह है कि अन्य व्यक्तियों की भाँति ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान ऊर्ध्वरेताओं के लिये भी है।

यहाँ एक बात अन्य भाष्यकारों को समझ लेनी चाहिये। वे ऊर्ध्वरेता का अर्थ संन्यास आश्रम लेते हैं। यह ठीक है कि संन्यास आश्रम में वीर्य की रक्षा की जाती है, परन्तु ऊर्ध्वरेता के अर्थ भिन्न हैं। ऊर्ध्वरेता उसको कहते हैं जिसने अपने वीर्य को ऊपर खींचकर शरीर में ओज के रूप में परिवर्तित कर लिया हो। ऐसे ऊर्ध्वरेताओं के कहीं आश्रम रहे हैं, यह कहीं लिखा नहीं मिला। आश्रम का शब्द भी किसी सूत्र में दिखायी नहीं दिया। उपनिषद् में भी इनके आश्रम नही लिखे।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह सिद्ध करने के लिये कि ऊर्ध्वरेताओं के लिये कर्म करने की आवश्यकता नहीं, संन्यास आश्रम को ऊर्ध्वरेताओं के आश्रम की संज्ञा दे दी गयी है। यहाँ ज्ञानवादियों से एक प्रश्न यह भी पूछा जा सकता है कि जब सबके लिए कर्म मोक्ष मार्ग में बाधक है तो फिर ऊर्ध्वरेताओं के लिए इस विशेष आदेश की क्या आवश्यकता थी? हमारा कहना यह है कि सामान्य रूप में सबके लिए ज्ञान के साथ कर्म की भी आवश्यकता होती है। ऊर्ध्वरेता इसमें अपवाद नहीं हैं।

इस सूत्र के विषय में श्री उदयवीर शास्त्री शंकर मत का समर्थन करते हुए लिखते हैं—'आचार्य सूत्रकार ने प्रव्रजन्ति' इत्यादि पदों को प्रकारान्तर से विधि रूप समझने के विषय में सूत्र में कहा है।

इस स्पष्टीकरण का कारण ही यह है कि उक्त सूत्र का भावार्थ अशुद्ध बनाया है। अन्यथा एक विषय पर चल रही स्पष्ट बात को प्रकारान्तर से कहने का उद्देश्य क्या है? सबसे बड़ी बात यह है कि ऊर्ध्वरेताओं के लिये कर्म के निषेध की बात ही नहीं। वह दूसरे आश्रमवासियों के समान ही वर्णन किये गये हैं।

इस सूत्र का अर्थ यही बनता है कि बादरायण के कथनानुसार और

श्रुति में लिखे अनुसार भी कर्म के अनुष्ठान का विधान समान रूप मे है। ऊर्ध्व-रेताओं के लिये भी है।

विधिर्वा धारणवत् ॥२०॥

विधिः + वा + धारणवत्।

विधि अथवा धारण करने की भांति।

विधि का अर्थ है कर्म की विधि। जैसे कर्म करते हुए धारण करने के योग्य हों, वैसे ही धारण करें। यह सूत्र भी कर्म करने का समर्थन करता है। तभी तो उसके करने की विधि में भी सम्मति दे दी है। यदि कर्म सर्वथा वर्जित होता तो उसकी विधि के विषय में बताने की आवश्यकता नहीं थी।

अतः सूत्रकार यहां कहता है—उस विधि से कार्य करे, जिसको धारण करने की योग्यता हो। धारण का अर्थ है प्रयोग करना।

भगवद् गीता में भी यही लिखा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (६-१६, १७)

अर्थात्—हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खाने वालों को सिद्ध होता है और न ही बिल्कुल न खाने वालों को तथा न अति शयन करनेवालो को और न ही अत्यन्त जागनेवालों को ही सिद्ध होता है।

दुःखों का नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालों को, कर्मों मे यथायोग्य चेष्टा करने तथा सोने-जागनेवालों को प्राप्त होता है।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥२१॥

स्तुतिमात्रम् + उपादानात् + इति चेत् + न + अपूर्वत्वात्।

स्तुतिमात्रम्—केवल परमात्मा के गुणों का गान ही। **उपादानात्**= उपादान मानने से। उपादान का अर्थ है कि उत्पत्ति में कारण। **इति चेत् न**= यदि यह कहो तो नहीं। **अपूर्वत्वात्** अपूर्वता की भांति होने से।

जो मोक्ष प्राप्ति में कर्म के विरोधी हैं, वे कहते है कि मुमुक्षुओं को केवल

स्तुति का आश्रय लेना चाहिये। सूत्रकार कहता है कि यह ठीक नहीं। यह अपूर्वता होगी, अर्थात् यह नयी बात होगी।

स्तुति मात्र से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्ष की प्राप्ति में स्तुति का एक साधन होने का तो संकेत है (३-४-१४); परन्तु केवल स्तुति इसमें समर्थ नहीं। यदि ऐसा माना जाये तो यह अपूर्वता होगी। अपूर्वता के अर्थ उस स्थिति से है जो पहले ज्ञान में न आयी हो। केवल स्तुति किसी प्रकार की भी सफलता में साधन नहीं होती देखी गई।

अतः सूत्र का अर्थ यह है कि केवल मात्र स्तुति मोक्ष में कारण नहीं हो सकती। साथ में कर्म होना चाहिये। स्तुति ज्ञान उत्पादक है। (देखें, भाष्य ३-४-१४)। अतः स्तुति कर्म का स्थानापन्न नहीं हो सकती।

भावशब्दाच्च ॥२२॥

भावशब्दात्+च।

और भाव के कहे जाने से।

भाव का अर्थ है स्तुति का अभिप्राय अथवा विषय। सूत्रकार कह रहा है कि स्तुति में क्या विषय है? यह समझना मुख्य है। उदाहरण के रूप में स्तोता परमात्मा को अव्यक्त सर्वव्यापक कहता है। यह स्तुति परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान कराती है। इस कारण ज्ञानवर्धक है। स्तुति के भाव में परमात्मा के गुणों का वर्णन हो तो लाभ हो सकता है। इन गुणों के वर्णन से वैसे ही गुणों के संस्कार स्तोता के मन पर उत्पन्न होते हैं। स्तुति के साथ वर्णित गुणों के अनुसार कर्म भी होने चाहिएँ, तब ही स्तुति मोक्ष प्राप्ति में साधक हो सकती है।

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥२३॥

पारिप्लवार्थाः+इति+चेत्+न+विशेषितत्वात्।

पारिप्लवार्थाः मन के भावों से परिप्लावित करने के लिये अर्थात् उल्लास से भर देने के लिए। **इति चेत्**=यदि यह कहो तो ठीक नहीं। क्या ठीक नहीं? यह कि मन के भावों से परिप्लावित कर देने मात्र से मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। **विशेषितत्वात्**=विशेषता से युक्त होने से।

इसका अभिप्राय यह है कि उपनिषद् कथाओं को पढ़कर मनोद्गारों से

परिप्लावित होने (मर जाने) से मोक्ष प्राप्त नहीं होगा। उन कथाओं में जो भाव हैं, उनके समझने से मोक्ष प्राप्त होगा। कथाओं से प्राप्त ज्ञान के अनुकूल कर्म करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होगी।

इस सूत्र में तो कर्म के विषय में न लिखा है कि करें, न लिखा है कि कर्म का अनवकाश है। सूत्र का अभिप्राय यह है कि कथाओं से मनोद्गारों के उभर पड़ने मात्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। यह वैसे ही है जैसे कि सूत्र ३-४-२१ में कहा है कि स्तुति मात्र से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। कथा सुनकर मन में उद्गारों के भर जाने मात्र से मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

यह तो हमने अपने पास से लिखा है कि स्तुति के अनुसार और कथाओं के भाव के अनुसार कर्म भी होना चाहिये। हमने कर्म को इस कारण लिखा है क्योंकि इस अध्याय के इस पूर्ण पाद में कर्म को ज्ञान के साथ आवश्यक बताया गया है।

अन्य भाष्यकार कहते हैं कि स्तुति और कथा के अतिरिक्त ज्ञान की प्राप्ति ध्येय है। हमारा यह कहना है कि स्तुति स्वयमेव ज्ञान है। परमात्मा के स्वरूप का वर्णन तो ज्ञान ही है। इस प्रकार कथा से प्रभावित होना ज्ञान प्राप्ति ही है। अतः ये पर्याय नहीं मानी गयीं। न स्तुति न कथा।

सूत्रकार का कहना है कि केवल स्तुति करने से अथवा केवल कथायें सुनने से काम नहीं बनेगा। इसमें विशेष प्रमाण और युक्ति भी है।

प्रमाण इस प्रकार हैं—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥
तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

(भ० गी० ४-४१, ४२)

अर्थात्—ज्ञान से संशय रहित होकर कर्म योग द्वारा संन्यास (निष्काम भाव से किये कर्म) नहीं बाँधते (जन्म-मरण में नहीं बाँधते)।

इस कारण अज्ञान से उत्पन्न संशयों को ज्ञान की तलवार से छिन्न-भिन्न कर उठ और युद्ध कर।

भगवद्गीता में और भी लिखा है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

(३-४)

कर्मों का आरम्भ न करने से नैष्कर्म्य (मुक्ति) प्राप्त नहीं होता और न ही कर्मों के त्यागने से सिद्धि तथा समावस्था प्राप्त हो सकती है।

अतः यह विशेषितत्वात् है। अर्थात् विशेषता में प्रमाण है। इस लोक में भी ऐसा ही देखा जाता है।

अतः केवल स्तुति अथवा उपनिषद् कथाओं के सुनने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। कर्म तो करना ही होगा।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥२४॥

तथा+च+एकवाक्यतोपबन्धात्।

तथा=वैसे। च=और। एकवाक्यतोपबन्धात्=एक वाक्यता के सम्बन्ध होने से।

एकवाक्यता का अर्थ है कि दोनों का एक ही उद्देश्य होने से। दोनों में एकवाक्यता होने से। दोनों का अभिप्राय कथावस्तु और कथा का उद्देश्य है। उपनिषद् वाक्य का सार और अध्यात्म में भी एक ही उद्देश्य है। इनमें एकवाक्यता, तारतम्यता होनी चाहिये। कथायें भी ज्ञानमय होती हैं और मोक्ष प्राप्त करने में पुरुषार्थ और ज्ञान साधक हैं। इस कारण कथायें भी मोक्ष में प्रेरक हैं। कारण यह कि मन के उद्गारों से भर कर ये यज्ञ रूप कर्म करने की प्रेरणा देती हैं।

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥२५॥

च+अतएव+अग्नीन्धनादि+अनपेक्षा।

और इसलिए (इसमें) अग्नि ईन्धन आदि की अपेक्षा नहीं।

अग्नि ईन्धनादि का अभिप्राय अग्नि होत्र में अग्नि प्रदीप्त करना तथा आहुति इत्यादि देना है। 'इनकी अपेक्षा नहीं' से अभिप्राय यह है कि इनका मोक्ष प्राप्ति से सम्बन्ध नहीं है। अग्निहोत्र में मन्त्रोच्चारण तो स्तुति का सूचक है। अतः अग्नि ईन्धनादि के साथ यदि मन्त्रोच्चारण हो तो मोक्ष प्राप्ति में अग्निहोत्र भी सहायक होता है।

परन्तु मन्त्रोच्चारण के बिना अग्निहोत्र मोक्ष में साधन नहीं हो सकता। इसी कारण अग्निहोत्र मात्र को देवयज्ञ कहा है, परन्तु इसके साथ मन्त्रोच्चारण होने लगे तो यह ब्रह्म यज्ञ हो जाता है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि सूत्रकार मन्त्रोच्चारण का अर्थ मन्त्र मात्र से नहीं लेता। मन्त्रोच्चारण स्तुति के रूप में तब ही लिया जा सकता है जब मन्त्रों का भाव भी समझा जाये। यह हम ऊपर लिख आये हैं।

अतः सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—(अग्निहोत्रादि) में अग्नीन्धनादि अर्थात् अग्नि प्रदीप्त करना और आहुति देने मात्र का मोक्ष प्राप्ति से सम्बन्ध नहीं। हाँ, जब अग्नि ईन्धनादि के साथ मन्त्रोच्चारण (और उन मन्त्रों का भाव समझकर) किया जाये तो यह मोक्ष में प्रेरक हो जाता है।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६॥

सर्वापेक्षा + च + यज्ञादिश्रुतेः + अश्ववत्।

सर्वापेक्षा = सबकी आवश्यकता है। यज्ञादिश्रुतेः—श्रुति द्वारा कहे यज्ञादि में। अश्ववत् –यात्रा में घोड़े के समान।

श्रुति में कहे यज्ञादि और मोक्ष प्राप्ति में अपेक्षा मानी है। अर्थात् इसका मोक्ष के साथ सम्बन्ध माना है। यज्ञ का अर्थ वे कर्म हैं कि जिनसे लोक कल्याण हो।

जो अश्व का प्रयोग यात्रा में है वही उपयोग यज्ञादि का मोक्ष की यात्रा में है। यज्ञादि कर्मों के कन्धे पर चढ़ा हुआ जीवात्मा मोक्ष की प्राप्ति करता है। जैसे अश्वारोही बिना दिशा के ज्ञान के लक्ष्य स्थान पर नहीं पहुँच सकता, इसी प्रकार मुमुक्षु कर्म करता हुआ भी बिना ज्ञान के मोक्ष धाम को प्राप्त नहीं कर सकता।

अतः सूत्रार्थ इस प्रकार है—श्रुतियों से कहे गये यज्ञादि का सम्बन्ध सब मानवीय उद्देश्यों से है। इन उद्देश्यों के अन्तर्गत लोक कल्याण, स्वर्ग प्राप्ति और मोक्ष की उपलब्धि भी है।

यज्ञ-यागादि कर्मों का मोक्ष प्राप्ति में वही लाभ है जो मार्ग पार करने में अश्वादि का है।

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु स्तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२७॥

शमदमादि + उपेतः + स्यात् + तथापि + तु + तद्विधेः + तत् अङ्गतया + तेषाम् + अवश्य + अनुष्ठेयत्वात्।

शमदमाद्युपेत:=शमदमादि से युक्त। स्यात्=होवे। तथापि=इस पर भी। तु=तो। तद्विधे:=उसके विधान से। तदङ्गतया=उसके अंग के रूप में। तेषां=उनके। अवश्य अनुष्ठेत्वात्—आवश्यक अनुष्ठान करने योग्य होने से।

इस पर भी शमदमादि साधनों से युक्त होवे (यह मोक्ष के लिए तैयारी है) क्योंकि शास्त्र के विधान से ये उनके अंग रूप हैं। इनके आवश्यक रूप में अनुष्ठान करने से।

इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शमदमादि तो मनुष्य को मोक्ष मार्ग पर ले चलत हैं, परन्तु मोक्ष प्राप्ति के विधानानुसार इसके आवश्यक अंगों का अनुष्ठान होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। शमदमादि मोक्ष प्राप्ति की तैयारी के लिए हैं। प्रयास के मुख्य अंग हैं कर्म और ज्ञान। पूर्व सूत्रों के विचार से ही हम कर्म और ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति के प्रयास का अंग कह रहे हैं।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥२८॥

सर्वान्नानुमति:+च+प्राणात्यये+तद्दर्शनात्।

सर्वान्नानुमति:=सब प्रकार के अन्न की अनुमति है। च=और। प्राणात्यये=प्राण संकट में होने पर। तद्दर्शनात्=ऐसा शास्त्र में देखा जाने से।

इस पाद में अभी तक सूत्रकार ज्ञान और कर्म के विषय में अपना मत बताता रहा है। अब कर्म की व्याख्या आरम्भ कर दी है। यह सब मुमुक्षु के विषय में ही कहा जा रहा है। उचित व्यवहार शमदमादि के अनुसार ही अपनाने को कहा है। शमदमादि इस प्रकार हैं—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा।

इन सबका प्रयोग आचरण में अर्थात् कर्म में होता है। शम चित्त की शान्ति को स्थिर रखने का नाम है। दम है मन और इन्द्रियों को नियम के भीतर काम करने देना। उपरति है कर्म करते हुए निन्दा-स्तुति से अप्रभावित रहना। तितिक्षा है धैर्य से कार्य सिद्धि में लगे रहना। इसे तपस्या भी कहते हैं। समाधान का अर्थ है चित्त की प्रवृत्तियों को साम्यावस्था में रखना। श्रद्धा का अभिप्राय है आस्तिक्य बुद्धि। अपने विचारित मत पर आस्था रखना। आचार्य गुरुजनों के प्रति विनम्र भावना और अपने उद्देश्यों के प्रति निष्ठा।

सूत्र ३-४-२७ से कर्म में पथ-प्रदर्शन आरम्भ कर दिया है। सबसे पहले शमदमादि का उपदेश है। तदनन्तर खान-पान के विषय में लिखा है। मुमुक्षु के लिये सात्त्विक भोजन का ही विधान है। सात्त्विक का अर्थ है वह जो

राजसी और तामसी प्रवृत्तियों को उत्पन्न न करे। साथ ही भोजन ऐसा होना चाहिए जिससे विवेक और बुद्धि निर्मल हों।

सूत्रकार का कहना है कि मुमुक्षु के लिये जीवन की रक्षा प्रथम आवश्यकता है। तभी कहा है कि प्राण संकट में हों तो सब प्रकार का अन्न ग्रहण करने के योग्य है। यह केवल शुद्ध-अशुद्ध के विचार से ही नहीं कहा, परन्तु अन्न उपलब्ध करने के साधन में भी छूट की अनुमति माननी चाहिए। शर्त केवल यह है कि जीवन संकट में हो। संकटावस्था में ही सब प्रकार के अन्न ले लेने की अनुमति है। इस प्रकार के उदाहरण उपनिषद् ग्रन्थों में भी मिलते हैं और स्मृति ग्रन्थों में भी। संकटावस्था में प्राणरक्षा आवश्यक मानी गयी है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यह व्यवस्था मुमुक्षुओं के लिए दी गयी है।

अबाधाच्च ॥२९॥

अबाधात्+च।

अबाधात्=सीमा रहित होने से। च=और।

प्राण संकट में हों तो अन्न के विषय में छूट अबाध अर्थात् असीम है।

अपि च स्मर्यते ॥३०॥

स्मृति भी इस बात का समर्थन करती है।

स्मृति ग्रन्थ आचरण सम्बन्धी आदेश देते हैं। मनुस्मृति में आपद् धर्म के विषय में इस प्रकार लिखा है—

क्षुधार्त्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वमित्रः श्वजाघनीम्।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः॥

(मनु० १०-१०८)

अर्थात्—धर्माधर्म के जाननेवाले विश्वामित्र भूख से पीड़ित चाण्डाल के हाथ से कुत्ते की जंघा का माँस खाने की इच्छा कर भी पाप से दूषित नहीं हुआ।

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥३१॥

शब्दः+च+अतः+अकामकारे।

शब्दः=शास्त्रप्रमाण हैं। च=और। अतः=इसलिये। अकामकारे=

यथेच्छ न करने में, अर्थात् जो मन में आया करे; ऐसा वर्जित है।

इसका अभिप्राय यह है कि एक मुमुक्षु की भोजनादि व्यवस्था यथेच्छ नहीं होनी चाहिए। नियमानुसार होनी चाहिए। ऐसा शास्त्र में कहा है।

विहितत्वाच्चाश्रम कर्मापि ॥३२॥

विहितत्वात् + च + आश्रमकर्म + अपि।

विहितत्वात् च = विहित होने से आश्रम कर्म भी करे।

विहित का अभिप्राय है शास्त्र में व्यावस्था होने से; आश्रम कर्म का अभिप्राय है ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यास आश्रम। इन सब आश्रमों के कर्मों से यहाँ अभिप्राय है।

सूत्रकार का अभिप्राय है कि मोक्ष-प्राप्ति में यत्न करते हुए आश्रम कर्मों का पालन करे (क्योंकि मोक्ष में वे भी सहायक हैं)।

सहकारित्वेन च ॥३३॥

सहकारित्वेन = सहकारी होने से। च = और।

किनके सहकारी होने से? मोक्ष प्राप्ति में, अर्थात् आश्रम धर्मों का करना मोक्ष प्राप्ति में सहकारी होने से आवश्यक है। दर्शन शास्त्र का यह पाद स्वामी शंकराचार्यजी के मान्य सिद्धान्तों के सर्वथा विपरीत प्रतीत हो रहा है। हमने सूत्रार्थ बिना खींचातानी के किये हैं। हमें ऐसा प्रतीत हुआ है कि अन्य भाष्यकारों ने सूत्रों को तोड़-मरोड़ने का यत्न किया है। उन्होंने कर्म को मोक्षप्राप्ति में त्याज्य बताया है।

हमारा यह सुनिश्चित मत है कि वेदान्त दर्शन में एवं उपनिषदों में भी कर्म को मोक्ष प्राप्ति में सहायक ही माना है। पूर्व के सूत्र में और इस सूत्र में भी आश्रम कर्मों का विधेय है।

यह लाभप्रद होगा कि यहाँ भी स्वामी शंकर जी के भाष्य को देख लिया जाये। स्वामीजी ने इससे पूव के सूत्र (३-४-३२) के भाष्य में इस प्रकार लिखा है—

'सर्वापेक्षा च' (ब्र० सु० ३-४-२६) इत्यत्राश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम्, इदानीं तु किममुमुक्षोरप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्युताहो नेति चिन्तयते। तत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिनाश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाद्विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि। अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तह्येषां विद्यासाधनत्वं नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति। अस्यां प्राप्तौ पठति —आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्यान्येव नित्यानि कर्माणि, 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना विहितत्वात। नहि वचनस्यातिभारो नाम कश्चिदस्ति॥

सर्वापेक्षा (३-४-२६) में आश्रम कर्म विद्या के प्राप्ति साधन रूप से निश्चित किये गये हैं। अब तो आश्रम मात्र निष्ठ विद्या की कामना न करने वाले अमुमुक्षुओं को वे आश्रम कर्म अनुष्ठेय हैं अथवा नहीं, यह विचार किया जाता है। पूर्व पक्ष के ऐसा सन्देह करने पर 'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृ० ४-४-२३) इत्यादि श्रुति से आश्रम कर्म विद्या के साधन रूप से विहित हैं। अतः विद्या की इच्छा न करनेवाले और अन्य फल की कामना करनेवाले को नित्य कर्म अनुष्ठेय नहीं हैं। यदि उसके लिये भी नित्य कर्म अनुष्ठेय हों तो वे विद्या के साधन नहीं होंगे। क्योंकि नित्य और अनित्य के संयोग का विरोध है।

इसके प्राप्त होने पर कहते हैं कि आश्रम मात्र निष्ठ अमुमुक्षुओं का भी नित्य कर्म कर्त्तव्य ही है। क्योंकि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र होम करे; इत्यादि से विहित है। कारण कि वचन पर कोई अति भार नहीं।

जहाँ-जहाँ शंकराचार्य अपने प्रिय सिद्धान्तों के विपरीत मत वेदान्त दर्शन में पाते रहे हैं, वहाँ वे अपनी ओर से ऐसी बातें बीच में जोड़ देते हैं जिनके विषय में सूत्रों में संकेत मात्र भी नहीं होता। यही बात इस सूत्र में की गई है। आप सूत्र (३-४-२६) को पहले ही विकृत कर चुके हैं। आप उसका उद्धरण इस सूत्र के भाष्य में दे रहे हैं। उस सूत्र में यह स्पष्ट रूप में लिखा है कि वेदों मे कहे सब यज्ञादि कर्मों का सम्बन्ध है, जैसाकि घोड़े का सम्बन्ध यात्रा से होता है। किससे सम्बन्ध है ? यह हम बता चुके हैं कि मोक्ष प्राप्ति से। कारण यह कि यहाँ प्रसंग मोक्ष प्राप्ति का है। वहाँ भी और फिर इस सूत्र में भी शंकराचार्य ने अमुमुक्षु अपने पास से लगा दिया है। बात हो रही है मोक्ष प्राप्ति की ओर स्वामी जी लिख रहे हैं कि यह अमुमुक्षुओं के लिये है। सूत्र में और इस पूर्ण पाद में अमुमुक्षुओं की ओर किंचिन्मात्र भी संकेत नहीं है। साथ ही लिख दिया है 'विद्या की कामना करनेवाले।'

हमारा कहना है कि इस प्रकरण में इन दोनों का उल्लेख नहीं। उन्होंने

अपने मिथ्या असिद्ध मत को सिद्ध करने के लिए ये दोनों बातें सूत्रकार के नाम पर लिख दी है। यह उनकी अनाधिकार चेष्टा है।

सत्य बात तो यह है कि सूत्रकार महर्षि व्यास ने मोक्ष प्राप्ति मे कर्म को सहायक माना है। साथ ही लिखा है कि ऐसा वेद शास्त्र में निहित है।

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥३४॥

सर्वथा + अपि + ते + एव + उभय + लिङ्गात्।

सर्वथा = सब प्रकार से। अपि = भी। ते = वे। एव = ही। उभय-लिङ्गात् = दोनों लिंगों से।

ऊपर विहित आश्रम धर्मों के पालन की व्यवस्था दी गई है। यहाँ लिखा है कि सब प्रकार से भी आश्रम धर्म (पालन करने योग्य) हैं, क्योंकि दोनों लिङ्गों के (इसके पक्ष में) होने से।

दोनों लिङ्गों का अर्थ है स्मृति और वेद। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि शास्त्र प्रमाण से और अनुमान प्रमाण से। हमारे मत से 'दोनों लिङ्गों से' का अभिप्राय है शास्त्र प्रमाण और अनुमान प्रमाण। शास्त्र प्रमाण में वेद स्मृति दोनों आ जाते हैं। स्मृति और वेद भिन्न-भिन्न मतवाले नहीं माने जाते। मनुस्मृति में लिखा है कि यदि कहीं स्मृति में वेद के विरुद्ध भाव दिखाई दे तो वेद को ही मानो। अतः हमारा मत है कि उभयलिङ्गात् का अर्थ शास्त्र प्रमाण अथवा युक्ति (अनुमान प्रमाण) मानना चाहिये। स्मृति एवं वेद से नहीं।

अतएव सूत्र का भावार्थ बनता है कि शास्त्र प्रमाण से भी और युक्ति से भी यही सिद्ध होता है कि कर्म सब प्रकार से मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है।

अनभिभवं च दर्शयति ॥३५॥

अनभिभवं + च + दर्शयति।

अनभिभवं = न दबने को। च = और। दर्शयति = दिखलाता है।

ज्ञान और कर्म का सहयोग होने में (प्रयास का) न दबना शास्त्र दिखलाता है। अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में किये प्रयत्नों में यदि ज्ञान और कर्म साथ-

साथ चलें तो विनष्ट नहीं होते। प्रयास विफल नहीं जाता।

ऊपर लिखा है कि दोनों लक्षणों से पता चलता है कि सब प्रकार से कर्म सहायक होते हैं। दोनों लक्षणों का अर्थ हमने बताया है शास्त्र प्रमाण और युक्ति। अब इस सूत्र में कहा है कि ज्ञान और कर्म द्वारा किये गये मुक्ति के प्रयास दबते नहीं। अर्थात् विनष्ट नहीं होते।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३६॥

अन्तरा+च+अपि+तु+तत्+दृष्टेः।

अन्तरा=बिना (आश्रम धर्म के अतिरिक्त) चापि=और भी। तु=तो। तत् दृष्टेः=वैसा देखे जाने से।

क्या देखे जाने से ? निस्सन्देह मोक्ष प्राप्ति के उपाय। मोक्ष का ही प्रकरण चल रहा है। ऊपर विहित कर्मों से प्राप्ति की बात लिखी है। यहाँ उनसे अतिरिक्त कर्मों की बात कह दी है। आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के अपने-अपने धर्म हैं। यहाँ ऐसे व्यक्ति की बात है जो आश्रम धर्मों के अतिरिक्त कर्मों का पालन करता हुआ मोक्ष प्राप्ति के लिये प्रयास करता है।

अतिरिक्त का अभिप्राय है आश्रम धर्मों के अतिरिक्त निष्काम भाव से यज्ञरूप सर्वभूत हिताय कर्मों का करना।

अपि च स्मर्यते ॥३७॥

च अपि=और भी। स्मर्यते=स्मृति में भी (कहा गया है)।

यज्ञरूप कर्म और ज्ञान, आश्रम-कर्मों से अतिरिक्त हैं। कुछ एक भाष्यकारों ने इस सूत्र की व्याख्या में मनुस्मृति (२-८७) का निम्नलिखित उद्धरण दिया है—

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥

ब्राह्मण जप से सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वह भले ही कुछ काम करे, किसी का मित्र बने अथवा न बने।

हमारा कहना है कि यह श्लोक सूत्र के भाव को प्रकट नहीं करता। यह किसी अन्य सन्दर्भ में लिखा गया है। सूत्र का अभिप्राय आश्रम धर्म से है और इस श्लोक में वर्ण की बात कही है। यहाँ लिखा है कि ब्राह्मण अपने वर्ण

धर्म का पालन करे अथवा न करे, वह मोक्ष के लिये उपाय कर सकता है।

वर्ण स्वभाव और योग्यता से माना जाता है, परन्तु आश्रम वयस् और मानसिक रुचि से सम्बन्ध रखता है। आश्रम धर्म तो छोड़ना सहज है, परन्तु स्वभाव सुगमता से बदला नहीं जा सकता।

हमारा विचार है कि सूत्र आश्रम धर्मों से सम्बन्ध रखता है। (देखें सूत्र ३-४-३२)।

भगवद्गीता में भी इस प्रकार लिखा है—

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(१८-४, ५)

अर्थात्—हे अर्जुन! त्याग के विषय में मेरा निश्चित मत सुन। तीन प्रकार का त्याग करना चाहिये। (संसार में तीन ऐषणायें हैं। वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा। इनके त्याग की बात कही है।)

परन्तु यज्ञ, दान और तप रूपी कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये। ये तीनों मनुष्य को पवित्र करनेवाले कर्म हैं।

विशेषानुग्रहश्च ॥३८॥

विशेषानुग्रहः+च।

विशेषानुग्रहः=विशेष अनुग्रह होता है। च=और।

इसका अर्थ है कि यज्ञ-यागादि कर्मों के बिना और आश्रम धर्मों के पालन करने के बिना मोक्ष प्राप्ति परमात्मा की विशेष अनुग्रह से ही होती है। यह विशेष अनुग्रह पूर्व कर्मों, पूर्व जन्म के कर्मों, तदनुसार संस्कारों के फल स्वरूप ही होती है।

भगवद्गीता में इस ओर संकेत है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

(६-४१, ४२)

अर्थात्—योगभ्रष्ट हुआ, परन्तु पुण्य-कर्म करनेवाला अन्य (उत्तम)

लोकों को प्राप्त होता है। बहुत काल तक वहाँ रहकर शुद्ध आचरण वालों के घर में उत्पन्न होता है।

अथवा ज्ञानवान योगियों के कुल में जन्म लेता है, जो अति दुर्लभ है। इसको ही सूत्रकार ने अनुग्रह कहा है। ज्ञानवानों के घर में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्ति सहज हो जाती है। ऐसे लोग आश्रम धर्मों के बिना भी ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥३९॥

अतः+तु+ज्यायः+इतरत्+लिङ्गात्+च ।

अतः=इसलिये। तु=तो। इतरत्=अन्य। ज्यायः=बड़ा है (श्रेष्ठ है)। लिङ्गात्=चिह्नों से। च=और।

अभिप्राय यह है कि इससे (आश्रम धर्मों से) दूसरा श्रेष्ठ है। ऊपर आश्रम धर्मों का पालन करते हुए मोक्ष प्राप्ति के यत्न की बात कही गयी है। ३९ भी कहा गया है कि मोक्ष की सिद्धि में आश्रम धर्म सहायक होते हैं। यहाँ यह बताया है कि निष्काम भाव से यज्ञ रूप किये कर्म अधिक सहायक होते हैं। इसका अभिप्राय है कि किसी भी आश्रम में हो, निष्काम भाव से यज्ञ रूप कर्म अर्थात् प्राणी मात्र के कल्याण के लिये कर्म छोड़ने नहीं चाहिये। कारण कि वह अधिक श्रेष्ठ है। इनका सहाय मोक्ष प्राप्ति में बहुत अधिक है।

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥४०॥

तद्भूतस्य + तु+न+अतद्भावः+जैमिनेः+अपि + नियमात्-तद्रूपाभावेभ्यः ।

तद्भूतस्य=वैसे हुए को। तु=तो। न=नहीं। अतद्भाव=वैसा होना। जैमिनेः=जैमिनी के मत से। अपि=भी। नियमातद्रूपाभावेभ्यः=नियम और न वैसा होने का अभाव से (कहता है)।

वैसे हुए का अभिप्राय है कि पहले वर्णन किये हुए जैसा। पहले वर्णन किया है—निष्काम भाव से यज्ञरूप कार्य करने अथवा आश्रम धर्मों को पालन करने जैसा। न अतदभावः—वैसा निश्चय से न होना। अर्थात् इन कर्मों

को छोड़ जाना ठीक नहीं। आश्रमवासी का आश्रम छोड़ जाना अथवा लोक-कल्याण करने वालों का अपना कर्तव्य छोड़ जाना ठीक नहीं होता। जैमिनी भी ऐसा कहते हैं। सरल भाषा में यह इस प्रकार है कि किसी आश्रम धर्म में अथवा लोक कल्याणादि कर्म में प्रवृत्त होने के उपरान्त उस धर्म से च्युत होना ठीक नहीं। जैमिनी मुनि का भी यही मत है। एक बार इन धर्मों में प्रवृत्त हो जाने पर इनको छोड़ा जायेगा तो मोक्ष प्राप्ति में बाधा पड़ेगी।

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥४१॥

न+आधिकारिकम्+अपि+पतनानुमानात्+तत्+अयोगात्।

च=और। आधिकारिकम्=अधिकार में कहा गया। न=नहीं। अपि=भी। पतनानुमानात्=पतन के अनुमान से। तत् अयोगात्=उसका योग (सम्बन्ध) न होने से।

जो व्यक्ति आश्रम धर्म से गिर जाता है अथवा किसी आश्रम में जाकर नीचे के आश्रम में आ जाता है अथवा निष्काम भाव में यज्ञादि आरम्भ कर छोड़ देता है, उसका अधिकार नहीं। किस बात में अधिकार नहीं? मोक्ष मार्ग पर चलने का अधिकार नहीं। अतः मोक्ष मार्ग के राही को चाहिये कि जो पग उठाये, वह पूर्व विचारित हो और सुदृढ़ हो। पग लौटाना ठीक नहीं। पग लौटाने वाले को मोक्ष मार्ग पर चलने का अधिकारी नहीं माना गया।

कुछ भाष्यकारों ने अधिकारी न होने का अर्थ प्रायश्चित्त का भी अधिकारी न होना माना है। इन भाष्यकारों के और हमारे अर्थों में अन्तर है। इन भाष्यकारों के कथन का अर्थ यह बनता है कि मनुष्य एक बार पदच्युत हुआ तो उसे प्रायश्चित्त के अधिकार से भी वंचित माना गया है। उसको अनन्त काल तक सन्मार्ग से वंचित मानना उचित प्रतीत नहीं होता। हम समझते हैं कि पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त का मार्ग सदा खुला रहता है। अभिप्राय यह है कि जब तक व्रत भंग रहता है तब तक ही उसका मार्ग अवरुद्ध रहता है। मनुष्य के लिये आश्रमादि धर्म तथा यज्ञादि कर्म का अवसर सदा बना रहता है।

बुद्धि यही कहती है कि मोक्ष मिलना है जीवात्मा को, व्रत भंग होता है जीवात्मा का। जीवात्मा अमर है। इस कारण एक बार व्रत भंग होने से उसे सदा के लिये उत्कर्ष करने से वंचित मानना अयुक्तिसंगत होगा।

अतः इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार बनता है—वह जो आश्रम धर्म से

अथवा यज्ञादि कर्म से लौट पड़ता है, वह मोक्ष पाने का अधिकारी नहीं रहता।

वह प्रायश्चित का भी अधिकारी नहीं। यह बात अयुक्तियुक्त प्रतीत होती है।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥४२॥

उपपूर्वम्+अपि+तु+एके+भावम्+अशनवत्+तत्+उक्तम्।

उपपूर्वम्=ऊपर कहे के साथ। **अपि**=भी। **तु**=तो। **एके**=कुछ एक के मत से। **भावम्**=होना। **अशनवत्**=भोजन (में नियम भंग के) समान। **तत् उक्तम्**=वह कहा गया है।

सूत्र का अभिप्राय यह बनता है कि ऊपर कहा है कि जो आश्रम धर्मों के व्रत तथा लोक कल्याण कार्य के व्रत को भंग करता है, वह मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी नहीं रहता। उसके साथ ही यह भी कुछ-एक आचार्यों का मत है कि यह ऐसा ही है जैसे कि भोजन के विषय में व्रत भंग होने में प्रायश्चित्त करने से अधिकार पुनः प्राप्त हो जाता है वैसे ही आश्रम धर्मों में भी प्रायश्चित्त से अधिकार वापस हो जाता है।

इस सूत्र का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि जैसे सब प्रकार का अन्न जीवन चलाने के लिए क्षम्य है, वैसे ही उक्त सूत्र में भी जो नियम भंग की बात लिखी है, यदि जीवन संकट में पड़ने पर करनी पड़े, तो क्षम्य है।

कुछ भाष्यकारों ने उपपूर्वम् के अर्थ किये हैं उपपालक। इस प्रकार की खींचातानी ठीक प्रतीत नहीं होती। यह व्यर्थ है। सूत्र को पूर्व के सूत्र से मिलायें तो बात सरलता से समझ में आ सकती है।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥४३॥

बहिः+तु+उभयथापि+स्मृतेः+आचारात्+च।

बहिः=बाहर (बहिष्कार) करना। **तु**=तो। **उभयथापि**=दोनों प्रकार से भी। **स्मृतेः**=स्मृति से। **च**=और। **आचारात्**=आचार से।

यहाँ नियम भंग करने वाले का बहिष्कार करने के लिये लिखा है। विवादस्पद शब्द है उभयथा। इसका अर्थ है दोनों प्रकार से। दोनों प्रकार से व्रत भंग का वर्णन है अथवा बहिष्कार की अनुमति है? दोनों प्रकार से अर्थात् आचार के विचार से और स्मृति शब्द के विचार से।

हमारा मत यह है कि यह "दोनों प्रकार से" का अभिप्राय है स्मृति शास्त्र से तथा आचार के विचार से। इन दो प्रकार से बहिष्कार की अनुमति है।

यह बहिष्कार भी प्रायश्चित पूर्ण होने तक ही होना चाहिये। प्रायश्चित्त हो जाने पर बहिष्कार भी समाप्त हो जाना चाहिये।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥४४॥

स्वामिनः+फलश्रुतेः+इति+आत्रेयः।

स्वामिनः=यजमान का। फलश्रुतेः=श्रुति में बताये कर्म का फल। इति=यह। आत्रेय -आत्रेय ऋषि का कथन है।

अर्थात्—जो यजमान जिस कर्म का अनुष्ठान करता है, उस कर्म का फल यजमान को ही होता है। कर्म कराने वाले ऋत्विक् आचार्य इत्यादि दूसरे को नहीं। इनके विषय में आगे लिखा है।

अतः यजमान को यज्ञ कार्य स्वयं करने चाहिये।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥४५॥

आर्त्विज्यम्+इति+औडुलोमिः+तस्मै+हि+परिक्रीयते।

आर्त्विज्यम्=ऋत्विजों का कर्त्तव्य। इति=यह। औडुलोमिः= औडुलोमि आचार्य का मत है। तस्मै=उसके लिये। हि=क्योंकि। परिक्रीयते =परिक्रीत होता है, अर्थात् मोल लिया जाता है।

यजमान द्वारा ऋत्विज को उसके द्वारा किये गये यज्ञ कर्मों की दक्षिणा दे दी जाती है। पूर्वोक्त सूत्र में लिखा है कि कर्म का फल यजमान को मिलता है। कारण यह कि वह अनुष्ठान करता है। आचार्य अथवा ऋत्विक् अपने कार्य की दक्षिणा पाता है। वह यज्ञ कर्म के फल का भोक्ता नहीं होता। इसे ही परिक्रय, अर्थात् मोल लेना कहते हैं।

उदाहरण के रूप में एक सेठ एक निःशुल्क विद्यालय खोलने का आयोजन करता है। विद्यालय में वह दस अध्यापक पारिश्रमिक पर लगाता है। औडुलोमि ऋषि के कथनानुसार आचार्य पारिश्रमिक लेने के कारण विद्यालय खोलने के फल के भागी नहीं हो सकते। हाँ, यदि वे बिना पारिश्रमिक लिये

कार्य करें तो बात दूसरी है। उस अवस्था में वे भी विद्या दान के फल के भागी हो जायेंगे।

इस सूत्र में ऋत्विक् के परिक्रय की बात औडुलोमि के मत से लिखी है। ऋत्विक् वस्तुतः परिक्रय किया हुआ नहीं होता। उसका वरण किया जाता है। वरण करने में पारिश्रमिक का पूर्व निश्चय नहीं होता। अतः ऋत्विक् का कार्य भी यज्ञ रूप ही होता है और यदि दक्षिणा इत्यादि मिल जाती है तो यह एक पृथक् बात है। यह भी एक मत है। सूत्रकार के मत से यह तनिक भिन्न है।

श्रुतेश्च ॥४६॥

श्रुतेः+च।

और श्रुति से भी यही विदित होता है।

ऐसा उपनिषद् में आया है कि ऋत्विक् यजमान के लिये यज्ञ का फल मांगता है।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥४७॥

सहकार्यन्तरविधिः+पक्षेण+तृतीयम्+तद्वतः+विध्यादिवत्।

सहकार्यन्तरविधिः=कार्य में सहकारी का विधान है। पक्षेण=पक्ष से। तृतीयम्=तीसरा है। तद्वतः=उस वाले को। विध्यादिवत्=विधि आदि की भाँति।

ऊपर बताया है कि यज्ञादि कर्म में यजमान ही कर्म फल का अधिकारी है, ऋत्विक् नहीं। वह तो परिक्रीत होता है। यज्ञ में सहकारी तीसरा है। यजमान का सहकारी उसके अनुष्ठान में सहयोगी होने से फल का भी भागीदार होगा। सहकारी से अभिप्राय उन सब से है जो यज्ञ कर्माङ्गों में किसी प्रकार का भी कार्य निष्काम भाव से करते हैं। वे दान-दक्षिणा नही पाते। अतः वे वैसे ही फल के अधिकारी हैं जैसे कि यजमान होता है।

सूत्रकार का इस सूत्र से यह अभिप्राय है कि यत्र में सब वेतन अथवा दान-दक्षिणा के बिना सहायता करने वाले यज्ञ में सहकारी होने से यज्ञ के फल के भागी होंगे।

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥४८॥

कृत्स्नभावात्+तु+गृहिणा+उपसंहारः।

कृत्स्नभावात्=सबके होने से। **तु**=तो। **गृहिणा**=गृहाश्रमी से। **उपसंहारः**=उपसंहार है।

सब आश्रमियों के, गृहाश्रमी के आश्रित होने से, गृहस्थाश्रम उपसंहार है। उपसंहार का अभिप्राय है कार्य की सफलता पूर्वक समाप्ति। मनुष्य जीवन एक यज्ञ है और गृहस्थाश्रम इस यज्ञ का उपसंहार अर्थात् अन्तिम फल का देने वाला है। यदि जीवन का ध्येय मोक्ष प्राप्ति है तो गृहस्थाश्रम उस प्राप्ति की अन्तिम कड़ी है।

...यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठापयाहिँसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ (छान्दो० ८-१५-१)

अर्थात्—नियमानुसार गुरु के कर्तव्य कर्मों को समाप्त करता हुआ, वेद का अध्ययन कर, आचार्य कुल से समावर्तन कर कुटुम्ब में स्थित हो, पवित्र स्थान में स्वाध्याय करता हुआ, दूसरों को धार्मिक बनाता हुआ, सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में स्थापित कर शास्त्र की आज्ञा से अन्यत्र प्राणियों की हिंसा न करता हुआ; वह निश्चय ही आयु की समाप्ति पर्यन्त इस प्रकार बर्तता हुआ (अन्त में) ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है और फिर नहीं लौटता।

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥४९॥

मौनवत्+इतरेषां+अपि+उपदेशात्।

मौनवत्=मुनियों के समान। **इतरेषां**=दूसरों का। **अपि**=भी। **उपदेशात्**=उपदेश से।

ऊपर गृहस्थियों के मोक्ष प्राप्त करने की बात लिखी है। यहाँ लिखा है कि वे मुनियों की भाँति अर्थात् वे चुपचाप अपने आचरण से उपदेश देते हैं। इस प्रकार वे लोक-कल्याण करते हैं और मोक्ष के भागी हो जाते हैं।

मुनि भी अपने आचरण से ही उपदेश देते हैं। यही बात गृहस्थियों की है। वे अपने लोक-कल्याण के कार्यों से दूसरों को सन्मार्ग दिखाते हैं।

कुछ अन्य भाष्यकारों ने मुनि का अर्थ किया है वानप्रस्थी और इतरेषां

का अर्थ किया है दूसरे आश्रम वाले। उनके विचार से सूत्र का अभिप्राय है कि ज्ञानप्रस्थी शमदमादि का आचरण रखते हुए दूसरे आश्रम वालों को, मौन उपदेश से सन्मार्ग दिखाते हैं।

हमारे विचार में उक्त अर्थ ही ठीक है। उन अर्थों की संगति ही पूर्वापर से ठीक बैठती है।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥५०॥

अनाविष्कुर्वन्+अन्वयात्।

अनाविष्कुर्वन्=(अपने को) प्रकट न करते हुए। अन्वयात्=सम्बन्ध से।

परम्परागत सम्बन्ध को न प्रकट करते हुए रहना चाहिये। किससे सम्बन्ध ? यजमान, गुरु, आचार्य इत्यादि से अथवा किसी ऐसे महान् व्यक्ति से जिसका वर्तमान अनुष्ठान में विशेष सम्बन्ध हो। यह सम्बन्ध प्रकट नहीं करना चाहिये। इससे मोक्ष प्राप्ति में बाधा होती है।

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥५१॥

ऐहिकम्+अपि+अप्रस्तुतप्रतिबन्धे+तद्दर्शनात्।

ऐहिकम्=इस जन्म में। अपि=भी। अप्रस्तुतप्रतिबन्धे=प्रतिबन्ध के अप्रस्तुत (न उपस्थित) होने पर। तद्दर्शनात्=उसके ज्ञान हो जाने से।

अभिप्राय यह है कि इस जन्म में यदि बताये गये प्रतिबन्ध न हों तो मुक्ति एक जन्म में भी सम्भव है। अन्य प्रतिबन्धों का अर्थ है शम, दमादि अथवा आश्रम कर्म में भंग न होने पर।

इस जन्म में प्रतिबन्धों के अनुपस्थित होने से यह देखा जाता है। क्या देखा जाता है ? मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रतिबन्धों के अप्रस्तुत होने का अभिप्राय है कि जब कामनाओं इत्यादि के बन्धन उपस्थित न हों तो।

सूत्र का भाव यह बनता है कि यदि निष्काम भाव से कर्म किये जायें तो ऐसा देखने में आता है कि एक जन्म में भी मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।।५२।।

एवम्+मुक्तिफलानियमः+तदवस्थावधृतेः+तदवस्थावधृते ।

एवम्=इस प्रकार। **मुक्तिफल अनियमः**=मुक्ति फल का नियम नहीं। **तदवस्थावधृतेः**=उस अवस्था में निश्चय से अर्थात् ऐसा विधान होने से।

सूत्रकार का यह अभिप्राय है कि यह नियम नहीं कि एक दो, अथवा कितने जन्मों में मुक्ति प्राप्त होती है। नियम है उस अर्थात् ज्ञान की अवस्था के प्राप्त होने की। जब ज्ञानयुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है तब मुक्ति मिल जाती है। यद्यपि यह लिखा है कि एक जन्म में भी यह मिल सकती है, परन्तु यह नियम नहीं।

उपसंहार के रूप में यह कहा जा सकता है कि यह पूर्ण पाद मुक्ति की उपलब्धि पर है। यह समूचा प्रकरण मुमुक्षुओं के लिये ही है। इसमें अमुमुक्षुओं के लिये कुछ नहीं कहा गया। इसका पाद में संकेत मात्र भी नहीं।

कर्म को मुक्ति प्राप्ति में एक सहायक अंग माना है। मोक्ष की प्राप्ति में गृहस्थाश्रम की भी बहुत महिमा लिखी है।

चतुर्थ अध्याय का सारांश

प्रथम पाद

धारणा, ध्यान और समाधि को बार-बार दोहराना चाहिये। धारणा, ध्यान द्वारा चित्त को परमात्मा के लिंगों में लगाने का यत्न करना चाहिये। परमात्मा इस दोहराने को स्वीकार करता है। धारणा, ध्यान लगाने के समय जो लिंग होते हैं वे परमात्मा के प्रतीक नहीं।

ब्रह्म दृष्टि अर्थात् सब पदार्थों में परमात्मा की दृष्टि उत्कर्ष से अर्थात् आत्मोन्नति से होने लगती है।

सूर्य में परमात्मा की दृष्टि हो सकती है। अर्थात् सूर्य में हो रहे कर्म से परमात्मा का ज्ञान होता है, परन्तु यह ज्ञान एक अंगीय ही है।

ध्यान लगाने के लिये आसन लगाना चाहिये, अर्थात् स्थिर होकर बैठना चाहिये। आसन स्थिर और सुखकर होना चाहिए। आसन पर बैठकर ध्यान लगाकर शरीर, मन और बुद्धि को अचल अर्थात् स्थिर करना चाहिये।

आसन पर अचलत्व प्राप्त कर परमात्मा का सिमरण (बार-बार स्तुति) करना चाहिये। एकाग्रता होनी आवश्यक है और यह मरण-पर्यन्त चलनी चाहिये। इसका अगले जन्म पर प्रभाव पड़ता है और सब पाप-कर्मों का नाश होता है। कर्मों के संस्कार मन से उठ जाते हैं। पुण्य कर्मों के भी संस्कार नहीं रहते। इनमें उन कर्मों के संस्कार भी सम्मिलित हैं जिनको अनारब्ध कर्म कहते हैं। अनारब्ध कर्म उनको कहते हैं जिनका फल अभी मिलना आरम्भ नहीं हुआ।

अग्निहोत्रादि उस कार्य के लिये हैं, अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये हैं। इसी प्रकार निष्काम भाव से किये अन्य कर्म भी सहायक होते हैं।

विद्या से जो कुछ जाना जाता है उसका फल निश्चय है। विद्या का अर्थ आध्यात्मिक ज्ञान है।

द्वितीय पाद

मनुष्य के मरने के समय इन्द्रियों के प्राण मन में चले जाते हैं। मन (मुख्य) प्राण में चला जाता है और प्राण जीवात्मा में चला जाता है। जीवात्मा

भूतों में चला जाता है; अर्थात् वह सूक्ष्म शरीर में चला जाता है।

स्थूल शरीर छूटने तक तो इस लोक में रहनेवाले अथवा अमरत्व प्राप्त करनेवालों की गति समान होती है।

सामान्य रूप में सूक्ष्म शरीर प्रलय काल तक साथ रहता है। यह प्रमाण से तथा युक्ति से सिद्ध होता है। सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर की भाँति नाश को प्राप्त नहीं होता।

स्थूल शरीर में गर्मी सूक्ष्म शरीर से ही प्राप्त होती है। अतः सूक्ष्म शरीर के स्थूल शरीर को छोड़ जाने से स्थूल शरीर ठण्डा हो जाता है। गर्मी का अर्थ शक्ति है और ठण्डा होने का अर्थ शक्तिरहित होना है। शक्ति से यहाँ प्राण से अभिप्राय है। प्राण सूक्ष्म शरीर के साथ चले जाते हैं। यह कुछ एक ऋषियों ने स्पष्ट रूप में वर्णन किया है।

मोक्ष प्राप्ति के समय सूक्ष्म शरीर जीवात्मा को छोड़ जाता है और जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। उस समय प्राण एक रूप होकर परमात्मा में चले जाते हैं। वही प्राणों का स्रोत है। अध्यात्म ज्ञान से युक्त आत्मा जब शरीर छोड़ने लगता है तो हृदय का द्वार प्रकाशमान हो जाता है और जीवात्मा शरीर से बाहर निकल जाता है।

जीवात्मा की गति प्रकाश की रश्मियों के अनुसार होती है। यह रश्मियों के आश्रय नहीं रहता। रश्मियों का सम्बन्ध तो तब तक रहता है, जब तक शरीर रहता है।

मुक्त जीव के लिये न रात-दिन की, न शुक्ल-कृष्ण की और न ही उत्तरायण-दक्षिणायन की अपेक्षा रहती है। स्वर्ग और ब्रह्म लोक के मार्ग योगियों के लिये ही हैं। कुछ योगी ब्रह्मवित् नहीं होते। वे सूक्ष्म शरीर के साथ स्वर्गलोक को जाते हैं और ब्रह्मवित् मोक्ष धाम को जाते हैं।

तृतीय पाद

शरीर छोड़ने के समय हृदय का अग्र भाग ज्योतियुक्त हो जाता है। उस मार्ग से जीवात्मा शरीर से बाहर हो जाता है।

एक संवत्सर में जीवात्मा वायु को प्राप्त होता है। इतना काल लगने का कारण यह बताया है कि वायु (वह शक्ति जो परमात्मा की शक्ति कही है) तक पहुँचने के लिये विशेषों से निकलकर अविशेषों में जाने की आवश्यकता होती है। विशेष पारिमण्डलीय रचना को कहते हैं। इससे सूक्ष्म स्थिति अविशेष कहलाती है। वायु के क्षेत्र को विद्युत क्षेत्र भी कहते हैं। विद्युत क्षेत्र से वरुण के क्षेत्र में जाता है। वरुण का अभिप्राय आपः है। अर्थात् वह महद् के क्षेत्र में

चला जाता है। दोनों क्षेत्रों का सम्बन्ध है।

जीवात्मा अविशेषों के अभिमानी देवताओं (वायु) द्वारा आगे और आगे ले जाया जाता है। इस समय भी जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं होता।

विद्युत (वायु), वरुण (महद्) से आगे ले जानेवाला परमात्मा है। इसे अमानव के नाम से उपनिषद्कार स्मरण करता है।

अमानव ही इसे ले जाता है। यह गति से सिद्ध होता है। उस समय यह विशेष गुणों से युक्त होता है। यह विशेषता परमात्मा के समीप होने से उत्पन्न होती है।

जब जीवात्मा परमात्मा के समीप पहुँच जाता है तो परमात्मा का सहवास मिलता है। परमात्मा मुख्य होता है। जैमिनि ऋषि के कथन से और देखे जाने से भी। इस पर भी इसमें परमात्मा का अपना कुछ प्रयोजन नहीं।

बादरायण ऋषि का मत है कि ले जानेवाले को मानो अथवा न मानो। यह जानेवाले का संकल्प ही उसे ले जाता है। यह संकल्प उसे ब्रह्मलोक का दर्शन कराता है।

सूत्रकार कहता है कि जीवात्मा के ब्रह्मलोक में जाने का विशेष वर्णन उपनिषदों में मिलता है।

चतुर्थ पाद

शास्त्र में यह वर्णित है कि जब जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर लेता है तब यह अपने निर्मल स्वरूप में प्रकट होता है। इस स्वरूप का शास्त्र में ज्ञापन किया गया है। यह स्वरूप आत्मा का ही है (परमात्मा का नहीं)।

मुक्तावस्था में जीवात्मा परमात्मा से अविभक्त दिखायी देता है। वास्तव में वह अविभक्त नहीं है। यह परमात्मा से एक हुआ इस कारण दिखाई देता है, क्योंकि परमात्मा के बहुत समीप होता है। यह भी कहा जाता है कि मुक्तात्मा और परमात्मा एक दिखाई देते हैं; क्योंकि दोनों चेतन स्वरूप हैं। परन्तु जीवात्मा में आनन्द भोग का तीव्र संकल्प होता है। इसी से अविभक्त दिखाई देते हैं।

मोक्षावस्था में इसका कोई अधिपति नहीं होता। यह स्वाधीन होता है। बादरि ऋषि के मतानुसार यह इन्द्रियों से रहित होता है। अर्थात् यह आनन्द का भोग करता है बिना इन्द्रियों के।

जैमिनि ऋषि का कहना है कि इस (मुक्त जीव) की इन्द्रियां तो नहीं होतीं, परन्तु उनके भाव अर्थात् इन्द्रियों के विषयों के भोग करने की सामर्थ्य होती है। इससे जीवात्मा आनन्द का भोग करता है। बादरायण ऋषि

जैमिनि और बादरि के मत में अन्तर नहीं मानता। दोनों का अभिप्राय एक ही है। कारण यह कि जीवात्मा में सब इन्द्रियों की शक्तियाँ भाव रूप में रहती हैं। इस कारण इन्द्रियों के न होने पर भी उनके सब कार्य करने की सामर्थ्य जीवात्मा में रहती है।

शरीर रहने पर भी इन्द्रियों का संयोग जीवात्मा से रहता है। उन संधि स्थानों पर जीवात्मा में इन्द्रियों की शक्ति रहती है। अतः आनन्द का भोग उस संधि स्थान पर होता है और यह आनन्द वैसा ही होता है जैसा जीवात्मा कार्य जगत् में भोग द्वारा प्राप्त करता है। अन्तर यह है कि मोक्षावस्था में यह आनन्द कई करोड़ गुणा अधिक होता है।

जीवात्मा दो अवस्थाओं में स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से पृथक् होता है। एक ऐसी अवस्था जैसी प्रलय काल की अवस्था। इसे सुषुप्ति अवस्था भी कहते हैं। दूसरी अवस्था है मोक्षावस्था। इसे सम्पत्ति की अवस्था कहते हैं। दोनों अवस्थाओं में शरीर रहित होने पर भी अन्तर है। एक में जीवात्मा सोई हुई अवस्था में होता है और दूसरी अवस्था में यह जाग्रत अवस्था में होता है। दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। एक में आत्मा चेतना विहीन होता है और दूसरे में चेतना युक्त। जगत् रचना कार्य को छोड़कर अन्य सब उपलब्धियाँ परमात्मा को प्राप्त हो जाती हैं। इन उपलब्धियों की सीमा होती है। इस स्थिति में भी जीवात्मा की सामर्थ्य असीम नहीं।

मोक्षावस्था विकार वाली है। यह बिगड़ती रहती है। सब विकार वाली वस्तुयें अन्त वाली होती हैं। यह वेद, शास्त्र और अनुमान-प्रमाण से सिद्ध होता है।

इस लोक में और मोक्षावस्था में भोगों की समानता (एक समान) होने से भी यही सिद्ध होता है कि मोक्षावस्था भी मर्त्य लोक की अवस्था की भाँति समाप्त होनेवाली है।

अनावृत्ति अर्थात् वहाँ (मोक्षधाम) से न लौटना कहने मात्र की बात है। वास्तविक नहीं है।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम पाद

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥१॥

आवृत्तिः+असकृत्+उपदेशात्।

आवृत्ति=दोहराना। असकृत=अनेक बार (अभ्यास करना)। उपदेशात्=उपदेश से। शास्त्र में उपदेश है कि बार-बार कहना अर्थात् बार-बार अभ्यास करना आवश्यक होता है।

इस पाद में ध्यान, धारणा और समाधि के विषय में लिखा है। पूर्व के अध्याय में कर्म फल द्वारा इस प्राणी लोक से अन्य लोकों में जाने की बात बतायी जा चुकी है।

यह बताया जा चुका है कि प्राणी के मरने पर जीवात्मा के लिये तीन मार्ग खुले होते हैं और जीवात्मा अपने कर्म फल से प्रेरित इनमें से किसी एक मार्ग पर जाता है।

एक मार्ग है इतर् योनियों की ओर। वे सब जीवात्मा, जो घोर पाप कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, वे निम्न प्राणियों की योनियों में जन्म लेते हैं। इन योनियों में अपने पाप कर्मों का फल भोगकर मनुष्य योनि प्राप्त होती है। इसको कर्म योनि कहते हैं। इस योनि में जीवात्मा पुनः अपना मार्ग निर्माण करता है।

सुकृत (श्रेष्ठ कर्म) करने वाला जीवात्मा मनुष्य योनि से उत्क्रमण करता है, अर्थात् वह श्रेष्ठ योनियों के मार्ग को प्राप्त होता है। उत्क्रमण करनेवाले जीवात्माओं के लिये दो मार्ग हैं। एक पितृयान कहलाता है और दूसरा देवयान। पितृयान उनको प्राप्त होता है जो कामना युक्त सुकृतों को करते हैं।

दूसरा उत्क्रमण करने का मार्ग है देवयान। यह उन जीवात्माओं को प्राप्त होता है जो ज्ञान युक्त होकर निष्काम भाव से कर्म करते हैं। इस मार्ग

का अन्त ब्रह्मलोक में है।

इस चतुर्थ अध्याय में इसी लोक में जाने वाले जीवात्माओं के विषय में लिखा है।

हमने बताया है कि सूत्रकार ज्ञान का अर्थ ब्रह्मज्ञान मानता है और ब्रह्मज्ञान में वह परा तथा अपरा दोनों विद्याओं को सम्मिलित करता है। अपरा विद्या मनुष्य को इस संसार के प्रलोभनों से बचाकर पार ले जाने में सहायक होती है। परा विद्या मूल प्रकृति, जीवात्माओं और परमात्मा के सम्बन्ध में है। इस विद्या के बल पर मनुष्य इस लोक, चन्द्र लोक अथवा परमेश्वर में लीन हो जाता है। परब्रह्म आनन्दमय है, अतः इसमें लीन हुआ जीवात्मा भी आनन्द का अनुभव करता है।

वह सब पहले बताया जा चुका है। अब इस अध्याय के वर्तमान पाद में निधिध्यासन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि के विषय में बताया जा रहा है।

इस अध्याय के प्रथम पाद का प्रथम कथन जो इस सूत्र में किया गया है, वह यह है कि बार-बार करने से यह सम्भव हो सकता है।

क्या बार-बार दोहराना चाहिये ? धारणा, ध्यान और समाधि का कर्म। इन्हीं तीनों को निधि-ध्यासन कहते हैं। एकाग्र चित्त होकर चिन्तन करना निधि-ध्यासन कहलाता है। ऐसा करने का उपदेश है।

चिन्तन के तीन पाद हैं। प्रथम है धारणा। धारणा के विषय में योग दर्शन में महर्षि पातञ्जलि लिखते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ (यो० द० ३-१)

किसी देश (स्थान, वस्तु एवं विचार) में चित्त को बाँध देना अर्थात् ठहराना धारणा कहलाती है।

इस सूत्र में 'देश' के लक्षण नहीं किये। यह नहीं बताया कि वह स्थान शरीर के भीतर हो अथवा बाहर हो। न ही यह बताया है कि वह स्थान इस भूमण्डल में हो अथवा भूमण्डल से बाहर हो अथवा वह पदार्थ जिसमें ध्यान को बाँधा जाये, वह परमात्मा हो, जीवात्मा हो अथवा प्रकृति हो।

कुछ लोग कह सकते हैं कि भला कार्य-जगत् के किसी पदार्थ में ध्यान लगाने से क्या लाभ होगा ? इससे मोक्ष की प्राप्ति तो होगी नहीं।

हो अथवा न हो। परन्तु जहाँ तक ध्यान की परिभाषा का सम्बन्ध है, वह वहाँ भी लागू होती है, जहाँ चित्त का बाँधना कार्य जगत् के किसी पदार्थ में हो अथवा तीनों ब्रह्म में से किसी एक ब्रह्म में हो।

वास्तव में जब यह कहा कि इस लोक को पार करने के लिये अपरा

विद्या का ज्ञान आवश्यक है तो इस लोक का सैद्धान्तिक ज्ञान आवश्यक हो जाता है। धारणा का फल तो होगा ही, भले ही धारणा किसी सांसारिक वस्तु में हो अथवा किसी आध्यात्मिक वस्तु में। फल पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु यह नहीं कि एक का कुछ लाभ ही नहीं।

ध्यान के विषय में योग दर्शनाचार्य लिखता है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ (यो० द० ३-२)

जिसमें चित्त को लगाया जाता है, वहाँ चित्त के लय हो जाने को ध्यान अवस्था कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस पदार्थ में धारणा बनायी गयी है, उसमें लीन हो जाना।

और समाधि के विषय में लिखा है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ (यो० द० ३-३)

जब अर्थ (ध्येय) मात्र का ही भास हो और स्वरूप शून्य की भाँति हो जाये, (तदैव) वही समाधि हो जाती है।

वास्तव में धारणा, ध्यान और समाधि चिन्तन के तीन पाद हैं। एक से दूसरा अधिक गहरा होता जाता है।

और इसी का बार-बार अभ्यास करने के लिये ब्रह्मसूत्र (४-१-१) में कहा गया है।

यह पुस्तक पढ़कर कोई अध्ययन-मात्र की वस्तु नहीं है जो एक बार पढ़ ली जाये और समझ ली जाये तो वह जान ली गयी समझी जाती है। यह कर्म है और कर्म में कुशलता प्राप्त करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है।

कई भाष्यकारों ने यहाँ प्रश्न उपस्थित किया है कि (असकृत आवृत्ति) बार-बार करने की आवश्यकता क्या है? ज्ञान तो जब हो गया तब हो गया। यह प्रश्न अथवा संशय शंकराचार्य इस प्रकार प्रकट करते हैं—

भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो न ज्ञानकालेऽस्ति,

(शंकर भाष्य १-१-१)

और धर्म की जिज्ञासा भव्य (साध्य) है और ज्ञान काल में साध्य नहीं।

सूत्र ४-१-१ स्वामी शंकराचार्य जी की उक्त बात का विरोध करता है। यह सूत्र कहता है कि बार-बार के अभ्यास करने से ही ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है।

हम अपने मत से यह कहते हैं कि यहाँ भी अभ्यास से प्राप्ति केवल मात्र परमात्मा की नहीं, वरन् तीनों ब्रह्मों की है और कार्य जगत् की भी है।

योगदर्शनाचार्य महर्षि पातञ्जलि जी ऐसा ही मानते हैं। इसी कारण

उन्होंने समाधि मुख्यत: दो प्रकार की लिख दी है।

एक समाधि है सवितर्क समाधि और दूसरी है निर्वितर्क। सवितर्क समाधि स्थूल पदार्थों के ज्ञान के विषय में लगायी जाती है और निर्वितर्क समाधि सूक्ष्म पदार्थों के ज्ञान के लिये लगायी जाती है।

कार्य जगत् के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिये सवितर्क समाधि ही लगायी जाती है।

अतः इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार है—

बारम्बार अभ्यास करने से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

लिङ्गाच्च ॥२॥

च+लिङ्गात्।

और लिङ्गों से।

यह हम बता चुके हैं कि लिंग का क्या अर्थ है। जिन लक्षणों से चिन्तन योग्य पदार्थ के ज्ञान प्राप्ति की जिज्ञासा हो, उनके असकृत आवृत्ति से अर्थात् बार-बार चिन्तन से ज्ञान की प्राप्ति होती है।

लिंगों का ज्ञान कहाँ से होता है? कुछ लिंगों का वर्णन तो ब्रह्मसूत्रों में ही किया है। ये वेद शास्त्रों में भी वर्णन किये हैं।

उदाहरण के रूप में एक वेद मन्त्र इस प्रकार है—

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकऽइद्राजा जगतो बभूव।
यऽईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(यजु० १३-३)

इसका अर्थ है—जो परमेश्वर प्राण को देनेवाला अंग-प्रत्यंग के हिलने-डोलने की शक्ति देता है, जगत् पर एक मात्र शासक है और जो इस जगत् में दो पाँव अथवा चार पाँव वालों इत्यादि का स्वामी है, उस प्रजा के विधाता परमेश्वर देव की चित्त लगाकर स्तुति करें।

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में भी लिखा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

(भ० गी० १०-४१, ४२)

अर्थात्—जो जो भी विभूति युक्त (ऐश्वर्य युक्त) एवं कान्तियुक्त, ऊर्जा युक्त पदार्थ हैं, उनको तू मेरे तेज से ही उत्पन्न समझ।

हे अर्जुन, अधिक जानने से तेरा क्या प्रयोजन है ? तू इतना ही समझ ले कि मैं सम्पूर्ण जगत् को अपनी शक्ति के एक अंश मात्र से धारण किए हुए हूँ।

अभिप्राय यह है कि परमात्मा के लिंगों (चिह्नों) का बार-बार चिन्तन करना चाहिये। लिंग उन चिह्नों को कहते हैं जिनसे पदार्थ जाना जाता है।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यन्ति च ॥३॥

आत्मा+इति+तु+उपगच्छन्ति+ग्राह्यन्ति+च।

आत्मा=परमात्मा। इति=यह । तु=तो। उपगच्छन्ति=स्वीकार करते हैं। ग्राह्यन्ति=ग्राह्य कराते हैं, बतलाते हैं।

यह आत्मा (परमात्मा) ही तो है जो (विविध शास्त्रों में) स्वीकार किया गया है और जिसका ज्ञान (वे) कराते हैं। उदाहरण के रूप में—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥
(यजु० ३२-१४)

अर्थात्—जिसको धारण करने वाली बुद्धि, देवता, विद्वान् एवं पितर गणों में है और जिसकी वे उपासना करते हैं, वह परम प्रजा ज्ञानस्वरूप परमेश्वर मुझे बुद्धि दे और मेरा कल्याण करे।

इसी परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए "आवृत्ति असकृत्" कहा गया है। अर्थात् बारम्बार अभ्यास इसी (परमात्मा) का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा गया है।

न प्रतीके न हि सः ॥४॥

न+प्रतीके+न+हि+सः।

नहीं है प्रतीक में, निश्चय से; वह (परमात्मा) नहीं है।

प्रतीक से अभिप्राय है वह जो किसी के स्थान पर ग्रहण किया जाता

हो अथवा जो किसी का स्थानापन्न हो ।

यहाँ किसी मूर्ति में परमात्मा का चिन्तन करते हुए ध्यान लगाने का निषेध किया गया है । केवल मूर्ति ही नहीं, वरन् कोई भी जगत् का पदार्थ उसका (ब्रह्म) प्रतीक नहीं बन सकता । कारण कि कोई उस जैसा नहीं है ।

मूर्ति की तथा सूर्य, चन्द्रादि की पूजा करते हुए कुछ लोग समझते हैं कि वे परमात्मा की उपासना तथा उसका चिन्तन कर रहे हैं। दर्शनाचार्य कहता है कि इन वस्तुओं की उपासना अथवा चिन्तन परमात्मा मानकर नहीं करनी चाहिये ।

वैसे तो भगवद्गीता में भी कहा है कि—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥

(भ० गी० ७-२१, २२, २३)

इसका अर्थ है—जो जो जिस जिस देवता की श्रद्धा से अर्चना करने की इच्छा करता है, वह परमात्मा उस भक्त की भक्ति को उस देवता में स्थिर कर देता है, अर्थात् उस देवता का ज्ञान उसको प्राप्त होता है ।

तब वह भक्त उस देवता से परमात्मा द्वारा उस देवता में निश्चित भोगों को प्राप्त करता है ।

परन्तु ये फल उन अल्प बुद्धि वालों को अल्पकाल के लिए मिलते हैं। देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं और जो परमात्मा का पूजन करते हैं, उनको परमात्मा मिलता है ।

यह स्पष्ट है कि कोई भी परमात्मा के अतिरिक्त पदार्थ परमात्मा का प्रतीक नहीं हो सकता । सूत्रकार इसका कारण बताता है कि वह (प्रतीक) वस्तु वैसी (परमात्मा जैसी) नहीं है ।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥५॥

ब्रह्मदृष्टिः+उत्कर्षात् ।

ब्रह्मदृष्टिः=ब्रह्म को देखना । उत्कर्ष=अपने आत्मा के उत्कर्ष से ।

ब्रह्म दर्शन उत्कर्ष से (प्राप्त होता है)।

इससे पूर्व के सूत्र में कहा है कि उसका कोई प्रतीक नहीं। अभिप्राय यह कि ब्रह्म का इस जगत् में कोई स्थानापन्न नहीं। इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है तो उसकी उपमा किससे दें ? इसका समाधान यह सूत्र करता है। जो इस संसार में श्रेष्ठ पदार्थ हैं, उनसे उसकी उपमा दी जा सकती है।

उदाहरण के रूप में परमात्मा को ज्योतिस्वरूप बताया है। जब ज्योति की तुलना आई तो उसे ज्योतियों में आदित्य समझो।

इसी भाव के अनुरूप भगवद्गीता में दसवें अध्याय में लिखा है। भगवान् कृष्ण परमात्मा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥
(भ० गी० १०-२०, २१, २२)

श्री कृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! परमात्मा सब भूतों में स्थित है। पूर्ण जगत् का आदि (उत्पन्न करने वाला) परमात्मा ही है।

अदिति के पुत्रों में विष्णु उसे मानो, ज्योतियों में किरणों-युक्त सूर्य, मरुतों में मरीचि, नक्षत्रों में चन्द्र उसी को मान।

वेदों में परमात्मा को सामवेद मानो, देवताओं में उसे इन्द्र समझो। इन्द्रियों में मन को समझ और प्राणियों में चेतना को परमात्मा समझ ले।

पहले तो कहा कि परमात्मा का कोई प्रतीक नहीं और आगे कह दिया कि उसको उत्कृष्ट पदार्थों में मानो।

यों तो परमात्मा सर्वव्यापक है, परन्तु उसकी विशेष विभूति श्रेष्ठ वस्तुओं में दिखाई देती है। श्रेष्ठ जनों में उसकी विशेष उपस्थिति मानकर ही मनुष्य उन्नति करने में सबल हो सकता है।

अतः सूत्रार्थ है—परमात्मा का दर्शन उत्कृष्ट (वस्तुओं) से होता है। अर्थात् उनको देखने से परमात्मा की अनुभूति होती है।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥६॥

आदित्यादिमतयः+च+अङ्गे+उपपत्तेः।

च=**और। आदित्यादिमतयः**—सूर्यादि में (परमात्मा की) भावना। **अङ्गे**=**अङ्ग में। उपपत्तेः**=सिद्ध होती है।

और आदित्यादि की (मान्यता) भावना से अङ्ग में सिद्ध होने से।

परमात्मा के दर्शन श्रेष्ठ पदार्थों में मानो (वे० द० ४-१-५)। सूर्यादि दिव्य गुण युक्त पदार्थों के अङ्गों में परमात्मा की महिमा माननी ठीक है।

यही बात कृष्ण ने भगवद्गीता में कही है जो हमने उक्त सूत्र के भाष्य में लिखी है।

वास्तविक बात यह है कि सूर्यादि परमात्मा की विशेष विभूति और सामर्थ्य रखते हुए भी उसके प्रतीक नहीं। इनका ज्ञान प्राप्त करने से परमात्मा की उस शक्ति का ज्ञान प्राप्त होता है जिसके कारण सूर्य कार्य कर रहा है।

सूर्य में अग्नि कहाँ से आती है ? इसका ज्ञान प्राप्त करने से परमात्मा की उस शक्ति का ज्ञान होता है जिससे परमात्मा ने हिरण्यगर्भ में बीज डालकर जगत् की रचना की है। इस शक्ति का ज्ञान प्राप्त होने से परमात्मा के ही लिंग का ज्ञान होता है। इस कारण इन उत्कृष्ट पदार्थों में परमात्मा के लिंग रहने से अर्थात् परमात्मा का ज्ञापक होने से सूर्यादि उसका ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

परन्तु यह ज्ञान सर्वाङ्ग परमात्मा का नहीं है। यह एक अंश मात्र का ज्ञान है।

आसीनः सम्भावत् ॥७॥

आसीनः+सम्भवात्।

आसन पर स्थित (निष्ठ) हुए को (ज्ञान की प्राप्ति) सम्भव होने से।

योगाभ्यास में भी योग के आठ अंगों में से एक अंग आसन है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥

(यो० द० २-२९)

यम नियम के उपरान्त और प्राणायाम से पहले आसन का अभ्यास होना चाहिये। यही इस सूत्र में लिखा है। यदि आसन ठीक प्रकार से लगाया जायेगा तो धारणा, ध्यान और समाधि का उपक्रम हो सकता है।

योग दर्शन में आसन के भी लक्षण बताए हैं।

स्थिरसुखमासनम् ॥ (यो० द० २-४६)

आसन स्थिर और सुखकारक होना चाहिए। अर्थात् कष्टदायक न

हो। जहाँ और जिस प्रकार बैठने से शरीर पर परिश्रम न पड़े, वह आसन ठीक है।

इस विषय में श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

(श्वे० २-१०)

ध्यान लगाने का स्थान सम, पवित्र, कंकर, अग्नि, रेत रहित, कोलाहल, जल (सील) से रहित, मन के अनुकूल, आँखों को पीड़ा न देने वाला, गुफा, वायु से रहित होना चाहिए।

इसी बात को सांख्य दर्शन में संक्षेप से कहा है—

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात्॥ (सां० ६-३१)

अर्थात्—स्थान का नियम नहीं। जहाँ चित्त प्रसन्न रहे; अर्थात् सुख कर स्थान होना चाहिए।

ध्यानाच्च ॥८॥

ध्यानात्+च।

और ध्यान लगाने से सिद्धि-प्राप्ति में सहायता मिलती है।

यह हम ऊपर बता चुके हैं कि मुख्यतः सिद्धि दो प्रकार की हैं। एक स्थूल पदार्थों के ज्ञान प्राप्त करने की और दूसरी सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने की। स्थूल पदार्थ तो कार्य जगत् के पदार्थ हैं जो इन्द्रियगोचर हैं और सूक्ष्म पदार्थ हैं तीन अव्यक्त पदार्थ जो ब्रह्म कहलाते हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों के ज्ञान-प्राप्ति को सिद्धि कहते हैं। इस कारण दो प्रकार की समाधि का वर्णन है। यह सब हम ऊपर बता चुके हैं।

अतः ध्यान और धारणा दोनों प्रकार की सिद्धियों के लिए आसन समान हैं। समाधि में अन्तर आ जाता है।

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥९॥

अचलत्वं+च+अपेक्ष्य।

और निश्चलता की अपेक्षा करके (ध्यान लगाना चाहिए)।

निश्चलता देह, मन और बुद्धि की अपेक्ष्य है।

ध्यान की महिमा छान्दोग्य (७-६-१) में बहुत भली प्रकार लिखी है। वहां लिखा है—

···तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति, अथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्ते, अथ ये प्रभवो ध्यानापादांशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥

(छा० ७-६-१)

इस कारण जो यहां मनुष्यों में महत्ता को प्राप्त करते हैं, वे ध्यान के अंश से ही प्राप्त करते हैं और जो अल्प (छोटे) हैं, वे कलह करने वाले, चुगलखोर और निन्दक हैं तथा जो सामर्थ्यवान् हैं, वे ध्यान के लाभ के अंश से ही हैं। तू ध्यान की उपासना कर।

इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि स्थूल (कार्य जगत् की) वस्तुओं का ज्ञान भी ध्यान से ही होता है।

ध्यान लगाने के लिये किस प्रकार अचल रहे ? इसे भगवद्गीता में देखिये—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

(भ० गी० ६-१३, १४)

काया, शिर, ग्रीवा को एक सीध में रखते और अचल रहते हुए स्थिर रहे। अपनी नासिका के अग्र भाग को देखे, इधर-उधर न देखे।

ब्रह्मचर्य के व्रत में रहता हुआ भयरहित शान्त अन्तःकरण वाले मन को वश में करके परमात्मा से युक्त होकर परमात्मा के परायण होवे।

स्मरन्ति च ॥१०॥

च+स्मरन्ति।

और स्मरण करते हैं।

ध्यान में स्मरण करते हैं। क्या स्मरण करते हैं ? परमात्मा का ओ३म् नाम और उसके गुण। गीता (८-१३) में वर्णित है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति ।

(१-१-१)

ओं इस अक्षर उद्गीथ की उपासना करे। इसका ऊँचे स्वर से गान करता है।

इस सूत्र का अर्थ यह भी किया जाता है कि स्मृतियों में इसका (पूर्वोक्त सूत्रों में वर्णित योग क्रियाओं का) अनुमोदन किया गया है।

यथा गीता (६-१०) मे भी लिखा है कि मन और इन्द्रियों को वासना रहित और संग्रह रहित कर, एकान्त में स्थित हुआ निरन्तर परमात्मा का ध्यान कर।

हमारे मत में स्मरन्ति का अर्थ स्मरण करना, अधिक ठीक है। यही पूर्व के सूत्रार्थों से संगति बैठती है।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥११॥

यत्र+एकाग्रता+तत्र+अविशेषात्।

जहां एकाग्रता हो वहां (उपासना कर) और (अन्य किसी बात की) विशेष न होने से।

अभिप्राय यह है कि जहाँ चित्त एकाग्र हो सके वहाँ ही स्मरण करे। अभ्यास के लिये किसी स्थान की विशेषता नहीं। गंगा का किनारा हो अथवा मरु भूमि हो; कोई तीर्थ स्थान हो अथवा घर के भीतर ही कोई स्थान हो।

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

आ प्रायणात्+तत्र+अपि+हि+दृष्टम्।

मरण पर्यन्त वहां भी, क्योंकि देखा जाता है।

कहाँ देखा जाता है? जहाँ इस विषय में लिखा है। अर्थात् शास्त्र यह कहता है कि धारणा, ध्यान मरण-पर्यन्त चलना चाहिये। इसका अगले जन्म में पर प्रभाव पड़ता है। भगवद्गीता में भी यही बात कही है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ (८-१३)

जो पुरुष ओं अक्षर को ब्रह्म मान उसका उच्चारण करता है और परमात्मा का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है, वह पुरुष (श्रेष्ठ) गति को प्राप्त होता है।

और भी लिखा है—

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(भ० गी० ८-१०)

अर्थात्—भक्ति से युक्त पुरुष जो योग बल से, भवों के बीच में सम्यक् प्राणों को एकत्रित कर ध्यान लगाता है, वह दिव्य परम पुरुष को प्राप्त होता है।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

तदधिगमे+उत्तरपूर्वाघयोः+अश्लेषविनाशौ+तद्व्यपदेशात्।

उसका ज्ञान हो जाने पर अगले पिछले पापों का न लगना और विनाश हो जाना है। (कारण यह कि) ऐसा शास्त्र में उपदेश है।

'उसका' अभिप्राय है अध्यात्म का।

शमदमादि आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के उपरान्त धारणा एवं ध्यान से मनुष्य के पिछले सब पाप-कर्म ज्ञानाग्नि द्वारा दग्ध हो जाते हैं और आगे होने वाले पाप उसको लगते नहीं। ऐसे ही जैसे कि कमल पत्र पर जल नहीं लगता।

क्या पिछले किये पाप नष्ट हो जाते हैं?

विनष्ट हो जाते हैं का अभिप्राय है कि उन पाप-कर्मों का प्रभाव उस व्यक्ति पर नहीं रह जाता जिसके विषय में 'तदधिगमे' लिखा है।

इस स्थान पर प्रश्न उपस्थित होता है कि जब कर्म किये जाते हैं तो उनका प्रभाव कर्ता के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों पर भी होता है। वह प्रभाव तो रहता है।

इस विषय में अगले सूत्र के भाष्य में व्याख्या सहित लिखा गया है।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥१४॥

इतरस्य+अपि+एवं+असंश्लेषः+पाते+तु।

अन्य का (ऊपर पाप का असंश्लेष लिखा है। यहाँ इतर् से पुण्य का अर्थ है) भी इस प्रकार (ज्ञान प्राप्त होने पर) संश्लेष नहीं रहता। पाते तु= पाने पर।

इसका अर्थ है कि जीवात्मा पर किसी भी कर्म का प्रभाव नहीं रहता। जीवात्मा पर केवल ज्ञान का प्रभाव रह जाता है। कर्म का उपयोग तब ही है जब तक ज्ञान प्राप्त होता रहता है। ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त होता जाता है, कर्म का प्रभाव आत्मा पर कम होता जाता है।

कर्म का प्रभाव है हर्ष, शोक, मोह, सुख, दुःख इत्यादि। ये ज्ञान प्राप्ति के साथ कम होते जाते हैं। जब ज्ञान पूर्ण हो जाता है, तब ये प्रभाव अर्थात् संस्कार निःशेष हो जाते हैं।

यह नहीं कि उस समय कर्म छूट जाते हैं। कर्मों का उपभोग अपने लिये नहीं रह जाता। इस पर भी कर्म होते हैं। तब वे कर्म अनासक्त भाव से होते हैं। वे निष्काम भाव से तथा स्वाभाविक रूप में होते हैं। ऐसा पुण्यात्मा जब भी और जहाँ भी किसी का अकल्याण होता देखता है, वह उसको दूर करने का यत्न करता है। ऐसे मनुष्य का अपना कुछ भी काम (स्वार्थ) नहीं रह जाता।

इन दो सूत्रों में लिखा है कि ज्ञानवान पुरुष को पाप-पुण्य का संश्लेष नहीं रह जाता।

एक उदाहरण लें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। भगवान् कृष्ण कुछ एक के विचार से तो साक्षात् परमात्मा का अवतार थे। कुछ ऐसा भी मानते हैं कि वे एक मुक्तात्मा थे और जगत् उद्धार के लिए इस संसार में आये थे। अपने किये कर्मों से वे लिप्त नहीं हुए थे। भगवान् कृष्ण ने भगवद् गीता में भी कहा है—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

(भ० गी० ४-१४)

परन्तु भगवान् कृष्ण ने कर्म करना छोड़ा नहीं। न ही उनसे किये कर्म विनष्ट हुए थे। उन्होंने महाभारत युद्ध में अनेक ऐसे कर्म किये थे, जिनसे अनेक दुष्टों का नाश हुआ था। यदि कर्म विनष्ट हो जाते तो वे मरते ही नहीं। कृष्ण ने कंस को मार डाला था। यदि उनके कर्म नष्ट हो जाते तो कंस पुनः जीवित हो जाता।

अतः कर्म का प्रभाव बना रहता है। वह विनष्ट होता है किसी अन्य प्रकार से। यहाँ तो कर्ता पर कर्म के संस्कारों के विषय में कहा जा रहा है। कर्ता पर कर्म का प्रभाव नहीं रहता। वह ज्ञान से समाप्त होता है।

हज़रत मुहम्मद साहब हुए थे। वे एक मजहब चला गये हैं। स्वयमेव वे किये कर्म का फल भोग रहे हैं, भोग चुके हैं अथवा वे मुक्त हो गये हैं,

कुछ कहा नहीं जा सकता, परन्तु उनसे चलाया इस्लाम मत प्रचलित करने का प्रभाव तो अभी तक संसार में है।

इसी कारण हम कहते हैं कि कर्म विनष्ट नहीं होते। उनसे उत्पन्न, (कर्ता पर) संस्कार मिट जाते हैं।

जहाँ-जहाँ भी मुक्त जीव के कर्मों के फल से अलिप्त होने का वर्णन आया है, वहाँ-वहाँ उन कर्मों के अपने पर प्रभाव का ही उल्लेख है। उदाहरण के रूप में मुण्डकोनिषद् में भी इसी प्रकार लिखा है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

(मुण्डक० ३-१-३)

अर्थात्—जिस समय द्रष्टा, हिरण्यमय (ज्योतिस्वरूप) जगत्कर्ता को देख लेता है, अर्थात् प्राप्त कर लेता है, उस समय वह विद्वान पाप-पुण्य दोनों को त्याग कर निर्मल हो अत्यन्त समता को प्राप्त हो जाता है।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥१५॥

अनारब्धकार्ये+एव+तु+पूर्वे+तदवधेः।

(ऐसे पाप-पुण्य कर्म) जिनका फल कार्य अभी आरम्भ नहीं हुआ, वे भी अपनी अवधि से पूर्व ही (विनष्ट हो जाते) हैं।

अनारब्ध कर्म उनको कहते हैं जो पूर्व जन्म एवं इस जन्म के कर्म हैं और उनका फल इस जन्म में नहीं रहा। इन पूर्व कर्मों की अवधि उस समय तक ही है जब तक ज्ञान नहीं होता। अर्थात् ज्ञान हो जाने पर वे कर्म फलहीन हो जाते हैं।

फल प्राप्ति के विचार से कर्म तीन प्रकार के माने जाते हैं। एक वे, जो प्राप्त जन्म को देने वाले हैं और इस जन्म में भोगने पड़ेंगे। दूसरे वे हैं जो इस जन्म में ही किये जाते हैं और उनका फल इसी जन्म में मिलता है। तीसरे वे कर्म हैं जो संचित रहते हैं। ये जन्म-जन्मान्तर तक बांधे रखते हैं। ये तीसरी प्रकार के कर्म अनारब्ध कर्म कहलाते हैं। प्रथम दोनों प्रकार के तो मरने के समय समाप्त हो जाते हैं और ये संचित कर्म ज्ञान से ही मिटते हैं। मिटने का अभिप्राय यह है कि इनका आत्मा पर संस्कार नहीं रहता।

कर्म फल संस्कारों द्वारा मनुष्य को फल देते हैं। वास्तव में ये संस्कार ही तीन प्रकार के होते हैं। कुछ कर्म इतनी बार किये जाते हैं कि उनके संस्कार

बहुत ही गहरे हो जाते हैं और वे संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चलते हैं और यदि वैसे संस्कार उत्पन्न करने वाले कर्म अगले जन्म में भी किये जायें तो संस्कार गहरे और गहरे होते जाते हैं। अतएव जीवात्मा जन्म-मरण के बन्धन में फंसा रहता है। इन संस्कारों को विलीन करने के लिए ज्ञान ही एक उपाय है। ज्ञान हो जाने पर ये कर्म भी फलदायक नहीं होते।

अन्य प्रारब्ध कर्म और वर्तमान जन्म के सामान्य कर्मों के फल तो जीवन समाप्त होते ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु ज्ञानी मनुष्य के, जीवन रहते भी वे फलरहित हो सकते हैं।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥१६॥

अग्निहोत्रादि + तु + तत्कार्याय + एव + तद्दर्शनात्।

अग्निहोत्रादि कर्म तो उस कार्य के लिये ही होते हैं। ऐसा देखा जाने से।

कहां देखे जाने से? शास्त्र में और व्यवहार में। यह देखा जाता है कि अग्निहोत्र का फल सुकृत अथवा दुष्कृत कर्मों की भांति नहीं है। इसका फल यज्ञ का सा ही है, अर्थात् यह सर्वहिताय है। इसके साथ मन्त्र पाठ स्तुति का प्रतीक है। यह आत्म शुद्धि और शान्ति के लिये है। यज्ञ रूप होने से यह मोक्ष प्राप्ति में साधक है। (स्तुति अर्थात् अग्निहोत्र के साथ मन्त्र फल के विषय में सूत्र ३-४-१४, २५ के भाष्य देखें।)

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

अतः + अन्यापि + हि + एकेषाम् + उभयोः।

अतः = इससे। अन्यापि = अग्निहोत्रादि से इतर कर्म भी। हि = क्योंकि। एकेषाम् = कई एक के विचार से। उभयोः = दोनों अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का है और सांसारिक सुख-वैभव प्राप्ति का है। अन्य से अभिप्राय है यज्ञ, दान तप इत्यादि निष्काम कर्म।

दोनों अर्थात् अग्निहोत्र आदि और अन्य (निष्काम भाव से किये कर्म) दूसरों पर प्रभाव डालने वाले तथा आत्म शुद्धि के भी (होते ही) हैं। कैसे हैं? लिये किये गये।

अतः सूत्र का भावार्थ इस प्रकार है—अग्निहोत्रादि के अतिरिक्त दूसरे कर्म अर्थात् निष्काम भाव से किये कर्मों का भी दो प्रकार का प्रभाव होता है। मोक्ष प्राप्ति के लिए भी और सांसारिक सुख-वैभव प्राप्ति के लिए भी। सांसारिक वैभव प्राप्ति के साथ ब्रह्म ज्ञान मोक्ष प्राप्ति में सहायक होता है।

यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥

यत्+एव+विद्यया+इति+हि।

जो ही विद्या से। ऐसा निश्चय से।

विद्या का अर्थ है अध्यात्म ज्ञान। इससे जो जाना जाता है वह निश्चय से होता है। जब वही कर्म विद्या के सहयोग के बिना होता है तो उसका फल उतना प्रबल नहीं होता। न ही निश्चित है।

इसका वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में भी मिलता है—

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ (छान्दो० १-१-१०)

अर्थात्—जो इसको इस प्रकार (अक्षर) जानता है अथवा नहीं जानता, दोनों व्यक्ति ही कर्म करते हैं। किन्तु विद्या और अविद्या भिन्न-भिन्न हैं। जो विद्या से (युक्त होकर) कर्म करता है तथा श्रद्धा और (योग से) रहस्य जानकर कर्म करता है, वह प्रबलतर होता है। यह निश्चय से ही उस अक्षर की व्याख्या है।

पूर्वोक्त सूत्र में अग्निहोत्रादि और उससे अन्य निष्काम भाव से किये कर्मों के फल की बात लिखी है। वहाँ लिखा है कि सबका दोनों प्रकार का फल होता है। उसमें यहाँ संशोधन कर दिया है कि जो भी कर्म विद्यायुक्त होंगे, उनका फल प्रबल एवं निश्चय से होगा। विद्यारहित कर्मों का फल दुर्बल और अनिश्चित होगा।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥१६॥

भोगेन+तु+इतरे+क्षपयित्वा+संपद्यते।

भोग से तो दूसरे (कर्म फल) हट कर उच्छिन्न होकर (मोक्ष की) प्राप्ति होती है।

दूसरे कर्म भोग से उच्छिन्न होते हैं।

दूसरे से अभिप्राय है अनारब्ध कर्मों के अतिरिक्त कर्म। अनारब्ध कर्मों के अतिरिक्त कर्मों के विषय में सूत्र के भाष्य में बताया जा चुका है कि प्रारब्ध कर्म तथा जीवन के वे कर्म जो इस जीवन में ही फल देनेवाले होते हैं, वे अनारब्ध कर्मों के अतिरिक्त हैं।

इन कर्मों का फल भोग करने से ही समाप्त होता है। क्षपयित्वा का अर्थ है विनष्ट होना। पाप कर्मों का फल भोगने से ही समाप्त होगा।

द्वितीय पाद

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।।१।।

वाक्+मनसि+दर्शनात्+शब्दात्+च ।

वाणी मन में (चली जाती) है। ऐसा देखने से तथा शब्द प्रमाण से पता चलता है।

वाणी का अभिप्राय वाक् शक्ति से है। मरने के समय मनुष्य की वाणी मन में चली जाती है।

ऐसा मरने के समय मनुष्य में देखा जाता है। शब्द प्रमाण से भी यही पता चलता है। जिन लोगों ने मरते समय मनुष्य की दशा देखी है, वे इस बात की साक्षी भरेंगे कि जीवात्मा के देह को छोड़ने से पूर्व ही वाणी बन्द हो जाती है। यह बोलने की शक्ति कहाँ जाती है। सूत्रकार कहता है कि यह मन में चली जाती है।

छान्दोग्य उपनिषद् में भी ऐसा लिखा मिलता है—

सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ।। (छान्दो० ६-८-६)

अर्थात्—हे सोम्य ! पुरुष के मरण को प्राप्त होने पर वाणी मन में लीन हो जाती है। मन प्राण में, प्राण तेज में और वहाँ पर देवता (जीवात्मा) में लीन हो जाता है।

अत एव च सर्वाण्यनु ।।२।।

अतएव+च+सर्वाणि+अनु ।

और इससे सब (इन्द्रियाँ) भी उस (वाणी) के पीछे-पीछे चली जाती हैं। उसका अनुकरण करती हैं।

अर्थात् अन्य इन्द्रियाँ भी वाणी के साथ-साथ मन में चली जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य की सब इन्द्रियों की कार्य करने की शक्ति मन में चली जाती है।

प्राणों के विषय में बताते हुए सूत्रकार का मत हम बता चुके हैं कि इन्द्रियों की सामर्थ्य मन में केन्द्रित हो जाती है।

प्रश्नोपनिषद् में इसका संकेत मिलता है। यह इस प्रकार है—

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥

(प्रश्न ३-९)

अर्थात्—उदान (प्राण) ही तेज है। अतः जिसका तेज शान्त हो जाता है, वह मन में लीन हुई इन्द्रियों सहित पुनः जन्म को प्राप्त होता है।

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥३॥

तत्+मनः+प्राणे+उत्तरात्।

उत्तरात्=तदनन्तर की बात कहने से। तत्=वह। मनः=मन। प्राणे=प्राण में (चला जाता है)।

तदनन्तर मन सब इन्द्रियों की सामर्थ्य को लिये हुए प्राण में चला जाता है।

वाकादि इन्द्रियों की सामर्थ्य को भी प्राण कहा गया है। तो फिर यह प्राण क्या है जिसमें मनुष्य के मरने के समय मन जाता है। इन्द्रियों की शक्ति प्राण कहलाती है, परन्तु यहाँ प्राण का अर्थ तेज है। यह संकेत में हम ऊपर बता चुके हैं कि मुख्य प्राण उन अंगों को चलाता है जो अनैच्छिक कार्य करते हैं। यह इन्द्रियों से पृथक् है, परन्तु यहाँ अभिप्राय तेज से है। सूत्र ४-२-१ के भाष्य में दिये छान्दोग्य उपनिषद् के प्रमाण में भी इसका संकेत मिलता है।

सूत्रकार का मत है कि मन अन्य सब इन्द्रियों की शक्ति (प्राणों) को लेकर तेज में चला जाता है।

वैसे तो तेज परमात्मा की वह शक्ति कही जाती है जिससे कि परमात्मा जगत् की रचना, पालन एवं संहार करता है; परन्तु यहाँ तेज के उस अंश से अभिप्राय है जो जीवात्मा को कर्म करने के लिए मिला हुआ है। वही प्राण है।

अतः सूत्र का अभिप्राय यह बन जाता है कि शरीर के सब प्राण मन में एकत्रित होकर इस मूल प्राण (तेज) से जाकर मिल जाते हैं।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

सः+अध्यक्षे+तत्+उपगमादिभ्यः।

सः=तेज। अध्यक्षे=अध्यक्ष (स्वामी अर्थात् जीवात्मा) में। तत्=उस (जीवात्मा) के। उपगमादिभ्यः—उपगम को प्राप्त होता है।

यह वही है जो ऊपर प्रश्नोपनिषद् के (प्रश्न० ३-९) प्रमाण में बता आये हैं, अर्थात् पुनः जन्म लेने को चला जाता है।

प्राण, मन और इन्द्रियों की शक्ति को लिये हुए जीवात्मा में चला जाता है। जीवात्मा को, एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में अथवा स्वर्ग में जाने अथवा ब्रह्मलीन होने के लिये गति करनी पड़ती है। गति प्राणों से ही होती है। इस कारण यह सिद्ध होता है कि प्राण (तेज) अपने साथ सब कुछ लिये हुए जीवात्मा में चला जाता है।

यह प्राण, मन और इन्द्रियों की सामर्थ्य ही जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर कहलाता है। यह अणु मात्र है। हम ऊपर (ब्र० सू० ३-१-२) में बता चुके हैं कि सूक्ष्म शरीर तीन भूतों का बना होता है। वायु, अग्नि और जल का। आकाश तो सर्वत्र होने से इसमें भी माना जाता है। इसी को अगले सूत्र में बताया है।

भूतेषु तत्श्रुतेः ॥५॥

भूतेषु+तत्+श्रुतेः।

(जीवात्मा) भूतों में (चला जाता है)। श्रुति का ऐसा कहना है।

भूतेषु से अभिप्राय भूतों में अर्थात् सूक्ष्म शरीर में है। जीवात्मा सूक्ष्म शरीर में चला जाता है।

इन सब सूत्रों का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में किया गया है। वहाँ कहा है—

'''भवतस्य सोम्य। पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे,

प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम् ॥ (छा० ६-८-६)

अर्थात्—हे सोम्य ! मरते समय (अस्य पुरुषस्य) उस पुरुष (जीवात्मा) का यह होता है कि वाणी मन में चली जाती है, मन प्राण में चला जाता है और प्राण आत्मा में लीन हो जाता है जो मन और इन्द्रियों से परे है ।

इसके आश्रय ही जीवात्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में, एक लोक से दूसरे लोक में और इस लोक से ब्रह्म लोक में जाता है ।

प्राण गति का सूचक है (ब्रह्मसूत्र २-४-५) । अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सूक्ष्म शरीर की गति भी प्राण से होती है ।

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥६॥

न+एकस्मिन्+दर्शयतः+हि ।

न=नहीं । एकस्मिन=एक में । दर्शयतः=दोनों में दिखलाया गया है । हि=क्योंकि ।

ऊपर बताया है कि जीवात्मा मन एवं प्राण को लिये हुए भूतों में जाता है । यहाँ इसी का स्पष्टिकरण किया है ।

यह श्रुति स्मृति के प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है कि जीवात्मा एक ही (भूत) में नहीं जाता । यह एक से अधिक भूतों में जाता है ।

कितने भूतों में जाता है ? यह (ब्रह्मसूत्र—३-१-२ में) बताया जा चुका है । कहा है कि स्थूल शरीर से तीन भूतोंवाले सूक्ष्म शरीर में जाता है । उसी बात को, प्रसंग आने पर यहाँ बताया गया है । यह भूतेषु (४-२-५) का अर्थ स्पष्ट करने के लिये लिखा है कि एक भूत में नहीं, वरन् एक से अधिक अर्थात् (सूत्र ३-१-२ के अनुसार) तीन भूतों में जाता है ।

स्वामी शंकराचार्य यहाँ 'नैकस्मिन्' का अर्थ एक से अधिक तेजों में जाने का करते हैं ।

हमने अर्थ 'एक से अधिक भूतों में' किया है । कारण यह कि इससे पूर्व के सूत्र (४-२-५) में भूतों में जीवात्मा के जाने के विषय में लिखा है । परन्तु स्वामी शंकराचार्य एक से अधिक तेजों की बात अपने मन से लिख रहे हैं । वे अपने कथन में प्रमाण इस प्रकार देते हैं ।

शंकराचार्य इस सूत्र के भाष्य में लिखते हैं—

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते, कार्यस्य

शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनात् । दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५-३-३) इति। तद्व्याख्यातम्—'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३-१-२) इत्यत्र ।

अर्थात्—अन्य शरीर प्राप्त करने की इच्छा के समय जीवात्मा ही तेज से अवस्थित नहीं होता; क्योंकि कार्य शरीर अनेकात्मक देखने में आता है। 'आपः पुरुष वचसः' (छा० ५-३-३) यह प्रश्न और उत्तर इसको दिखलाते हैं। इस 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' (वे० द० ३-१-२) में व्याख्यान किया है।

ब्रह्मसूत्र ३-१-२ का अर्थ और भाव हमने इसी सूत्र के अपने भाष्य में लिखा है। उससे जीवात्मा तेज में नहीं आता, वरन् तीन भूतों में आता है। यह अर्थ बनते हैं। ऐसा ही ब्र० सू० ४-२-५ में भी बताया है। वहाँ 'भूतेषु' शब्द स्पष्ट लिखा है।

जहाँ तक छान्दोग्य उपनिषद् के उद्धरण का सम्बन्ध है, उद्धृत शब्द 'आपः पुरुष वचसः' आया तो है। परन्तु (छा० ५-३-३ में) सूत्र के भाव की ओर संकेत नहीं है।

अतः स्वामी शंकराचार्य का सूत्रार्थ असंगत है। उससे भ्रम ही उत्पन्न होता है।

श्री उदयवीर शास्त्री इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार करते हैं—

'न=नहीं। एकस्मिन्=एक में। दर्शयतः=दोनों दिखलाती हैं। हि=क्योंकि। उत्क्रमण दशा में आत्मा एक तेजस भूत में अवस्थित नहीं रहता। क्योंकि श्रुति और स्मृति दोनों यह दिखलाती हैं।

मृत्यु काल में स्थूल देह छूटने पर वाकादि बुद्धि पर्यन्त समस्त प्राण परिवार के सहित आत्मा पाँचों भूतों में अवस्थित रहकर उत्क्रमण करता है, एक में नहीं। इस तथ्य को बृहदारण्यक उपनिषद् (४-४-५) में इस प्रकार प्रकट किया है—

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः—

(बृ० ४-४-५)

'अर्थात्—जब पुराने देह को छोड़कर नवीन कल्याणतर देह को प्राप्त होनेवाला होता है तब वह आत्मा पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय रहता है...'। ऐसा ही मनुस्मृति (१-२७) में कहा है।

श्री उदयवीर शास्त्री जी से हमारा मतभेद इतना है कि सूक्ष्म शरीर जैसा ३-१-२ में बताया है, तीनों भूतों का होता है। चौथा भूत आकाश तो सर्वव्यापक होने से इसमें भी होता है। यहाँ पंच भूतोंवाला सूक्ष्म

शरीर वर्णन किया है ।

अब प्रमाण (बृहद्० ४-४-५) को देखें कि वहाँ क्या लिखा है । इस उपनिषद् मन्त्र में सूक्ष्म देह के विषय में नहीं लिखा । इसमें तो सामान्य रूप में जीवन पद्धति के विषय में लिखा है कि—

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदम्मयोऽदोमय इति । यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति । पापकारी पापो भवति । पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः—काममय एवायं पुरुष इति । स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ।
(बृ० उ० ४-४-५)

अर्थात्—वह यह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय है, मनोमय है, प्राणमय है, चक्षुमय है, श्रोत्रमय है, पृथिवीमय है, जलमय है, वायुमय है, आकाशमय है, तेजोमय है, अतेजोमय है । यह काममय, अकाममय है । क्रोधमय और अक्रोधमय है, धर्ममय और अधर्ममय है । यह सर्वमय है । जो कुछ इदं मय (प्रत्यक्ष) और अदोमय (परोक्ष) है, वही वह है । यह जैसा कर्म करता है वैसे ही संस्कार वाला हो जाता है । शुभ कर्म करनेवाला शुभ हो जाता है और पाप करनेवाला पापी हो जाता है । पुण्य कर्म से पुण्यात्मा होता है और पाप कर्म से पापी होता है । निश्चय से कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है । वह जैसी कामना करता है, वैसा ही संकल्प वाला हो जाता है और जैसा संकल्प वाला होता है वैसा ही कर्म करता है । जैसा कर्म करता है वैसा फल प्राप्त करता है ।

इस उपनिषद् में जीवात्मा के एक अथवा अनेक भूतों में जाने की बात नहीं लिखी । देह परिवर्तन की अथवा मोक्ष गमन की बात नहीं लिखी ।

इसी प्रकार श्री उदयवीर द्वारा दिया गया मनुस्मृति का उद्धरण भी असंगत है । अतः उनका अर्थ भी ठीक प्रतीत नहीं होता ।

हमने इसका अर्थ यह किया है कि वह एक भूत में नहीं, वरन् अधिक भूतों में जाता है ।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥७॥

समाना + च + आसृत्य + उपक्रमात् + अमृतत्वम् + च + अनुपोष्य ।
समान ही । गति आरम्भ होने तक । अमरता प्राप्त करनेवाले को ।

च=और। अनुपोष्य=शरीर रहित होकर।

इसका अभिप्राय यह है कि स्थूल शरीर छूटने के समय अमृतत्व प्राप्त करनेवाले की भी गति (दूसरे के) समान होती है। किसके समान होती है? जिसने अमृतत्व प्राप्त नहीं करना होता। यह स्थूल शरीर छूटने के समय सब इन्द्रियों की शक्ति (प्राण) मन में चली जाती है। मन जाता है तेज में और तेज जीवात्मा में चला जाता है। जीवात्मा भूतों में अर्थात् सूक्ष्म शरीर में। यह ऊपर के सूत्रों में बताया जा चुका है।

इस सूत्र में यह कहा है कि वे जो अमृतत्व प्राप्त करनेवाले हैं और वे जो अमृतत्व प्राप्त नहीं करनेवाले, दोनों में प्रारम्भिक गति समान होती है।

जो गति सूत्र संख्या ४-२-१ से लेकर सूत्र संख्या ४-२-६ तक में वर्णन की गयी है, वह समान है। आगे अमरता प्राप्त करनेवालों का जीवात्मा (अनुपोष्य) निवास स्थान अर्थात् शरीर रहित हो जाता है। उसका सूक्ष्म शरीर भी छूट जाता है।

तदाऽऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

तत्+आ अपीतेः+संसारव्यपदेशात्।

तत्=यह सूक्ष्म शरीर। आ अपीतेः=प्रलय काल तक अथवा मुक्त होने तक (रहता है)। संसारव्यपदेशात्=उसके संसार (सरण) के कथन से।

संसार का अर्थ है जन्म-जन्मान्तर में गति होने से।

अर्थात् जिन जीवात्माओं को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, उनका सूक्ष्म शरीर सर्ग काल (ब्रह्म दिन की समाप्ति) तक जीवात्मा से संलग्न रहता है। जिनको मोक्ष का अधिकार प्राप्त हो जाता है, उनके स्थूल शरीर के छूटते ही उनका सूक्ष्म शरीर भी छूट जाता है।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

सूक्ष्मं+प्रमाणतः+च+तथा+उपलब्धेः।

सूक्ष्मं=सूक्ष्म। प्रमाणतः=प्रमाण से। च=और। तथा=उस प्रकार। उपलब्धेः=उपलब्धि से।

प्रमाण से वह शरीर सूक्ष्म है और इस प्रकार शास्त्र से जाना जाता है।

यह शरीर कैसे बिना देखे और बिना किसी वस्तु से टकराये चलता है? इसका अर्थ ही यह सूत्र बता रहा है कि अति सूक्ष्म होने से उसके इस संसार मे रहने में, चलने-फिरने में बाधा नहीं है। वह अति सूक्ष्म छिद्रों में से भी निकल जाता है।

नोपमर्देनातः ॥१०॥

न+उपमर्दन+अतः।

अतः=इसीलिये। न=नहीं है। उपमर्दन=नाश से।

सूक्ष्म शरीर होने से इसका, स्थूल शरीर की भाँति नाश नहीं होता।

नष्ट तो यह भी होता है। कारण यह कि जो बनता है, वह नष्ट भी होता है। सूक्ष्म शरीर भी भौतिक है। पंच महाभूत, वैकारी अहंकार, भूतादि अहंकार और तेजस् अहंकार के संयोग से बनते हैं। अतः ये निर्मित हैं। इस कारण इनका विनाश भी होता है। सूक्ष्म होने से इनका विनाश तब ही होता है जब प्रलय आती है, अर्थात् तब महाभूत अहंकार इत्यादि सब विनष्ट हो मूल प्रकृति में लय हो जाते हैं।

अतएव सूत्र में जो लिखा है कि यह विनष्ट नहीं होता, उसका अभिप्राय यह है कि स्थूल शरीर के नष्ट होने पर यह विनष्ट नहीं होता।

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥११॥

अस्य+एव+च+उपपत्तेः+एष+ऊष्मा।

अस्य=इसकी। एव=ही। च=और। उपपत्तेः=उपपत्ति से अर्थात् युक्ति द्वारा। एषः=यह। ऊष्मा=गर्मी है।

और यह (स्थूल शरीर में) गर्मी इस (सूक्ष्म शरीर) की ही है। युक्ति से सिद्ध है।

युक्ति यह है कि सूक्ष्म शरीर जब स्थूल शरीर से निकल जाता है तो स्थूल शरीर की ऊष्मा समाप्त हो जाती है। इससे यही कहा जा सकता है कि स्थूल शरीर में ऊष्मा सूक्ष्म शरीर की है।

हम यह समझते हैं कि यहाँ ऊष्मा का अर्थ ऊर्जा से है। ऊर्जा प्राणों के रूप में शरीर में स्थित रहती है। ऊष्मा तो उसका लक्षण है।

उदाहरण के रूप में श्रेष्ठ प्राण से फुसफुस (फेफड़े) कार्य करते हैं। इससे वायु में उपस्थित 'ऑक्सिजन' शरीर में जाकर रासायनिक क्रियाओं के होने में सहायक होती है। उससे ही ऊष्मा उत्पन्न होती है, अर्थात् ऊष्मा तो श्रेष्ठ प्राण का लक्षण है।

श्रेष्ठ प्राण का अभिप्राय ब्रह्मसूत्र २-४-८ के भाष्य में देखें।

यह ऊपर बता आये है कि मृत्यु के समय सब इन्द्रियों के प्राण मन में चले जाते हैं। प्राण मन सहित जीवात्मा में। जीवात्मा भूतों (सूक्ष्म शरीर) में चला जाता है।

अतः ऊष्मा लक्षण है श्रेष्ठ प्राण का। जब श्रेष्ठ प्राण, मन तथा जीवात्मा सहित सूक्ष्म शरीर में चला जाता है तो फिर स्थूल शरीर में ऊष्मा नहीं रहती। ऊर्जा (प्राण) जब सूक्ष्म शरीर में जाती है तो ऊष्मा उत्पन्न करने की शक्ति भी उसी में चली जाती है।

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२॥

प्रतिषेधात्+इति+चेत्+न+शारीरात्।

प्रतिषेधात्=विरोध अथवा निषेध होने से। इति चेत्=यदि यह कहो। न=तो नहीं। शारीरात्=जीवात्मा से।

ऊपर के सूत्र में कहा है कि ऊष्मा जो प्राण का लक्षण है, वह सूक्ष्म शरीर के साथ निकल जाती है, अर्थात् प्राण सूक्ष्म शरीर के साथ जाते हैं।

इसके विरुद्ध कहो अर्थात् इसका निषेध करो तो ठीक नहीं; क्योंकि जीवात्मा के साथ प्राण जाते हैं। अतः सूक्ष्म शरीर भी जीवात्मा के साथ जाता है।

प्राण जीवात्मा में रहते हैं। ऐसा उपनिषद् का मत है। स्थूल शरीर और इन्द्रियाँ तो इसका निवास स्थान हैं। जब वह शरीर छूटने लगता है तो प्राण इन्द्रियों से मन में और मन प्राणों सहित तेज में, तदनन्तर ये सब प्राण मन सहित जीवात्मा में सिमट जाते हैं। यह पूर्ण समूह ही सूक्ष्म शरीर में जाता है। जब मनुष्य ब्रह्मवित् हो जाता है तब सूक्ष्म शरीर भी छूट जाता है।

सूत्रकार का कहना है कि इसका निषेध करनेवाले ठीक नहीं कहते। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि प्राण स्थूल शरीर में ही रह जाते हैं। वे जीवात्मा के साथ सूक्ष्म शरीर में नहीं जाते।

ये लोग इसमें बृहदारण्यक उपनिषद् (३-२-११) का प्रमाण देते हैं। इसमें आर्त भाग याज्ञवल्क्य से पूछता है कि मरने पर प्राण जीवात्मा के साथ उत्क्रमण करते हैं अथवा नहीं ?

याज्ञवल्क्य कहते हैं—

...नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते ॥

(बृ० उ० ३-२-११)

याज्ञवल्क्य ने कहा कि नहीं जाते। वहाँ (मृत शरीर में) ही समा (लीन हो) जाते हैं।

सूत्रकार कहता है कि यह ग़लत है। यहाँ पुनः उपनिषद् से सूत्रकार का मतभेद है।

सूत्रकार की युक्ति यह है कि जीवात्मा उत्क्रमण, प्राणों के आश्रय ही कर सकता है।

एक अन्य स्थान पर बृहदारण्यक उपनिषद् सूत्रकार के मत का समर्थन भी करता है। उपनिषद् है—

...तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य। प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात् पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति। (बृ० उ० ४-४-६)

इसका अर्थ है—

इस (आत्मा) का लिंग अर्थात् मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है, उसी फल को प्राप्त होता है। यह जो कुछ इस लोक में करता है, उसका फल प्राप्त कर कर्म करने के लिये पुनः इस लोक में आ जाता है। अवश्य ही कामना करनेवाला पुरुष ही ऐसा करता है और जो कामना रहित, अकाम, आप्त काम और आत्म काम है, प्राण उसको नहीं छोड़ता। वह (प्राण) ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।

इस पूर्ण उद्धरण का अर्थ यह है कि जो श्रेष्ठ कर्म करनेवाले ब्रह्म ज्ञान नहीं रखते और कामनामय जीवन रखते हैं, वे इस लोक से, अच्छे कर्मों का फल भोगने के लिये पितृ-लोक में जाते हैं। कर्म फल समाप्त कर पुनः इस कर्मलोक में आकर पूर्ववत् कर्म-चक्र में प्रवृत्त होते हैं। वे, जो कामनारहित अर्थात् निष्काम होते हैं, वे ब्रह्म के जाननेवाले ब्रह्म को प्राप्त होते हैं और प्राण उनके साथ ही जाते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि एक ही उपनिषद् में दो स्थानों पर विपरीत मत दिया गया है।

सूत्रकार का मत यह प्रतीत होता है कि यह प्राणों का जीव के साथ उत्क्रमण तो जीवात्मा को देह से ले जाने के लिये है। चाहे तो यह एक देह से दूसरे देह में हो अथवा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर, दोनों से निकल ब्रह्म में लीन होने के लिये हो।

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥१३॥

एकेषाम्+स्पष्टः+हि।

क्योंकि कुछ एक का (मत) स्पष्ट ही (वर्णन किया है)।

क्या स्पष्ट वर्णन किया है? जो ऊपर कहा है। ऊपर कहा है कि प्राण जीवात्मा के साथ उत्क्रमण करते हैं।

बृहदारण्यक ४-४-१, २ को साथ-साथ पढ़ने से यह स्पष्ट है कि मरण काल में प्राणों का उत्क्रमण जीवात्मा के साथ होता है।

उपनिषद् (बृ०-४-४-१) में लिखा है—

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति। स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति। स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥

मरण-काल में जब यह आत्मा (मनुष्य) दुर्बल हो सर्वथा मूर्छित हो जाता है, तब सब प्राण इस (जीवात्मा) में आ मिलते हैं। वह (जीवात्मा) इस तेजोमय को पूर्ण रूप से ग्रहण कर हृदय में (मन में) ले लेता है। जिस समय इन्द्रियोंवाला पुरुष (मनुष्य) व्यावृत्त (उल्टी गति को प्राप्त) होता है तब यह ज्ञानहीन हो जाता है।

अर्थात् मनुष्य देह ज्ञानहीन हो जाती है और पूर्ण तेज मन में एकत्रित हो जीवात्मा के साथ हो जाता है।

इसी उपनिषद् में लिखा है—

···तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वान्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥

(बृ० उ० ४-४-२)

इस उपनिषद् वाक्य में पहले यह कहा है कि जब (एकी भवति) सब प्राण जीवात्मा से एकीभूत हो जाते हैं तब मनुष्य नहीं देखता, नहीं सूंघता, नहीं चखता, नही चलता, नहीं बोलता, नहीं सुनता, नहीं अनुभव (स्पर्श) करता।

अब उद्धृत भाग में यह कहा है कि तब हृदय का अग्र भाग अत्यन्त प्रकाशित हो जाता है। और जीवात्मा मूर्द्धा से अथवा किसी अन्य भाग से निष्क्रमण करता है। उसके उत्क्रमण करने पर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करते हैं। सम्पूर्ण प्राण उसके साथ उत्क्रमण करते हैं। इससे उस समय आत्मा विशेष ज्ञानवान होकर विज्ञानवाला, प्रकाशवाला हो जाता है और विद्या कर्म और पूर्व प्रज्ञा भी साथ जाते हैं। (पूर्व प्रज्ञा के अर्थ हैं पूर्व संस्कार)।

स्मर्यते च ॥१४॥

और स्मृति में भी लिखा है।

क्या लिखा है ? जीवात्मा स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर और प्राणों सहित निकलता है।

स्मृति में इस प्रकार वर्णन किया है—

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः।
न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः॥
यदाणुमात्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्ति विमुञ्चति॥

(मनु० १-५५, ५६)

अर्थात्—जब सूक्ष्म (शरीर) होकर स्थावरों अथवा जङ्गमों के शरीर के बीज में जाता है तब रूप आकार को छोड़ देता है।

भगवद्गीता में भी लिखा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

(भ० गी० १५-७,८)

अर्थात्—मेरा ही अंश (मन प्राणादि) छयों इन्द्रियों को जो प्रकृति में स्थित हैं, इस प्राणी जगत् में जीवात्मा को खींचता है।

जीवात्मा जिस शरीर को प्राप्त होता है उसमें पहले शरीर को छोड़कर ऐसे आता है जैसे गन्ध एक स्थान से वायु के साथ दूसरे स्थान को जाती है।

यहाँ 'ममैवांश' का अभिप्राय है परमात्मा का अंश और वह अंश है मन तथा इन्द्रियों में कार्य करनेवाले प्राण। जीवात्मा जो प्राणी-जगत् में एक शरीर से

दूसरे शरीर में जाता है, परमात्मा के उस अंश-प्राण से खींचा जाता है।

तानि परे तथा ह्याह ॥१५॥

तानि+परे+तथा+हि+आह।

तानि=वे। परे=परम तत्त्व में। तथा=वैसा है। हि=क्योंकि। आह=कहा गया है।

यहाँ समझनेवाला शब्द है 'परे'। इसका अर्थ है अति सूक्ष्म तत्त्व अर्थात् परमात्मा।

तानि से अभिप्राय है—इन्द्रियों में निहित प्राण शक्ति।

सूत्र के अर्थ बनते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति के समय जीवात्मा प्राणों सहित परमात्मा में समाविष्ट हो जाता है।

प्राण अर्थात् तेज परमात्मा से ही आता है और जीवात्मा के संसार से मोक्ष-प्राप्ति के समय परमात्मा में ही लीन हो जाता है।

उपनिषद् में भी इसी प्रकार माना है—

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्यो अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य। शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः, सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य, साम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्॥

(छा० ६-८-६)

उसका (शरीर का) मूल जल से अन्य क्या हो सकता है? (१) जल रूपी अंकुर के द्वारा तेज मूल की खोज कर (२) तेज रूप अंकुर के द्वारा सत् रूप मूल को खोज कर (३) हे सौम्य। सत् मूल से ही सब प्रजायें सत् रूप विस्तार वाला है और सत् रूप प्रतिष्ठित है। हे सौम्य, जिस प्रकार तीनों देवता निश्चय से पुरुष को प्राप्त करके प्रत्येक तीन हो जाता है। यह पहले कह दिया है। हे सौम्य, इस संसार से जानेवाले पुरुष की वाक् (इन्द्रियों की शक्ति) मन में लीन हो जाती है। मन प्राण में चला जाता है। प्राण तेज में जाता है और तेज देवता (परमात्मा) में चला जाता है।

इसका अभिप्राय है कि जल में ईश्वरीय तेज से शुंग (अंकुर) बनता है और तब अनेकानेक प्राणी बनते हैं। प्राणी के मरने के समय जब जीवात्मा मुक्त

होने लगता है तब जीवात्मा के साथ शुङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर प्राण में लीन हो जाता है।

अविभागो वचनात् ॥१६॥

अविभागो+वचनात् ।

अविभागः=भागों का पृथक्-पृथक् दिखायी न देना। वचनात्=वचन से।

कई पदार्थ होते हैं जो पृथक्-पृथक् कार्यों में लग जाने पर पृथक्-पृथक् दिखायी देते हैं। वास्तव में वे सब विभाग एक ही होते हैं। पुनः जब वे पदार्थ कार्य से निवृत्त होते हैं तो एक हो जाते हैं जो उसकी अविभाग अवस्था कही जाती है।

यह अवस्था प्राण की है। प्राण परमात्मा की शक्ति है। इस कारण इसे परमात्मा का लक्षण माना है। (ब्र० सू० १-१-२३) यह प्राण ही तेज कहलाता है। जब यह प्राणी में कार्य करता है तो इसके सात रूप हो जाते हैं। (ब्र० सू० २-४-५) पांच ज्ञानेन्द्रियों में, एक कर्मेन्द्रियों में और एक मुख्य प्राण। प्राणी के शरीर में ये पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए दिखायी देते हैं, परन्तु जब प्रयाण काल में जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करता है तो प्राण परमात्मा में लीन हो जाते हैं। उस समय सब पुनः एक ही दिखायी देने लगते हैं। वह अवस्था अविभाग की है। ऐसा कहा गया है कि सब प्राण एक ही हो जाते हैं, अर्थात् विभाग रहित हो जाते हैं और परमात्मा में लीन होने पर उनमें भेद भाव नहीं किया जा सकता।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥१७॥

तदोकोऽग्रज्वलनम्+तत्प्रकाशितद्वारः+विद्यासामर्थ्यात् +तच्छेषगति अनुस्मृतियोगात्+च+हार्दानुगृहीतः+शताधिकया ।

तदोकोऽग्रज्वलनम्=उस घर (हृदय) के अग्र भाग का प्रकाशित हो जाना। तत्प्रकाशितद्वारः=उस प्रकाश से उस (हृदय) के द्वार का प्रकाशित हो जाना। विद्यासामर्थ्यात्=ज्ञान के सामर्थ्य से (युक्त हुआ)। तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्=उस (विद्या) के शेष की गति की स्मृति (स्मरण के सम्बन्ध) के योग से। हार्दानुगृहीतः=हृदय में स्थित (परमात्मा की) कृपा से। शताधिकया=सौ से अधिक (नाड़ियों अर्थात् शरीर) से निकल जाता है।

सूत्र का अभिप्राय यह है कि वह जीवात्मा जो विद्या (ज्ञान) की सामर्थ्य से युक्त हो चुका है, वह जब शरीर को छोड़ने लगता है तो उसके शरीर में रहने का स्थान (हृदय का अग्रभाग) प्रकाशमान हो जाता है और उस प्रकाश से हृदय का द्वार प्रकाशित हो (खुल) जाता है। दोष ज्ञान की स्मृति के योग से व्यापार होता है, अर्थात् प्राण के अवशेष से वह हृदय में स्थित परमात्मा की कृपा से सौ से अधिक नाड़ियाँ शरीर से बाहर निकल जाती हैं।

कठोपनिषद् में इसका समर्थन मिलता है। वहाँ लिखा है :—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥

(कठो० २-३-१६)

अर्थात्-हृदय की एक-सौ-एक नाड़ियों में से मूर्धा का भेदन कर, निकली हुई नाड़ी का भेदन कर ऊपर को गमन करने वाला पुरुष (जीवात्मा) अमरत्व को प्राप्त होता है। अन्य प्राण भी उत्क्रमण करते हैं।

यह प्रक्रिया है ब्रह्मवित् जीवात्मा की शरीर छोड़ने के समय की। यह हम ऊपर बता आये हैं कि ब्रह्मवित् जीवात्मा स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों छोड़ देता है। तब इसका साथ प्राण से भी छूट जाता है। प्राण-प्राण में मिल जाते हैं।

रश्म्यनुसारी ॥१८॥

रश्मि+अनुसारी।

प्रकाश की किरणों के अनुसार ही इसकी गति होती है।

कुछ लोग रश्मियों से अभिप्राय सूर्य की किरणें लेते हैं। महाभारत में भी इसी प्रकार की बात कही है—

यस्य रश्मिसहस्रेषु शाखास्विव विहंगमाः।
वसन्त्याश्रित्य मुनयः संसिद्धा देवतैः सह ॥

(महा भा० शा० ३६२-३)

अर्थात्—जैसे वृक्ष की शाखा पर बहुत से पक्षी बसेरा करते हैं उसी प्रकार इस (सूर्य) की सहस्रों किरणों का आश्रय ले देवताओं सहित सिद्ध मुनि निवास करते हैं।

सूत्र का अर्थ इससे विलक्षण है। उसमें सूर्य की किरणों पर लगे फल अथवा उन पर बसेरा करने वाले पक्षियों का उल्लेख नहीं किया गया। वहाँ तो

यह कहा है कि ब्रह्मवित् आत्मायें ब्रह्माण्ड में प्रकाश-किरणों की भाँति गति करती हैं। अनुसरण का अर्थ है कि जैसे प्रकाश-किरणें गति करती हैं उनके अनुसार उन आत्माओं की गति होती है।

हमारा मत है कि इस सूत्र का अभिप्राय यह नहीं कि सूर्य रश्मियों के साथ-साथ अथवा उन पर सवार हो अथवा उनके पीछे-पीछे ये आत्मायें चलती-फिरती हैं। प्रकाश-किरणों की भाँति तथा उनकी गति के वेग से ही यहाँ अभिप्राय है।

पृथिवी पर सूर्य किरणें हैं, इस कारण आत्मायें इनका अनुसरण करती हैं। परन्तु सौर-मण्डल के बाहर वे किसका अनुसरण करेंगी? इस कारण यहाँ अभिप्राय है कि प्रकाश किरणों की भाँति (उसी गति से) चलती हैं।

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥१६॥

निशि+न+इति चेत्+न+सम्बन्धस्य+यावद्देहभावित्वात्+दर्शयति+च।

निशि=रात में। न=नहीं। इति चेत्=ऐसा यदि कहो। न=तो नहीं। सम्बन्धस्य=सम्बन्ध के। यावत्+देहभावित्वात्=जब तक देह में रहने से। दर्शयति=दिखलाता है।

सूत्र का अर्थ यह बनता है कि यदि यह कहो कि रात के समय प्रयाण होने पर प्रकाश रश्मियाँ तो मिलेंगी नहीं। फिर जीवात्मा किसके आश्रय अनुसरण करेगा? सूत्रकार कहता है कि यदि यह कहो तो ठीक नहीं। यह इसलिये कि प्रकाश रश्मियों का सम्बन्ध तब तक ही रहता है जब तक देह रहती है। देह छूटते ही जीवात्मा के लिये उनकी आवश्यकता नहीं रहती।

यही कारण है कि हमने पूर्वोक्त सूत्र में महाभारत के कथन को स्वीकार नहीं किया। सूत्रकार यह नहीं मानता कि सूर्य की किरणों पर सवार हो आत्मा कहीं जाता है। उपनिषदों में कहीं-कहीं ऐसा लिखा मिलता है कि सूर्य की किरणों अथवा चन्द्र किरणों से सूर्य लोक और चन्द्र लोक में सत्कार्य करने वाले आत्मा जाते हैं, परन्तु यहाँ उनका उल्लेख नहीं है। वे आत्मा तो सूक्ष्म शरीर को साथ लिये हुए होते हैं। उनके विषय में उपनिषद् का कथन ठीक हो सकता है, परन्तु मुक्त आत्मा के दोनों (स्थूल और सूक्ष्म) शरीर तो यहाँ ही छूट जाते हैं।

अतएव, सूत्रकार कहता है कि यह कहना ठीक नहीं कि (मुक्त) आत्मा सरण (गति) करते हैं सूर्य-किरणों के साथ-साथ। इन्हें सूर्य किरणों के आश्रय

की आवश्यकता नहीं होती। सूर्य किरणों का सम्बन्ध तो तब तक रहता है जब तक शरीर (स्थूल अथवा सूक्ष्म) रहता है।

इसी कारण हमने पूर्वोक्त सूत्र (४-२-१८) में रश्मि का अर्थ सूर्य किरण नहीं किया, वरन् प्रकाश किरण किया है और अनुसारी का अर्थ अनुसार गति करने वाला किया है।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥२०॥

अतः+च+अयने+अपि+दक्षिणे।

अतः=इस कारण। च=और। अयने=पक्ष (सूर्य का पक्ष)। दक्षिणे =दक्षिण में।

सूत्रकार कहता है और दक्षिणायन तथा कृष्ण पक्ष में भी। गति के समय ब्रह्मवित् को कोई बाधा नहीं होती। कारण यह कि शरीर नहीं रहता। फलतः ब्रह्मज्ञानी की गति पर शरीर छोड़ने के उपरान्त दक्षिणायन अथवा उत्तरायण अथवा शुक्ल पक्ष का प्रभाव नहीं होता। जैसे मुक्त जीवात्मा को दिन-रात से अन्तर नहीं पड़ता, वैसे ही दक्षिणायन और उत्तरायण का अन्तर प्रभाव उत्पन्न नहीं करता।

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥२१॥

योगिनः+प्रति+च+स्मर्यते+स्मार्ते+च+एते।

योगिनः=योगी के। प्रति= के सम्बन्ध में। च=ही। स्मर्यते= कहा गया है। स्मार्ते=स्मृति में है। च=ही। एते=ये दोनों (गतियाँ कर्म-योगियों की और ब्रह्मवेत्ताओं की)।

अर्थात्—दोनों मार्ग अर्थात् स्वर्गलोक को जाने का और ब्रह्मलोक को जाने का, योगी के सम्बन्ध में कहे गये हैं। ये स्मृति (शास्त्र) में भी लिखे गये हैं। यह बताया जा चुका है कि ब्रह्मवित् दोनों शरीर छोड़कर निर्मल आत्म रूप हो मोक्ष प्राप्त करते हैं और अन्य योगी जो ब्रह्मज्ञान से युक्त नहीं होते, वे स्थूल शरीर छोड़कर सूक्ष्म शरीर के साथ स्वर्गलोक में जाते हैं।

दोनों प्रकार की गतियों का स्मृतियों (शास्त्र) में वर्णन है।

तृतीय पाद

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥१॥

अर्चिरादिना+तत्+प्रथितेः।

अर्चिरादिना=अर्चि आदि (मार्ग) से। तत्=यह। प्रथितः=प्रसिद्धि से। यह प्रसिद्ध है कि ज्योति आदि के स्थान से विद्युत के स्थान को मुक्त जीव जाते हैं। ऐसा उपनिषद् ग्रन्थों में भी वर्णन किया है।

छान्दोग्य उपनिषद् (५-१०-१, २) में इस विषय में लिखा है कि वहाँ ब्रह्मलीन जीव किस मार्ग से और कैसे ब्रह्मलोक को जाते हैं।

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्य-र्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाँस्तान् ॥१॥

मासेभ्यः संवत्सरँ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥२॥

(छा० ५-१०-१, २)

अर्थात्—वे जो इस प्रकार जानते हैं तथा वे जो कि वन में श्रद्धा और तप से उपासना करते हैं, अर्चि को प्राप्त होते हैं। अर्चि से दिन को, (तदनन्तर) शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से छः मास उत्तरायण को प्राप्त होते हैं।

उन छः महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत को। वहाँ से एक अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। यह देवयान मार्ग है। यह अमानव कौन है? इस विषय में दर्शन शास्त्र में कुछ नहीं कहा गया। सम्भवतः यह प्राण शक्ति है जो इन्द्रियों में से मन में, मन से प्राण (तेज) में और प्राण से जीवात्मा में चली जाती है।

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥२॥

वायुम्+अब्दात्+अविशेषविशेषाभ्याम्।

अब्दात्=एक संवत्सर में। वायुम्=वायु को प्राप्त होते हैं। अविशेष-

विशेषाभ्याम्—अविशेष और विशेष के कारण।

जीवात्मा एक संवत्सर के उपरान्त वायु को प्राप्त होता है। इनमें अविशेष और विशेष कारण हैं।

मुक्त जीवों का शरीर छोड़कर ब्रह्मलोक को जाने का वर्णन हो रहा है। सूत्रकार ने ऊपर (४-३-१ मे) कहा है कि शरीर छोड़ने के उपरान्त जीवात्मा ज्योति मार्गों से जाता है। अब अगले सूत्र में उस ज्योति आदि की व्याख्या की जाने लगी है।

इस सूत्र (४-३-२) में कहा है कि एक संवत्सर में वह वायु में पहुंचता है। यह इस कारण कि अविशेष और विशेष हैं।

अविशेष और विशेष का अभिप्राय है कि महत् अहंकारादि अविशेष हैं और पंच महाभूतादि विशेष (मार्ग में बाधा) हैं।

इस सन्दर्भ में ही छान्दोग्य उपनिषद् (५-१०-१, २) है और वह हम ऊपर दे चुके हैं। वहाँ लिखा है—

मासों से वर्ष को, वर्ष से आदित्य को, आदित्य से चन्द्र को और उसके उपरान्त विद्युत धाम को जाते है। वहाँ से वह अमानव पुरुष इन (आत्माओं) को ब्रह्मलोक में ले जाता है। यह देवयान मार्ग है।

इसी सन्दर्भ में बृहदारण्यक का पाठ इस प्रकार है—

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते, स आदित्यमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभे खं। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छति अशोकमहिमं तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः॥

(बृ० उ० ५-१०-१)

जिस समय मनुष्य इस लोक को पार कर जाता है तब वह वायु को प्राप्त होता है। वह वायु उसके लिए छिद्र युक्त हो जाती है जैसे कि रथ चक्र के छिद्र मार्ग दे देते हैं। उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है। वह सूर्यलोक में पहुँच जाता है। वहाँ सूर्य उसके लिए वैसे ही छिद्र रूप मार्ग दे देता है जैसे कि 'लम्बर' (एक प्रकार का बाजा) का छिद्र होता है। उसमें से होकर वह ऊपर को चढ़ता है। वह चन्द्रलोक में पहुँचता है। वहाँ चन्द्रमा भी उसके लिये छिद्र-युक्त हो मार्ग देता है, जैसे दुदुभि का छिद्र होता है। उसमें से वह ऊपर को चढ़ता है। वहाँ से वह अशोक और अहिम लोक पहुंचता है और वहाँ वह अनन्त वर्षों तक निवास करता है।

इन उद्धरणों में और सूत्र में कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके सन्तोषजनक अर्थ

नहीं निकलते ।

उदाहरण के रूप में मुक्त जीवात्मा एक वर्ष उपरान्त वायु को प्राप्त होता है । मरने के एक वर्ष तक वह कहाँ रहता है ?

इसी प्रकार वायु से आदित्य और आदित्य से चन्द्र तक जाता है । चन्द्र पृथिवी के समीप है । सूर्य दूर है । अतः प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत इत्यादि क्या कोई ऐसे पदार्थ हैं जैसे कि हम भूतल पर एवं अन्तरिक्ष में देखते हैं अथवा इनका अभिप्राय कुछ अन्य है ?

इसी प्रकार सूत्र में अविशेष और विशेष शब्दों का अर्थ स्पष्ट नहीं है ।

हमारा मत है कि सूर्य, चन्द्र, वायु, विद्युत इत्यादि अलंकार स्वरूप में आये है । वास्तव में इनका अभिप्राय है सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तक के पदार्थों में जाना ।

सबसे सूक्ष्म ब्रह्म (परमात्मा) है और वायु उसके अनुपात में बहुत ही स्थूल पदार्थ है । इस यात्रा का, जो मुक्त आत्मा को करनी पड़ती है, अन्तिम स्थान परमात्मा है । वह कहीं यहाँ से दूर स्थान पर नहीं रहता । वह यहाँ ही है; क्योंकि वह सर्वव्यापक है ।

मुक्तात्मा की यह यात्रा स्थानान्तर के विचार से नहीं । वह एक ही स्थान पर स्थूल से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम पदार्थ को जाने की है । यही अर्थ है 'अविशेष विशेषाभ्याम्' का; अर्थात् विशेषों से अविशेषों की ओर । स्थूल से सूक्ष्म की ओर इस प्रकार सूत्र के अर्थ बनते हैं ।

शरीर से वायु में पहुँचते हुए जीवात्मा को एक वर्ष लग जाता है । कारण यह कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना होता है ।

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥३॥

तडितः+अधि+वरुणः+सम्बन्धात् ।

तडितः=विद्युत से । अधि=ऊपर । वरुणः=वरुण । सम्बन्धात्=सम्बन्ध होने से ।

यहाँ भी मुक्त आत्मा की यात्रा का ही वर्णन है, शरीर से वायु तक । एक वर्ष लग जाता है । वायु से आदित्य, आदित्य से चन्द्र, चन्द्र से विद्युत तक जाने में यह छान्दोग्य उपनिषद् (५-१०-२) में लिखा है ।

यहाँ लिखा है कि विद्युत से वरुण को जाता है । वरुण से आपः का अभिप्राय है । आपः प्रकृति के जगत् रचना में प्रथम परिणाम है । हमारा मत है कि

इस सूत्र में जो सम्बन्धात् लिखा है, वह वही सम्बन्ध है जो विशेषों से अविशेष की ओर से पता चलता है।

मनुष्य का शरीर पांच भौतिक है। यह विशेषों में है। सूक्ष्म शरीर में सूक्ष्म पंच महाभूत होते हैं। ये भी विशेष हैं। महाभूतों में परिमण्डल होते हैं। परिमण्डल भी विशेष हैं। अहंकार का स्वरूप परिमण्डल में तब आता है जब अहंकार एक-दूसरे के चारों ओर चक्कर काटने लगते हैं। यह गति वायु की सूचक है।

मुक्त आत्मा शरीर अर्थात् पंच महाभूतों से वायु में जाता है, अर्थात् वह उस शक्ति में पहुंच जाता है जिससे अहंकारों में गति हो रही होती है और परिमण्डल बने होते हैं। यह सांस लेनेवाली वायु नहीं है। इस वायु से तेजस् अहंकार, वैकारी और भूतादि अहंकारों के चारों ओर चक्कर काट रहे होते हैं। इसी कारण लिखा है कि जैसे रथ के चक्र में छिद्र होते हैं वैसे ही परिमण्डल रूपी चक्र के छिद्रों से जीवात्मा निकल जाता है। इसमें एक संवत्सर लग जाता हैं। विद्युत से चलकर (बृ० ५-१०-१) वह शोकरहित और दुःखरहित लोक में पहुंचता है। यह अवस्था ज्ञात भाषा के किसी शब्द द्वारा प्रकट नहीं की जा सकती उसके उपरान्त ही वह ब्रह्मलोक में पहुंचता है।

विद्युत के उपरान्त वह अविशेषों में पहुंच जाता है। यह सब ज्ञात भाषा के शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। एक बात स्पष्ट है कि ये सब लोक स्थूल प्रकृति के रूपों से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम रूपों के अर्थ में हैं। अशोक और महिम लोक तो अविशेषों से भी आगे प्रतीत होते हैं। परमात्मा उनसे भी सूक्ष्म है।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४॥

आतिवाहिकाः+तत्+लिङ्गात्।

आतिवाहिकाः=आगे और आगे ले जानेवाले (जो इन लोकों में हैं)। वे (ले जानेवाले) उन पदार्थों के लिङ्ग होने से।

तत् लिङ्गात् का अभिप्राय उन लोकों में उनके अभिमानी देवता से लिया जाता है। अभिप्राय यह कि इनमें जो वायु कार्य करता है वही उनका अभिमानी देवता है और यह ही जीवात्मा को आगे और आगे ले चलता है।

यह ले जानेवाला अमानव है (बृ० ५-१०-२)। यह मानवी शक्ति नहीं। यह परमात्मा की शक्ति है और वायु परमात्मा का लिंग माना है। हमारा मत

है कि ईश्वरीय शक्ति जिससे जगत् के कार्य अर्थात् संयोग-वियोग होते हैं, वही जीवात्मा को ले जाता हुआ ब्रह्मलोक में पहुँचा देता है।

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥५॥

उभयव्यामोहात्+तत्+सिद्धेः।

उभयव्यामोहात्=दोनों के विशेष रूप में चारों ओर मोह में ग्रसित होने से। **तत्सिद्धेः**=उसकी सिद्धि होने से।

दोनों का अभिप्राय है मार्ग और जानेवाला। मार्ग है अर्चि, वायु इत्यादि और जानेवाला है जीवात्मा। मोह ग्रसित का अभिप्राय है अस्वतन्त्र। मार्ग तो जड़ है और जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं होता है। ऐसा श्री स्वामी शंकराचार्य अर्थ करते हैं।

स्वामी जी लिखते हैं—

ये तावदर्चिरादिमार्गगास्ते देहवियोगात्संपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते।

अर्थात्—जो अर्चिरादि मार्ग में जानेवाले हैं, वे देह के वियोग से एकीभूत कारण समुदायवाले अस्वतन्त्र होते हैं और अर्चिरादि भी अचेतन होने से अस्वतन्त्र हैं। इसलिए अर्चिरादि अभिमानी चेतन देवता विशेष अति यात्रा में नियुक्त हैं। ऐसा ज्ञात होता है।

परन्तु यदि मुक्त जीवात्मा अस्वतन्त्र हैं तो बद्ध और मोक्षावस्था में अन्तर ही क्या हुआ? मार्ग तो मोहित (अज्ञानमय) अर्थात् जड़ है, ऐसा समझ में आता है, परन्तु जीवात्मा को मोहित कहना तो युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

अतएव इस सूत्र के अर्थ हम यह समझते हैं कि 'दोनों' का अर्थ न तो मार्ग है और न जानेवाला और न ही दोनों मार्गों से है। इसका अभिप्राय है कि दोनों अविशेष और विशेष में से गुजरते हुए ले जानेवाले ये पदार्थ नहीं; क्योंकि दोनों मोहित (जड़) हैं। ले जानेवाला कोई चेतन होना चाहिए। वह आतिवाहिका (आगे ले जानेवाला) अमानवी है (ब्र० सू०—४-३-४)। यह परमात्मा ही है। इसी को लिखा है कि यह सिद्ध है। सिद्ध इस कारण कि जड़ ईक्षण नहीं कर सकता, कार्य की दिशा नहीं निश्चय कर सकता।

अर्थात् विशष और अविशेष अस्वतन्त्र है। यह सिद्ध है। परन्तु ले जाने वाला अन्य (परमात्मा) है।

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥६॥

वैद्युतेन+एव+ततः+तत्+श्रुतेः -

वैद्युतेन=विद्युत लोक से। एव=ही। ततः=उससे आगे। तत् श्रुतेः =इस विषय की श्रुति प्रमाण से।

विद्युत लोक से आगे ही। आगे ही क्या? अतिवाहक अमानव है। इससे पहले तो संकेतों से आत्मा अपना मार्ग पाता चला जाता है। अब परमात्मा की सहायता से आगे चलना होता है।

प्रयाण काल में ब्रह्मवित् आत्मायें किस मार्ग से ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं? उनके विषय में उपनिषदों में व्याख्या सहित तो लिखा है, परन्तु उनमें परस्पर मतभेद है। किसी में देवलोक एक पड़ाव है और किसी में नहीं है। वरुण लोक और इन्द्रलोक प्रचलित उपनिषदों में नहीं हैं। यह केवल कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में मिलता है।

बात को स्पष्ट करने के लिए हम नीचे दो उदाहरण देते हैं। एक है बृहदारण्यक उपनिषद् का। वह इस प्रकार है—

ते य एवमेतद्विदुर्ये चाभी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति, मासेभ्यो देवलोकं, देवलोकादादित्या मादित्यात्वैद्युतं, तान् वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति। ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः॥

(बृ० उ०—६-२-१५)

इसका अर्थ है—वे जो पंचाग्नि विद्या जानते हैं, वे जो श्रद्धा युक्त होकर सत्य की उपासना करते हैं, वे अर्चि (ज्योति) को प्राप्त होते हैं। ज्योति से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, वहाँ से उत्तरायण षण्मास पक्ष में। यहाँ से देवलोक में, देवलोक से आदित्य को, आदित्य से विद्युतलोक में और वहाँ से अमानव पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। वे उन ब्रह्म लोकों में अनन्त संवत्सर पर्यन्त रहते हैं। उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।

एक अन्य उपनिषद् में यही बात इस प्रकार लिखी है। (यह छान्दो० ५-१०-१, २ में देखिये, जो सूत्र ४-३-१ के भाष्य में दिया गया है।)

अर्थात्—वे जो इस प्रकार जानते हैं। जो कि वन में श्रद्धा और तप

से इनकी उपासना करते हैं, वे अर्चि को प्राप्त होते हैं। अर्चि से दिन को प्राप्त होते हैं। वहाँ से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से छः मास के उत्तरायण को, तदनन्तर संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत को और वहाँ से एक अमानव पुरुष उन्हें ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। यह देवयान मार्ग है।

इन दोनों मार्गों में अन्तर है। छान्दोग्य वाले वर्णन में संवत्सर का अधिक उल्लेख है। बृहदारण्यक में संवत्सर का उल्लेख नहीं। इसी प्रकार इस मार्ग को देवयान कहा है। बृहदारण्यक में इसे देवयान नहीं बताया।

सूत्रकार का मार्ग इन दोनों से पृथक् है।

ब्रह्मवित् का शरीर छूटने पर आत्मा अर्चि (ज्योति) में चला जाता है। ज्योति से एक संवत्सर में यह वायु में जाता है। यह समय विशेषों से अविशेषों में जाने के कारण लगता है। वायु के उपरान्त जीवात्मा विद्युत में जाता है। तड़ित से वरुण (आपः) में। विद्युत के आगे के मार्ग के विषय में श्रुति उपनिषदों से भिन्नता आ गयी है।

ब्रह्मसूत्र में वायु का और वरुण का उल्लेख अतिरिक्त है।

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥७॥

कार्यं+बादरिः+अस्य+गत्युपपत्तेः।

कार्यं=जीवात्मा को ले जाने के कार्य को। अस्य=इसकी। गत्युपपत्तेः =गति के सिद्ध होने से अर्थात् गति होने से। बादरि=बादरिः ऋषि के मतानुसार।

सूत्र का अभिप्राय यह है कि आचार्य बादरि के कथन से जीवात्मा का ब्रह्मलोक में ले जाने के कार्य इसको देखकर (जीवात्मा) में गति का होना सिद्ध होता है।

जीवात्मा अणु मात्र है। अतः चाहें तो अर्चि स्थान से दिन और दिन से मास, मास से शुक्ल पक्ष, उत्तरायण इत्यादि में समझें और चाहे वायु से विद्युत और विद्युत से ब्रह्मलोक में मानें, जीवात्मा में गति उत्पन्न होती है। यदि हम इन स्थानों को स्थानान्तर के भेद से न मान एक ही स्थान में स्थूल से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम पदार्थों में जाना मानें तब भी गति तो होगी।

इस सूत्र में लिखा है कि गति का कार्य होता है। ऐसा बादरि आचार्य का मत है।

इस सूत्र पर भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य कहते हैं कि वह अमानव जीवात्मा को सगुण ब्रह्म से परम मे ले जाता है। स्वामी जी कार्य ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) मुख्य ब्रह्म (परं ब्रह्म) इत्यादि उपाधिभेद से ब्रह्म-ब्रह्म में भेद करते हैं। आप लिखते है—

'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४-१५-५) इत्यत्र विचिकित्स्यते—किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं मुख्यं ब्रह्मेति। कुतः संशयः? ब्रह्मशब्दप्रयोगाद्गतिश्रुतेश्च। तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मैनान्गमयत्यमानवः पुरुष इति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः? अस्य गत्युपपत्तेः। अस्य हि कार्य-ब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते, प्रदेशवत्त्वात्। नतु परस्मिन्ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते। सर्वगतत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तृणाम्॥

अर्थात्—स एनान्ब्रह्म गमयति (छा० ४-१५-५)। यहाँ सन्देह होता है कि क्या कार्य ऊपर ब्रह्म के पास पहुँचाता है अथवा अविकृत मुख्य पर ब्रह्म के पास ले जाता है? संशय किससे होता है? इससे कि ब्रह्म शब्द का प्रयोग और गति श्रुति है। वहाँ अमानव पुरुष का कार्य ही इनको सगुण ऊपर ब्रह्म के प्रति ले जाता है। यह बादरि आचार्य मानते हैं। कैसे? उसमें गति उपपन्न होती है। क्योंकि कार्य ब्रह्म गतिशील होना उपपन्न होता है। प्रदेशवत् होने से। परन्तु परब्रह्म में गन्तृत्वं (जाने का भाव) गन्तव्यत्वं (जाने की सामर्थ्य) अथवा गति नही हो सकती। कारण यह कि वह सर्वगत हैं। गन्ताओं का प्रत्यक् आत्मा है।

स्वामी जी ने सूत्रार्थ इस प्रकार किया है—कार्यम्—कार्य ब्रह्म। अस्य=कार्य ब्रह्म में। गत्युपपत्तेः=गति उत्पन्न होती है।

इस अर्थ से स्वामी जी को विवश होकर दो प्रकार के ब्रह्म मानने पड़े है। कार्य ब्रह्म और मुख्य ब्रह्म। उनके विचार से परमात्मा गतिशील हो नही सकता; क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक होने से हिल-डुल नहीं सकता।

हमारे मत से यह सब भ्रम मूलक है, परन्तु पहले उपनिषद् के उस उद्धरण (छा० ४-१५-५) का निरीक्षण कर लें जो स्वामी जी ने ऊपर लिखा है।

उपनिषद् में इस मन्त्र के पूर्व अंश का अर्थ हम बिना मन्त्र पाठ के लिख रहे है। यह इस कारण कि उसका इस सूत्रार्थ से सम्बन्ध नहीं। वह इस प्रकार है—

इस (ब्रह्मवेत्ता) का दाह कर्म किया जाये अथवा न किया जाये, वह अर्चि (ज्योति) को ही प्राप्त होता है। अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छः मासों को, वहाँ से संवत्सर को, संवत्सर से

आदित्य को आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत को। इसके आगे पाठ इस प्रकार है—

तत्पुरुषोऽमानवः

स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते।

(छा० ४-१५-५)

इस पाठ का अर्थ है—

तत्पुरुषोऽमानवः=वह अमानव पुरुष है। स=वह (अमानव पुरुष)। एतान्=इनको (ब्रह्मवितों को) ब्रह्म गमयत्येष=ब्रह्म प्राप्त करा देता है। गमयत्येष के अर्थ ज्ञान कराना भी है। देवपथो ब्रह्मपथः=यह देव पथ है, ब्रह्म पथ है। एतेन=इससे। प्रतिपद्यमाना=जाने वाले। इमं=इस। मानवमावर्तं=मानव मण्डल में। नावर्तन्ते=नहीं लौटते।

इसमें एक बात तो यह है कि इस उपनिषद् में यह नहीं लिखा कि अब्रह्म ब्रह्मवित् आत्मा को लेकर जाता है। अर्थात् ब्रह्म का गन्त्यत्व उपनिषद् में नहीं है। शंकर ने अपने पास से लिख, दो ब्रह्मों की कल्पना कर दी है।

ईशावास्योपनिषद् में एक मन्त्र है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईशा०—५)

इसमें 'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके' पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य जी लिखते हैं—

तदात्मतत्त्वं यत्प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति स्वतोऽचलमेव सत् चलतीवेत्यर्थः।......

अर्थात्—

जिसका प्रकरण है वह आत्म तत्त्व एजन करता है—चलता है। वह स्वयं नहीं भी चलता, अर्थात् स्वयं अचल रह कर ही चलता हुआ सा जान पड़ता है।

जब इस मन्त्र में न चलता हुआ दिखायी देता मान लिया है तो इस (छा०—४-१५-५) में वह चलनेवाला कार्य ब्रह्म पृथक क्यों माना है? यहाँ तो उसके चलने की बात नहीं लिखी। वहाँ यह लिखा है कि एक अमानव ब्रह्मवित् आत्मा को विद्युत लोक से ब्रह्मलोक प्राप्त कराता है। वहाँ यह नहीं लिखा कि वह जीवात्मा को पकड़कर साथ-साथ लिए घूमता है।

स्वामी जी को स्मरण भी नहीं रहा कि वे कहीं अन्यत्र क्या लिख

आये हैं। यह निश्चय है कि कार्य ब्रह्म और मुख्य अचल ब्रह्म की कल्पना मिथ्या है।

यह बात तब सम्भव हो सकती है जबकि ब्रह्म तीन मानें और तीनों को अजन्मा, नित्य और अक्षर मानें। परन्तु उसमें भी परमात्मा के चलने न चलने की बात नहीं हो सकती।

विशेषितत्वाच्च ॥८॥

विशेषितत्वात् + च।

विशेषितत्वात् = विशेषित होने से। च = और।

विशेषित होने से का अभिप्राय विशेष गुणों से युक्त होने से है। सूत्रकार का अभिप्राय यह है कि जब जीवात्मा (ब्रह्मलोक में) विशेष गुणों से युक्त हो जाता है।

इसका यह भी अर्थ किया जाता है कि विशेष गुणों से युक्त होने से जीवात्मा ब्रह्मलोक में पहुंचता है।

क्योंकि पूर्वोक्त सूत्रों में जीवात्मा के ब्रह्मलोक तक पहुंचने का वर्णन आ चुका है और यह भी लिखा जा चुका है कि किस प्रकार आत्मा वहाँ पहुंचता है। अतः हमारा मत है कि इस सूत्र का अर्थ वह ही है जो हमने ऊपर लिखा है, अर्थात् वहाँ पहुंचकर जीवात्मा में विशेषता उत्पन्न हो जाती है।

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥९॥

सामीप्यात् + तु + तत् + व्यपदेशः।

सामीप्यात् = समीप होने से। तु = तो। तत् = उसका। व्यपदेशः = कथन है।

यह कथन है कि ब्रह्म के समीप आ जाने से विशेष गुणों से युक्त हो जाता है। उक्त सूत्र में लिखी बात कि जीवात्मा में विशेषता आ जाती है, यह विशेषता उस (जीवात्मा) के परमात्मा के समीप आ जाने से है। अर्थात् विशेषता परमात्मा की समीपता से ही सम्भव है।

ब्रह्मलोक में परमात्मा जीवात्मा के समीप आ जाता है। इसका यह

अभिप्राय नहीं कि पहले वह समीप नहीं होता। समीप तो पहले भी होता है। यहाँ 'सामीप्य' के अर्थ हैं दोनों (जीवात्मा और परमात्मा) समान सूक्ष्मत्व में हो जाते हैं। परमात्मा तो पहले भी उस अवस्था में होता है। जीवात्मा ब्रह्मलोक में जाकर होता है। इसको सामीप्य कहा है।

समीप आ जाने से क्या होता है? यह आगे लिखा है।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥

कार्यात्यये+तत्+अध्यक्षेण+सह+अतः+परम्+अभिधानात्।

कार्यात्यये=(ब्रह्म लोक को जाने का) कार्य पूर्ण हो जाने पर। विशेषणों से परमात्मा के समीप आने जा से वहाँ के साथ परम (सूक्ष्म)। तत्=वहाँ के। अध्क्षेण=अध्यक्ष के। सह=साथ। अतः=इसलिए। परम=अनन्तर अर्थात् उसके उपरान्त के। अभिधानात्=कथन से।

इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मलोक को जाने का कार्य पूर्ण हो जाने पर वहाँ के अध्यक्ष परमात्मा से सहवास मिलता है। परम हो जाने का कथन है। किसके उपरान्त? ब्रह्मलोक प्राप्त हो जाने के उपरान्त का क्या कथन है? यही कि यह विशेष गुण युक्त हो जाता है। परमात्मा का सहवास अथवा सहयोग प्राप्त होने से विशेष गुणों का कथन शास्त्र में है।

स्मृतेश्च ॥११॥

स्मृतेः+च।

और स्मृतियों में (ऐसा वर्णन है)।

ब्रह्म को प्राप्त होकर क्या होता है? इसका वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्म वल्ली के नवें अनुवादक में इस प्रकार लिखा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह। आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्, न बिभेति कुतश्चनेति। एत ँ् हवाव न तपति, किमह ँ् साधु नाकरवम? किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मान ँ् स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मान ँ् स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥

(वाचः) इन्द्रियाँ एवं मन जीवात्मा के साथ ब्रह्मलोक को नहीं जातीं।

वे वहाँ से लौट आती हैं। उस ब्रह्म के आनन्द को जाननेवाला किसीसे भयभीत नहीं होता। वह चिन्तित नहीं होता कि मैंने अमुक भला कार्य क्यों नहीं किया अथवा अमुक बुरा क्यों किया है ? इस प्रकार जानने (समझने) वाला आत्मा प्रसन्न एवं प्रबल होता है। उसे दोनों (भले और बुरे) आत्मस्वरूप ही दिखाई देते हैं। जो ऐसा जानते हैं वह प्रसन्न रहते हैं। यह उपनिषद् (रहस्य) है।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१२॥

परं=दूसरे (परमात्मा) को। जैमिनिः=जैमिनी ऋषि के मत से। मुख्यत्वात्=मुख्य होने से।

सूत्र का भावार्थ यह है कि परमात्मा को प्राप्त होने पर मुक्त जीवात्मा मुख्यत्व अर्थात् श्रेष्ठत्व होने से, अर्थात् वह श्रेष्टता को प्राप्त होता है।

मुख्यत्वात् का अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जीवात्मा परमात्मा को प्राप्त होता है श्रेष्ठ होने से, अर्थात् जीवात्मा श्रेष्ठ हो जाता है तभी परमात्मा को प्राप्त होता है।

दोनों भाव ठीक ही हैं। प्रथम अर्थ इस कारण स्वीकार करने-योग्य है, क्योंकि इससे पूर्व के सूत्र (४-३-१०) में लिखा है कि मोक्ष प्राप्ति का कार्य हो जाने पर वहाँ के अध्यक्ष में (परमात्मा से) सहवास होता है। अतः इस स्थान पर इसके उल्लेख की आवश्यकता अनुभव नहीं होती कि यह सहवास क्यों प्राप्त हुआ है ? इसका उपयुक्त स्थान तो बहुत पहले था। यहाँ तो यह अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है कि सहवास प्राप्त होने पर जीवात्मा में क्या विशेषता आ जाती है।

अतः परमात्मा को प्राप्त होने पर मुख्यत्व प्राप्त होने से जीवात्मा विशेष हो जाता है अथवा उसमें विशेषता आ जाती है। सूत्रार्थ यही बनता है।

दर्शनाच्च ॥१३॥

दर्शनात्+च।

और देखे जाने से।

शास्त्र में स्थान-स्थान पर लिखा है कि मुक्त आत्मा जब ब्रह्मलोक में

जा पहुंचता है तो वह विशेष विभूतियुक्त हो जाता है।

योग दर्शन में भी मोक्ष प्राप्त अवस्था के विषय में लिखा है :—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ते-रिति ॥ (यो० द० ४-३४)

इसका अर्थ यह है कि कैवल्यावस्था में पुरुषार्थ और गुण शून्य हो जाते हैं। (चिति शक्ति) जीवात्मा अपने निर्मल स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

पुरुषार्थ शून्य होने का अभिप्राय यह है कि पुरुषार्थ अर्थात् पूर्ण प्रयत्न का लक्ष्य प्राप्त हो जाने से वह अब नहीं रहता। गुणों के शून्य हो जाने का अभिप्राय है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियों के संयोग से जो गुण जीवात्मा को प्राप्त होते हैं, वे भी शून्य हो जाते हैं।

इस प्रकार मोक्षावस्था में जीवात्मा की विशेषता का वर्णन शास्त्रों में किया गया है।

तैत्ति० उ० (२-१) में लिखा है—**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**' इसी उपनिषद् (२-६) में लिखा है—'**आनन्दं ब्रह्मणो**···।'

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥१४॥

न+च+कार्ये+प्रतिपत्ति+अभिसन्धिः।

और न ही कार्य (ब्रह्मलोक प्राप्त कराने) में। कराने वाले का तात्पर्य।

तात्पर्य का अभिप्राय है उसका अपना कुछ प्रयोजन।

पूर्व सूत्र में जैमिनि के मत से बताया है कि मुक्त होने के अनन्तर मुक्त जीवात्मा में मुख्यत्व आ जाता है और इससे उसमें विशेषता आती है। सूत्र (४-३-८) में इस विशेषता का उल्लेख है। वर्तमान सूत्र में यह लिखा है कि वहाँ ले आने में परमात्मा का कुछ भी प्रयोजन नहीं होता।

उपनिषद् में यह लिखा है—'···**तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति** (छा० ५-१०-२)। इसका अर्थ है कि एक अमानव उसको ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है। इस प्राप्त कराने में करानेवाले (अमानव) का कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

और न ही कार्य (ब्रह्मलोक को ले जाने) में किसी प्रयोजन की सिद्धि है। किसकी सिद्धि ? ले जानेवाले की, अर्थात् मुक्त जीवात्मा अपनी विशेषताओं से वहाँ जाता है। वह ईश्वरीय शक्ति से ले जाया जाता है। शक्ति का अथवा

ईश्वर का कोई अपना प्रयोजन नहीं होता।

अभिसन्धि का अर्थ आवश्यकता भी है। तब सूत्र के अर्थ यह हो जायेंगे कि (ले जाने के) कार्य मे प्राप्त करानेवाले की आवश्यकता नहीं है। बादरायण ने इसी अर्थ को स्वीकार किया प्रतीत होता है। यह अगले सूत्र से स्पष्ट होता है।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथादोषात्तत्क्रतुश्च ॥१५॥

अप्रतीक+अलम्बनान्+नयति + इति + बादरायणः+उभयथा+अदोषात्+तत्+क्रतु+च।

प्रतीक का न आलम्बन करनेवालों को ले जाता है यह। बादरायण के मत से दोनों प्रकार में दोष नहीं; क्योंकि मुक्त जीव का अपना संकल्प है।

किसी के आश्रय को न माननेवाले को भी वह ले जाता है। ऐसा बादरायण ऋषि का मत है। कोई अमानव है अथवा नहीं है? दोनों प्रकार के मानने में दोष नहीं। कारण यह कि मुक्त जीवात्मा का संकल्प ही उसे ले जाता है।

ब्रह्मसूत्र (४-३-७) में शब्द आया है—**'अस्य गत्युपपत्तेः।'**

अर्थात् उसकी गति सिद्ध होती है। तो यह गति कौन कराता है? इस विषय में विवाद उठ खड़ा हुआ है। जैमिनी ऋषि का मत है कि गति कराने वाले का कुछ भी तात्पर्य (आवश्यकता) नहीं।

बादरायण का कहना है कि चाहे तो किसी का आलम्बन मानो, चाहे न मानो; किसी प्रकार का दोष नहीं आता। कारण यह कि मुक्त जीव का संकल्प जो है, वह उसे ले जाता है।

वास्तव में यह विवाद सूत्रों में नहीं है। इनमें यह नहीं लिखा कि कोई अमानव ले जानेवाला है अथवा नहीं? यह विवाद छा० उपनिषद् (१०-५-२) से उत्पन्न हो गया है।

सूत्र (४-३-७) मे तो केवल 'गत्युपपत्तेः' लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार के काल में भी ऐसे लोग थे जो किसी को ले जानेवाला मानते होंगे। कुछ भी हो, बादरायण के मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई ले जाने वाला मानो अथवा न मानो; कारण यह कि मुक्त आत्मा का संकल्प ही उसे

ले जाता है।

अमानव को शब्द पढ़कर स्वामी शंकराचार्य कार्य ब्रह्म और परम ब्रह्म का विवाद ले बैठे हैं।

विशेषं च दर्शयति ॥१६॥

विशेषं+च+दर्शयति।

च=और। विशेषं=विशेष (वर्णन) को। दर्शयति=(शास्त्र में) दिखाता है।

मुक्त जीवों के ब्रह्मलोक में जाने की पूर्ण प्रक्रिया विशेष रूप में उपनिषद् ग्रन्थों में वर्णन की गई है। यहां (ब्रह्मसूत्र में) भी इसका वर्णन संक्षेप में दिया गया है। यह, इसमें जानेवालों की विशेषता के कारण ही है ऐसा माना है।

चतुर्थ पाद

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥१॥

सम्पद्य+आविर्भावः+स्वेन+शब्दात् ।

सम्पद्य=(मोक्ष को) प्राप्त होकर। आविर्भावः=प्रकट होना। स्वेन=अपने निर्मल स्वरूप में। शब्दात्=शास्त्र के कथन से।

श्रुति में जो स्व शब्द आया है, उससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा जब मुक्ति प्राप्त कर लेता है तो यह अपने उस स्वरूप में हो जाता है जिसमें वह शरीर के बन्धन में आने से पहले था।

सम्पद्य से अभिप्राय है सम्यक् प्रकार से (मोक्ष को) प्राप्त होकर।

जीवात्मा का (स्व) स्वाभाविक स्वरूप क्या है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है। क्या वह परमात्मा ही हो जाता है ? अथवा क्या वह उस अवस्था में भी परमात्मा के अतिरिक्त किसी प्रकार का स्वरूप रखता है ? इस विषय में ही अगले सूत्र लिखे हैं।

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥२॥

मुक्तः+प्रतिज्ञानात् ।

मुक्तः=मुक्त हुआ (जीवात्मा)। प्रतिज्ञानात्=प्रति ज्ञान से। अर्थात् शास्त्र में ज्ञापन से।

प्रतिज्ञान के अर्थ शंकर की परिपाटी वालों ने किया है—प्रतिज्ञा किये जाने से। इसके विषय में स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं :

कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति ? प्रतिज्ञानादित्याह। तथा हि—'···एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि'।

(छा० ८-९-३, ८-१०-४, तथा ८-११-३)

अर्थात्—यह पुनः कैसे जाना जाता है कि यह मुक्त होता है ? प्रतिज्ञा से। ऐसा कहते हैं। क्योंकि कहा है।

(छा० ८-९-३, ८-१०-४, तथा ८-११-३)

शंकर मत से शास्त्र में यह कहा गया है कि वह शुद्ध सर्वबन्ध से विनिर्मुक्त हो जाता है।

श्री उदयवीर जी ने भी प्रतिज्ञानात् के अर्थ किये हैं प्रतिज्ञा वाक्य से यह ज्ञात होता है। आप छान्दोग्य (८-७-१) का प्रमाण देते हैं। श्री ब्रह्ममुनि जी प्रतिज्ञानात् के अर्थ करते हैं ज्ञापन से। आप भी छान्दोग्य (८-१२-१) का प्रमाण देते हैं।

इस प्रकार सूत्रार्थ सबने प्रायः एक समान ही किये हैं कि मुक्त आत्मा का स्वरूप वह है जो ज्ञापन किया गया है। अर्थात् वर्णन किया गया है। हम यहाँ एक उद्धरण देते हैं जिससे पता चलेगा कि शास्त्र में कैसा ज्ञापन किया गया है।

छान्दोग्य (८-७-१) में आत्मा के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन मिलता है—

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्यः स सर्वा ँश्च लोकानाप्नोति सर्वा ँश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच।

(छान्दो० ८-७-१)

अर्थात्—जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युरहित, मृत्युहीन, शोक-क्षुधा रहित, पिपासा रहित है, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है; उसे जानना चाहिये। उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिये। उस आत्मा को शास्त्र और गुरु के आदेशानुसार खोजकर जान लेना चाहिये। वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। ऐसा प्रजापति कहते हैं।

आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

आत्मा | प्रकरणात्।

आत्मा है प्रकरण से।

अर्थात् आत्मा के प्रकरण में जो स्वरूप इसका वर्णन किया गया है वह [illegible] मोक्ष अवस्था में भी रहता है। आत्मा के स्वरूप में ऐसा वर्णन किया

गया है कि वह चेतन है, वह स्वतन्त्र है और वह आनन्द का इच्छुक है ।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

अविभागेन+दृष्टत्वात् ।

अविभागेन -बिना विभाग के । **दृष्टत्वात्**=देखे जाने से ।

मोक्ष प्राप्त जीव पृथक् दिखायी नहीं देते । किससे पृथक् दिखायी नहीं देते ? परमात्मा से; जिसमें लीन होते हैं । ये ऐसे परमात्मा में लीन हो जाते हैं जैसे कि नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं ।

यही भाव मुण्डक उपनिषद् (३-२-८) में प्रकट किया गया है; परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मुक्त जीवात्मा परमात्मा हो जाते हैं । देखने में वे पृथक् नहीं दिखायी देते ।

वास्तव में वे क्या होते हैं, यह इस सूत्र में नहीं बताय गया । उपनिषद् (मुण्डक० ३-२-८) में भी यह नहीं बताया । उपनिषद् वाक्य इस प्रकार है :

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(मुण्डक० ३-२-८)

अर्थ है—जैसे नदियाँ बहती हुई समुद्र में अस्त हो जाती हैं और नाम-रूप त्याग देती हैं, वैसे ही विद्वान् (मुक्त) जीव नाम रूप इत्यादि से छूटकर दिव्य पुरुष (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है ।

इस अवस्था में भी उसका पृथक् अस्तित्व बना रहता है। यह निम्न उपनिषद् से पता चलता है ।

...ते तेषु ब्रह्मलोकेषु: पराः परावतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः ।

(बृ० ६-२-१५)

वे ब्रह्म लोकों में उत्कृष्ट स्थितियों में निवास करते हैं। वहाँ से वे नहीं लौटते । इससे यह स्पष्ट होता है कि वे मुक्त जीव उत्कृष्ट स्थिति में रहते हैं और वहाँ से वे लौटते नहीं । नाम रूप तो शरीर के साथ है। शरीर छूट जाने से नाम रूप नहीं रहता, परन्तु अस्तित्व तो रहता है ।

इसी बात का संकेत अगले सूत्र में मिलता है ।

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

ब्राह्मेण+जैमिनी:+उपन्यासादिभ्यः ।

ब्राह्मेण=ब्रह्म के सम्बन्ध में आने से। जैमिनिः=यह जैमिनि का मत है। उपन्यासादिभ्यः=समीप स्थित होने से।

जैमिनी ऋषि का यह मत है कि मुक्त जीव की स्थिति परमात्मा के समीप होने से वह अविभाग दिखायी देता है और रूप नाम से रहित दिखायी देता है।

पूर्व के सूत्रों में यह लिखा है कि मुक्त जीव देखने मे परमात्मा से विभक्त दिखायी नहीं देता। यह इस सूत्र में बताया है कि उनकी स्थिति परमात्मा के समीप होने से है। इसका अभिप्राय है कि वह है तो परमात्मा से पृथक् ही, परन्तु समीप होने से एक ही दिखायी देता है।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥६॥

चितितन्मात्रेण+तत्+आत्मकत्वात्+इति+औडुलोमिः।

इति=यह। औडुलोमिः=औडुलोमि ऋषि का मत है। चितितन्मात्रेण=चेतन होने मात्र से। तदात्मकत्वात्=वह अपने स्वरूप का होने से है।

मुक्त जीव चेतन होने से अपने स्वरूप में स्थित होता है। ऐसा औडुलोमि ऋषि का मत है।

यह सूत्र भी यही प्रकट करता है कि मुक्त जीव परमात्मा नहीं हो जाता, वरन् अपने ही स्वरूप से चेतन होता है।

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥७॥

एवम्+अपि+उपन्यासात्+पूर्वभावात्+अविरोधम्+बादरायणः।

इस पर भी। परमात्मा के समीप की स्थिति होने से। पहले कथन का विरोधी नहीं। ऐसा बादरायण ऋषि का मत है।

सूत्र संख्या ४-४-४ में यह लिखा है कि देखने से मुक्त जीव परमात्मा से विभक्त नहीं है। इस कथन का सूत्र ४-४-५, ६ से विरोध नहीं। यह बादरायण ऋषि ने कहा है।

हमने तो ऊपर लिखा है कि मुक्त जीव देखने पर परमात्मा से ऐसे मिल गया प्रतीत होता है जैसे कि अनेक नदियाँ समुद्र में मिलकर अपना नाम और

रूप खो देती है। परन्तु जैमिनि ऋषि के अनुसार यह दिखायी देना परमात्मा के समीप होने से है और औडुलोमि ऋषि के अनुसार यह आत्मा के चेतन होने के कारण है। दिखायी तो ऐसे देता है, परन्तु वे एक नहीं हो जाते।

इस सूत्र (४-४-७) में यह लिखा है कि इन (४-४-५, ६) का इनसे पूर्व (४-४-४) से विरोध नहीं। यह बादरायण ऋषि का मत है। अर्थात् बादरायण ऋषि भी यह मानते हैं कि देखने में ही एकमयता है। वास्तव में नहीं।

संकल्पादेव तु तत्श्रुतेः ॥८॥

संकल्पात्+एव+तु+तत्श्रुतेः।

तत्श्रुतेः=यह श्रुति में कहा है। संकल्पात्=संकल्प से। एव=ही। तु=तो।

संकल्प शब्द का अर्थ है तीव्र निश्चय। अतः यह कहा है कि मुक्तावस्था में जो आनन्दादि की उपलब्धि होती है, यह निश्चय मात्र का ही फल है। इसके लिये मुक्त जीव को प्रयत्न करना नहीं पड़ता। विचार करने से ही प्राप्त हो जाता है।

मर्त्य लोक में तो किसी भी उपलब्धि के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। उसके लिये साधन जुटाने पड़ते हैं, परन्तु ब्रह्म लोक में मुक्त जीव को अनायास ही आनन्द प्राप्त होता है। जिस कामना का वह संकल्प करता है, वह उसे प्राप्त होती है।

इस आनन्द में क्या-क्या सम्मिलित है ? इसका एक विवरण बृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-३३) में लिखा है—

स यो मनुष्याणाँ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः, स मनुष्याणां परम आनन्दः।

इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है—

वह मनुष्य जो मनुष्यों में (राद्धः) पूर्णांग, समृद्ध (अन्येषामधिपतिः) दूसरों का स्वामी, (सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः) सब मानवी भोगों से सब प्रकार से सम्पन्न होता ह। (स मनुष्याणां परम आनन्दः) वह मनुष्यों का परम आनन्द है।

इसके उपरान्त इसी मन्त्र में लिखा है कि ऐसे आनन्द का सौ गुणा जितलोक पितरों का आनन्द है। पितरों के आनन्द से सौ गुणा अधिक आनन्द

गन्धर्व लोक का है। इसी प्रकार गन्धर्वों के आनन्द से सौ गुणा अधिक कर्म देवों का आनन्द है। कर्म देवों के आनन्द से सौ गुणा अधिक आजान देवों का आनन्द है। यही आनन्द वेद-वेत्ताओं, निष्पाप, निष्काम भाव से कर्म करने वालों और श्रोत्रियों का है। आजान देवों के सौ गुणा आनन्द के समान प्रजापति लोक का आनन्द है, प्रजापति लोक के आनन्द के समान अधिक वेद वेत्ता इत्यादि निष्काम करने वाले का आनन्द है। प्रजापति लोक के आनन्द से सौ गुणा अधिक आनन्द ब्रह्म लोक में है। इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि आजान देवों के, प्रजापति लोक के, श्रोत्रियों के तथा वेद वेत्ताओं के आनन्द को निष्काम भाव से माना है।

और लिखा है (अथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः) यही परम आनन्द है। यही ब्रह्मलोक है।

अभिप्राय यह है कि ब्रह्मलोक सम्बन्धी आनन्द उसी श्रेणी का आनन्द है जो इस (मर्त्य लोक) में प्राप्त होता है। हां, इससे करोड़ों गुणा अधिक होता है और यह आनन्द मुक्त जीव को संकल्प (विचार करने) मात्र से ही प्राप्त हो जाता है।

अत एव चानन्याधिपतिः ॥९॥

अत+एव+च+अनन्याधिपतिः।

और इसलिये ही वह अनन्याधिपति हो जाता है।

अनन्याधिपति का अर्थ है कि उसका कोई दूसरा अधिपति नहीं होता। मोक्षावस्था में सब बन्धनों से मुक्त जीव किसी के अधीन नहीं होता।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥१०॥

अभावं+बादरिः+आह+हि+एवम्।

बादरि ऋषि का कहना है कि क्योंकि (इन्द्रियों का) अभाव है।

पूर्व (ब्रह्मसूत्र ४-४-८) में कहा है कि संकल्प मात्र से आनन्द अनुभव करता है। यहां (ब्र० सू० ४-४-१० में) कहा है कि क्योंकि अभाव है। अभिप्राय यह कि इन्द्रियों का अभाव है और आनन्द की प्राप्ति है। अतः आनन्द तो वैसा ही है जैसा कि मानवी आनन्द है। इसकी व्याख्या सूत्र ४-४-८

के भाष्य में कर आये हैं। परन्तु इसका भोग इन्द्रियों द्वारा नहीं होता। कारण यह कि इन्द्रियों का अभाव है।

शरीर में इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त आनन्द भी अन्त में जीवात्मा को ही अनुभव होता है। अतः जहाँ तक जीवात्मा के अनुभव का प्रश्न है, इसमें शरीर रखने अथवा न रखने में अन्तर नहीं पड़ता। यदि कुछ अन्तर है तो वह आनन्द की मात्रा में अन्तर है। मोक्षावस्था में मानवी आनन्द ही कई करोड़ गुणा बढ़ जाता है।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥११॥

भावं+जैमिनिः+विकल्पामननात्।

जैमिनी ऋषि का मत है कि (शरीर) होता है। विकल्प का मनन से।

जैमिनि ऋषि का कहना है कि मोक्ष प्राप्त जीवात्मा भी शरीर रखता है। विकल्प का उल्लेख किस प्रकार है ? सूत्र ग्रन्थ में किसी प्रकार का जैमिनि के किसी लेख की ओर संकेत नहीं, जिससे पता चले कि किस प्रकार के विकल्प से अभिप्राय है।

स्वामी शंकराचार्य, श्री उदयवीर शास्त्री और श्री ब्रह्म मुनि भी यह विकल्प बताने के लिये छान्दोग्य उपनिषद् (७-२६-२) का उदाहरण देते हैं। अतः इस विकल्प के विषय में उक्त आचार्यों की बात समझने के लिये इस उपनिषद् वाक्य को देखना होगा।

यह इस प्रकार है—

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताँ सर्वँ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति। स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विँशति-राहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्ष-स्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारस्तँ स्कन्द इत्याचक्षते तँ स्कन्द इत्याचक्षते॥

(छान्दो० ७-२६-२)

अर्थात्—इस विषय में यह श्लोक है कि विद्वान् न तो मृत्यु को देखता है, न रोग को और न दुःखत्व को। वह विद्वान् सबको देखता है। अतः सबको प्राप्त हो जाता है। वह एक होता है; फिर वही तीन, पाँच, सात और नौ रूप हो जाता है और फिर यही ग्यारह कहा गया है तथा वही सौ, दश और एक

सहस्र और बीस भी होता है। आहार शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों से मुक्ति होती है। जिसकी वासनायें क्षीण हो गयी थीं, उस (नारद) को भगवान् सनत्कुमार ने अज्ञान के अन्धकार का पार दिखाया। उसको स्कन्द ऐसा कहते हैं।

यह कथन उस आशय को प्रकट नहीं करता जिसको सिद्ध करने के लिये इसे उपस्थित किया गया है। सूत्र में लिखा है कि जैमिनी मानता है कि यह है, अर्थात् मुक्त आत्मा के लिये इन्द्रियों का अभाव नहीं। उक्त मन्त्र में ऐसी कोई बात दिखायी नहीं देती।

इस मन्त्र में जो कुछ लिखा है, वह शुद्ध है अथवा अशुद्ध है; हम कुछ नहीं कह रहे। हमारा कुछ कहने का अधिकार भी नहीं है। मोक्षावस्था का न तो हमें अनुभव है और न ही ज्ञान। इस कारण उपनिषद् वाक्य के विषय में कुछ न कहते हुए हम केवल यह कहते हैं कि इस सूत्र से ऐसा संकेत तक भी नहीं मिलता कि मुक्त आत्मा का शरीर होता है अथवा नहीं।

भाष्यकारों ने यदि किसी उपनिषद् का प्रमाण देना ही था तो उनको इस मन्त्र से पहला मन्त्र देना चाहिए था। वह विकल्प रूप में शरीर का प्रमाण उपस्थित करता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदँ सर्वमिति ॥

(छान्दो ७-२६-१)

अर्थात्—निश्चय रूप से इस प्रकार से देखनेवाले, इस प्रकार मनन करनेवाले के और इस प्रकार जानने वाले इस विद्वान् के लिये आत्मा से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मृति, आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से आपः (जल), आत्मा से आविर्भाव और तिरोभाव, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त, आत्मा से संकल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाक्, आत्मा से नाम, आत्मा से मन्त्र, आत्मा से कर्म और आत्मा से यह सब हो जाता है।

हमारा मत है कि इस सूत्र (४-४-११) का भावार्थ इस उपनिषद् में अधिक स्पष्टता से वर्णन किया गया है।

जैमिनी ऋषि का कहना है कि उसकी इन्द्रियाँ अथवा इन्द्रियों के विषय होते हैं। इन्द्रियों के विकल्प से। इससे पूर्व के सूत्र (४-४-१०) में कहा है कि मुक्त जीवात्मा की इन्द्रियाँ नहीं होतीं। सूत्रकार कहता है कि जैमिनी के मत से होती

हैं, परन्तु विकल्प से। अर्थात् इन्द्रियों का स्थानापन्न (substitute) होता है। वह आत्मा स्वयं है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकारों ने सूत्रार्थ को समझे बिना उपनिषद् का उदाहरण दे दिया है। यदि कुछ भी विचार किया होता तो उचित उदाहरण छान्दोग्य ७-२६-१ था।

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥१२॥

द्वादशाहवत्+उभयविधं+बादरायणः+अतः।

द्वादशाह यज्ञ की भाँति दोनों ढंग से (यह माना जा सकता है) ऐसा बादरायण का मत है।

बादरि ऋषि और जैमिनी ऋषि ने दो विभिन्न बातें कही हैं। एक कहता है कि मुक्त जीवात्मा की इन्द्रियाँ नहीं होतीं। दूसरा कहता है कि विकल्प रूप इन्द्रियाँ होती हैं। बादरायण ने कह दिया कि दोनों ठीक हैं। जैसे द्वादशाह यज्ञ बारह दिन का भी ठीक है और दो दिन का भी ठीक है।

वास्तव में जैमिनी ने बादरि के कथन को स्पष्ट ही किया है। इन्द्रियाँ तो नहीं होतीं, परन्तु जीवात्मा आनन्द भोगता है। इस कारण इन्द्रियाँ न रहीं, पर इन्द्रियों का विकल्प तो है। वह आत्मा स्वयं में रखता है।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥१३॥

तन्वभावे (तनु+अभावे)+सन्ध्यवत्+उपपत्तेः।

शरीर के अभाव में सन्ध्यवत् (संयोग स्थान की भाँति)। उपपत्तेः= सिद्ध है।

अभिप्राय यह है कि इन्द्रियों और जीवात्मा का संयोग तो शरीर होने पर भी होता है। इस संयोग से ही आत्मा सुख, दुःख इत्यादि भोग भोगता है। अतः सूत्रकार का कहना है कि इस अवस्था में भी आकांक्ष्य (जिसकी आकांक्षा की गयी है) भोग की अवस्था रहती है। इस कारण इन्द्रियों के वे संधि स्थान आत्मा पर रहते हैं और उनको इन्द्रियाँ कहो अथवा न कहो; वे हैं और दोनों रूप ठीक कहते हैं। अन्य भाष्यकारों ने सन्ध्य के अर्थ स्वप्नावस्था कहा है, परन्तु हमारा मत है कि यहाँ संधि स्थान का अभिप्राय है वह स्थान, जहाँ

इन्द्रियों का संयोग आत्मा से होता है। यह अगले सूत्र में स्पष्ट किया है।

भावे जाग्रद्वत् ॥१४॥

भावे+जाग्रद्+वत्।

जाग्रत अवस्था की भाँति ही यह (आनन्द का भोग) होता है।

इस अध्याय के चतुर्थ पाद के सूत्र एक दूसरे से सम्बन्धित चले-आते हैं। अतः इनके अर्थ भी परस्पर सम्बन्धित हैं। अतः हम इन सूत्रों में प्रमाण की इतनी आवश्यकता नहीं समझते जितना कि सूत्रार्थों का ऊपर के सूत्रार्थों से सम्बन्ध को। सूत्रों का परस्पर सम्बन्ध होने से युक्ति का प्रवाह ही चलता है।

इस पर भी अन्य भाष्यकारों ने इनके आधार में उपनिषद् में लिखे वाक्य उद्धृत किये हैं। इसी कारण इन सूत्रों की पूर्ण शृंखला में हमने भी उनका कहीं-कहीं उल्लेख किया है।

यहाँ एक बात और समझ लेनी चाहिये कि सूत्र ४-४-१३ में शब्द सन्ध्यवत् आया है और इस सूत्र में जाग्रतवत् आया है। भाष्यकार इसका अर्थ करते हैं कि स्वप्नावस्था और जागने की अवस्था। वास्तव में सन्ध्य का अभिप्राय सोये हुए स्वप्नावस्था में सुख लेने से नहीं है। यह है संधि अवस्था अथवा स्थान। आत्मा का जहाँ इन्द्रियों से संयोग होता है। जाग्रत के अर्थ हैं कि जब आत्मा कार्य जगत् में विचरता होता है, अर्थात् सशरीर होता है। उस समय भी इन्द्रियों का आत्मा से सम्बन्ध होता है।

अभिप्राय यह है कि जैसे आत्मा सशरीर होने की अवस्था में आनन्द भोगता है, वैसे ही वह मोक्षावस्था में भी भोगता है। इन्द्रियों के अभाव का प्रभाव नहीं होता। उनका जीवात्मा से सन्ध्य स्थान तो जीवात्मा में रहता ही है।

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥१५॥

प्रदीपवत्+आवेशः+तथा+हि+दर्शयति।

प्रदीपवत्=जल रहे दीपक के समान। तथा=वैसे ही। आवेशः=चारों ओर प्रकाश देने वाला है। क्योंकि ऐसा दिखलाता है।

प्रकाश तो दीपक का दूर-दूर तक जाता है, परन्तु दीपक स्वयमेव वहाँ तक नहीं जाता। इसी प्रकार मुक्त जीवात्मा अपने आस-पास के सबको जो उसके समीप आते हैं, प्रकाशित करता है अर्थात् उनको ज्ञानवान् करता है। यह ज्ञान से प्रदीप्त होता है और ज्ञान का प्रकाश करता है।

सूत्रकार का यह कहना है कि वह दीपक की भाँति ज्ञान को (आवेशः) चारों ओर फैलाता है।

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

स्वाप्ययसम्पत्त्योः + अन्यतर + आपेक्षम् + आविष्कृतं + हि।

स्वाप्ययसम्पत्त्यो = सुषुप्ति और सम्पत्ति में से। **अन्यतर आपेक्षम्** = किसी दूसरे की अपेक्षा से। **आविष्कृतं** = (ऐसा शास्त्र में) प्रकट किया गया है। **हि** = क्योंकि।

अभिप्राय है—क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा की अवस्था और सम्पत्ति की अवस्था का वर्णन किया है और यह भिन्न-भिन्न है।

सम्पत्ति का अभिप्राय है मोक्षावस्था और सुषुप्ति अवस्था वह है जब कि आत्मा प्रलय काल में होता है।

सुषुप्ति उस अवस्था को भी कहते हैं जब प्राणी निद्रावस्था में होता है। परन्तु यहाँ इस अवस्था का उल्लेख नहीं है। कारण यह कि निद्रा के काल में तो शरीर साथ होता है और जीवात्मा उससे बँधा होता है। केवल दो अवस्थायें हैं जिनमें जीवात्मा अबद्ध होता है। प्रलय काल में और मुक्तावस्था में। दोनों अवस्थाओं में जीवात्मा शरीर रहित होता है।

ये दोनों अवस्थायें एक-दूसरे से भिन्न होती हैं और इनके विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार से लिखा है।

सूत्रकार का कहना है कि विभिन्न लेख इस कारण हैं कि इन दो अवस्थाओं में भेद है।

प्रलय काल में भी जीवात्मा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से रहित हो जाता है, परन्तु अज्ञानयुक्त होने से वह अवस्था मोक्षावस्था से भिन्न होती है और उस समय किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं होती।

इसके विपरीत बृहदारण्यक (४-५-१५) में मोक्षावस्था का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि आत्मा सर्वज्ञ के सम्पर्क में आ जाने से ऐसा हो जाता है। कि फिर उसको कुछ अन्य जानने की आवश्यकता नहीं रहती है।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥१७॥

जगत्+व्यापारवर्ज+प्रकरणात्+असन्निहितत्वात्+च।

और जगत् व्यापार (जगत् रचना प्रलयादि) को छोड़कर (अन्य सब उपलब्धियाँ मुक्त आत्मा को प्राप्त हो जाती हैं)। प्रकरण में असंनिहित होने से।

अर्थात्—जहाँ जगत् रचना का प्रकरण है वहाँ मुक्त आत्माओं के सहयोग की बात नहीं लिखी।

अन्य उपलब्धियाँ जीवात्मा को, मुक्ति प्राप्त करने पर होती हैं, अर्थात् जीवात्मा जगत् रचना और प्रलय नहीं कर सकता।

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

प्रत्यक्ष+उपदेशात्+इति+चेत्+न+आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः।

प्रत्यक्ष उपदेश से (यही प्रकट होता है कि) मुक्त जीव की सामर्थ्य की सीमा है।

यदि यह कहो कि सीमा नहीं तो नहीं। (क्योंकि) अधिकार वाले मण्डल में रहने की स्थिति के कहने से।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि जहाँ मुक्त आत्माओं के अधिकार वर्णन किये हैं, यहाँ कुछ बात बतायी है, जिनसे उनके अधिकार की सीमा का ज्ञान होता है।

मुक्त जीवात्माओं की सामर्थ्य असीम नहीं। छान्दोग्य ७-२५-२ में लिखा है—**'स स्वराड् भवति।'** वह अपना राजा हो जाता है। इसमें सीमा लगा दी गयी है। सीमा है अपने शब्द की।

इसी उपनिषद् वाक्य में लिखा है कि—**'आत्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः।'** अर्थात् अपने से खेलता है, अपने से मिथुन करता है और अपने से आनन्द को प्राप्त करता है। यहाँ भी आत्म शब्द से सीमा बाँधी गयी है।

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥१९॥

विकारावर्ति+च+तथा+हि+स्थितिम्+आह।

विकारावर्ति=चारों ओर से विकार में वर्तने वाला। **च**=और। **तथा**=वैसा। **हि**=क्योंकि। **स्थितिम्**=अवस्था को। **आह**=कहा गया है।

इसका अभिप्राय यह है कि मुक्त जीवात्मा का ऐश्वर्य विकार में रहता है, अर्थात् उसमें विकार होता रहता है। विकार का अभिप्राय है परिवर्तन। क्योंकि ऐसी ही स्थिति को शास्त्र कहता है।

विकार का अर्थ है परिवर्तन होना। सूत्रकार ने लिखा है कि मुक्त आत्मा का ऐश्वर्य अर्थात् उसकी उपलब्धियाँ परिवर्तनशील हैं।

इससे यह संकेत मिलता है कि वे ह्रासमय भी हैं, अर्थात् समय पाकर उपलब्धियाँ समाप्त भी हो सकती हैं। अतः वह ब्रह्मलोक से वापस भी हो सकता है।

प्रायः आचार्यों ने यह लिखा है कि उसका पुनः लौटना नहीं होता। इसके साथ कुछ आचार्यों का यह मत है कि जगत् रचना काल तक ही ऐसा कथन है। जहाँ लौटकर आना है, वह (जगत्) ही जब नहीं रह जाता तो न लौटने की शर्त भी समाप्त हो जाती है।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी लिखा है कि न लौटने की बात इसी कारण लिखी है कि ब्रह्मलोक में रहने का काल बहुत लम्बा होता है। इस सूत्र में स्वामी दयानन्द के कथन का समर्थन मिलता है।

यहाँ यह लिख देना भी ठीक होगा कि विकारावर्ति के भिन्न प्रकार से भी अर्थ किये गये हैं। स्वामी शंकराचार्य इसका अर्थ करते हैं—

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्तं पारमेश्वरं रूपं, न केवलं विकारमात्रगोचरं सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम्। तथा ह्यस्य द्विरूपां स्थितिमाहाम्नायः।

विकार में रहनेवाला भी परमेश्वर का नित्य रूप कहा गया है। केवल विकार मात्र विषय के सवितृ मण्डल आदि अधिष्ठानक रूप नहीं हैं। क्योंकि इसके दो रूपवाली स्थिति शास्त्र में कही है।

इसका भावार्थ यह है कि विकारावर्ति स्थिति परमेश्वर की है। परन्तु वह तो विकाररहित है।

अतः यह सूत्र मुक्तात्मा की स्थिति के विषय में नहीं है। ऐसा स्वामी शंकराचार्य का मत है। यह बात अशुद्ध है। यहाँ मुक्तात्मा की ही बात चल रही है। परमात्मा के गुणों का वर्णन नहीं हो रहा।

परन्तु श्री उदयवीर शास्त्री ने विकारावर्ति के अर्थ किये हैं कि विकार में सब ओर से वर्तनेवाला। चारों ओर मुक्त आत्मा की उपलब्धियाँ हैं अर्थात् ऐश्वर्य है। उसी में ह्रास की बात कही है। हमारा भी यही मत है।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥२०॥

दर्शयतः+च+एवं+प्रत्यक्षानुमाने ।

साथ ही प्रत्यक्ष और अनुमान यही बतलाते हैं।

क्या बतलाते हैं ? यह कि मुक्तात्माओं का ऐश्वर्य विकारयुक्त है। विकारयुक्त स्थिति में ह्रास भी होता है। यह बात प्रत्यक्ष और अनुमान से भी सिद्ध होती है।

प्रत्यक्ष तो इस प्रकार कि हम यह देखते हैं कि सब पदार्थों का, सब स्थितियों एवं सब परिस्थितियों का, जो आरम्भ होती हैं, अन्त भी होता है। यदि ब्रह्मलोक में प्रवेश है तो उसका छोड़ना भी होगा।

यही बात अनुमान से भी सिद्ध होती है। यदि मुक्त-जीवात्मा पुनः जन्म मरण में नहीं आते तो शरीरधारी जीवात्माओं की संख्या में न्यूनता आयेगी। किसी समय में यह संख्या शून्य भी हो सकती है। तब जगत् की रचनादि की आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

परन्तु युक्ति और प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि जो स्थिति आरम्भ होती है वह समाप्त भी होगी।

जो लोग जीव को परमात्मा का ही अंश मानते हैं वे यह सिद्ध नहीं कर सकते कि परमात्मा का वह अंश माया के जाल में फंस क्यों गया ? वह तो ज्ञानस्वरूप होना चाहिये। यदि किसी कारण से, उसे अज्ञान में फंस बन्धन में आया मानें तो, वह कारण पुनः उपस्थित होने पर पुनः जीवात्मा इस जगत् में लौट आयेगा।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥२१॥

भोगमात्र+साम्य+लिङ्गात्+च ।

और भोग मात्र की समानता का संकेत होने से; अर्थात् इस जगत् में मर्त्यलोक और मुक्तावस्था में भोगों की समानता होने से।

भोग के साथ मात्र शब्द इस कारण लगाया है कि समानता भोग की ही है। भोग के साधनों में समानता नहीं। अर्थात् इन्द्रियादि करण वहाँ नहीं होते। करणों के बिना भोग विकलावस्था से होते हैं।

इस कारण लिखा है कि भोग-मात्र की समानता है।

इससे भी इस बात का समर्थन होता है कि मुक्तावस्था भी समाप्त होनेवाली है। जो स्थिति प्राप्त होती है वह छिन भी जाती है।

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

अनावृत्तिः+शब्दात्+अनावृत्तिः शब्दात्।

लौटना नहीं होता ऐसा कहने से है। ऐसा कहने से है।

यहाँ शब्दात् के अर्थ लिये गये हैं शास्त्र में कहे जाने से। इसमें हमारा मतभेद है। कारण यह कि पूर्व के सूत्र यह नहीं कहते कि मुक्त आत्मा लौटते नहीं। वहाँ तो यह लिखा है कि उनका ऐश्वर्य विकारयुक्त है। (ब्र० सू० ४-४-१६, २० और २१)।

इस कारण यहाँ इस सूत्र (४-४-२२) में 'शब्दात्' के अर्थ शास्त्र वचन से नहीं हो सकता। अतः हमारा यह कहना है कि केवल कहने से न लौटने की बात है। यह मुक्ति की महिमा को बढ़ाकर कहने के लिए है। इसका अर्थ यही है कि सर्ग काल में मुक्त आत्मायें लौटकर नहीं आतीं। पीछे आती हैं।

बृहदोपनिषद् इस प्रकार है—

ते तेषु ब्रह्मलोकेषुः पराः परावतो वसन्ति, तेषां न पुनरावृत्तिः।

(बृ० उ० ६-२-१५)

इस वाक्य पर भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य जी लिखते हैं—

तस्मादस्मात् कल्पादूर्ध्वमावृत्तिर्गम्यते॥

इस और उस वाक्य से यह अर्थ निकलते हैं कि कल्प के उपरान्त पुनरावृत्ति हो सकती है।

मुक्तावस्था समाप्त होनेवाली है। 'अनावृत्तिः' इस कारण लिखी है कि यह बहुत लम्बे काल तक रहती है। अनावृत्तिः कहने मात्र के लिए है।

उपसंहार

१

ब्रह्मसूत्र अथवा वेदान्त दर्शन

इस ग्रन्थ का नाम सामान्यतया वेदान्त दर्शन कहा जाता है। दर्शन इस कारण कि यह ग्रन्थ कुछ एक सत्य सिद्धान्तों का निरूपण करता है। इसी कारण इसको मीमांसा का नाम भी दिया गया है। यह उत्तर-मीमांसा है। मीमांसा का अर्थ है किसी समस्या का निरूपण करना।

मोनियर विलियम अपने शब्द कोश में मीमांसा शब्द का अर्थ इस प्रकार करता है—

मीमांसा—Profound thought or reflection or consideration, investigation, examination or discussion.

अतः गम्भीर विषयों पर विचार और चिन्तन के ग्रन्थ को मीमांसा ग्रन्थ कहते हैं। इसमें विचार-अन्वेषण और चिन्तन किया जाता है।

अतः यह ग्रन्थ वेदान्त का दर्शन कराता है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि यह ब्रह्म का दर्शन कराता है।

इस विचार के अनुरूप ही वेदान्त शब्द और ब्रह्म शब्द के अर्थों को समझना आवश्यक हो गया है। तदनन्तर यह देखना होगा कि ग्रन्थ का पदार्थ किसका दर्शन कराता है।

वेदान्त वेद का अन्त है। वेद का अर्थ ज्ञान भी है और इसका अभिप्राय उन चार ग्रन्थों से भी है जो भारतीय परम्परा के अनुसार परमात्मा द्वारा मनुष्य को दिये गये हैं। इन चार ग्रन्थों के नाम हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

वेदों के अन्त का अर्थ होगा कि वेदों में जो कुछ कहा गया है, उसका अन्तिम अर्थ। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते है कि वेदों का गूढ़तम अभिप्राय।

इस कारण यदि इस ग्रन्थ का नाम वेदान्त दर्शन स्वीकार करते हैं तो यह समझना होगा कि वेदों का गूढ़तम अभिप्राय इस ग्रन्थ में कहा गया है।

और यदि वेद का अर्थ ज्ञान मात्र लिया जाये तो वेदान्त का अर्थ बन

जायेगा, गूढ़तम ज्ञान का ग्रन्थ।

इन दोनों अर्थों से इस ग्रन्थ का नाम हम वेदान्त सूत्र अथवा वेदान्त दर्शन नहीं कह सकते। कारण यह कि अन्य पाँच दर्शन शास्त्र भी तो अपने-अपने विषय का गूढ़तम दर्शन कराते हैं। एक दर्शन शास्त्र पूर्व-मीमांसा है। इसमें कर्म के विधि-विधान अर्थात् जीवन-यापन के विषय में चिन्तन, अन्वेषण और विवेचना की गयी है। कर्म विधि और कर्मफल का वर्णन ही इस ग्रन्थ में है। कर्म पहले होता है और ज्ञान पीछे। इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम पूर्व-मीमांसा कहा गया है। कर्म ज्ञान में समाप्त होता है। (भ० गी० ४-३३)। अतएव न्याय दर्शन, योग दर्शन, सांख्य दर्शन, वैशेषिक दर्शन और वेदान्त दर्शन (ब्रह्म-सूत्र), सबके सब, उत्तर-मीमांसा कहे जाने चाहियें। ये सब ग्रन्थ अपने-अपने विषय का गूढ़तम दर्शन कराते हैं। ये सब ज्ञान के ग्रन्थ हैं, अतः ये उत्तर मीमांसा हैं।

इस सबका अभिप्राय यह है कि वेदान्त अथवा उत्तर-मीमांसा लाक्षणिक नाम हैं और ये किसी भी दर्शन शास्त्र को दिये जा सकते हैं।

'ब्रह्मसूत्र' नाम के विषय में विचार करने पर ब्रह्म के अर्थ जानने आवश्यक हैं। सामान्य भाषा में ब्रह्म परमात्मा को कहते हैं, परन्तु वैदिक भाषा में ब्रह्म के अर्थ बड़ा, वेद वाणी तथा ब्रह्माण्ड इत्यादि भी हैं। परमात्मा को भी ब्रह्म इसी कारण कहते हैं, क्योंकि यह एक सबसे बड़ा तत्त्व है। वेद वाणी को भी ब्रह्म इसी कारण कहा जाता है, क्योंकि इससे बड़ी अर्थात् श्रेष्ठ वाणी अन्य नहीं है।

इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् के उस अध्याय को भी, जिसमें ब्रह्म की विवेचना की गयी है, ब्रह्मोपनिषद् कहते हैं, अर्थात् उसमें ब्रह्म के रहस्य को लिखा गया है। ब्रह्म की व्याख्या इस उपनिषद् में इस प्रकार है—

एक ज्ञानवान और सामर्थ्यवान तत्त्व है। दूसरा ज्ञानरहित और सामर्थ्य-रहित तत्त्व है। दोनों अजन्मा अर्थात् अनादि हैं। एक तीसरा अनादि तत्त्व है जो ज्ञानरहित तत्त्व के लिये भोग की सामग्री प्रस्तुत करता है। ये तीनों तत्त्व ब्रह्म कहे जाते हैं। (श्वे० १-९)

इस प्रकार ब्रह्म इन तीन मूल-भूत तत्त्वों को भी कहते हैं। ये तत्त्व हैं— परमात्मा जो ज्ञानवान और सामर्थ्यवान है, जीवात्मा जो ज्ञानरहित और सामर्थ्यरहित है और तीसरा अनादि तत्त्व है प्रकृति अथवा प्रधान जो जीवात्मा के लिए भोग सामग्री उपस्थित करता है।

अब देखना यह है कि क्या इस विवेच्य ग्रन्थ में ब्रह्म का वर्णन है अथवा क्या इसमें ज्ञान की पराकाष्ठा (अन्त) है?

यदि ब्रह्म का वर्णन है तो किस ब्रह्म का है? एक का, दो का अथवा

तीनों ब्रह्म (जैसा श्वेताश्वतर उपनिषद् में वर्णन है) का वर्णन है ?

हमने यह बात अपने ग्रन्थ के मुख्य भाष्य में लिखी है कि इस ग्रन्थ में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों के विषय में लिखा है।

वहां परमात्मा के विषय में कहा है कि जिससे सृष्टि की रचना, पालन और प्रलय होती है तथा जो शास्त्र का उद्‌गम स्थान है, अर्थात् जिससे मनुष्य को ज्ञान मिला है, जिससे संसार के पदार्थों में समन्वय होता है और जो ईक्षण कर सकता है, वह परमात्मा है।

इसी प्रकार जीवात्मा के विषय में कहा है—जगत् प्रसिद्ध है; इसमें कहे गये गुणों की उपस्थिति से इसमें परमात्मा का होना सिद्ध है; जगत् के कुछ गुण ऐसे हैं जो शरीरधारी से भिन्न प्रतीत होते है; जगत् में कर्म हो रहा है; कर्म करने वाला है; कर्ता और कर्म का समन्वय होना चाहिये।

(ब्र० सू० १-२-१,२,३,४)

आगे कहा है कि प्राणी के शरीर में परमात्मा के गुण होने से परमात्मा वहां देखा जाता है। यह वही परमात्मा है जो व्योम में उपस्थित है। शरीर में रहता हुआ परमात्मा भोग प्राप्त नहीं करता। भोग प्राप्त करने वाला कोई दूसरा है। परमात्मा चर और अचर को खा जाता है अर्थात् जगत् के सब पदार्थ नाशवान् हैं। परमात्मा नाशवान् नहीं है। (ब्र० सू० १-२-७,८,९)

आगे कहा है और प्रकरण से जानो, अर्थात् प्राणी के शरीर में कुछ गुण हैं जो परमात्मा के नहीं हैं। वे गुण जीवात्मा के हैं। प्रकरण से जाने जाते हैं। अतः प्राणी की गुहा में दो आत्म तत्त्व हैं। प्रकरण से यही पता चलता है। यह अन्तर विशेषणों से पता चलता है। (ब्र० सू० १-२-१०,११,१२)

इसी प्रकार मूल प्रकृति के विषय में भी कहा है—वह सूक्ष्म है; वह किसी के अधीन कार्य करती है; वह जानने के योग्य है, परन्तु ज्ञानवान् नहीं; यह तीन (सत्त्व, रजस् और तमस्) का ही वर्णन है और महत् की भाँति है।

(ब्र० सू० १-४-२,३,४,५,६)

आगे कहा है कि यह महत् चमस् की भाँति हो जाता है; तदनन्तर प्रकाशमान् हो जाता है; ऐसा देखा जाता है। (यह हिरण्यगर्भ के विषय में लिखा है।) (ब्र० सू० १-४-७,८)

इस प्रकार प्रकृति का वर्णन है।

अतः इन तीनों प्रकार के ब्रह्म का वर्णन इस ग्रन्थ में है। इस कारण हमारा मत यह है कि इस विवेच्य ग्रन्थ का नाम ब्रह्मसूत्र है और यह नाम उचित है।

इसे उत्तर-मीमांसा भी कहा जा सकता है। कारण यह कि यह कर्म से उत्पन्न ज्ञान का ग्रन्थ है तथा इसमें मूल तत्त्वों का वर्णन है।

वैसे तो ग्रन्थ के गुणों के अनुसार उसके कई नाम हो सकते है, परन्तु इसका सार्थक नाम 'ब्रह्मसूत्र' ही है।

अद्वैतवादी तथा शंकरपंथी इस ग्रन्थ को वेदान्त दर्शन इस विचार से कहते हैं; क्योंकि यह ग्रन्थ, उनके विचार से, उपनिषद् ग्रन्थों पर आधारित है और उपनिषद् ग्रन्थ ज्ञान के गूढ़तम रहस्य को वर्णन करते हैं। इस कारण यह वेदान्त दर्शन है।

यह बात अशुद्ध है। प्रथम तो ब्रह्मसूत्रों का सम्बन्ध उपनिषदों से नहीं है। इस विषय में इस प्रकरण में आगे चलकर विस्तार से लिखेंगे। दूसरे, उपनिषद् ग्रन्थ ज्ञान के न तो गूढ़तम रहस्य को बताते हैं और न ही वे ज्ञान के मूल ग्रंथ हैं।

अतएव अद्वैतवादियों का ब्रह्मसूत्रों को इस कारण से वेदान्त दर्शन कहना उपयुक्त नहीं है।

: २ :

ब्रह्मसूत्रों का लेखक और उसका काल

ब्रह्मसूत्रों के प्रवक्ता व्यास मुनि माने जाते हैं। परन्तु इन व्यास मुनि को महाभारत के लेखक महर्षि व्यास से सम्बन्ध करने के लिए इनका नाम बादरायण भी कहा जाता है। बादरि ऋषि पराशर ऋषि का नाम कहा जाता है और बादरि के पुत्र व्यास को इसका रचयिता माना जाता है।

शंकराचार्य तथा कुछ अन्य भाष्यकार इस ग्रन्थ के रचने वाले को व्यास अर्थात् पराशर-नन्दन बादरायण मानते हैं। हमें इसमें सन्देह है। इस धारणा की, ग्रन्थ में अथवा ग्रन्थ के बाहर, कहीं पुष्टि नहीं मिलती।

ब्रह्मसूत्रों में बादरायण को तृतीय वचन के रूप में लिखा गया है। सूत्रकार अपने मत को तो सब सूत्रों में लिख रहा है, अतः जब वह बादरायण के नाम पर कुछ लिखता है तो अवश्य बादरायण उसके अपने से कोई पृथक् विद्वान् व्यक्ति है। पाँच सौ पचपन सूत्रों में से केवल बीस-पच्चीस सूत्रों में बादरायण से कहा लिखने से सिद्ध होता है कि बादरायण ग्रन्थ का लेखक नहीं है।

ऐसा मत (अर्थात् लेखक बादरायण व्यास से भिन्न व्यक्ति है) केवल हमारा ही नहीं, वरन् रामानुजाचार्य, माधवाचार्य वल्लभाचार्य तथा बलदेवादि का भी है।

इसके साथ ही ये व्यास वे नहीं जो महाभारत के प्रवक्ता हैं। महाभारत में ब्रह्मसूत्रों का उल्लेख मिलता है और वहाँ इस बात का संकेत नहीं कि इन सूत्रों का प्रवक्ता महाभारत का लेखक ही है। साथ ही महाभारत में जहाँ

पुरुष एक अथवा अनेक का उल्लेख आया है, वहाँ यह इस बात का संकेत नहीं है कि महाभारत के लेखक व्यास ही ब्रह्मसूत्रों के प्रवक्ता हैं। वहाँ इस प्रकार लिखा है—

नमस्कृत्वा च गुरवे व्यासाय विदितात्मने ।
तपोयुक्ताय दान्ताय वन्द्याय परमर्षये ।।

(महा भा० १२-३५०-४)

यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ परमात्मा, जीवात्मा के विषय में लिखा गया है और यह बताते हुए कि परमात्मा जीवात्मा में क्या भेद है, वैशम्पायन अपने गुरु व्यास जी को स्मरण करते हैं। यह इस बात का संकेत नहीं कि उनके गुरु ब्रह्मसूत्रों के कहने वाले हैं।

पूर्ण महाभारत में न तो कहीं 'बादरायण' का शब्द है और न ही ब्रह्मसूत्रों के लिखने वाले व्यास का उल्लेख है। यद्यपि यह भी नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्मसूत्रों के लेखक महाभारत के लेखक नहीं, कोई अन्य हैं।

अतएव हमारा मत है कि बादरायण व्यास नहीं हैं। व्यास ब्रह्मसूत्रों के लिखनेवाले हैं और बादरायण कोई व्यास से पहले काल के अथवा समकाल के ऋषि थे। यह बात कि ब्रह्मसूत्र के लिखनेवाला ही महाभारत का लेखक है, निश्चय से नहीं कहा जा सकता।

जहाँ तक इन सूत्रों के लिखने का काल है, इसमें सन्देह नहीं कि ये महाभारत के लिखे जाने से पूर्व के काल के हैं। गीता में इनके विषय में इस प्रकार उल्लेख है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।

(भ० गी० १३-४)

महाभारत और गीता के लिखने का काल हमारे विचार से वि० पू० ३०४३ वर्ष अर्थात् आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व है। अतः ब्रह्मसूत्रों के लिखे जाने का काल इससे भी पुराना है।

शंकर इत्यादि भाष्यकारों ने तो यह लिख दिया है कि सूत्रों में बौद्धमत के विषय में संकेत है। हमारा विचार है कि शंकर की यह कल्पना मात्र है। सूत्रों में ऐसा कोई संकेत नहीं है।

हमारा निश्चित मत है कि जल महाप्लावन के उपरान्त त्रेता युग में ब्राह्मण ग्रन्थ, दर्शन शास्त्र और कुछ प्राचीन उपनिषद् लिखे गये। वेदों का

महाभारत और गीता के काल के विषय में लेखक की पुस्तक श्रीमद्-भगवद्गीता 'एक अध्ययन' पढ़ें।

सतयुग के आरम्भ काल में आविर्भाव हुआ था। जल-प्लावन में बहुत कुछ साहित्य विनष्ट हो गया था। वर्तमान ब्राह्मण ग्रन्थ और दर्शन शास्त्र उसी काल के ग्रन्थ हैं। अधिक से अधिक इनको द्वापर युग का कहा जा सकता है।

शंकराचार्य इत्यादि इसमें बौद्ध सिद्धान्तों के संकेत होने से यह प्रकट कर रहे प्रतीत होते हैं कि ब्रह्म सूत्र आज से दो-ढाई सहस्र वर्ष पूर्व लिखे गये हैं; परन्तु हम ऊपर बता चुके हैं कि ऐसा कोई संकेत कहीं नहीं मिलता। यह श्री शंकराचार्य की कोरी कल्पना मात्र है

: ३ :

दर्शनशास्त्र परस्पर विरोधी नहीं

यह मत कि सांख्य और न्याय तथा वैशेषिक दर्शन शास्त्र ब्रह्म सूत्रों के मत का विरोध करते हैं, मात्र मिथ्या कथन है। यह किसी उद्देश्य विशेष से कहा गया है और श्री शंकराचार्य का इसमें सबसे अधिक हाथ है।

श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्रों के अपने 'शारीरक भाष्य' में अनेक स्थानों पर कपिल के सांख्य, कणाद के वैशेषिक और पातञ्जलि के योग दर्शन पर टिप्पणियाँ लिखते हुए यह प्रकट करने का यत्न किया है कि ये शास्त्र व्यास मुनि के ब्रह्मसूत्रों के विपरीत हैं। उदाहरण के रूप में आप प्रथम अध्याय, प्रथम पाद के पाँचवें सूत्र के आरम्भ में 'ईक्षत्यधिकरणम्' में इस प्रकार लिखते हैं—

सांख्यादयस्तु परिनिष्ठितं वस्तु प्रमाणान्तरगम्यमेवेति मन्यमानाः प्रधानादीनि कारणान्तराण्यनुमिमानास्तत्परतैयैव वेदान्तावाक्यानि योजयन्ति। सर्वेष्वेव वेदान्तवाक्येषु सृष्टिविषयेष्वनुमानेनैव कार्येण कारणं लिलक्षयिषितम्। प्रधानपुरुषसंयोगा नित्यानुमेया इति सांख्या मन्यन्ते।

अर्थात्—सांख्य वाले ऐसा मानते हैं कि वस्तु की सिद्धि अन्य प्रमाण से ही होती है। प्रधानादि कारणों का अनुमान करके तत्परत्व (प्रधानपरत्व) से ही वेदान्त वाक्यों की योजना करते हैं। सृष्टि विषय के सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों की योजना करते हैं। सृष्टि विषय के सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों में अनुमान द्वारा ही कार्य से कारण के लक्षण बताने की चेष्टा की गयी है और सांख्य वाले ऐसा मानते हैं कि प्रधान, पुरुष और उनका संयोग नित्य अनुमेय है (अर्थात् सिद्ध है)।

इसमें यह प्रकट किया गया है कि सांख्य की व्याख्या करने वाले प्रधान (प्रकृति) को सृष्टि का कारण मानते हैं और कहते हैं कि उसके पुरुष (आत्म तत्त्व) के संयोग से सृष्टि (प्राणी जगत्) की रचना हुई है। इस बात को सांख्य वाले

अनुमान प्रमाण से सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं।

स्वामी जी का मत है कि ब्रह्मसूत्र ऐसा नहीं मानते।

आगे चलकर इसी प्रकरण में स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—

काणादास्त्वेतेभ्य एव वाक्येभ्य ईश्वर निमित्तकारणमनुमिमते, अणूंश्च समवायिकारणम्।

अर्थात्—कणाद के अनुयायी तो उन्हीं वाक्यों से ऐसा अनुमान करते हैं कि ईश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है और अणु समवायि कारण है।

इसका अभिप्राय है कि कणाद के अनुयायी यह मानते हैं कि सृष्टि का निमित्त कारण ईश्वर है और प्रकृति के अणु उसके समवायि कारण (उपादान कारण) हैं।

समवायि कारण का अर्थ है कि साथ दूसरा कारण। इससे यह बात स्वामी जी ने स्वयं सिद्ध कर दी है कि सांख्य और कणाद दोनों सहमत हैं कि ईश्वर और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की रचना हुई है। साँख्य के आत्म तत्त्व का अभिप्राय ईश्वर और जीवात्मा दोनों से है।

इसी प्रकरण में आगे श्री शंकर लिखते हैं—

तत्र पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण वेदांतवाक्यानां ब्रह्मावगतिपरत्वदर्शनाय वाक्याभासयुक्त्याभासविप्रतिपत्तयः पूर्वपक्षीकृत्य निराक्रियन्ते। तत्र सांख्यः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः—यानि वेदांतवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं प्रदर्शयन्तीत्यवोचंस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपि योजयितुं शक्यन्ते। सर्वशक्तित्वं तावत्प्रधानस्यापि स्वविकारविषयमुपपद्यते। एवं सर्वज्ञत्वमप्युपपद्यते।

अर्थात्—वाक्य और प्रमाण के ज्ञाता आचार्य (व्यास मुनि) वेदान्त वाक्यों द्वारा वाक्याभास और युक्त्याभास पर आधारित पूर्व पक्ष का निराकरण करते हैं। जो वेदान्त वाक्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ब्रह्म में कारणता को दिखलाते हैं, वे प्रधान कारण पक्ष में ही लगाये जा सकते हैं। सर्व कार्य की अपेक्षा प्रधान में भी सर्व शक्तित्व उपपन्न है।

शंकराचार्य के मत से सांख्य और कणाद वाले प्रधान को जहाँ जगत् का उपादान कारण मानते हैं, वहाँ उसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान भी मानते हैं।

जहाँ तक प्रधान के उपादान कारण मानने की बात है, इसमें स्वामी शंकराचार्य से मतभेद है। परन्तु व्यास मुनि ने ब्रह्मसूत्रों के लिखने वाले से मतभेद का कोई प्रमाण नहीं लिखा।

हमारा यह दृढ़ मत है कि ब्रह्मसूत्रों के लिखने वाले व्यास मुनि प्रधान (प्रकृति) को जगत् का उपादान कारण मानते थे। इसका प्रमाण है। ब्रह्मसूत्रों का पूर्ण दूसरा अध्याय यही कहता है।

इस अध्याय के आरम्भ में लिखा है कि यदि किसी स्मृति में किसी पदार्थका अनवकाश (अनुपस्थिति) हो तो यह दोष नहीं। (२-१-१)। इसके आगे लिखा है कि—

दूसरों की उपलब्धि न होने से (दोष नहीं)।

दूसरों से अभिप्राय परमात्मा के अतिरिक्त है। परमात्मा से अतिरिक्त जीवात्मा और प्रकृति की ओर संकेत है।

आगे लिखा है कि इस (जगत्) की इतरों से विलक्षणता न होने से जगत् वैसा ही है। (ब्र० सू० २-१-४)

जगत् में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के गुणों से विलक्षणता नहीं। इस कारण इसमें तीनों हैं।

जगत् में जड़त्व दिखायी देता है एवं इसका एक कारण जड़ तत्त्व भी है।

जड़ के लक्षण ब्रह्म सूत्र में किये हैं।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्॥ (ब्र० सू० २-२-४)

अर्थात्—उलट (गति) की अनअवस्थिति में बिना अपेक्षात्व होने के। अभिप्राय यह कि प्रकृति जिस अवस्था में होती है वैसी ही रहती है जब तक किसी दूसरे (चेतन) का प्रभाव न हो।

ऐसा जड़त्व ब्रह्मसूत्र प्रणेता के विचार में जगत् मे है और इस कारण इसका एक कारण जड़ है। वह प्रकृति है।

स्वामी शंकराचार्य के अपने कथन से भी सांख्य और कणाद जगत् का एक (उपादान) कारण प्रकृति मानते हैं। हमने ऊपर बताया है कि ब्रह्मसूत्र के मत में भी जगत् का एक कारण प्रकृति है।

पूर्व-मीमांसा, न्याय और योग दर्शनों में जगत रचना का विषय नहीं है। इस कारण उनमें प्रकृति के विषय में संकेत मात्र है; परन्तु सांख्य, वैशेषिक और ब्रह्मसूत्र (उत्तर मीमांसा) में तो स्पष्ट वर्णन है कि जगत् में तीन मूल पदार्थ हैं।

स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं कि सांख्य में प्रधान की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमानता कही गई है। यह बात स्वामी जी का भ्रम है। प्रकृति को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् तो वैशेषिक तथा सांख्य वाले नहीं मानते।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी शंकराचार्य ने इतना बड़ा भ्रम फैला गया है कि इस समय भारत में दर्शनों पर लिखने वाले प्रायः विद्वान् बिना विचार किये वही बात लिखते हैं जो शंकर लिख गये हैं। वे स्वयं परिश्रम करना नहीं चाहते।

कोई भी दर्शन शास्त्रों को पढ़ता नहीं और सब के सब स्वामी जी का

अन्धानुकरण करते चले जाते हैं। सबके लिए यही उत्तर है जो ऊपर शंकर जी के लिए लिखा है।

: ४ :

षट् दर्शन परस्पर विरोधी नहीं

षट् वैदिक दर्शन शास्त्रों में विरोध प्रकट करनेवालों में सबसे प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य हैं। आप ब्रह्म सूत्र के अपने 'शारीरक भाष्य' में दूसरे अध्याय के प्रथम पाद के सूत्र संख्या ११ के भाष्य कहते हैं :

अथ कस्यचित्प्रसिद्धमाहात्म्यस्य कपिलस्य चान्यस्य वा संमतस्तर्कः प्रतिष्ठित इत्याश्रीयेत, एवमप्यप्रतिष्ठितत्वमेव, प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थकराणां कपिलकणभुक्प्रभृतीनां परस्परविप्रतिपत्तिदर्शनात्।

अर्थात्—किसी प्रसिद्ध महात्म्य वाले, कपिल अथवा किसी अन्य के सफल तर्क प्रतिष्ठित हों वे भी पूर्वोक्त दोष से अप्रतिष्ठित ही हैं। कारण कि जिनका महात्म्य प्रसिद्ध समझा गया है, ऐसे शास्त्र-प्रणेता कपिल, कणादादि में भी परस्पर विरोध देखने में आता है।

इस सूत्र में तर्क और अप्रतिष्ठित तर्क का प्रकरण है। स्वामी शंकराचार्य सब प्रकार के तर्क करने को अप्रतिष्ठित मानते हैं। इस प्रसंग में आपने उक्त बात लिखी है। आपका मत है कि तर्क करनेवाले कपिल और कणाद भी परस्पर विरोधी हैं।

स्वामी शंकर ने अपने उक्त कथन का कोई प्रमाण नहीं दिया। उन्होंने यह नहीं लिखा कि कहाँ पर दोनों के कथन में सिद्धान्तात्मक भेद दिखाई दिया है।

बिना प्रमाण, किन्हीं दो ऋषि तुल्य विद्वानों को परस्पर विरोधी कहना गाली देने के समान है।

स्वामी शंकराचार्य एक अन्य स्थान पर (ब्र० सू० २-२-१८ के भाष्य में) लिखते हैं—

वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्वेदविरोधाच्छिष्टापरिग्रहाच्च नापेक्षितव्य इत्युक्तम्। सोऽर्धवैनाशिक इति वैनाशिकत्वसाम्यात्सर्ववैनाशिकराद्धान्तो नतरामपेक्षितव्य इतीदमिदानीमुपपादयामः। स च बहुप्रकारः प्रतिपत्तिभेदाद्विनेयभेदाद्वा। तत्रैते त्रयो वादिनो भवन्तिकेचित्सर्वास्तित्ववादिनः, केचिद्विज्ञानास्तित्वमात्रवादिनः, अन्ये पुनः सर्वशून्यत्ववादिन इति।

अर्थात्—यह कहा गया है कि कुतर्क के योग, वेद विरुद्ध और शिष्ट पुरुषों से अस्वीकृत होने से वैशेषिक सिद्धान्त अपेक्षा करने योग नहीं हैं। वह अर्ध-वैनाशिक (मनुष्य के उद्देश्य को आधी हानि करनेवाले) है। इस कारण

वैनाशिकत्व सादृश्य (समानता) से सर्व वैनाशिक सिद्धान्त अत्यन्त अपेक्षा करने योग्य नहीं हैं। इससे हम यह परिणाम निकालते हैं कि प्रतिपत्ती के भेद से अथवा शिष्यों के भेद से बहुत प्रकार का है। इसमें तीन वादी (मत) हैं। (एक) सर्वास्तित्ववादी, (दूसरा) कुछ विज्ञापनास्तित्व-वादी और (तीसरा) पूर्ण शून्यवादी।

इसका अभिप्राय यह है कि वैशेषिक दर्शन के कुतर्कों से शून्यवादी, सर्वास्तित्ववादी और विज्ञानास्तित्ववादी उत्पन्न हो गये हैं।

इस कथन का भी कोई प्रमाण नहीं दिया। यह नहीं बताया कि वैशेषिक दर्शन के किस तर्क से कौनसा वाद बना है? वैसे वैशेषिक दर्शन तो मूल प्रकृति से सब कुछ बना मानता है और मूल प्रकृति को अनादि मानता है।

वैशेषिक दर्शन में लिखा है—

सदकारणवन्नित्यम् ॥ (वैशे० द० ४-१-१)

और—

तस्य कार्यलिङ्गम् ॥ (वैशे० द० ४-१-२)

इनका अर्थ है—

सत्+अकारणवत्+नित्यम्। अर्थात् सत् (मूल प्रकृति) अकारण पदार्थों की भाँति नित्य है।

और तस्य+कार्य+लिङ्गम्। उसका कार्यजगत् लिंग है। अभिप्राय यह है कि कार्य जगत से मूल प्रकृति का ज्ञान होता है।

भला इससे शून्यवाद अथवा सर्वास्तित्ववाद कैसे निकल सकता है? यदि किसी ने कुतर्क कर इसमें से कुछ-कुछ ऐसा अर्थ निकाला है जो उक्त अर्थ से मिलता नहीं तो कुतर्क करने वाले का दोष है, न कि वैशेषिक सिद्धान्त का।

वैशेषिक दर्शन के प्रणेता कणाद ऋषि परमात्मा और उसके ज्ञान वेद को मानते हैं। वे लिखते हैं—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ (वैशे० द० १-१-३)

इसका अर्थ है—

तत्+वचनात्+आम्नायस्य+प्रामाण्यम्।

तत् (परमात्मा का) वचन होने से वेद प्रमाण है।

एक अन्य स्थान पर कणाद मुनि कहते हैं—

तस्मादागमिकम् ॥ (वैशे० द० २-१-१७)

प्रकरण है वायु (परमात्मा) की नियन्त्रण शक्ति का और दर्शनाचार्य कहते हैं—तस्मात्+आगमिकम्। इससे (प्रमाण से) वेद से भी है।

यह स्वामी शंकराचार्य जी की अज्ञानता का सूचक है कि वे कणाद मुनि के वैशेषिक दर्शन को अर्ध विनाशकारी मानते हैं।

एक अन्य प्रमाण है—

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥ (वैशे० द०६-२-१३)

अर्थात्—आर्षम्+सिद्धदर्शनम्+च+धर्मेभ्यः ।

ऋषियों के उपदेश वेद से सिद्ध होने से धर्म हैं ।

इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि कणाद मुनि वेद, परमात्मा और ऋषियों पर आस्था रखनेवाले प्रतीत होते हैं । साथ ही कणाद शून्यवादी नहीं थे । वे लिखते हैं कि अनादि मूल प्रकृति से यह कार्य जगत् बना है ।

इस प्रकार के कथनों से शंकर द्वारा कल्पित वाद उत्पन्न नहीं हो सकते, न शून्यवाद, न ही सर्वास्तित्ववाद । विज्ञानास्तित्ववाद के लिए भी कोई स्थान नहीं । अतः वैशेषिक दर्शन के प्रकृति मानने से न तो वैनाशिक स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना है और न ही अर्धवैनाशिक परिस्थिति ।

तर्क तो सब स्थान पर चलता है । कोई पूछे कि यदि वह बौद्ध और जैनमतावलम्बियों को यह समझाना चाहें कि वेद परमात्मा द्वारा दिया ज्ञान है तो भला कैसे समझायेंगे ? उनको यह कह देना कि श्रुति में ऐसा लिखा है, उन्हें कैसे माननीय होगा ?

हमारा विचार है कि इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए ही दर्शन शास्त्रों की रचना की गई है । इन छः दर्शन शास्त्रों में वेद के भिन्न-भिन्न अंगों के विषय में युक्ति द्वारा समझाने का यत्न किया गया है ।

स्वामी शंकराचार्य ने दर्शन शास्त्र के प्रयोजन को समझा ही नहीं । क्यों के छयों दर्शन शास्त्र परमात्मा के अस्तित्व पर विश्वास रखते हैं; जीवात्माओं को परमात्मा से पृथक् मानते हैं । कार्य जगत का मूल उपादान कारण प्रकृति को मानते हैं । परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों मूल पदार्थ अजन्मा, अनादि, अव्यय, अव्यक्त और अक्षर हैं । ऐसी स्थापना दर्शन शास्त्रों की है ।

यहां इतना स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक दर्शन शास्त्र का अपना अपना विषय है । दूसरे के विषय का किसी भी दर्शन शास्त्र में खण्डन नहीं है । ऐसा कहा जा सकता है कि किसी एक दर्शन में दूसरे के विषय का एक सीमा तक अनवकाश है, परन्तु अनवकाश का अर्थ विरोध अथवा खण्डन नहीं कहा जा सकता ।

देखिए, ब्रह्म सूत्र १-३-१० इस प्रकार है—

अक्षरमम्बरान्त धृतेः ॥

अर्थ है कि परमात्मा आकाश के अन्त तक धारण करनेवाला है । सांख्य और वैशेषिक दर्शनों में परमात्मा के अस्तित्व को तो स्वीकार किया है, परन्तु परमात्मा के उक्त स्वरूप का वर्णन नहीं किया ।

वैशेषिक दर्शन में परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने के विषय

में हम प्रमाण ऊपर (वै० द०१-१-३ का) दे चुके हैं। सांख्य का प्रमाण भी है। सूत्र इस प्रकार है :—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।। (सां०३-५७)

अर्थात्—इस प्रकार ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध होता है।

और भी है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता ।। (सां०३-५६)

अर्थात—परमात्मा सब कुछ जानने वाला और सबका करने वाला है। अभिप्राय यह है कि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

वैशेषिक दर्शन का मुख्य विषय सृष्टि रचना का है और यह सृष्टि रचना का सूत्र पंच महाभूतों के बनने से आरम्भ करता है। पंच महाभूतों के निर्माण से पहले क्या था? इसका वर्णन नहीं है। सृष्टि रचना में निर्माण का क्रम इस प्रकार है—

मूल प्रकृति (प्रधान)—महत्—अहंकार—[पंच महाभूत / पंचतन्मात्रा]—जगत्

जगत्—[प्राणी जगत् / निर्जीव जगत्

इस क्रम में मूल प्रकृति से चलकर अहंकार और तन्मात्रा तक तो अविशेष कहे जाते हैं। इनका वर्णन व्याख्या सहित सांख्य में है। पंच महाभूतो से आगे के पदार्थ विशेष कहलाते हैं और इनका वर्णन वैशेषिक दर्शन में व्याख्या से है।

ब्रह्मसूत्रों का मुख्य विषय ब्रह्म का निरूपण है। ब्रह्म का अर्थ समझने के लिए ब्रह्मसूत्र १-१-२ पर हमारा भाष्य देखें। ब्रह्म तीन अक्षर पदार्थों का नाम है। ये हैं परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति। इन तीनों की व्याख्या भली-भाँति की गई है। वैसे इस दर्शन शास्त्र में विशेषों का भी संक्षेप में वर्णन आया है और साथ ही प्राणी का निर्माण, उसके कर्म करने में सामर्थ्य (प्राण) का भी वर्णन विस्तार से किया गया है। इस शास्त्र में यह भी बताया गया है कि जीवात्मा की इस लोक में कितनी गतियाँ हैं और उन गतियों का फल क्या है? परमानन्द की गति क्या है और उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है?

न्याय दर्शन तो मुख्य रूप में सोलह पदार्थों की व्याख्या में लिखा गया है। पदार्थों से अभिप्राय पाँच भौतिक वस्तुओं से नहीं। न्याय दर्शन के पदार्थ तो वे पद हैं जिनका प्रयोग दर्शन शास्त्रों में प्रायः होता है। उदाहरणार्थ, सोलह पदार्थ हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, तर्क, निर्णय वाद, जल्प, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह, स्थान और निश्रेयस्।

इनके अतिरिक्त न्याय दर्शन में प्राणी के शरीर का तथा मन, बुद्धि, ज्ञान, स्मृति, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, स्मरण, प्रवृति, मोह, दोष, प्रत्याभाव इत्यादि पदार्थों का भी व्याख्यान है।

योग दर्शन में योगाभ्यास का अभिप्राय है उसके करने का विधि-विधान और उसके फल का वर्णन।

पूर्व मीमांसा शास्त्र है इसके प्रथम सूत्र से ही इस ग्रन्थ के प्रयोजन का ज्ञान होता है। सूत्र है—

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥ (पू० मी० १-१-१)

अभिप्राय यह कि मनुष्य के लिए धर्म (इस लोक में करणीय कर्म) की व्याख्या की है। करणीय कर्म का विधि-विधान ही इस दर्शन शास्त्र में वर्णित है। धर्म क्यों करें और इसके करने का फल क्या है? सब इस शास्त्र में वर्णित है।

इस प्रकार षट् दर्शन शास्त्र अपने-अपने विषय पर लिखते हुए, भी परमात्मा, जीवात्मा, प्रकृति और इनसे जगत की उत्पत्ति इनका साँझा क्षेत्र है। और उस साँझे क्षेत्र में ये सब एक मत हैं।

'षट् दर्शन शास्त्र परस्पर विरोधी हैं' यह भ्रम है और इस भ्रम के फैलाने में स्वामी शंकराचार्य का सर्वाधिक हाथ है।

: ५ :

ब्रह्मसूत्र और उपनिषद्-ग्रंथ

प्रायः यह विचार किया जाता है कि ब्रह्म सूत्र उपनिषद् के विषय को स्पष्ट करने के लिए लिखे गए हैं। इस विषय में डाक्टर राधाकृष्णन लिखते हैं :

1. The Uttar Memansa of Badrayana describes the philosophies—theological views of the Upnishadas. Togather the two form a systematic investigation of the contents of the whole Veda.

(S. Radakrishnan in The Indian Philosophy, Part II p. 430)

जर्मन लेखक ड्यूसन लिखता है—

2. The work of Badarayana stands to the Upnishadas in the same relation as the Christian dogmatics is to the New Testament; it investigates their teachings about God, the world, the soul in its conditions of wanderings and of deliverance; removes apparant contradictions in the doctrines, binds them systematically togather, and is especially concerned to defend them against the attacks of opponents.

श्री राधा कृष्णन यह लिखते हैं—

बादरायण की उत्तर-मीमांसा उपनिषदों के धार्मिक तथा मीमांसक मत का वर्णन करती है। दोनों इकट्ठे पूर्ण वैदिक सिद्धान्त में खोज करते हैं।

जर्मन लेखक ड्यूसन लिखता है—

बादरायण के लेखों का उपनिषदों से वही सम्बन्ध है जो ईसाई सिद्धान्त अन्वेषकों का यीशु की नयी 'पुस्तक' से है। ये (ब्रह्मसूत्र) खोज कर रहे हैं उन (उपनिषदों) को शिक्षा में, परमात्मा, जगत् के विषय में और जीवात्मा के भटकने तथा मुक्ति पाने के विषय में। ये सिद्धान्तों में विरोधाभास को दूर करने और उनको क्रम बद्ध करने के लिये और विरोधियों के प्रहारों से उन (सिद्धान्तों) की रक्षा करने के लिये लिखे गये हैं।

वास्तव में ये और ब्रह्म सूत्रों के प्रायः भाष्यकार जो शंकर की परिपाटी का अनुकरण करते हैं, इन सूत्रों का यही उद्देश्य मानते हैं कि ये उपनिषदों के भावों को स्पष्ट करने के लिये ही लिखे गये हैं। यह विचार स्वामी शंकराचार्य के मस्तिष्क की उपज ही प्रतीत होता है। शंकर से पूर्व का कोई भाष्य मिलता नहीं। कहीं-कहीं उन भाष्यों के कुछ उद्धरण विविध ग्रन्थों में मिलते हैं, परन्तु उनसे यह पता नहीं चलता कि वे भी इन सूत्रों के आधार उपनिषद् वाक्य मानते हैं।

स्वामी शंकराचार्य सूत्रों का उपनिषदों से सम्बन्ध का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम् ।

(ब्र० सू० शंकर भाष्य १-१-२)

अर्थात्—सूत्र वेदान्त वाक्य रूपी कुसुमों को गूंथने के लिये हैं। एक अन्य स्थान पर शंकर इस प्रकार लिखते हैं—

अर्थान्तरप्रसिद्धानां च केषांचिच्छब्दानां ब्रह्मविषयत्वहेतुप्रतिपादनेन कानिचिद्वाक्यानि स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संदिह्यमानानि ब्रह्मपरतया निर्णीतानि। पुनरप्यन्यानि वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि सदिह्यन्ते—किं परं ब्रह्म प्रतिपादयन्त्याहोस्विदर्थान्तरं किंचिदिति। तन्निर्णयाय द्वितीयतृतीयौ पादावारभ्येते।

(ब्र० सू० शंकर भाष्य १-२ का प्राक्कथन)

अर्थात्—अर्थों में प्रसिद्ध कुछ शब्दों का ब्रह्म विषय के हेतु प्रतिपादन के द्वारा एवं कुछ ऐसे वाक्य हैं जिनसे ब्रह्म का संकेत तो स्पष्ट है, परन्तु आपाततः सन्देह होता है कि वे ब्रह्म के विषय में हैं अथवा नहीं। उनका ब्रह्म के विषय में होना निर्णय किया गया है। अब पुनः जिन अन्य वाक्यों में ब्रह्म का संकेत स्पष्ट नहीं, उन वाक्यों के विषय मे सन्देह होता है कि क्या वे भी ब्रह्म के विषय का प्रतिपादन करते हैं अथवा किसी दूसरे अर्थ का। उसके निर्णय के लिये

इस द्वितीय और तृतीय पाद का कथन है।

इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म विषयक उपनिषद् वाक्य तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। (१) कुछ वाक्य हैं जो स्पष्ट रूप में ब्रह्म के विषय में है। (२) दूसरे वे वाक्य हैं जिन्हें ब्रह्म के विषय में कहा तो गया है, परन्तु स्पष्ट नहीं कि वे ब्रह्म के विषय में हैं अथवा नहीं। (३) वे वाक्य जो ब्रह्म शब्द से कहे नहीं गये, परन्तु सन्देह होता है कि वे ब्रह्म के विषय में ही हैं।

इन सबका निर्णय करने के लिये ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय का द्वितीय और तृतीय पाद कहा गया है।

वैसे तो पूर्ण भाष्य में ही स्वामी शंकराचार्य ने यह प्रयत्न किया है कि प्रत्येक सूत्र का किसी न किसी उपनिषद् वाक्य से सम्बन्ध प्रकट कर दिया जाये।

उदाहरणार्थ आप ब्रह्मसूत्र १-१-२ का भाष्य करते हुए लिखते हैं—

जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। जन्मस्थिति भिङ्गं समासार्थः। जन्मनश्चादित्वं श्रुतिनिर्देशापेक्षं वस्तुवृत्तापेक्षं च।

श्रुतिनिर्देशस्तावत् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३-१) इत्यस्मिन्वाक्ये जन्मस्थितिप्रलयानां क्रमदर्शनात्।

अर्थात्—जन्म उत्पत्ति है आदि में जिनके जन्मादि, यह तद् गुण से विज्ञान बहुव्रीहि समास है। उत्पत्ति, स्थिति और नाश यह समास का अर्थ है। श्रुति निर्देश से तथा वस्तु स्थिति की अपेक्षा जन्मादि है। श्रुति निर्देश है 'यतो वा इमानि' (तैत्ति० ३-१) इस वाक्य से उत्पत्ति, स्थिति और नाश का क्रम दिखायी देता है।

शंकर मत के अनुसार सृष्टि का जन्म, स्थिति और प्रलय माननी चाहिये, क्योंकि उपनिषद् में ऐसा लिखा है। यह नहीं कि जगत् की रचना, स्थिति और प्रलय स्वयमेव इसके रचना इत्यादि करने वाले को सिद्ध करता है

एक अन्य उदाहरण लीजिये। शंकर ब्र० सू० १-२-८ का भाष्य करते हुए लिखते हैं—

व्योमवत्सर्वगतस्य ब्रह्मणः सर्वप्राणिहृदयसंबन्धात्, चिद्रूपतया च शारीरादविशिष्टत्वात्, सुखदुःखादिसंभोगोऽप्यविशिष्टः प्रसज्येत। एकत्वाच्च। नहि परस्मादात्मनोऽन्यः कश्चिदात्मा संसारी विद्यते, 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (बृ० ३-७-२३) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

अर्थात्—आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म का सब प्राणियों के हृदय के साथ सम्बन्ध होने तथा चैतन्य रूप होने के कारण ब्रह्म और जीव में भेद नहीं है। इससे जीव के समान ब्रह्म में भी सुख-दुःखादि संयोग प्रयुक्त होगा और एकत्व होने से इस पर आत्मा से अतिरिक्त कोई संसारी आत्मा नहीं है। श्रुति (उपनिषद्) में भी कहा है। (बृ० उ० ३-७-२-३)

इसी प्रकार किसी भी सूत्र पर शंकर भाष्य को पढ़ें तो देखेंगे कि स्वामी जी ने उस सूत्र के कथन को उपनिषद् से प्रामाणित करने का यत्न किया है। शंकर की इस शैली को श्री रामानुजाचार्य ने भी अपनाया है। यद्यपि उनके निष्कर्ष शंकर से भिन्न हैं, तथापि रामानुजाचार्य ने भी सूत्रों के कथन को सत्य सिद्ध करने के लिये उपनिषद् वाक्यों का समर्थन उपस्थित किया है।

हमारा विचार है कि दर्शन शास्त्रों पर भाष्य की यह शैली अशुद्ध है। ब्रह्मसूत्रों का दूसरा नाम उत्तर मीमांसा है और मीमांसा शब्द का अर्थ मोनियर विलियम के शब्द कोश के अनुसार हम उपसंहार के आरम्भ में लिख आये है।

इन अर्थों से यही प्रतीत होता है कि ब्रह्मसूत्र ब्रह्म विषय पर गम्भीर विचार करने के लिये लिखे गये थे। ब्रह्मसूत्र जगत्, परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के विषय पर तथा मनुष्य के कर्मों पर विचार करने के लिये लिखा ग्रन्थ है। इसे उपनिषदों का संशोधन अथवा स्पष्टीकरण करने के लिये कहना ठीक नहीं है।

हमारे कथन का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अनेक स्थलों पर शंकर तथा उनकी शैली का अनुकरणा करने वाले भाष्यकारों ने सूत्रों के समर्थन में ऐसे उपनिषद् वाक्य दिये हैं जिनसे समर्थन होता ही नहीं, वरन् उद्धरणों में सूत्र से अन्य बात कही गयी है।

उदाहरण के रूप में शंकर ब्रह्मसूत्र १-१-४ का भाष्य इस प्रकार करते हैं—

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः। तत् ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्ति-स्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते। कथम् ? समन्वयात्। सर्वेषु हि वेदान्तेषु वाक्यानि तात्पर्येणैतस्यार्थस्य प्रतिपादकत्वेन समनुगतानि। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।' 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दो॰ ६-२-१) 'आत्मा वा इद-मेक एवाग्र आसीत्' (ऐत॰ २-१-१)

उसका अर्थ है—'तु' शब्द पूर्व पक्ष के निराकरण करने के लिये है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण भूत, वह ब्रह्म वेदान्त वाक्यों से अवगत् होता है। कैसे ? समन्वय से। क्योंकि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' एकमेवाद्वितीयम्' (छा॰ ६-२-१) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (ऐत॰ २-१-१-१)

अब स्वामी जी के इस कथन का निरीक्षण करें तो पता चलेगा कि उपनिषद् के अनुकूल करने के लिये उन्होंने सूत्रार्थ किस प्रकार विकृत किये हैं।

आप लिखते हैं कि 'तु' शब्द पूर्व पक्ष का निराकरण करने के लिये है। हमारा प्रश्न है कि इस सूत्र से पूर्व पक्ष कहाँ है ? कोई पूर्व पक्ष नहीं है। यह सूत्र है १-१-४ और सूत्र १-१-३ है 'शास्त्रयोनित्वात्।' इसका अर्थ स्वामी जी कहते हैं कि परमात्मा ऋग्वेदादि वेदों का स्रष्टा होने से सर्वज्ञ है।

'तु' शब्द का अर्थ है इस कारण। पूर्व पक्ष का निराकरण नहीं'।

हमारा यह मत है कि 'तु' शब्द का प्रयोग किसी पूर्व पक्ष के निराकरण के लिये नहीं है। कारण यह कि पूर्व पक्ष है ही नहीं। स्वामी जी ने सूत्रार्थ को विकृत करने के लिये और उपनिषद् के अनुकूल करने के लिये यह गड़बड़ की है।

अब आगे का वक्तव्य देखिये। शंकर लिखते हैं—'सर्वज्ञ', शक्तिमान तथा जगत् उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण भूत, वह ब्रह्म वेदान्त वाक्यों में अवगत होता है। कैसे ? समन्वय से। क्योंकि—

आगे उपनिषद् का प्रमाण दिया है।

अर्थात् परमात्मा का सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण भूत, ब्रह्म का वेदान्त वाक्यों में वर्णन है।

अब प्रमाण देखिये। एक प्रमाण है छान्दोग्य (६-२-१) का।

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत॥

(छान्दो० ६-२-१)

इसका अर्थ है—सौम्य! आरम्भ में यह एक मात्र अद्वितीय सत् ही था। उसी के विषय में कुछ एक ऐसा कहते हैं कि आरम्भ में यह एक मात्र अद्वितीय असत् ही था। असत् से सत् की उत्पत्ति होती है।

अपने कहा है कि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, तथा जगत् का कारण मूल ब्रह्म वेदान्त वाक्यों से अवगत होता है।

परन्तु यहाँ तो कहा है कि कुछ लोग कहते हैं आरम्भ में असत् ही था और असत् से सत् की उत्पत्ति होती है।

यह वाक्य स्वामी जी के कथन का समर्थन नहीं करता। करना भी नहीं चाहिये। कारण यह कि यह (छान्दो० ६-२-१) तो पूर्व पक्ष है। साथ ही जगत् का कारण भूत यहाँ परमात्मा नहीं लिखा। उसे सत् लिखा है। सत् तीन हैं। सत् अनादि, अजन्मा और अक्षर को कहते हैं। और वैसी प्रकृति भी है। यहां प्रकृति से ही अभिप्राय है।

इस उपनिषद् में सत् से अर्थ प्रकृति का ही है। परमात्मा से नहीं है। इसी कारण परमात्मा शब्द नहीं लिखा। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सूत्र का अर्थ किसी उपनिषद् वाक्य से जोड़ने के लिये इस (छान्दो० ६-२-१) को ढूँढा गया है और जहाँ उपनिषद् के अर्थ में विकृति की गयी है वहाँ सूत्रार्थ भी बिगाड़ लिये गये हैं।

यह ठीक है कि उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमात्मा को इस जगत् का रचनेवाला कहा है, परन्तु यह सूत्र जगत्-रचना के विषय में नहीं

कहा गया। यह जगत् में समन्वय से हो रहे कार्य के विषय में कहा गया है। उपनिषदों के परमात्मा को रचने के विषय में कहे गये वाक्यों को इस सूत्रार्थों में लाने के लिये सूत्रार्थ बिगड़ गये हैं।

जहाँ तक परमात्मा के जगत् रचना की बात थी, वह तो १-१-२ में कह दी गयी थी। पुनः इसको यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं थी।

श्री शंकर जी कहते है कि सूत्र १-१-२ में तो युक्ति दी गयी थी। क्योंकि युक्ति से बात कहना स्वामी जी को पसन्द नहीं। इस कारण १-१-४ में दी गयी युक्ति का सम्बन्ध श्रुति से जोड़ने के लिये इस सूत्र १-१-४ के अर्थ विकृत कर दिये हैं।

जो कुछ शंकर ने यहाँ लिखा है उसे यहाँ लिखने की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि सूत्र १-१-१२ में यह कहा गया है कि जो कुछ सूत्र १-१-२ से लेकर १-१-१० तक कहा गया है वह सब के साथ ('श्रुतत्वाच्च' १-१-११) श्रुति में भी कहा गया है।

अतः हमारा मत है कि उपनिषदों से सूत्र जोड़ने से अर्थों को विकृत करना पड़ा है। ब्रह्मसूत्रों का उपनिषद् वाक्यों से अनिवार्य सम्बन्ध हो, ऐसी बात नहीं। इस अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ने से दोनों (ब्रह्म सूत्रों के एवं उपनिषद् वाक्यों के) अर्थों को तोड़ना-मरोड़ना पड़ रहा है।

एक अन्य उदाहरण लें। ब्रह्मसूत्र ३-२-१ के भाष्य में श्री स्वामी शंकर की शैली का अनुकरण करने वाले एक भाष्यकार श्री उदयवीर शास्त्री लिखते हैं—

'सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥

'(सन्ध्ये) स्वप्न में। (सृष्टि) सृष्टि रचना। (आह) कही जाती है। (हि) निश्चय से। स्वप्न में निश्चय से सृष्टि अर्थात् रचना का कथन शास्त्र द्वारा किया जाता है।'

'सूत्र में 'सन्ध्ये' पद का अर्थ स्वप्न है अर्थात् यह जाग्रत और सुषुप्ति की संधि में होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-९) में कहा है 'सन्ध्यं तृतीय स्वप्न स्थानं—।'

हमारा यह कहना है कि सूत्र में सन्ध्य स्थान से स्वप्नावस्था तो ठीक अर्थ है, परन्तु उपनिषद् का उद्धरण अशुद्ध है।

उपनिषद् में 'सन्ध्यं तृतीय स्वप्नावस्थानं' में उस स्वप्न स्थान का उल्लेख नहीं जो सोये हुए में स्वप्नावस्था का होता है। यह बात उपनिषद् के पूर्वोक्त उद्धरण में पूर्व के वाक्य को पढ़ने से स्पष्ट हो जाती है। उपनिषद् वाक्य इस प्रकार है—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं··· (४-३-९)

उस अथवा इस पुरुष के दो ही स्थान हैं—यह लोक और परलोक सम्बन्धी स्थान। और इनके बीच तीसरा स्वप्न स्थान है।

उपनिषद् पाठ से स्पष्ट है कि इस लोक और परलोक में संधि स्थान वह नहीं जो जाग्रत और सुषुप्ति (स्वप्न) में संधि स्थान है। लोक और परलोक में संधि स्थान वह काल है जब मनुष्य मर जाता है, परन्तु अभी परलोक प्राप्त नहीं होता।

इसी उपनिषद् वाक्य में आगे चल कर लिखा है—

···तस्मिन्न संध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च।

उस सन्ध्य स्थान में स्थित रहकर इस (लोक) और परलोक स्थान दोनों को देखता है।

अतः हमारा यह सुनिश्चित मत है कि इस सूत्र में सन्ध्य स्थान तो सोयी-जागी अवस्थाओं का मध्य स्थान (स्वप्न लेने की अवस्था) है। परन्तु उपनिषद् में सन्ध्य स्थान दूसरा है। वहां उस बदल रही स्थिति का वर्णन है जब प्राणी मरकर परलोक को गति कर रहा होता है। वहाँ पर रहते हुए जीवात्मा दोनों लोकों को देखता है। इस लोक को भी और परलोक को भी।

प्रश्न है कि भाष्यकार श्री उदयवीर शास्त्री को इस अनुपयुक्त उद्धरण देने की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई ? यह केवल इस कारण है कि शंकर की शैली पर भाष्य करने वाले भाष्यकारों को सूत्रार्थ करने पर तब तक शान्ति प्राप्त नहीं होती, जब तक वे किसी उपनिषद् का मिलता-जुलता उदाहरण न दे दें।

इस प्रक्रिया से सूत्रार्थों में विकृति आती है।

खेद से कहना पड़ता है कि इस सूत्र के भाष्य में श्री ब्रह्ममुनि, तथा श्री रामा नुजाचार्य ने भी इस मिथ्या उद्धरण को दिया है।

हमारे भाष्य को पढ़ने से अनेक ऐसे उदाहरण मिलेंगे, जब सूत्रार्थ कुछ और है और उद्धृत उपनिषद् का उद्धरण भिन्न अर्थ वाला है और भाष्यकारों ने सूत्रार्थों को अथवा उपनिषद् के अर्थों को विकृत किया है।

ब्रह्म सूत्र उपनिषद् वाक्यों का न तो समर्थन करने के लिए, न उनका स्पष्टीकरण करने के लिए और न ही उनमें संशोधन करने के लिए लिखे गये थे। सूत्र स्वतन्त्र रूप से वैदिक सिद्धान्तों को युक्ति-युक्त ढंग से वर्णन करने के लिए लिखे प्रतीत होते हैं।

युक्ति करना न तो पाप है और न ही अमान्य। केवल शर्त यह है कि युक्ति करने वाले की बुद्धि निर्मल और तीक्ष्ण होनी चाहिए।

ऐसा किस प्रकार हो सकता है ? इसके लिए ब्रह्म सूत्र १-१-१ में 'अथ' शब्द की व्याख्या पढ़ने से बात स्पष्ट हो जाएगा।

: ६ :

ब्रह्मसूत्र तथा अद्वैतवाद

स्वामी शंकराचार्य जी का मत है कि ब्रह्म सूत्र अद्वैतवाद का समर्थन करते हैं। अद्वैत का अर्थ है न दूसरा अर्थात् एक ही तत्त्व जगत का मूल कारण है। दो, तीन इत्यादि नहीं हैं। स्वामी शंकराचार्य का मत है कि ब्रह्म सूत्रों में एकत्व अर्थात् अद्वैतवाद प्रकट किया गया है। आप अपने शारीरक भाष्य के उपोद्घात में लिखते हैं—

तमेतविद्याख्यमात्मनात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्चय प्रवृत्ता—

और आगे चलकर कहा है—

अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय, आत्मकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरम्यते। यथा चायमर्थः सर्वेषां वेदान्तानां तथा वयमस्यां शारीरिक मीमांसायां प्रदर्शयिष्यामः।

अर्थात्—ऊपर कहे अविद्या नाम वाली आत्मा और अनात्मा (जड़ पदार्थ) के परस्पर अभ्यास को आगे रखकर सब लौकिक और वैदिक प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय व्यवहार प्रवृत्त हुए है।

इस अनर्थ के हेतु-भूत अध्यास की समूल निवृति के लिए यह लिखा गया है। इस अनर्थ (उपोद्घात में यह वर्णन किया है कि वेदादि शास्त्रों में जीवात्मा को परमात्मा से भिन्न माना गया है। इसे ही स्वामी जी अनर्थ कह रहे हैं) हेतु की समूल निवृति के लिए आत्म एकत्व ज्ञान की प्राप्ति के लिए सब वेदान्तों का आरम्भ होता है। जिस प्रकार सब वेदान्तों (आत्मकत्व) का प्रयोजन है उसी प्रकार शारीरिक मीमांसा में दिखायेंगे।

इसी प्राक्कथन में स्वामी जी लिख चुके हैं—

अर्थात् अल्पज्ञ जीवात्मा और प्रकृति तथा परमात्मा को अध्यास से (भ्रम से) भिन्न-भिन्न मान कर वेदादि शास्त्र प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय व्यवहार में लग गये हैं।

इस वेदादि शास्त्रों के व्यवहार को अनर्थ कह कर इसकी निवृति के लिए शंकर जी ने यह शारीरक भाष्य किया है।

परन्तु शारीरिक सूत्र ग्रन्थ (ब्रह्मसूत्रों) में स्वामी जी की बात सिद्ध नहीं होगी। इस असिद्ध बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों के अर्थों को विकृत किया है।

ब्रह्म सूत्रों में एक भी सूत्र इस अर्थ का बोधक नहीं कि परमात्मा ही जीवात्मा की अल्पज्ञता में दिखाई देने लगता है।

हम यह पूर्व में (उपसंहार कण्डिका-१) में लिख चुके हैं कि ब्रह्म सूत्रों में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति का पृथक्-पृथक् वर्णन है। वहाँ हमने यह भी बताया है कि जगत में तथा प्राणी के शरीर में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति तीनों के लक्षण मिलते हैं। इस कारण हमारा निष्कर्ष यह है ब्रह्म सूत्र तीनों के अस्तित्व को पृथक्-पृथक् मानता है। यह कहीं नहीं लिखा और यहाँ तक कि किसी सूत्र में इस बात का संकेत मात्र भी नहीं कि परमात्मा ही जीवात्मा अथवा अनात्मवान प्रकृति दिखाई देने लगता है। इसके विपरीत ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि जीवात्मा और प्रकृति का अस्तित्व परमात्मा से पृथक् है।

देखिए एक सूत्र है—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ (ब्र० सू० १-२-११)

गुहां में दो आत्माओं को प्रविष्ट हुए देखने से। क्या सिद्ध होता है? उनकी एकता सिद्ध होती है अथवा भिन्नता? यदि ऐक्य सिद्ध करना था तो दो का उल्लेख करने की आवश्यकता क्या थी? दो प्रविष्ट हुए देखे जाने से, जो कुछ भी हुआ हो प्रविष्ट तो दो हुए हैं।

इसकी पूर्ति के लिए अगले सूत्र में कहा है—

विशेषणाच्च ॥ (ब्र० सू० १-२-१२)

अर्थात्—और विशेषणों से।

अभिप्राय यह कि देखे जाने से और उन दो आत्माओं के विषयों से। आगे और भी स्पष्ट कर दिया है।

अन्तर उपपत्तेः ॥ (ब्र० सू० १-२-१३)

(अन्तर) दूसरा पन सिद्ध होता है।

अतः यह स्पष्ट है कि शंकर जी ने अपनी जहाँ वेदों से अनभिज्ञता प्रकट की है वहाँ ब्रह्मसूत्र के अर्थ भी नहीं समझे। इन तीन सूत्रों में परमात्मा और जीवात्मा मे अन्तर को स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है।

इसी प्रकार प्रकृति और चेतन तत्त्वों (परमात्मा और जीवात्मा) में अन्तर को स्पष्ट कर दिया है। इसके लिए ब्रह्मसूत्र (१-४-१,२,३,४,५,६,७ और ८) पर भाष्य पढ़िए। वहाँ हमने स्पष्ट किया है कि सूत्रकार परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति में स्पष्ट भेद करता है।

इसी प्रकार १-४-१,२,३,४,५ और ६ में प्रकृति को परमात्मा से भिन्न अस्तित्व वाली माना है। इन सूत्रों पर हमारा भाष्य पढ़िए।

इससे हमारा निश्चित मत है कि ब्रह्मसूत्रों का प्रवक्ता जगत् का मूल कारण तीन अक्षर और अजा मानता है।

परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या उपनिषद में ब्रह्म एक माना है ? क्या जगत् का मूल कारण एक ही तत्त्व है ? हमारा मत है कि इस विषय पर सब उपनिषद एक मत नहीं हैं। कुछ एक स्थानों पर तो स्पष्ट रूप में परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति को पृथक-पृथक माना है और कहीं पर ऐसे शब्दों में वर्णन किया है कि उससे यह अर्थ निकल सकते हैं कि एक ही ब्रह्म है। दूसरा कोई नहीं।

उदाहरण के रूप में बृहद्० २-४-१४ में लिखा है कि जब द्वैतपन होता है तब एक-दूसरे को सूंघता है। एक दूसरे को देखता है, एक दूसरे को सुनता है इत्यादि।

और जब एक हो जाता है तो कौन किसको सूंघे और कौन किसको देखे और कौन किसको सुने ? कहा है।

यहाँ इस उपनिषद में यह लिखा है कि जब एक हो जाता है अर्थात जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि वे कभी-एक नहीं भी रहते।

परन्तु एक अन्य उपनिषद् में तो स्पष्ट लिखा है—

स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेद ँ सर्वम् ॥ (बृ० २-५-२)

अर्थात्—वह जो यह आत्मा है, यह अमृत, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। इसमें जीवात्मा और परमात्मा को एक ही बताने का यत्न किया है। परन्तु अन्य उपनिषदों में इसके विपरीत भी लिखा है। मुण्डकोपनिषद् में और श्वेताश्वतरोपनिषद् में यह मन्त्र आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(मुण्ड० ३-१-१ तथा श्वे० ४-६)

इसका अर्थ है कि प्रकृति रूपी वृक्ष पर दो सुन्दर पंखों (गति) वाले पक्षी बैठे हैं। एक इसके फल खाता है और दूसरा नहीं खाता। वह केवल निरीक्षण करता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में यह भी लिखा है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥

(श्वे० ४-५)

इसमें प्रकृति जिससे जगत् के अनेकानेक पदार्थ बने हैं, प्रकृति अजा (अनादि) कही है। इसी प्रकार जगत् के भोग करने वाले (जीवात्मा) को भी अजर, अनादि कहा है और परमात्मा को भी अनादि कहा है।

जहाँ तक अद्वैतवाद का सम्बन्ध है, उपनिषदों में मतैक्य नहीं। परन्तु

ब्रह्मसूत्र का मत इस विषय में स्पष्ट है।

ब्रह्मसूत्रों में यह तो माना है कि जीवात्मा सुकृतों और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त करता है, परन्तु यह भी लिखा है कि मोक्षावस्था में भी जीवात्मा और परमात्मा में भेद रहता है। वहाँ लिखा है—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥

(ब्र० सू० ४-४-१७)

अर्थात् जगत् रचनादि व्यापार को छोड़कर (अन्य सब उपलब्धियाँ मुक्तात्मा को प्राप्त हो जाती हैं)। प्रकरण से यह उसका कार्य नहीं, अन्य (परमात्मा) का है।

ब्रह्मसूत्रों में यह भी लिखा है—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ (ब्र० सू० ४-४-१६)

अर्थात्—(जीवात्मा का मोक्षावस्था का ऐश्वर्य) विकार से युक्त है। इससे स्थिति का वर्णन कहा गया है।

विकाररहित अवस्था केवल परमात्मा की ही है। इस कारण जीवात्मा (मोक्षावस्था में भी) परमात्मा से भिन्न है।

अतः ब्रह्मसूत्र त्रैतवाद (परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति—तीन अनादि और अक्षर तत्त्वों को जगत् का मूल कारण) मानता है। उपनिषदों में मतभेद है। ब्रह्मसूत्रों का मत वेद का मत है। शंकर जी ने वेद को अमान्य किया है और उपनिषदों के संदिग्ध मत को स्वीकार किया है।

इसी कारण कुछ आचार्य शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध मानते हैं। वेद मन्त्र (ऋ० १-१६४-२०) तो ऊपर लिख आये हैं। एक अन्य स्थान पर भी वेद में यह कहा है—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥

(ऋ० १-१६४-१)

इसमें कहा है कि प्राणी जगत् में सुन्दर प्रकृति का स्वरूप शरीर है जो बूढ़ा होनेवाला अर्थात् क्षर है और उसमें दो भ्राता हैं। एक भोग करनेवाला है और दूसरा सबका पालन करनेवाला है।

: ७ :

स्वामी शंकराचार्य

गुरु परम्परा से युक्त श्री स्वामी शंकराचार्य अद्वैतवाद के महान् पोषक हुए हैं। उनके दादा गुरु गौड़पादाचार्य ने इस अद्वैतमत के समर्थन में २१५

कारिकायें लिखी हैं। उन्होंने उनमें अपना मत बिना किसी वेदादि शास्त्र के प्रमाण के लिखे हैं। किसी उपनिषद् का भी प्रमाण नहीं दिया, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य उस कहावत को चरितार्थ कर रहे हैं जिसमें कहा है गुरु जिनके टप्पने चेले जायें शड़प।' जो बात गुरुओं ने नहीं की, वह शिष्य निस्संकोच भाव से करते रहे हैं।

अद्वैतवाद की श्री स्वामी जी ने शास्त्र के प्रमाणों से सिद्ध करने का यत्न किया है। ऐसा करने के लिये इनको वेदों की, सांख्य वैशेषिक और न्याय दर्शन की निन्दा करनी पड़ी है। अनुमान-प्रमाण को अमान्य करना पड़ा है और ब्रह्मसूत्रों को उपनिषदों का पिछलग्गू बनाना पड़ा है। माया नाम की भ्रान्त विचार की सृष्टि करनी पड़ी है।

हमारे विचार में ये सब अनर्थकारी व्यवहार थे। परमात्मा से दी गयी वाक् शक्ति का उन्होंने दुरुपयोग किया है। दुरुपयोग हम इस कारण कहते हैं कि अपनी वाक् शक्ति का प्रयोग एक असिद्ध मत को सिद्ध करने में किया है।

अपने श्रेष्ठ भाषा के बल पर भी वह अपनी बात को सिद्ध नहीं कर सके। वेदान्त दर्शन को वेदों से असम्बद्ध कर उपनिषदों का पिछलग्गू नहीं बना सके। प्रायः उपनिषद् के उद्धरण असंगत दिये हैं। यह हमने अपने भाष्य में यत्र-तत्र प्रकट किये हैं।

हम उपनिषदों को अमान्य ग्रन्थ नहीं मानते, परन्तु जहाँ-जहाँ उपनिषद् प्रवक्ताओं ने मनोद्गारों के आधीन कुछ वेद विरुद्ध कहा है, हमने वेदों को अधिक युक्ति-युक्त पाया है।

हम यह जानते हैं कि इस समय अद्वैतवाद की हिन्दू समाज मे बहुत महिमा है। इस पर भी हमने जैसा ब्रह्मसूत्रों को समझा है, पाठकों के सम्मुख रख दिया है। हम समझते हैं कि ब्रह्मसूत्र वेदों में कहे सत्य सिद्धान्तों को युक्ति से सिद्ध करने के लिये कहे गये हैं और वे सत्य सिद्धान्त जीवात्मा को परमात्मा नहीं मानते। कभी सुकृत और ज्ञान से जीवात्मा बन्धनों से मुक्त हो भी जाता है तो भी वह परमात्मा समान शक्ति सम्पन्न नहीं हो सकता।

इस ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में किसी भी कारण से यदि कुछ अशुद्ध लिखा गया हो और कोई विद्वान उसको संशोधन के भाव से सुझाव देंगे तो हम अपनी उनके प्रति कृतज्ञता ही अनुभव करेंगे···

सूत्राणामनुक्रमणिका

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
अ		
अङ्गावबद्धास्तु	(३-३-५५)	१४०
अङ्गेषु यथाश्रयभावः	(३-३-६१)	१४४
अग्निहोत्रादि तु	(४-१-१६)	२१७
अग्न्यादितिश्रोतः	(३-१-४)	२४
अचलत्वं चापेक्ष्य	(४-१-९)	२११
अत एव च सर्वाण्यनु	(४-२-२)	२२०
अतएव चाग्नीन्धनादि	(३-४-२५)	१८२
अत एव चानन्याधिपतिः	(४-४-९)	२५७
अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्	(३-२-१८)	७४
अतश्चायनेऽपि दक्षिणे	(४-२-२०)	२३६
अतिदेशाच्च	(३-३-४६)	१३६
अतिवाहिकाः	(४-३-४)	२४०
अतिस्त्वतरज्यायो	(३-४-३९)	१९१
अतोऽनन्तेन तथा हि	(३-२-२६)	७८
अतोऽन्यापि हि	(४-१-१७)	२१७
अतः प्रबोधोऽस्मात्	(३-२-८)	६३
अधिकोपदेशात्तु	(३-४-८)	१५६
अध्ययनमात्रवतः	(३-४-१२)	१६३
अनभिभवं च दर्शयति	(३-४-३५)	१८८
अनारब्धकार्ये एव	(४-१-१५)	२१६
अनाविष्कुर्वन्	(३-४-५०)	१९७
अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः	(४-४-२२)	२६६
अनियमः सर्वासामविरोधः	(३-३-३१)	१२३
अनिष्टादिकारिणामपि	(३-१-१२)	३४
अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तर	(३-३-५०)	१३७

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
अनुष्ठेयं बादरायणः	(३-४-१९)	१७८
अनेन सर्वगतत्वम्	(३-२-३७)	९३
अन्तर उपपत्तेः	(१-२-१३)	२८७
अन्तरा चापि तु	(३-४-३६)	१८९
अन्तरा भूतग्रामवत्	(३-३-३५)	१२८
अन्यथात्वं शब्दादिति	(३-३-६)	१०४
अन्यथाभेदान्	(३-३-३६)	१२८
अन्याधिष्ठितेषु	(३-१-२४)	४३
अन्वयादिति चेत्	(३-३-१७)	११३
अपि च स्मर्यते	(३-४-३०, ३-४-३७)	१८५, १८९
अपि च सप्त	(३-१-१५)	३६
अपि च संराधने	(३-२-२४)	७६
अपि चैवमेको	(३-२-१३)	६९
अप्रतीकालम्बन्	(४-३-१५)	२५०
अबाधाच्च	(३-४-२९)	१८५
अभावं बादरिराह	(४-४-१०)	२५७
अम्बुवदग्रहणात्तु	(३-२-१९)	७४
अरूपवदेव हि	(३-२-१४)	७०
अर्चिरादिना तत्प्रथितेः	(४-३-१)	२३७
अविभागेन दृष्टत्वात्	(४-४-४)	२५४
अविभागो वचनात्	(४-२-१६)	२३३
अशुद्धमिति चेत्	(३-१-२५)	४८
अश्रुतत्वादिति चेत्	(३-१-६)	२९
असार्वत्रिकी	(३-४-१०)	१६१
अस्यैव चोपपत्ते	(४-२-११)	२२७
अक्षरधियां त्ववरोधः	(३-३-३३)	१२६

आ

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
आचारदर्शनात्	(३-४-३)	१५३
आत्मगृहीतिरितरवत्	(३-३-१६)	१११
आत्म शब्दाच्च	(३-३-१५)	११०
आत्मा प्रकरणात्	(४-४-३)	२५३
आत्मेति तूपगच्छन्ति	(४-१-३)	२०७

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
आदरादलोप.	(३-३-४०)	१३३
आदित्यादिमतयश्च	(४-१-६)	२०९
आध्यानाय प्रयोजना	(३-३-१४)	१०९
आनन्दादय: प्रधानस्य	(३-३-११)	१०८
आनर्थक्यामिति चेत्	(३-१-१०)	३३
आप्रायणात्तत्रापि	(४-१-१२)	३१३
आर्त्विज्यमित्योडुलोमि:	(३-४-४५)	१९४
आवृत्तिरसकृत्	(४-१-१)	२०३
आसीनः सम्भावत्	(४-१-७)	२१०
आह च तन्मात्रम्	(३-२-१६)	७१
इ		
इतरस्याप्येवमसं श्लेष:	(४-१-१४)	२१४
इतरे त्वर्थसामान्यात्	(३-३-१३)	१०९
इयदामननात्	(३-३-३४)	१२७
उ		
उपपत्तेश्च	(३-२-३५)	९२
उपपन्नस्तल्लक्षणा	(३-३-३०)	१२२
उपपूर्वमपि त्वेके	(३-४-४२)	१९३
उपमर्दं च	(३-४-१६)	१७१
उपसंहारोऽर्थभेदात्	(३-३-५)	१०४
उपस्थितेऽतस्तद्वचनात्	(३-३-४१)	१३३
उभयव्यपदेशात्	(३-२-२७)	७९
उभयव्यामोहात्	(४-३-५)	२४१
ऊ		
ऊर्ध्वरेतस्सुच शब्दे हि	(३-४-१७)	१७२
ए		
एक आत्मन: शरीरे	(३-३-५३)	१३९
एवं मुक्तिफलानियम:	(३-४-५२)	१९८
एवमप्युपन्यासात्	(४-४-७)	२५५

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
ऐ		
ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे	(३-४-५१)	१९७
क		
कामकारेण चैके	(३-४-१५)	१७०
कामादीतरत्र तत्र	(३-३-३९)	१३२
काम्यास्तु यथाकामं	(३-३-६०)	१४३
कार्याख्यानादपूर्वम्	(३-३-१८)	११३
कार्यात्यये तदध्यक्षेण	(४-३-१०)	२४७
कार्यं बादरिरस्य	(४-३-७)	२४३
कृतात्ययेऽनुशयवान्	(३-१-८)	३०
कृत्यात्येऽनुशयवान्	(३-१-८)	४६
कृत्स्नभावात्तु गृहिणा	(३-४-४८)	१९६
ग		
गतेरवर्थत्वमुभयथा	(३-३-२९)	१२१
गुणसाधारण्यश्रुतेश्च	(३-३-६४)	१४५
गुहां प्रविष्टावात्मानौ	(१-२-११)	२८७
च		
चरणादिति चेत्	(३-१-९)	३२
चितितन्मात्रेण तत्	(४-४-६)	२५५
छ		
छन्दत उभयाविरोधात्	(३-३-२८)	१२०
ज		
जगद् व्यापारवर्जं	(४-४-१७)	२८९
जगद्व्यपारवर्जं	(४-४-१७)	२६३
त		
तच्छ्रुतेः	(३-४-४)	१५४

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
तडितोऽधि वरुणः	(४-३-३)	२३९
तथा चैकवाक्यतोपबन्धात्	(३-४-२४)	१८२
तथान्यप्रतिषेधात्	(३-२-३६)	९३
तदधिगम उत्तरपूर्वाघयो	(४-१-१३)	२१४
तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति	(३-१-१)	१९
तदभावो नाडीषु	(३-२-७)	५९
तदव्यक्तमाह हि	(३-२-२३)	७६
तदाऽऽपीतेः संसारव्यपदेशात्	(४-२-८)	२२६
तदोकोऽग्रज्वलनम्	(४-२-१७)	२३३
तद्भूतस्य तु नातद्भावो	(३-४-४०)	१९१
तद्वतो विधानात्	(३-४-६)	१५५
तन्निर्धारणानियमः	(३-३-४२)	१३४
तन्मनः प्राण उत्तरात्	(४-२-३)	२२१
तन्वभावे सन्ध्यवत्	(४-४-१३)	२६०
तत्रापि च तद्व्यापारात्	(३-१-१६)	३६
तानि परे तथा हि आह	(४-२-१५)	२३२
तुल्यं तु दर्शनम्	(३-४-९)	१५९
तृतीयशब्दावरोधः	(३-१-२१)	४१

द

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
दर्शनाच्च	(३-२-२१)	७५
दर्शनाच्च	(३-१-२०)	४०
दर्शनाच्च	(३-३-६६)	१४७
दर्शनाच्च	(४-३-१३)	२४८
दर्शनाच्च	(३-३-४८)	१३७
दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने	(४-४-२०)	२६५
दर्शयति च	(३-३-४)	१०४
दर्शयति च	(३-३-२२)	११५
दर्शयति चाथो अपि	(३-२-१७)	७२
द्वादशाहवदुभयविधं	(४-४-१२)	२६०
देहयोगाद्वा सो	(३-२-६)	५९

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
ध		
धर्मं जैमिनिरत एव	(३-२-४०)	९५
ध्यानाच्च	(४-१-८)	२११
न		
न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः	(४-३-१४)	२४९
न चाधिकारिकमपि	(३-४-४१)	१९२
न तृतीये तथोपलब्धेः	(३-१-१८)	३७
न प्रतीके न हि सः	(४-१-४)	२०७
न वा तत्सहभावाश्रुतेः	(३-३-४५)	१४६
न भेदादिति चेत्	(३-२-१२)	६८
न वा प्रकरणभेदात्	(३-३-७)	१०६
न वा विशेषात्	(३-३-२१)	११५
न सामान्यादप्युपलब्धेः	(२-३-५१)	१३८
न स्थानतोऽपि परस्य	(३-२-११)	६७
न स्थानतोऽपि परस्यो	(३-२-११)	८१
नातिचिरेण विशेषात्	(३-१-२३)	४३
नाना शब्दादिभेदात्	(३-३-५८)	१४२
नाविशेषात्	(३-४-१३)	१६६
नियमाच्च	(३-४-७)	१५५
निर्मातारं चैके	(३-२-२)	५५
निशि नेति चेत्	(४-२-१९)	२३५
नैकस्मिन्दर्शयतो हि	(४-२-६)	२२३
नोपमर्देनातः	(४-२-१०)	२२७
प		
परमतः सेतून्मानस	(३-२-३१)	९०
पराभिध्यानात्तु	(३-२-५)	५८
परामर्शं जैमिनिरचोदना	(३-४-१८)	१७५
परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं	(३-३-५२)	१३९
परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्	(४-३-१२)	२४८
पारिप्लवार्था इति चेत्	(३-४-२३)	१८०

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
पुरुषविद्यायामिव	(३-३-२४)	११७
पुरुषार्थो तः शब्दात्	(३-४-१)	१४८
पूर्वम् तु बादारयणो	(३-२-४१)	९५
पूर्ववद्वा	(३-२-२९)	८३
पूर्वविकल्पः प्रकरणात्	(३-३-४५)	१३५
प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्	(३-२-१५)	७१
प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं	(३-२-२५)	७८
प्रकाशाश्रयवद्वा	(३-२-२८)	८२
प्रकृतैतावत्त्वं हि	(३-२-२२)	७५
प्रतिषेधाच्च	(२-३-३०)	८३
प्रतिषेधादिति चेत्	(४-२-१२)	२२८
प्रत्यक्षोपदेशादिति	(४-४-१८)	२६३
प्रथमे श्रवणादिति	(३-१-५)	२५
प्रदानवदेव तदुक्तम्	(३-३-४३)	१३४
प्रदीपवदावेशस्तथा	(४-४-१५)	२६१
प्राणगतेश्च	(३-१-३)	२२
प्रियशिरस्त्वादि	(३-३-१२)	१०८
फ		
फलमत उपपत्तेः	(३-२-३८)	९४
ब		
बहिस्तूभयथापि	(३-४-४३)	१९३
बुद्ध्यर्थः पादवत्	(३-२-३३)	९१
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्	(४-१-५)	२०८
ब्राह्मेण जैमिनिः	(४-४-५)	२५४
भ		
भाक्तं वाऽनात्मवित्	(३-१-७)	३०
भावशब्दाच्च	(३-४-२२)	१८०
भावं जैमिनिर्विकल्प	(४-४-११)	२५८
भावे जाग्रद्वत्	(४-४-१४)	२६१
भूतेषु तच्छ्रुतेः	(४-२-५)	२२२

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
भूम्नः क्रतुवत्	(३-३-५७)	१४२
भेदान्नेति चेत्	(३-३-२)	९९
भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च	(४-४-२१)	२६५
भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा	(४-१-१९)	२१८

म

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः	(३-३-५६)	१४१
मायामात्रं तु कार्त्स्न्येन	(३-२-३)	५६
मुक्तः प्रतिज्ञानात्	(४-४-२)	२५२
मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः	(३-२-१०)	६६
मौनवदितरेषाम्	(३-४-४९)	१९६

य

यदेव विद्ययेति हि	(४-२-१८)	२१८
यत्रैकाग्रता तत्र	(४-१-११)	२१३
यावदधिकारम्	(३-३-३२)	१२४
योगिनः प्रति च	(४-२-२१)	२३६
योनेः शरीरम्	(३-१-२७)	४९

र

रश्म्यनुसारी	(४-२-१८)	२३४
रेतः सिग्योगोऽथ	(३-१-२६)	४९

ल

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि	(३-३-४४)	१३५
लिङ्गाच्च	(४-१-२)	२०६

व

वाङ्मनसि दर्शनात्	(४-२-१)	२२०
वायुमब्दात्	(४-३-२)	२३७
विकल्पोऽविशिष्ट	(३-३-५९)	१४३
विकारावर्त्ति च तथा	(४-४-१९)	२८९
विकारावर्ति च	(४-४-१९)	२६३

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
विधिर्वा धारणवत्	(३-४-२०)	१७९
वेधाद्यर्थभेदात्	(३-३-२५)	११९
विद्याकर्मणोरिति तु	(३-१-१७)	३७
वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः	(४-३-६)	२४२
विद्यैव तु निर्धारणात्	(३-३-४७)	१३६
विभागः शतवत्	(३-४-११)	१६२
विशेषणाच्च	(१-२-१२)	२८७
विशेषानुग्रहश्च	(३-४-३८)	१९०
विशेषितत्वाच्च	(४-३-८)	३४६
विशेषं च दर्शयति	(४-३-१६)	२५१
विहितत्वाच्चाश्रम	(३-४-३२)	१८६
वृद्धिह्रासभाक्त्वम्	(३-२-२०)	७४
व्यतिरेकस्तद्भावा	(३-३-५४)	१३९
व्यतिहारो विशिंषन्ति	(३-३-३७)	१२९
व्याप्तेश्च समञ्जसम्	(३-३-९)	१०७
श		
शमदमादि उपेतः स्यात्	(३-४-२७)	१८३
शब्दश्चातोऽकामकारे	(३-४-३१)	१८५
शिष्टेश्च	(३-३-६२)	१४५
शेषत्वात्पुरुषार्थवादः	(३-४-२)	१५१
श्रुतेश्च	(३-४-४६)	१९५
श्रुतत्वाच्च	(३-२-३९)	९४
श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्	(३-३-४९)	१३७
स		
स एव तु कर्मानुस्मृति	(३-२-९)	६६
सन्ध्ये सृष्टिराह हि	(३-२-१)	५१
सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च	(२-४-५)	२३
समन्वारम्भणात्	(३-४-५)	१५४
समान एवं चाभेदात्	(३-३-१९)	११४
समाना चासृत्युपक्रमात्	(४-२-७)	२२५
समाहारात्	(३-३-६३)	१४५

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
सम्पद्याविर्भावः स्वेन	(४-४-१)	२५८
सम्बन्धादेवमन्यत्रापि	(३-३-२०)	११५
सर्वथापि त एवोभय	(३-४-३४)	१८८
सर्वान्नानुमतिः	(३-४-२८)	१८४
सर्वापेक्षा च यज्ञादिः	(३-४-२६)	१८३
सर्ववेदान्तप्रत्ययं	(३-३-१)	९३
सर्वाभेदादन्यत्रेमे	(३-३-१०)	१०३
सहकारित्वेन च	(३-४-३३)	१८६
सहकार्यन्तरविधिः	(३-४-४७)	१९५
साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः	(३-१-२२)	४२
सामान्यात्तु	(३-२-३२)	६०
सामीप्यात्तु	(४-३-९)	२४६
साम्पराये तर्तव्याभावात्	(३-३-२७)	११९
सुकृतदुष्कृते एवेति	(३-१-११)	३४
सूचकश्च हि श्रुतेः	(३-२-४)	५६
सूक्ष्मं प्रमाणतश्च	(४-२-९)	२२६
सैव हि सत्यादयः	(३-३-३८)	१२९
सोऽध्यक्षे तदुपगम	(४-२-४)	२२२
संकल्पादेव तु	(४-४-८)	२५६
संभृतिद्युव्याप्त्यपि	(३-३-२३)	११६
संयमने त्वनुभूयेतरे	(३-१-१३)	३५
संज्ञातश्चेत्तदुक्तम्	(३-३-८)	१०६
स्तुतयेऽनुमतिर्वा	(३-४-१४)	१६७
स्तुतिमात्रमुपादानात्	(३-४-२१)	१७९
स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्	(३-२-३४)	६१
स्पष्टो हि एकेषाम्	(४-२-१३)	२३०
स्मरन्ति च	(३-१-१४)	३५
स्मरन्ति च	(४-१-१०)	२१२
स्मर्यते च	(४-२-१४)	२३१
स्मर्यतेऽपि च लोके	(३-१-१९)	४०
स्मृतेश्च	(४-३-११)	२४७
स्वाप्ययसम्पत्त्योः	(४-४-१६)	२६२

सूत्र	क्रम	पृष्ठ
स्वामिनः फलश्रुतेः	(३-४-४४)	१९४
स्वाध्यायस्य तथात्वेन	(३-३-३)	१०३

ह

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्	(३-३-२६)	११८

त्र

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्	(३-१-२)	२१

प्रमाणामनुक्रमणिका

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
अ		
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां	(ऋ० १-२४-२)	१२७
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां	(श्वे०-४-५)	२८८
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं	(कठो० १-२-१८)	१५८
अथ य इमे ग्राम	(छा० ५-१०-३)	४६
अथ यदा सुषुप्तो भवति	(बृ० २-१-१९)	६१
अथवा बहुनैतेन किं	(भ० गी० १०-४२)	२०६
अथवा योगिनामेव कुले	(भ० गी० ४-४२)	१९०
अथातो धर्मजिज्ञासा	(पू० मी० १-१-१)	२७९
अनन्यचेताः सततं	(भ० गी० ८-१४)	१६८
अन्तवत्तु फलं तेषां	(भ० गी० ७-२३)	२०८
अभ्रं भूत्वा मेघो भवति	(छां० ५-१०-६)	४६
अशब्दमस्पर्शम्	(कठो० ३-१५)	७०
असौवाद लोको	(छां० ५-४-१)	२८
अस्य भूमिः प्रमान्तः	(अथर्व १०-७-३२)	६८
अस्य वामस्य पलितस्य	(ऋ० १६४-१)	२८९
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं	(ऋ० १०-१२५-२)	९४
अहमात्मा गुडाकेश०	(गी० १०-२०)	२०९
अक्षरमम्बरान्त धृतेः	(ब्र० सू० १-३-१०)	२७७
आ		
आत्मानं रथिनं विद्धि	(कठो० १-३-३)	११२
आदित्यानामहं विष्णुः	(भ० गी० २-२१)	२०९
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः	(भ० गी० ८-१६)	१६८
आर्षं सिद्धदर्शनं च	(वैशे० ९-२-१३)	२७७

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
इ		
इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङा०	(बृ० २-५-१६)	८६
इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां	(बृ० २-५-१)	८६
ई		
ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा	(सां० ३-५७)	२७८
उ		
उप ह्वये सदुधां धेनुमेतां	(ऋ० १-१६४-२६)	१४६
ए		
एको देवः सर्वभूतेषु	(श्वेता० ६-११)	६४
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति	(मुण्ड० १-२-७)	१२५
एतावानस्य महिमाऽतो	(ऋ० १०-६०-३)	११७
एतावानस्य महिमाऽतो	(ऋ० १०-६०-३)	६३
एष सर्वेषु भूतेषु	(कठो० १-३-१२)	११०
एष सर्वेषु भूतेषु	(कठो० १-३-१२)	१११
एष ह देवः प्रदिशोऽनु	(श्वेता० २-१६)	१०१
एह्येहीति तमाहुतयः	(मुण्ड० १-२-६)	१२५
ओ		
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	(भ० गी ८-१३)	२१३
ओमित्येतदक्षरमिदं	(माण्डू० १)	१०१
ओमित्येदक्षरमुद्गीथ	(छा० १-१-१)	२१३
ओमित्येदक्षरम्	(छा० १-१-१)	१६५
ऋ		
ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा	(यो १-४८)	७७
ऋषिभिर्बहुधा गीतं	(भ० गी० १३-४)	२७१
क		
कस्य नूनं कतमस्य	(ऋ० १-२४-१)	१२७
कर्मण्यकर्म यः	(भ० गी० ४-१८)	३४

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	(यजु० ४०-२)	१५८
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषे	(यजु० ४०-२)	१५४
च		
च यदेव विद्यया करोति	(छा० १-१-१०)	१५४
ज		
जन्मादिपत्तिरादिः	(तैत्ति० ३-१)	२८१
जप्येनैव तु संसिध्येद्	(मनु० २-८७)	१८९
जुष्टं यदा पश्यत्	(श्वेता० ४-७)	१०६
त		
तदेजति तन्नैजति	(ईशा० ५)	२४५
तदेतद्ब्रह्मापूर्वम्	(बृ० २-५-१)	८९
तदेव सक्तः सह कर्मणैति	(बृ० ४-४-६)	२२९
तदेवार्थमात्रनिर्भासं	(यो० ३-३)	२०५
तदेष श्लोको न पश्यो०	(छा० ७-२६-२)	२५८
तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु	(छा० ५-२-८)	५७
तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय	(छा० ८-१५-१)	१६६
तद्य इत्थं विदुः	(छा० ५-१०-१)	१७३
तद्य इत्थं विदुः	(छा० ५-१०-१)	२३७
तद्वचनादाम्नायस्य	(वैशे० १-१-३)	२७६
तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा	(बृ० ४-३-२१)	६२
तपः श्रद्धयेह्यु:	(मुण्ड० १-२-११)	१७३
तपः स्वध्यायेश्वर	(यो० २-१)	१०४
तमोऽयं समाश्रित्य	(मनु० १-५५)	२३१
तस्मादज्ञानसंभूतं	(भ० गी० ४-४२)	१८१
तस्मादागमिकम्	(वैशे० २-१-१७)	२७६
तस्माद्य इह मनुष्याणां	(छा० ७-६-१)	२१२
तस्मिन्नेतस्मिनग्नौ	(छा० ५-४-२)	२९
तस्मिन्यावत्संपात	(छा० ५-१०-५)	४६
तस्य कार्यलिङ्गम्	(वैशे० ४-१-२)	२७६
तस्य क्व मूलं स्यादन्येत्रात्	(छा० ६-८-६)	२३२
तस्य वा एतस्य	(बृ० ४-३-९)	२८४-२८५

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
तस्य वा एतस्य पुरुषस्य	(बृ० ४-३-६)	५३
तस्य ह वा एतस्यैवं	(छा० ७-२६-१)	२५६
तस्य हैतस्य हृदयस्य	(बृ० ४-४-२)	२३
तत्र प्रत्ययैकतानता	(यो० ३-२)	२०५
ता वा अस्यैता हिता	(बृ० ४-३-२०)	६१
तेजो ह वा उदानः	(प्रश्न० ३-६)	२२१
ते तेषु ब्रह्मलोकेषुः	(बृ० ६-२-१५)	२५४
ते तेषु ब्रह्मलोकेषु	(बृ० ६-२-१५)	२६६
तेन प्रद्योतेनैष आत्मा	(बृ० ४-४-२)	२३०
ते य एवमेतद्विदुर्ये०	(बृ० ६-२-१५)	२४२
त्यक्त्वा कर्मफल सङ्गं	(भ० गी० ४-२०)	१५४
द		
देशबन्धश्चित्तस्य धारणा	(यो० ३-१)	२०४
द्वा सुपर्णा सयुजा	(मुण्ड० ३-१-१)	२८८
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया	(श्वेता० ४-६)	१०२
दिव्यो ह्यमूर्त्तः	(मुण्डक० २-१-२)	७०
न		
न कर्मणामनारम्भात्	(भ० गी० ३-४)	१८१
नमस्कृत्वा च	(महा भा० १२-३५०-४)	२७१
न मां कर्माणि लिम्पन्ति	(भ० गी० ४-१४)	२१५
न साम्परायः प्रतिभाति	(कठो० १-२-६)	२६
न स्याननियमः	(सां० ६-३१)	२११
नात्यश्नतस्तु योगः	(भ० गी० ६-१६)	१७६
निर्विचारवैशारद्ये	(यो० १-४७)	७७
निश्चयं शृणु मे	(भ० गी० १८-४)	१६०
नेति होवाच याज्ञवल्क्यः	(बृ० ३-२-११)	२२६
प		
पुरुषार्थशून्यानां	(यो० ४-३४)	२४६
प्रयाणकाले मनसाचलेन	(भ० गी० ८-१०)	२१४
प्रशान्तात्मा विगतभीः	(भ० गी० ६-१४)	२१२

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्	(भ० गी० ६-४१)	१६०
ब		
ब्रह्मज्येष्ठा संभृता	(अथर्व० १९-२२-२१)	११७
ब्राह्मणोऽस्य मुखम्	(यजु० ३१-११)	७०
भ		
भव्यश्च धर्मो जिज्ञास्यो	(शं० भा० १-१-१).	२०५
म		
मनसैवेदमाप्तव्यं	(कठो० ४-११)	७०
ममैवांशो जीवलोके	(भ० गी० १५-७)	२३१
महतः परमव्यक्तम्	(कठो० १-३-११)	११२
मामुपेत्य पुनर्जन्म	(भ० गी० ८-१५)	१६८
मासेभ्यः संवत्सरं	(छा० ५-१०-२)	२३७
य		
य आत्मापहतपाप्मा	(छा० ८-७-१)	२५३
य एष सुप्तेषु जागर्ति	(कठो० ५-८)	५५
यच्छेद्वाङ् मनसी	(कठो० १-३-१३)	११२
यतो वाचो निवर्तन्ते	(तैत्तिरीय—ब्रह्म० ९)	२४७
यथा नद्यः स्यन्दमानाः	(मुण्ड० ३-२-८)	२५४
यथाविधानं गुरोः	(छा० ८-१५-१)	१९६
यदाणुमात्रिको भूत्वा	(मनु० १-५६)	२३१
यदा पश्यः पश्यते	(मुण्ड० ३-१-३)	२१६
यदा वै पुरुषोऽस्मात्	(बृ० ५-१०-१)	२३८
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं	(भ० गी० १०-४१)	२०६
यदृच्छया चोपपन्नं	(भ० गी० २-३२)	११९
यमनियमासन प्राणायाम	(यो० २-२९)	२१०
यः प्राणतो निमिषतो	(यजुः २३-३)	२०६
यस्य शब्दमाहुरनु	(महा भा० शा० ३६२-३)	२३४
यस्य सर्वे समारम्भाः	(भ० गी० ४-१९)	३७
यस्य सर्वे समारम्भाः	(भ० गी० ४-१९)	१५४

प्रमाण	ग्रंथ	पृष्ठ
यज्ञदानतपः कर्म	(भ० गी० १८-५)	१९०
युक्ताहारविहारस्य	(भ० गी० ६-१७)	१७९
यं इमं च लोकं परं	(बृहद० २-७-१)	८६
यां मेधां देवगणाः	(यजु० ३२-१४)	२०७
योगः कर्मसु कौशलम्	(भ० गी० २-५०)	१५४
योगसंन्यस्तकर्माणं	(भ० गी० ४-४१)	१८१
यो देवानां प्रभवः	(श्वे० ३-४)	७२
यो रेतसि तिष्ठन्	(बृ० ३-७-२३)	८६
यो ह वै ज्येष्ठं च	(छा० ५-१-१)	१००
यो ह वै ज्येष्ठं च	(बृ० ६-१-१)	१००
यो यो यां यां तनुं	(भ० गी० ७-२१)	२०८

व

प्रमाण	ग्रंथ	पृष्ठ
विश्वतश्चक्षुरुत	(श्वेता० ३-३)	७२
वेदानां सामवेदोऽस्मि	(भ० गी० १०-२२)	२०९
व्यतिरेकानवस्थि—	(ब्र० सू० २-२-४)	२७४

श

प्रमाण	ग्रंथ	पृष्ठ
शतं चैका च हृदयस्य	(कठो० २-३-१६)	२३४
शरीरं यदवाप्नोति	(भ० गी० १५-८)	५०
शरीरं यदवाप्नोति	(भ० गी० १५-८)	२३१
श्रुतानुमानप्रज्ञा	(यो० १-४९)	७७

स

प्रमाण	ग्रंथ	पृष्ठ
स एनान्ब्रह्म गमयत्येव	(छा० ४-१५-५)	२४५
स एवाधस्तात्	(छा० ७-२५-१)	७३
स जातो यावदायुषं	(छा० ५-९-२)	२०
स तया श्रद्धया	(भ० गी० ७-२२)	२०८
सदकारणवन्नित्यम्	(वैशे० ४-१-१)	२७६
सदेव सोम्येदमग्र	(छा० ६-२-१)	२८३
स पर्यगाच्छुक्रमकाय	(यजुः० ४०-८)	७०
सप्त युञ्जन्ति रथमेक	(ऋ० १-१६४-२)	१४६
समाने वृक्षे पुरुषो	(श्वेता० ४-७)	१०२

प्रमाण	ग्रन्थ	पृष्ठ
समे शुचौ शर्करावह्नि	(श्वेता० २-१०)	२११
समं कायशिरोग्रीवं	(भ० गी० ६-१३)	२१२
स यत्रायमात्माऽबल्यं	(बृ० ४-४-१)	२३०
स योऽयमात्मेवम्	(बृ० २-५-२)	२००
स यो मनुष्याणां राद्धः	(बृ० ४-३-३३)	२५६
स वा अयमात्मा ब्रह्म	(बृ० ४-४-५)	२२४, २२५
सर्वं कर्माखिलं पार्थ	(गी० ४-३३)	१३६
सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा	(माण्डू० २)	१०५
स वा एष महानज आत्मा	(बृ० ४-४-२२)	१७३-१७४
सहस्रशीर्षा पुरुषः	(ऋ० १०-९०-१)	११७
स हि सर्ववित्	(मां० ३-५६)	२७८
स होवाच वायुर्वै—	(बृ० ३-७-२)	८६
स होवाचाजात	(बृ० २-१-१६)	६४
सोम्य पुरुषस्य प्रयतो	(छा० ६-८-६)	२२०
स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण	(बृ० दे० १-७)	१७०
स्तुत्याशिषौ तु	(बृ० दे० १-८)	१७०
स्तुवद्भिर्वा न वद्भिर्वा	(बृ० दे० १-१०)	१०९, १७०
स्तुवन्तं वेद सर्वोऽयम्	(बृ० दे० १-९)	१७०
स्थिरसुखमासनम्	(यो० २-४६)	२१०

ह

हरिः ओं अथ यदिदम्	(छा० ८-१-१)	१०१

क्ष

क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागात्	(मनु० १०-१०८)	१८९

त्र

त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं	(छा० २-२३-१)	१७६

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२३	१८	पूर्व का उद्धरण	उद्धृत अंश
२४	२७	Putrid	Putrify
२५	१४	उत्पन्न	उपपन्न
२६	२०	बनस्पीतन्केशा:	वनस्पतीन्केशा:
३०	८	वानात्म	वाऽन्नात्म
३२	४	होने	होते
६२	१	अपहतपाप्माम्	अपहतपाप्मामय॑,
७३	२९	प्रबोधस्यात्	प्रबोधस्मात्
८५	३४	यह	इस बात का
९०	८	(परमात्मा)	(आत्मा)
१००	२८	की	ही
१०४	८	कार्य प्रवेश	कार्य का प्रवेश
१०५	१७	का नाम	का काम
१०५	२५	तीन पद	चार पाद
१०७	८	जिखे	लिखे
१४६	१२	चक	चक्र
१७०	३	पुत्रर्थैः	पुत्रार्थैर्
१८३	२७	यात्तथापि	स्यात्तथापि
१९५	२६	कहते हैं	करते हैं
१९९	२७	प्राग	प्राण

ISBN : 81-88388-68-8
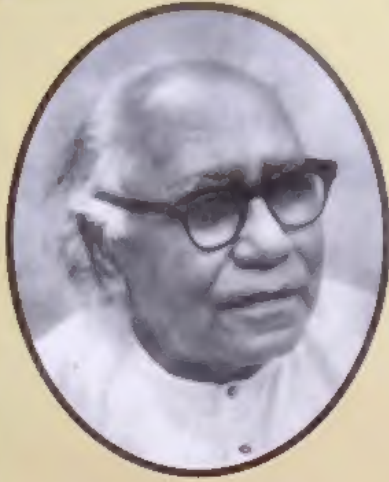
श्री गुरुदत्त

8 दिसम्बर, 1894
से
8 अप्रैल, 1989
शिक्षा : एम. एस सी.

प्रथम उपन्यास "स्वाधीनता के पथ पर" से ही ख्याति की सीढ़ियों पर जो चढ़ने लगे कि फिर रुके नहीं। विज्ञान की पृष्ठभूमि पर वेद, उपनिषद् दर्शन इत्यादि शास्त्रों का अध्ययन आरम्भ किया तो उनमें ज्ञान का अथाह सागर देख उसी में रम गये।

वेद, उपनिषद् तथा दर्शन शास्त्रों की विवेचना एवं अध्ययन अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत करना गुरुदत्त की ही विशेषता है। उपन्यासों में भी शास्त्रों का निचोड़ तो मिलता ही है, रोचकता के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि उनका कोई भी उपन्यास पढ़ना आरम्भ करने पर समाप्त किये बिना छोड़ा नहीं जा सकता।

हिन्दी साहित्य सदन

2 बी.डी. चैम्बर, 10/54, देशबन्धु गुप्ता रोड,
करोल बाग, नई दिल्ली-110005
फोन : 23553624, 23551344